तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त

लेखक

म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक

पं० हंसकुमार तिवारी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

ान्त

ाध्याय डॉ०

तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त

महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

अनुवादक

पं० हंसकुमार तिवारी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—८००००४

प्रथम संस्करण २,०००

शकाब्द १९०१; विक्रमाब्द २०३६; खीष्टाब्द १९७९

मूल्य : २३.०० रु०

मुद्रक :
मोहन प्रेस, पटना—८००००४
तथा
रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स, पटना—८००००४

वक्तव्य

परिषद्, प्रस्तुत 'तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त' ग्रन्थ का प्रथम हिन्दी-संस्करण विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए परम हर्ष का अनुभव कर रही है। यह ग्रन्थ भारतीय विद्या के शीर्षण्य मनीषी महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज जी की महार्घ कृति है। दर्शन एवं तन्त्रागमों के पारदृश्वा विद्वान् आचार्य श्री कविराजजी को किन्हीं विशेषणों के माध्यम से अभिज्ञ जनों के सामने उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। वे अपने वैदुष्य और प्रतिभा के कारण स्वयम्प्रभ हैं। यह कृति स्वयं पुण्यश्लोक आचार्यश्री की ज्ञान-गरिमा का एक उद्दीप्त अभिज्ञान है। इस कृति में तन्त्र-प्रतिपादित साधना और सिद्धान्त का वैज्ञानिक पद्धति से युक्तियुक्त यथार्थ विवेचन किया गया है। मूलतः यह ग्रन्थ बँगला में बहुत पहले प्रकाशित हो चुका था, बँगला-भाषी विद्वद्वर्ग इससे अपने ज्ञान की वृद्धि करता आ रहा था। परिषद् के संचालक-मण्डल ने निर्णय लिया कि श्रीकविराज जी के बँगला में प्रकाशित वाङ्मय को हिन्दी में अनुवादित कराकर और प्रकाशित कर तान्त्रिक ज्ञान का आलोक प्रसारित किया जाय। उक्त निर्णयानुसार परिषद् के भूतपूर्व निदेशक पं० श्रीहंसकुमार तिवारी जी ने उनके सभी सुलभ ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया। सम्प्रति, उनमें इस एक ग्रन्थ को हम प्रकाशित कर रहे हैं। इस अनुवाद-परम्परा में यह दूसरा ग्रन्थ है।

श्रीकविराज जी की मूल हिन्दी-कृतियों को परिषद् ने पहले ही प्रकाशित किया था, जिनमें 'काशी की सारस्वत साधना', 'भारतीय संस्कृति और साधना' (दो खण्ड) तथा 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि' मुख्य हैं। अब प्रस्तुत ग्रन्थ एवं इसी परम्परा में दूसरे ग्रन्थों के प्रकाशन से श्रीकविराज जी के वाङ्मय का पूरा परिचय हिन्दी-जगत् को प्राप्त हो जायगा। परिषद् की अपनी कर्त्तव्यपूर्त्ति में यह एक महत्त्वपूर्ण योगदान है, साथ ही तान्त्रिक ज्ञान के प्रसारण एवं भारतीय संस्कृति को यथार्थ रूप में उपस्थित करने का श्रेय परिषद् को प्राप्त हुआ, यह अपने-आप में एक महनीय और श्लाघनीय अवदान है।

तन्त्र स्वयं रहस्यमय और प्रयत्नगम्य शास्त्र है। इस शास्त्र की भाषा पारिभाषिक एवं परिनिष्ठित शब्दों में गुम्फित रहती है। यह ज्ञान एवं विशेष प्रक्रिया का, विधि-विधानों का शास्त्र है, अतएव इस शास्त्र का प्रतिपाद्य सदा दुरूह और दुर्बोध बना रहता है। इस दुर्बोधता को दूर करके श्रीकविराज जी ने गुह्य तन्त्र-ज्ञान को हस्तामलकवत् हमारे समक्ष रखा है। यह कार्य उनके जैसे पारगामी विद्वान्

ही कर सकते हैं। इस ग्रन्थ में तन्त्र के स्वरूप, ग्राविर्भाव ग्रौर भेद, तान्त्रिक संस्कृति से ग्रारम्भ करके, गुरु-तत्त्व, सद्गुरु-रहस्य, दृष्टिभंगी, दीक्षारहस्य, मन्त्रतत्त्व, जपविज्ञान, कुण्डलिनी, नाद-रहस्य, वर्णविचार, मातृका-रहस्य, देह-सिद्धि ग्रादि सभी मुख्य विषयों का वैज्ञानिक विवेचन सरल-सुबोध भाषा में किया गया है। तन्त्र उपासना-प्रधान शास्त्र है ग्रौर उपास्य हैं ग्रादिशिव तथा ग्रादिशक्ति पार्वती। इस ग्रन्थ में साधक का साध्य के साथ सक्षात्कार या परमशिव-तत्त्व की प्राप्ति, साधना की प्रक्रिया ग्रादि सभी ग्रावश्यक तान्त्रिक प्रक्रियाग्रों ग्रौर सिद्धान्तों का विशद वर्णन एक साथ उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ की उपलब्धि ग्रौर उपयोगिता को सुधी जन स्वयं समझ सकते हैं।

ग्रनुवादकर्त्ता पं० श्रीतिवारी जी परिषद् के स्वयं निदेशक रह चुके हैं। उनके कार्यकाल में ही उन्हें यह ग्रनुवाद का भार सौंपा गया था ग्रौर उन्होंने इस कार्य को चारुतया सम्पादित किया है। ग्रतः परिषद् की ग्रोर से उन्हें साधुवाद है।

ग्रन्थ के स्वच्छ-सुन्दर मुद्रण एवं प्रकाशन का प्रयास किया गया है। जैसा कुछ बन पड़ा है, ग्राप पाठकों के सामने है। हमारा विश्वास है कि सहृदय ग्रनुग्राहक इस महत्त्वपूर्ण रचना को सर्वाधिक उत्साह से ग्रपनाकर हमारे सारस्वत ग्रध्यवसाय को सफल सुखद बनायेंगे। ग्रापकी उन्मुक्त स्वीकृति ही हमारी सफलता का सबल प्रमाण है।

रामनवमी, २०३६ विक्रमाब्द;
दिनांक ५-४-१९७९ ई०

श्रुतिदेव शास्त्री
निदेशक

विषय-सूची

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

बौद्ध

हिन्दू

तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त

प्रथम भाग

तन्त्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद

भारतीय संस्कृति की आलोचना करनी हो, तो वैदिक और तान्त्रिक साधना के स्वरूप की उपलब्धि के लिए प्रासंगिक तौर पर तात्त्विक दृष्टि से वेद और तन्त्र की खोज-बीन जरूरी है। वर्त्तमान समय में इन दोनों साधनाओं में से कोई भी सांकर्य-दोष से मुक्त नहीं है। सिर्फ इतना ही नहीं, वैदिक साधनामूलक स्मार्त और पौराणिक धारा भी विशुद्ध रूप में नहीं मिलती। सबमें मिलावट दिखाई देती है। जिस प्रकार, वैदिक धारा के विकास-क्रम में अवान्तर धारा का उद्‌भव और विकास घटित हुआ है, ठीक उसी प्रकार तान्त्रिक साधना के क्रम में भी विभिन्न धाराओं का आविर्भाव और सांकर्य हुआ है। प्राचीनकाल से मध्ययुग एवं वर्त्तमान काल तक बहुत विषयों में भारत की सांस्कृतिक धारा पर बाहरी भावधारा का आगन्तुक प्रभाव न्यूनाधिक पड़ा है। यह विषय ऐतिहासिक गवेषणा का है। तात्त्विक आलोचना में ऐतिहासिक दृष्टि उपयोगी नहीं होती; क्योंकि तत्त्व और उसका उन्मेषक्रम काल के क्रमविकास तथा उसके नियमों के अधीन नहीं होता। यह बात यद्यपि सत्य है कि तत्त्वान्वेषण का भी क्रम-विकास है, फिर भी वह ऐतिहासिक गवेषणा के बाहर का विषय है।

प्राचीन काल की तरह मध्ययुग में और आज भी वैदिक साधना की आलोचना एवं मनन चल रहा है। ऐतिहासिक, शाब्दिक, पौराणिक तथा अन्यान्य दृष्टिकोणों से इस विषय की काफी खोज-बीन हो रही है। इसके महत्त्व और आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आधुनिक युग में योग-विज्ञान की दृष्टि से श्रीअरविन्द एवं उनके कुछ अनुयायी इस विषय में काफी परिश्रम कर रहे हैं। यह भी बड़े महत्त्व का काम है। किन्तु, इन सबके बावजूद इस रहस्यमय क्षेत्र में बहुतेरे रहस्य अनुद्‌घाटित ही हैं।

तान्त्रिक साधना पर भी कुछ दिनों से काम शुरू हुआ है। महात्मा शिवचन्द्र विद्यार्णव, उनके शिष्य सर जॉन उड्‌रफ, परम श्रद्धास्पद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द आदि मनीषियों ने इस विषय में बहुत अधिक परिश्रम किया है। परन्तु, यह दिग्दर्शन-मात्र है। प्राचीन वैदिक साधना के क्रम का अनुशीलन जैसा बहिर्मुख है, तान्त्रिक साधना की आलोचना भी अधिकांश क्षेत्र में ठीक वैसी ही बहिर्मुखी है। तान्त्रिक साधना के विषय में अभी भी अधिक आलोचना नहीं हुई है। जो कुछ हुई है, उससे उसके निगूढ़ रहस्य पर प्रकाश नहीं पड़ता।

वस्तुरूप को जानने के लिए उसके अन्तरंग की जानकारी जरूरी है। संस्कृति के प्रत्येक विभाग में ही एक दिशा है, जो, चूँकि रहस्य से आच्छन्न है, इसलिए केवल विशिष्ट अधिकारियों के ही अधिगम्य है। संसार की सारी ही संस्कृतियों के लिए यह सत्य है।

यहाँ तान्त्रिक अथवा वैदिक 'साधना का आपेक्षिक प्राचीनत्व आलोच्य नहीं है। 'तान्त्रिक साधना' शब्द से यहाँ शाक्त साधना और आनुषंगिक रूप से शैव साधना अभिप्रेत है। लेकिन, यह स्मरण रखना होगा कि वैष्णव और सौरादि साधन-प्रणाली भी वास्तव में तान्त्रिक परम्परा का प्रकार-भेद-मात्र है। साधना के सभी क्षेत्रों में बाहरी प्रभाव पड़ा है। परन्तु, उन प्रणालियों का नामकरण क्षेत्र की विशिष्टता के अनुसार हुआ है। वैष्णव-क्रम में पाञ्चरात्र और भागवत-धारा प्राचीन काल से ही प्रचलित हैं। क्रमशः दोनों में कुछ-कुछ मिलावट हुई है। 'पाञ्चरात्र-तन्त्र', 'सात्वततन्त्र' आदि ग्रन्थ प्राचीनकाल से ही वैष्णव-समाज में सम्मानित रहे हैं। वर्त्तमान समय में 'पाञ्चरात्र-संहिता' यद्यपि लुप्तप्राय है, तथापि प्रायः दो सौ संहिता-ग्रन्थ आज भी मिलते हैं। इस निबन्ध में वैष्णव या अन्य किसी तन्त्र की आलोचना अभीष्ट नहीं है। केवल शैवों और शाक्तों के तान्त्रिक साहित्य तथा संस्कृति के विभिन्न पहलुओं की थोड़ी-बहुत चर्चा ही इसका उद्देश्य है।

वेद और तन्त्र शब्दात्मक होते हुए भी वास्तव में ये दोनों ज्ञान के प्रकार-भेद ही हैं। यह ज्ञान दिव्य और अपौरुषेय है। बहिर्मुखी दृष्टि से वेद शब्द का अर्थ जो भी क्यों न हो, वास्तव में वह वेद का स्वरूप है—अतीन्द्रिय शब्दात्मक सूक्ष्म ज्ञान-विशेष। मन्त्रदर्शी ऋषिगण इस ज्ञान को प्राप्त करके सर्वज्ञ होते थे और तुरीयावस्था में आत्मज्ञान की प्राप्ति से अपने जीवन को सफल करते थे। इसलिए 'पुराकल्प' में लिखा है :

'यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचम् ऋषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति, ताम् असाक्षात्कृतधर्मेभ्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति, स्वप्नवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्ते।'

अर्थात् जिन्होंने धर्मतत्त्व का साक्षात्कार किया था, उन सब ऋषियों ने नित्य इन्द्रियातीत सूक्ष्म वाक् का दर्शन (उपलब्धि) किया। जिन्होंने धर्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया, वे उसका दर्शन नहीं कर सकते थे। उन सभी लोगों को सूक्ष्म वाक् का ज्ञान-दान देने के लिए ऋषियों ने उस अतीन्द्रिय वाक् को इन्द्रियगोचर वेद-वेदाङ्ग रूप में प्रकट किया। यह वेद और वेदाङ्ग ही बिल्म पदवाच्य हैं।

स्वप्नानुभूति को प्रकाशित करने के लिए जैसे स्थूल इन्द्रियगोचर वाणी का आश्रय लिया जाता है, ठीक वैसे ही अतीन्द्रिय सूक्ष्म वाक् का निरूपण भी

आवश्यक है। यह सूक्ष्म वाक् ही परावाक् है।[1] वेद इसी अतीन्द्रिय नित्य वाक् का का अवतीर्ण रूप-मात्र है—स्वरूप नहीं। क्योंकि, मन्त्रद्रष्टा ऋषि के सिवाय और किसी के निकट वेद का यह स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। वास्तव में, वेद एक एवं स्वरूपतः अभिन्न है। वह बोधात्मक है, किन्तु अभिव्यक्ति के समय वागात्मक होकर शब्दक्रम में प्रकाशित होता है। यह वेद ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। अहंकार-ग्रन्थि—अहम् (मैं) और मम (मेरा) रूप में व्यक्त होती है। इस ग्रन्थि को छिन्न करके उत्तीर्ण होना ही ब्रह्म-प्राप्ति है। प्रचलित वेद के विभिन्न आम्नाय हैं। ये सब उस अनाम्नात अखण्ड वेद के अनुकरण-भर हैं। आचार्य भर्तृहरि ने भी प्रचलित वेदों को 'अनुकार' कहा है।[2]

वेद की तरह तन्त्रक्रम भी बोधात्मक और वागात्मक है। शिव-समवेता शक्ति के दो रूप हैं—एक ज्ञान, दूसरा क्रिया। ज्ञानरूपा शक्ति पर और अपर—दो प्रकार की होती है। परज्ञान बोधात्मक है, अपरज्ञान वागात्मक। वागात्मक ज्ञान शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है। बोधात्मक परज्ञान, वागात्मक अपरज्ञान या शब्द पर आरूढ़ होकर

---

१. सूक्ष्म वाक् से परावाक् ही समझना होगा। इस सम्बन्ध में दो मत हैं। शब्दब्रह्मवादी के अनुसार सूक्ष्म वाक् पुरुषसमवायिनी और पुरुष की अमृतकला-स्वरूप है। सिद्धान्त-शैवमत से सूक्ष्म वाक् बिन्दु का कार्य और शब्दवृत्ति है। शैव दृष्टि से सूक्ष्म वाक् पुरुष-समवेता शक्ति नहीं है, वह अविभक्त रूप में आत्मा में रहती है। परावाक् कारण और नित्य नहीं, प्रत्युत कार्यरूप और अनित्य है। इसी का नाम शब्दब्रह्मरूप 'रवि' या सूर्य है। इसके भेदन कर सकने से ही, समझिए, विवेक-ज्ञान का उदय होता है और शब्दब्रह्म के भेदन होने से ही मुक्ति का उदय हुआ समझना चाहिए। शब्दब्रह्मवादी के मत से 'सूक्ष्म वाक्' 'पश्यन्ती' से अभिन्न है, पर शाक्तमत से वह आत्मा या परम शिव का पराशक्ति-स्वरूप है। जब आत्मस्वरूप में अपने स्वरूप के दर्शन की इच्छा उत्पन्न होती है, तब प्रकाशांश और विमर्शांश अर्थात् शान्ता और अम्बिका शक्ति—दोनों में समरसता हो जाती है। इसी का नाम 'परावाक्' या 'परामातृका है, जिसमें छत्तीस तत्त्व समन्वित विश्व बीज में वृक्ष की नाईं अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है और सृष्टि के समय अभिव्यक्त होता है।

२. वास्तव में वेद का यथार्थ स्वरूप ही प्रणव है : "सहि सर्वः शब्दार्थ प्रकृतिः", 'सर्वा वाचो वेदमनुप्रविष्टाः', 'नावेदविन्मनुते ब्रह्म किञ्चित्'।

अर्थ के प्रकाशन में प्रवृत्त होता है। सात्त्वत-संहिता में परज्ञान को शिव की साक्षात् शक्ति, अपरज्ञान को तन्त्र कहा गया है। विश्व-सृष्टि के उन्मेष के समय भगवान् ने परापर मुक्ति के सम्पादन के लिए ज्ञान का प्रकाश किया। सबसे पहले परम कारण निष्कल शिव से अवबोध-रूप ज्ञान का नादात्मक प्रसार होता है। उसके बाद नादात्मक ज्ञान सदाशिव-रूप का आश्रय लेकर तन्त्र अथवा शास्त्र का रूप ग्रहण करते हैं। इसीलिए, पौष्करागम में शास्त्र को नादरूप कहा गया है। नादरूप में अपसृत इस अवबोधात्मक विमल ज्ञान की पाँच धाराएँ हैं: पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व। निष्कल परमशिव में वागादि इन्द्रियों की नहीं, परनाद की सम्भावना रहती है। अयस्कान्त की क्षमता जैसे लोहे को खींचना है, यह भी बहुत कुछ उसी तरह का है। शास्त्र शुद्ध आत्मवर्ग का भवसागर से उद्धार करता है।

शास्त्रज्ञान का प्रकाश इस प्रकार से हुआ करता है। तन्त्र के अनुसार यह ज्ञान दो प्रकार का है—पर और अपर। वस्तुत: यह अनन्त है। जिस ज्ञान से पशु या जीव का तत्त्व जाना जा सकता है, या मायिक जगत् का अर्थबोध हो सकता है, उसका नाम अपरज्ञान है। और, भगवत्-तत्त्व को प्रकट करनेवाला ज्ञान ही परज्ञान है। भगवत्-तत्त्व के शिवात्मक प्रकाश से रुद्रात्मक प्रकाश भिन्न है। परमशिव होने में प्रवृत्त शिव को प्रकाश करने का ज्ञान ही शिवज्ञान है। आणव आत्मा के मायाख्य एवं कार्म बन्धन को तोड़कर आणव मल से मुक्त करना शिवज्ञान का महत्त्व है। इसके प्रकाशित होने से शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। पहले जिसका उल्लेख किया गया है, उस पशु अथवा पाशज्ञान से शिवज्ञान सर्वथा भिन्न है—इसे स्मरण रखना होगा।

अद्वैतमत से ज्ञान के अवतरण का क्रम इस प्रकार है: परावाक् अवश्य सबका मूल है। यह बोध-स्वरूप और पूर्व-स्थिति है। सारे भाव इस स्थिति में पूर्ण रहते हैं। इसी को परम परामर्श कहते हैं। परबोध-रूपी परावाक् में अनन्त शास्त्र वर्त्तमान रहते हैं। सृष्टि के आरम्भ में परास्थित शास्त्रादि क्रम से निम्न भूमिका में अवतीर्ण होते हैं अथवा बहिर्मुखी रूप में प्रकाशित होते हैं। सबसे पहले हृदय के भीतर परमबोध-रूप में अहंज्ञान का उदय होता है। इस अवस्था में परमबोध अस्फुट रहता है। इस विमर्श-स्वभाव में वाच्य-वाचक-भाव नहीं रहता। पश्यन्ती भूमि की अवस्था में असाधारण रूप से आन्तर भाव का उदय होता है। इसलिए, प्रत्यवमर्शनकारी आत्मा वाच्यार्थ के परामर्शन के मामले में अर्थ को अहंता से आच्छादित करके अभिव्यक्त करता है। इसके बाद मध्यमा भूमि के अन्तराल में वाच्यार्थ वाच्य-वाचक स्वभाव से उदित होता है। परन्तु, यह उल्लास वेद्य-वेदक प्रपंच के उदय से भिन्न है। इस मध्यमा भूमि में परमेश्वर अपने स्वरूप को दो हिस्सों में बाँटकर स्वयं ही गुरु और शिष्य का रूप धारण करते हैं। और, इस कल्पित गुरु-शिष्य-भाव की सहायता से गुप्त ज्ञान

प्रकट करते हैं।[1] ऐसे में सदाशिव नामक गुरु और ईश्वर नाम के शिष्य का आविर्भाव होता है। गुरु अथवा सदाशिव में परमेश्वर अपनी पाँच शक्तियों अर्थात् चित्, आनन्द, ज्ञान, इच्छा और क्रिया को पाँच मुख के रूप में प्रकट करते हैं। सदाशिव के पञ्चमुख के इस संघटन से पञ्च स्रोतमय अभेद, भेदाभेद तथा भेददशा प्रकट होती है। इन प्रभेदों-सहित वैचित्र्यमय सारे शास्त्र इसी तरह से आविर्भूत होते हैं। परन्तु, आविर्भूत

---

१. गुरु कौन है और शिष्य ही कौन। अद्वय मार्ग में वास्तव में परमार्थ-सत्तारूप संविद ही सब कुछ हैं। प्रश्नकर्त्ता शिष्य और प्रतिवक्ता गुरु वस्तुतः अभिन्न हैं। पारमार्थिक तथा पूर्ण स्वभाव वस्तु संविदात्मक होती है। यही पश्यन्ती आदि भूमि को स्पर्श करते हुए वैखरी भूमि तक स्फीत होती है। यही स्वसंविद ही संकुचित होकर प्रमातृरूपी शिवभूमि का अवभासन करके प्रश्नकर्त्ता बनते हैं। वास्तव में, संविद् ही प्रश्नकर्त्ता है और प्रश्न तथा उत्तर अथवा गुरु और शिष्य दोनों संविद ही हैं।

गुरुशिष्यपदेष्वेव वेद्यभेदोऽप्यतात्त्विकः।
प्रष्ट्री च प्रतिवक्त्री च स्वयं देवी व्यवस्थिता।। तन्त्रालोक १०।२५६

संशय और निश्चय वास्तव में एक हैं। सामान्य प्रतीति संशयात्मिका और विशेष प्रतीति निश्चयात्मिका होती हैं। 'तत्त्वमुक्ताकलाप' में वेदान्त-देशिकाचार्य ने कहा हैं—अभिनय के छल से ईश्वर ही आचार्य एवं शिष्य की भूमिका ग्रहण करते हैं :

युक्ति प्रश्नोत्तरादेर्नहि पुरुषभिदां बुद्धिभेदं च मुक्त्वा।
तस्माद् व्यहादिभेदे कतिचन पुरुषाः स्युः परेणानुबद्धाः।
तत्र स्वच्छन्दशीलः स्वयमभिनयति स्वान्यतां सर्ववेदी
तद्वच्छिष्यादि वृत्ति प्रसृति मिह सतां शिक्षयन् सानुकम्पः।।

उदयनाचार्य का मत यह हैं—मायावत् समयादयः (न्याय कुसुमाञ्जलि, दूसरा स्तवक)। मीमांसकगण सृष्टि-प्रलय को स्वीकार नहीं करते। फलतः, उनकी दृष्टि से वैदिक साधना-परम्परा के लोप का प्रश्न ही नहीं उठता। नैयायिकगण प्रलय और प्रलय के अन्त में अभिनव सृष्टि को स्वीकार करते हैं। फिर भी, किसी दोष की सम्भावना नहीं है। सृष्टि के आदि में सभी रहते हैं, इसलिए समय ग्रहण का प्रश्न उठता है। इसीलिए, शब्द-व्यवहार के लुप्त होने की आशंका रहती हैं। क्योंकि, शब्द-व्यवहार दृश्य व्यवहार जैसा है। फलस्वरूप आदर्श अर्थात् प्रदर्शक के नहीं होने से घटादि निर्माण आदि की संगति नहीं रहती। परन्तु, नैयायिकों का कहना हैं : "स्वर्गादौ स्वयमेव परिगृहीत प्रयोज्य प्रयोजक वृद्ध शरीर व्यवहारस्य परमेश्वरस्य व्यवहारत एव सुकरः" अर्थात् घटादि क्रिया भी कुलालादिविग्रहधारी भगवान् से सिद्ध होती है। इसका मतलब यह हुआ कि गुरु-शिष्य-भाव धारण करके परमात्मा ही ज्ञान एवं क्रिया का उपदेश देते हैं।

होने के बावजूद मध्यमा अवस्था में ये अस्फुट अवस्था में रह जाते हैं। वैखरी अवस्था में आने के वाद परिष्कृत होकर ये सव शास्त्र का रूप और आकार लेते हैं।

मालिनीविजय वार्त्तिक में कहा गया है कि वाच्य और वाचक भेद से विश्व दो प्रकार का है। और, वाचक शुद्ध या दिव्य तथा मानव-भेद से दो प्रकार का है। शैवागम दिव्य शव्द अथवा परमविमर्श का स्थूल रूप है। स्थूल मानवीय वाक् विशुद्ध विमर्श का रूप है।

अद्वैत आगम का सिद्धान्त यह है कि जिन सारे शास्त्रों का प्रकाश जगत् में हो चुका है और जिनका प्रकाश अभी तक नहीं हुआ है और जो प्रकाशित होकर लुप्त हो चुके हैं——सभी परबोध-रूप में परावाक् में नित्य वर्त्तमान हैं। वहीं तन्त्र का परम स्वरूप है। परवोधात्मक शास्त्र पश्यन्ती आदि भूमि में भूमि-विशेष की विशिष्टता के साथ अभिव्यक्त होते हैं।

जिस क्रम और प्रणाली से परबोध निम्नतम भूमि तक अवतीर्ण होता है, तन्त्र के मतानुसार वही वास्तव में आविर्भाव का प्रकार है। यह किसी खास ऐतिहासिक समय में संघटित ऐतिहासिक क्रम की बात नहीं। यह महाज्ञान पहले अहंज्ञान का रूप धारण करके अन्तर में स्फुरित होता है। यह असाधारण रूप से होता है। इस अवस्था में वाच्य और वाचक अर्थात् शव्द और अर्थ परस्पर पृथक् रूप में भासमान नहीं होते। इस अवस्था में वाच्य का इदं रूप में भान नहीं होता, प्रत्यवमर्शनकारा प्रमाता वाच्य अर्थ का परामर्श-मात्र करते हैं। ऐसी स्थिति में भी वाच्य-वाचक-भाव नहीं रहता। यह हुई पश्यन्ती भूमि की वात। वहिर्मुखी भाव के वढ़ने से क्रमश: कुछ-कुछ विलक्षणता अनुभूत होती है। सवसे पहले वेद्य-वेदक रूप में प्रपंच का उदय होता है और वह होता है अन्तर में। फिर उस महाज्ञान से वाच्य-वाचक-भाव का आविर्भाव होता है, परन्तु यह भीतर में होता है, वाहर नहीं। इस भूमि को मध्यमा कहते हैं। इस समय विश्वगुरु परमेश्वर से अनन्त शास्त्रों का स्पष्ट अवतरण होता है। इसमें नाना प्रकार के भेद-प्रभेद रहते हैं।

ऊपर वर्णित चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया——इन पाँच स्रोतों में से प्रत्येक की दो अवस्थाएँ होती हैं। एक को उद्‌भवोन्मुख और दूसरी को उद्‌भूत कहते हैं। शिव के इन पाँच मुखों का शास्त्रीय नाम है——ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर। यहाँ ये 'ई', 'त', 'स', 'वा', 'अ', संकेत द्वारा वताये जायेंगे। आगम के मत से महेश्वर का स्वरूप एक ही है, परन्तु शक्तिवर्ग के सम्वन्ध-भेद के कारण उसमें अनेकता है और भेदों का उपचार होता है। और, फलस्वरूप भेदाभेद-प्रधान एवं अभेद-प्रधान अवस्था का उदय होता है।

महेश्वर की भेद-प्रधान अवस्थाएँ दस हैं और भेद के प्रतिपादक आगम भी मूलतया दस हैं। इनके आविर्भाव की प्रणाली इस प्रकार है :

उद्भवोन्मुख 'ई', 'त', 'स'—इन तीन मुखों से एक-एक और उद्भूत 'ई', 'त', 'स'—इन तीन मुखों के एक-एक। उसके बाद 'ई', 'त', 'स' इनके द्विमुख मिलन से एक-एक। इस प्रकार से कुल नौ। 'ई', 'त', 'स' के त्रिमुख मिलन से एक-एक—कुल दस भेद-प्रधान आगम प्रकट होते हैं। इनके नाम हैं—कामिक, योगज, चिन्त्य, मुकुट, अंशुमान्, दीप्त, अजित, सूक्ष्म, सहस्र और सुप्रभेद।[1]

परमेश्वर की भेदाभेद-प्रधान दशा या रौद्र अवस्था अट्ठारह हैं। इससे प्रवृत्त रौद्रागम का विवरण इस प्रकार है—'वा', 'अ',—दो एकक हैं, बाकी तीन एकक 'ई', 'त' और 'स' हैं, जो भेद-प्रधान अवस्था में पहले ही दिखाये जा चुके हैं।

वा—ई
अ—ई } इन तीन का द्विक।
वा—अ

ई—त
ई—श
त—श

भेद-प्रधान तन्त्र के विवरण में इनका निरूपण हो चुका है। 'त' और 'स' में संगति नहीं होती। त—वा, स—वा, स—अ, त—अ—ये छोड़े गये हैं; क्योंकि 'त', 'स', 'वा', 'अ'—इनमें दो-दो या चार-चार मिलन नहीं हो सकता।

ई-स-त—एक
ई-वा-स—एक
ई-अ-त—एक
ई-स-वा—एक
ई-स-अ—एक
ई-वा-अ—एक
त-स-वा—एक

} ये सब त्रिक हैं। भेद-प्रधान होने के कारण 'ई', 'त', 'स' बाद पड़ गये हैं और 'ई', 'वा', 'अ' का नियोग सम्भव नहीं है।

---

१. आचार्य जयरथ के विवरण के आधार पर यहाँ दस शिवज्ञान का विवरण दिया गया। किरणागम के अनुसार ये नाम इस प्रकार हैं—कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, सुप्रभेद और अंशुमत्। किरण-आगम के अनुसार पूर्वोक्त दस शिवज्ञान आत्मज शिव के पृथक्-पृथक् ज्ञान हैं। कामिक प्रणव शिव का, योगज सुधाख्य शिव का, चिन्त्य दीप्ताख्य शिव का, कारण कारणाख्य शिव का, अजित सुशिव का, सुदीप्त ईश्वर का, सूक्ष्म शिव का, सहस्र कालशिव का, सुप्रभेद गणेश शिव का और अंशुमत् अंशुशिव का ज्ञान है।

त-स-अ---एक
त-वा-अ---एक
स-वा-अ---एक

ई-त-स-वा---एक
ई-त-स-अ---एक
ई-त-वा-अ---एक
ई-स-वा-अ---एक

ई-त-स-वा-अ---एक पञ्चक है।

इस प्रकार दो एकक, तीन द्विक, आठ त्रिक, चार चतुष्क और एक पञ्चक--- इनके मिलन से अष्टादश रौद्र आगम उत्पन्न होता है। इनके नाम हैं--विजय, निःश्वास, मदगीत, पारमेश्वर, मुखविम्ब, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह, चन्द्रांशु, वीरभद्र, आग्नेय, स्वयम्भू, विसर, रौरव, विमल, किरण, ललित, सौमेय। कहीं-कहीं मदगीत की जगह प्रोद्गीत नाम का उल्लेख मिलता है।[1] ऊर्ध्वस्रोत में शिव और रुद्र---ये दो प्रकार के ज्ञान हैं। इनका शास्त्र आगमरूप में ऊपर वर्णित हो चुका है। भेद-प्रधान दस शैवागम और भेदाभेद-प्रधान अट्ठारह रौद्रागम का उल्लेख किया जा चुका है। परमेश्वर की अभेद-प्रधान चौंसठ दशाएँ हैं। वे भैरवागम से संसृष्ट हैं। शिव के दक्षिण-मुख को योगिनीवक्त्र कहा जाता है। यह शिवशक्ति का अद्वय एवं संघट्ट रूप है। दूसरे-दूसरे मुखों में प्रत्येक के उद्भवोन्मुख, उद्भूत, तिरोधानोन्मुख और तिरोहित--- ये चार स्वरूप हैं। इन चारों मुखों में सोलह भेद हैं।

जब एक ही समय चारों मुख अन्तर्लीन होकर आपस में मिलते हैं, तब चौंसठ प्रकार की अद्वयप्रधान भैरवावस्था का आविर्भाव होता है। चूँकि यह दक्षिण हार्दलिंग सर्वसंहारक है, इसलिए काला और तिमिररूपी है। यह भेदभाव के मायीय तेजः अंश को ग्रास करता है और अन्तर में अनन्त सृष्टि के तत्त्व-समूहों से पूर्ण रहता है। यह दक्षिण-मुख वैसर्गिक, हार्द एवं स्वतन्त्र शिवरूप है। जब इसमें एक ही समय में बाकी चारों मुखों का लय होता है, तो भैरव-आगम का आविर्भाव होता है। तब सोलह प्रकार का भेद अस्तमित होता है। इसलिए, इस अवस्था को अद्वय कहते हैं।

---

१. किरणागम के अनुसार अष्टादश रुद्रागम ये हैं--विजय, पारमेश, निःश्वास, प्रोद्गीत, मुखबिम्ब, सिद्धमत, सन्तान, नारसिंह, चन्द्रहास, भद्र, स्वायम्भुव, विरक्त, कौरव्य, मुकुट, किरण, ललित, आग्नेय और पर।

प्रस्थान-भेद से भैरवागम का विभाग इस प्रकार है :

१. भैरवाष्टक : स्वच्छन्द भैरव, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, असितांग, महोच्छुष्म, कंकालीश ।
२. यामलाष्टक : ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, आथर्वण, रुरु, बेताल, स्वच्छन्द ।
३. मताख्याष्टक : रक्ताख्य, लम्पटाख्य, लक्ष्मी, मत्त, चालिका, पिंगल, उत्फुल्लक, विश्वाद्य ।
४. चक्राष्टक : मन्त्रचक्र, वर्णचक्र, शक्तिचक्र, कलाचक्र, बिन्दुचक्र, नादचक्र, गुह्यचक्र ।
५. मंगलाष्टक : भैरवी, पिचुतन्त्र, समुद्भव (दो तरह का), ब्राह्मी, कला, विजया, चन्द्राख्या, मंगला, सर्वमंगला ।
६. शिखाष्टक : भैरवी, वीणा, वीणामणि, सम्मोह, 'डामरु, आथर्वक, कवन्ध, शिरश्छेद ।
७. वहुरूपाष्टक : अन्धक, रुरुभेद, अजाख्य, मलसंज्ञक, वर्णकण्ठ, विभंग, ज्वालिन, मातृरोदन ।
८. वागीशाष्टक : भैरवी, चिहिका, हंसाख्य, कादम्विका, हृल्लेखा, चन्द्रलेखा, विद्यल्लेखा, विद्युन्माल ।

यह सदाशिव चक्र है । इसी के चौंसठ भेद ही चौंसठ आगम हैं । शिव के प्रत्येक मुख में पाँच अवान्तर भेद हैं । आगम के उपभेद वास्तव में असंख्य हैं ।

एकैकं पञ्चवक्त्रं च वक्त्रं यस्यां प्रगीयते ।
दशाष्टादश भेदाश्च ततो भेदेष्वसंख्यता ।।

श्रीकण्ठी में तन्त्रावतार के विषय में लिखा है कि तत्पुरुष वक्त्र से अट्ठाईस प्रकार के गारुड़ हृदय का आविर्भाव होता है। पश्चिम-वक्त्र से भूततन्त्र का और दक्षिण-वक्त्र से चौबीस प्रकार के दक्षिण-मार्ग का आविर्भाव होता है ।

इस चर्चा से साफ समझ में आता है कि तन्त्र का मूल स्वरूप 'परावाक्' रूप है । यही भावान् की पराशक्ति है । अवतरण-क्रम से निखिल वेद्य का स्फुरण होता है । इस अवस्था में कालगत अतीत, अनागत और वर्त्तमान का भेद नहीं रहता । भेद स्वात्मा से अभिन्न रूप में या तद्रूप में भासमान होता है ।

वास्तव में, यह आत्मबोध की अवस्था है । यहाँ वाचक शब्द का अस्तित्व नहीं होता और वाच्य अर्थ का भी अस्तित्व नहीं रहता । दूसरी भूमि में अर्थ इदं रूप में प्रतीत होता है । इस स्तर पर अर्थ, वाच्य और शब्द-भिन्न अवस्था में, वाचक-रूप में प्रकाशित होता है । इस स्तर में सूक्ष्म रूप में सारे ही शास्त्र वाचक

शब्द के आश्रय में आविर्भूत होते हैं। आत्मा स्वयं ही वक्ता, गुरु और श्रोता शिष्य-रूप में प्रकट होती है। यह स्थिति मध्यमा भूमि की है। इस भूमि में सभी शास्त्र नित्य प्रकाशमान होते हैं। इसका थोड़ा-सा अंश वैखरी-रूप में, स्थूल इन्द्रिय के विषयीभूत रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। बाकी शास्त्र यहीं रह जाते हैं। मध्यमा भूमि में, बहुत प्रकार के अपरिमेय ज्ञान-विज्ञान विद्यमान हैं। आवश्यकता के अनुसार योगी और ज्ञानी उस भूमि से ज्ञान आहरण करते हैं। छान्दोग्य-उपनिषद् के दहरविद्या-प्रकरण में इसका थोड़ा-सा आभास है। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं : **ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागम हेतुकम्।** प्रातिभ ज्ञान को साधारण दृष्टि से 'अनौपदेशिक' कहा जाता है। यह आगम एवं सर्वविषयक है।

जो क्रम दिखाया गया, उसमें अवतरण की प्रथम भूमि ही प्रातिभ ज्ञान है। वाच्य-वाचक-विभागशून्य इस पश्यन्ती भूमि में उपदेष्टा और उपदेश्य में भेद नहीं रहता। अनौपदेशिक ज्ञान के मूल में आगम है, यह सत्य है; क्योंकि परावाक् या आगम ही प्रतिभा का निदान है। तन्त्र के अवतरण-क्रम के बारे में योगी अमृतानन्द की दृष्टि महत्त्वपूर्ण है। वह कहते हैं :

विमर्शरूपिणी शक्तिरस्य विश्वगुरोः सदा।
परिस्फुरति सैकापि नाना भावार्थरूपिणी॥

महास्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है :

गुरु शिष्य पदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैः तन्त्रं समवतारयत्॥

अमृतानन्द ने यह भी कहा है :

प्रकाशात्मकः परशिवोऽहमेव विश्वानुग्रहपरः परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-क्रमेण व्यापृत्य विमर्शांशेन प्रकटो भूत्वा प्रकाशांशेन प्रतिवचनदातापि सन् तन्त्रं समवतारयामि।

तान्त्रिक संस्कृति

[एक]

अपनी प्राचीन संस्कृति के स्वरूप के सम्बन्ध में खोज-बीन की प्रवृत्ति आजकल हममें क्रमश: जाग रही है, यह खुशी की बात है। वेद और लुप्तप्राय वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार के लिए पाश्चात्य और भारतीय विद्वत्-समाज बहुत दिनों से अथक परिश्रम करता आ रहा है––यह सभी को मालूम है। तत्कालीन भारत-सरकार द्वारा पुरातत्त्व-विभाग की स्थापना के समय से भारत के प्राचीन इतिहास के विभिन्न क्षेत्रों में––खासकर स्थापत्य, भास्कर्य, मुद्रा, शिलालेख आदि के विषय में अनगिनत विस्तृत तथ्य उद्घाटित हुए हैं। देश के सौभाग्य से तान्त्रिक संस्कृति-विषयक अन्वेषण-कार्य क्रमश: सफलता पा रहा है। वर्त्तमान काल में प्राय: भूले-से वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार के लिए प्राथमिक प्रयास जैसे **मोक्ष मूलर** प्रभृति पाश्चात्य मनीषियों ने किया था, ठीक वैसे ही विस्मृतप्राय तान्त्रिक साहित्य की ओर भी सबसे पहले पाश्चात्य पण्डितों का ही ध्यान गया था। इस विषय में **सर जॉन उड्रफ उर्फ आर्थर एवालन** को हम हरगिज नहीं भुला सकते। आंशिक रूप में तान्त्रिक ग्रन्थ-समूहों का प्रकाशन यद्यपि विभिन्न स्थानों से हो रहा है, फिर भी सामूहिक रूप से इस महान् कार्य में कोई भी प्रतिष्ठान व्रती नहीं हुआ है। यह बड़े ही हर्ष की बात है कि इधर वाराणसी के संस्कृत विश्वविद्यालय ने इस महान् कार्य में उत्साह दिखाया है।

यह काम काशी के उपयुक्त है, इसमें सन्देह नहीं। भारत के आध्यात्मिक क्षेत्र की प्राय: सभी साधना के लिए काशी का विशिष्ट स्थान है। मेरा खयाल है, बुद्धदेव के समय से ही––अथवा उससे भी पहले से––विद्या के क्षेत्र में काशी सुप्रसिद्ध रही है। यह बात भारत में आये विदेशी पर्यटकों के विवरण से ज्ञात होती है। लगता है, ऐतिहासिक गवेषणा से इस विषय के बहुत-सारे तथ्यों की जानकारी मिलेगी। मध्ययुग से लेकर आजतक की अवधि की ओर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इस अवधि में भी बहुतेरे विशिष्ट तान्त्रिक साधक और ग्रन्थकार काशी में हुए हैं। उदाहरण-स्वरूप कुछेक साधकों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं :

१. सरस्वती तीर्थ :

ये परमहंस परिव्राजकाचार्य और प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका आदिनिवास दक्षिण-भारत था। ये वेदान्त, मीमांसा, सांख्य, साहित्य और व्याकरण का अध्यापन करते थे। इनका प्रमुख ग्रन्थ था––श्रीशंकराचार्य के **प्रपञ्चसार** की टीका।

२. राघवभट्ट :

इनके पिता नासिक (पंचवटी) से काशी आये थे और यहीं बस गये थे। **शारदातिलक** की टीका सुप्रसिद्ध **पदार्थादर्श** नामक ग्रन्थ की रचना इन्होंने सन् १४६४ ई० में की थी।

३. सर्वानन्द परमहंस :

ये पूर्वबंग (बँगला देश)-निवासी और पहुँचे हुए सिद्ध पुरुष थे। ऐसी प्रसिद्धि है कि इन्होंने एक ही साथ दस महाविद्याओं का साक्षात् लाभ किया था। यह प्राय: चार सौ साल पहले की बात है। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ये काशी में रहते थे। किन्हीं-किन्हीं के अनुसार ये राजगुरु-मठ में रहते थे। इनमें बहुत अलौकिक शक्तियाँ थीं, ऐसी किंवदन्ती है। **सर्वोल्लासतन्त्र** नामक प्रसिद्ध तन्त्र-ग्रन्थ इन्हीं का संकलित किया हुआ है।

४. विद्यानन्दनाथ :

ये दक्षिण-भारत के थे। इनका निवास-स्थान काञ्ची से भी दक्षिण में था। ये सभी शास्त्रों में निष्णात थे। किन्तु, तन्त्रशास्त्र में ही इनका अनुराग अधिक था। तीर्थयात्रा के सिलसिले में जलन्धर नामक सिद्धपीठ के दर्शन के लिए ये उत्तर-भारत गये थे। वहाँ इन्हें सुन्दराचार्य या सच्चिदानन्द नाथ नाम के एक सिद्ध महापुरुष का दर्शन मिला। शास्त्र-विहित क्रम से इन्होंने उनसे दीक्षा ली और विद्यानन्दनाथ नाम से परिचित हुए। उसके बाद गुरु के आदेश से ये काशी में आकर रहने लगे। काशी रहते हुए इन्होंने तन्त्रशास्त्र की बहुतेरी विशिष्ट पुस्तकें लिखीं। यह कोई ४०० वर्ष पहले की बात है।

५. महीधर :

ये अहिच्छत्र से काशी आये और जीवन का अन्तिम समय वहीं बिताया। **'नौका'** टीका-सहित **'मन्त्रमहोदधि'** इनका प्रसिद्ध तान्त्रिक ग्रन्थ है। इसका रचना-काल सन् १५८८ ई० है। इनकी **शुक्लयजुर्वेद** की टीका (महीधर-भाष्य) प्रसिद्ध है।

६. नीलकण्ठ चतुर्धर :

इनका आदिनिवास प्रतिष्ठानपुर या पैठान था। ये आजीवन काशी में ही रहे। महाभारत के टीकाकार के रूप में इनकी बड़ी प्रसिद्धि है। तन्त्रशास्त्र में इन्होंने **'शिवताण्डव'** नामक ग्रन्थ की अनूपाराम नाम की टीका लिखी थी। इसका रचना-काल सन् १६८० ई० है।

७. प्रेमनिधि-पंत :

ये कूर्माचल (कुमायूँ) से काशी आये थे। जीवन के अन्त तक यहीं रहे। इन्होंने बहुत-से तान्त्रिक ग्रन्थ लिखे। उनमें से **मन्त्रादर्श** नामक **'शिवताण्डव'** टीका

प्रसिद्ध है। 'शारदातिलक' और 'तन्त्रराज' की भी टीका इन्होंने की थी। ये प्रायः २५० वर्ष पूर्व हुए।

८. भास्कर राय :

ये दक्षिण के थे, लेकिन बहुत दिनों तक काशी में रहे थे। सिद्धपुरुष के रूप में इनकी काफी ख्याति थी। इन्होंने तन्त्रशास्त्र में 'ललितासहस्र' नाम की टीका, 'सेतुबन्ध', 'वरिवस्या-रहस्य', 'वरिवस्या-प्रकाश' आदि ग्रन्थों की रचना की थी। ये सन् १८१९ ई० के आस-पास हुए।

९. शंकरानन्द नाथ :

इनका पहला नाम शम्भुभट्ट था। ये अद्वितीय मीमांसक खण्डदेव के शिष्य थे और मीमांसाशास्त्र में ग्रन्थ-रचना की थी। ये श्रीविद्या के उपासक थे। इनका 'सुन्दरी महोदय' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनका काल सन् १७०८ ई० कहा जा सकता है।

१०. माधवानन्द नाथ :

ये सौभाग्य-कल्पद्रुम के रचयिता हैं। यह ग्रन्थ परमानन्दतन्त्र के आधार पर लिखा गया था। ये भी काशी में रहते थे। ये लगभग डेढ़ सौ साल पहले रहे थे।

११. क्षेमानन्द :

ये माधावनन्द के शिष्य और तन्त्रशास्त्र के पण्डित थे। ये 'सौभाग्यकल्पलतिका' के रचयिता थे।

१२. सुभगानन्द नाथ :

ये भी काशीवासी प्रसिद्ध तान्त्रिक आचार्य थे। केरल देश के ब्राह्मण थे। इनका पहले का नाम श्रीकण्ठ था। काशी में तन्त्र और वेद के अध्यापक थे। माधवानन्द के समसामयिक थे।

१३. काशीनाथ भट्ट :

ये छोटी-छोटी बहुत-सी तान्त्रिक पुस्तकों के रचयिता थे। ये प्रायः सौ साल पहले हुए।

ऐसी गौरवशाली परम्परा में काशी में ऐसा सांस्कृतिक उज्जीवन स्वाभाविक ही है।

[दो]

भारतीय संस्कृति के जिस रूप से हम आज परिचित हैं, समय के प्रभाव से विकृत और संकुचित लगने पर भी वह एक विशाल गौरवमय प्राचीन संस्कृति की उत्तराधिकारिणी है। इस प्राचीन संस्कृति का आदिरूप कैसा था, इसका अनुमान असम्भव है। क्योंकि, इस सम्बन्ध में हम जो कुछ भी जानते हैं, वह ऐतिहासिक युग

से जुड़ा है। फिर भी, इस सम्बन्ध में कुछ आभास-ज्ञान हमें अवश्य है; क्योंकि पण्डितों ने जो गवेषणाएँ की हैं, उनसे इस अन्धकार से ढँके क्षेत्र में कुछ प्रकाश पड़ा है।

भारत की विशाल संस्कृति के विश्लेषण से पता चलता है कि इसके भिन्न-भिन्न अंश हैं——अंग-प्रत्यंग जैसे नाना विभाग हैं। इस संस्कृति में वैदिक साधना का ही मुख्य स्थान है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन, यह भी सत्य है कि इस मूल धारा में विभिन्न समयों में नया-नया विवर्त्तन हुआ है। धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र और इतिहास-पुराणादि की चर्चा तथा भारतीय समाज के आन्तरिक जीवन की ओर ध्यान देने से ऊपर के सिद्धान्त के बारे में ठीक-ठीक धारणा हो सकती है। वैदिक धारा की प्रधानता होते हुए भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि इसमें विभिन्न धाराओं का सम्मिश्रण है। व्यापक दृष्टि से देखने पर पता चलेगा, इन सब धाराओं में तन्त्र की धारा ही सबसे प्रधान है।

तान्त्रिक धारा की भी बहुतेरी दिशाएँ हैं। उनमें से एक धारा वैदिक धारा के अनुकूल थी। भावी गवेषकों द्वारा गम्भीर तुलनात्मक आलोचना होने पर यह समझ में आयगा कि वैदिक धारा का उपासना-क्रम अधिकांश में तत्त्वत: तान्त्रिक धारा के साथ एक सूत्र में गुँथ हुआ है और बहुत-से तान्त्रिक विषय बहुत प्राचीनकाल से ही परम्परा-क्रम से चले आ रहे हैं। मेरा विश्वास है, उपनिषद् आदि में जिन गुप्त विद्याओं का परिचय मिलता है, जैसे, संवर्ग, उद्गीथ, उपकोसल, भूमा, दहर, पर्यंक आदि——ये सब इसी के अन्तर्गत हैं। मेरा विश्वास है, वेद के रहस्य अंश में भी इन सारी रहस्य-विद्याओं का परिचय मिलता है। यह भी असम्भव नहीं कि वेद का क्रियाकाण्ड भी आध्यात्मिक विद्या का ही बाह्यरूप है। इसे अवश्य निम्न अधिकारी के उपयोगी मानना चाहिए। यदि इन सब रहस्य-विद्याओं का किसी दिन तत्त्व-निर्णय हो, तो यह बात समझ में आयगी कि मूलभूत वैदिक और तान्त्रिक या आगमिक ज्ञान में विशेष भेद नहीं है।

प्रसंगवश यहाँ उल्लेख किया जा सकता है कि यद्यपि साधारण दृष्टि से यह असम्भव लग सकता है, फिर भी यह सत्य है कि वेद और तन्त्र का निगूढ रूप एक-सा ही है। दोनों ही अक्षरात्मक यानी, शब्दात्मक ज्ञान-विशेष हैं।

निरुक्त आदि ग्रन्थों से पता चलता है कि ऋषिगण साक्षात्कृतधर्मा थे और वे धर्म-साक्षात्कार से रहित जनसाधारण को उपदेश-मन्त्र दिया करते थे। और, चूँकि ऋषिगण साक्षात् कृतधर्मा थे, इसलिए वस्तुत: शक्तिशाली थे। इसीलिए वे किसी के उपदेश सुनकर ऋषित्व नहीं लाभ करते थे, बल्कि वे स्वयं वेदार्थ के दर्शन करते थे। इसीलिए, उन्हें मन्त्रद्रष्टा कहा जाता था। मन्त्रार्थ ज्ञान का मुख्य उपाय है प्रतिभान।

इसी को दूसरे शब्द में प्रातिभ अथवा अनौपदेशिक ज्ञान कहते हैं। इसी को लक्ष्य करके कहा जाता है :

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।

यहाँ 'गुरु' शब्द का अभिप्राय अन्तर्गुरु या अन्तर्यामी है। इस प्रकार उत्तम अधिकारी-गण को प्राचीनकाल में 'दृष्टर्षि' कहा जाता था। शक्ति की मन्दता के कारण मध्यम अधिकारी 'दृष्टर्षि' से निकृष्ट होते थे। ये 'श्रुतर्षि' के नाम से प्रसिद्ध थे। उत्तम अधिकारी उपदेश-निरपेक्ष भाव से दर्शन-लाभ करते, पर मध्यम अधिकारी उपदेश पाकर दर्शन की योग्यता प्राप्त करते थे। पहले ज्ञान का नाम आर्षज्ञान और दूसरे ज्ञान का नाम औपदेशिक ज्ञान है। मनुसंहिता में आया है :

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

परन्तु, सामान्य अधिकारी को ज्ञान होता था सत् तर्क के द्वारा। वेदशास्त्र का अविरोधी तर्क ही सत् तर्क है। उससे अनुसन्धान आवश्यक है। आगमशास्त्र में—विशेषतया त्रिपुरारहस्य में और त्रिक दार्शनिक साहित्य में—सत् तर्क की विशेष चर्चा है। वैदिक साहित्य में भी ऐसा आया है कि ऋषियों ने जब अन्तर्धान करना आरम्भ किया, तो तर्क पर ही ज्ञान का भार दे गये। साधारण जिज्ञासुमात्र ही निम्न स्तर के होते हैं। हम सभी वही हैं। इसलिए, सत् तर्क ही हम सबका सहारा है।

तन्त्रशास्त्र के अनुसार तन्त्र का मूल आधार कोई पुस्तक नहीं है। वह अपौरुषेय ज्ञान है। इसी ज्ञान को आगम कहते हैं। यही ज्ञानरूप आगम शब्दरूप में अवतरण करता है। तन्त्रमत से परावाक् ही अखण्ड आगम है। पश्यन्ती-अवस्था में यह स्वयंवेद्य रूप में प्रकाशित होता है। यह स्वयं प्रकाशरूप है। यही साक्षात्कार की अवस्था है। यहाँ दूसरे या अपर में ज्ञान-संचार का कोई प्रश्न नहीं रहता। यह ज्ञान मध्यमा में उतरकर शब्द का आकार लेता है। यह शब्द चिन्तात्मक है। इस भूमि पर गुरु-शिष्य भाव का उदय होता है। इसके फलस्वरूप एक आधार से दूसरे में संचारित होता है। विभिन्न शास्त्र एवं गुरु-परम्परा मध्यमा-भूमि में प्रकट होती है। वैखरी में वह ज्ञान या शब्द स्थूल रूप धारण करता है। ऐसे में वह दूसरों के इन्द्रिय का विषयीभूत होता है।

पूर्वोक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि वेद और तन्त्र की मौलिक दृष्टि एक ही है। वेद यद्यपि एक है, किन्तु चूँकि विभक्त है, इसलिए उसे त्रयी या चतुर्विध कहते हैं। वास्तव में वेद अनन्त हैं। 'वेदा अनन्ताः', यह भी वेद ही की वाणी है। आगम की स्थिति भी ऐसी ही है। अवश्य, तन्त्र की और भी एक दिशा है। लेकिन, ऐसा समझ में आता है किसी-कीसी अंश में वह वेद से विलक्षण है। उससे

तान्त्रिक साधना की विशिष्टता भी समझी जा सकती है। जो भो हो, यह सब मिलकर भारतीय संस्कृति का ही अंगीभूत है। जैसे भिन्न-भिन्न जलधारा प्रवाहित होकर नदी का आकार धारण करती है और चरम में पहुँचकर महासमुद्र में खो जाती है, वैसे ही वैदिक, तान्त्रिक आदि विभिन्न सांस्कृतिक धाराएँ भारतीय संस्कृति में मिलती हैं तथा उसकी विशालता बढ़ाती हैं।

[तीन]

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति के बारे में विचार करने से लगता है कि प्राचीन काल से ही वैदिक एवं तान्त्रिक साधन-धारा में घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह नितान्त सत्य है। साथ-ही-साथ यह भी लगता है कि दोनों में आंशिक विलक्षणता भी थी। बहुत पुराने जमाने से ही शिष्टों ने तन्त्र का समादर किया है, इसके अनगिनत प्रमाण मिलते हैं—ऐसी प्रसिद्धि है कि बहुतेरे देवताओं ने तान्त्रिक साधना के प्रभाव से सिद्धि पाई थी। तान्त्रिक साधना का चरम आदर्श था—शाक्त-साधना। इस साधना का लक्ष्य है, महाशक्ति जगदम्बा की मातृरूप में उपासना करना या शिवोपासना। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, चन्द्र, स्कन्द, वीरभद्र, लक्ष्मीश्वर, महाकाल, काम अथवा मन्मथ आदि सभी श्रीमाता के उपासक थे। कोई-कोई तान्त्रिक उपासना के प्रवर्त्तक भी थे। **ब्रह्मयामल** में शिवज्ञान-प्रवर्त्तक अनेक ऋषियों के नाम आये हैं। उशना, दधीचि, बृहस्पति, सनत्कुमार, नकुलीश आदि के नाम इस प्रसंग में उल्लेख योग्य हैं। **जयद्रथयामल** में मंगलाष्टक प्रकरण में तन्त्र-प्रवर्त्तक अनेक ऋषियों के नाम हैं। उनमें से दुर्वासा, सनक, विष्णु, काश्यप, विश्वामित्र, संवर्त्त, गालव, गौतम, याज्ञवल्क्य, शातातप, आपस्तम्ब, कात्यायन, भृगु प्रभृति के नाम उल्लेख योग्य हैं।

इनमें से दुर्वासा का नाम ही सबसे पहले उल्लेख करने योग्य है। तान्त्रिक-साहित्य में दुर्वासा का परिचय 'क्रोधभट्टारक' के नाम से पाया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने श्रीकृष्ण को चौंसठ अद्वैत कलाओं को शिक्षा दी थी। ऐसी किंवदन्ती है कि कलियुग में दुर्वासा ही आगमशास्त्र के प्रकाशकर्त्ता थे। नेपाल-दरबार के ग्रन्थागार में सुरक्षित **महिम्नस्तोत्र** की एक पोथी में इसके सम्बन्ध में लिखा है—"**सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमतः।**" **जयद्रथयामल** नामक आगम के मत से भी तन्त्र के प्रवर्त्तक ऋषियों में दुर्वासा का नाम अग्रगण्य है। अब प्रश्न यह है : इस दुर्वासा की धारा किस प्रकार की थी? प्रसिद्धि है कि ब्रह्मयामलानुसारी सभी तन्त्रों में दुर्वासा का मत अग्रगण्य है। यह सिद्धान्त दरबार-ग्रन्थागार के **पिंगलागम** में पिंगलामत के प्रसंग में उल्लिखित है। चन्द्रकला-विद्यासमूह में भी दुर्वासामत उल्लेख-योग्य है। चन्द्रकला-विद्यासमूह में कौल और कापालिक (सोम)

मत का सम्मिश्रण है। प्राचीनकाल में इन विद्याओं पर चारों ही वर्णों का अधिकार था। विशेष बात इतनी ही थी कि त्रैवर्णिकगण दक्षिण-मार्ग से अनुष्ठान करते थे और दूसरे सभी वाममार्ग से।

दुर्वासा श्रीमाता के उपासक थे। श्रीमाता के बारह उपासकों में उनका भी स्थान है। सुना जाता है, उनकी उपास्य देवी थीं षडक्षरी विद्या (द्रष्टव्य : त्रिपुरा-तापिनी उपनिषद्-टीका)। किन्हीं-किन्हीं आचार्य के मत से वह त्रयोदशाक्षरी विद्या के उपासक थे। सौन्दर्यलहरी की टीका में कैवल्याक्षम ने कादि मतानुसार इस विद्या का उद्धार किया है। इसके बावजूद दुर्वासा का सम्प्रदाय आज लुप्त-सा है।

मुझे याद आता है, सम्भवत: सन् १९२८ ई० में एक प्राचीन ग्रन्थागार में मैंने कौलसूत्र की एक प्रतिलिपि पाई थी। उसके आरम्भ में लिखा है :

षडदर्शनातिरिक्तेऽर्थे सूत्रधारो भुवं श्रितः।
रुद्रावतारो दुर्वासाः स्तूयते स्पर्शकालधुक्॥

यह ग्रन्थ दुर्वासा के मतानुसार कौलज्ञान-विषयक था। नीचे लिखे ग्रन्थों में दुर्वासा की चर्चा मिलती है :

१. त्रिपुरसुन्दरी (देवी) महिम्नस्तोत्र-टीका में नित्यानन्दनाथ ने कहा है :
सकलागमाचार्यचक्रवर्त्तीसाक्षात् शिव एव अनसूयागर्भसम्भूतः क्रोधभट्टारकाख्यो दुर्वासा महामुनिः॥

२. ललितास्तवरत्न।

३. परशिवमहिम्नस्तोत्र अथवा परशम्भुस्तुति

दुर्वासा श्रीविद्या तथा परशिव के उपासक थे। कालीसुधानिधि ग्रन्थ से पता चलता है कि वह काली के भी उपासक थे।

प्रसंगवश यहाँ अगस्त्य के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा की जा रही है। अगस्त्य वैदिक ऋषि थे। पाञ्चरात्र और शाक्तागम में भी अगस्त्य की चर्चा है। रामायण, महाभारत, पुराण आदि प्राय: सभी प्राचीन शास्त्रों में अगस्त्य का प्रसंग आया है। उनकी धर्मपत्नी थीं विदर्भ-राजकन्या लोपामुद्रा। लोपामुद्रा का विवरण भी प्राय: सर्वत्र मिलता है। लोपामुद्रा भी अगस्त्य के समान वैदिक ऋषि थीं। रामायण के अरण्य-काण्ड से ज्ञात होता है कि सुतीक्ष्ण मुनि ने भगवान् रामचन्द्र को गोदावरी-तट पर अगस्त्य के आश्रम का रास्ता दिखा दिया था। अगस्त्य ने श्रीरामचन्द्र को वैष्णव धनु, ब्रह्मदण्ड नामक शस्त्र, अक्षय, तूणीर और खड्ग दिया था। विन्ध्यपर्वत से अगस्त्य का सम्बन्ध सबको मालूम है। दक्षिण से अगस्त्य का सम्बन्ध उल्लेख-योग्य है। ऐसा कहा जाता है कि दक्षिण भारत में महर्षि अगस्त्य के प्रभाव से एक विशिष्ट संस्कृति का प्रसार हुआ था। अगस्त्य शाक्तसूत्र नामक ग्रन्थ के

रचयिता हैं। ब्रह्मसूत्र और शिवसूत्र के समान ही इसका भी प्रसार व्यापक था। यह मूल्यवान् ग्रन्थ चार अध्यायों और तीन सौ दो सूत्रों में सम्पूर्ण है। इसके अलावा श्रीविद्या भाष्य भी अगस्त्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह हयग्रीव से प्राप्त पंचदशी विद्या की व्याख्या है। अगस्त्य और लोपामुद्रा—दोनों ही श्रीविद्या के उपासक थे। प्रसिद्धि है कि ब्रह्मसूत्र पर भी अगस्त्य का भाष्य था। किंवदन्ती ऐसी है कि श्रीपति पण्डित-कृत श्रीकर-भाष्य उसी के मत का है। त्रिपुरारहस्य के माहात्म्य खण्ड से ज्ञात होता है कि यद्यपि अगस्त्य उच्चकोटि के वैदिक ऋषि थे, फिर भी उत्सुक होने के वावजूद वह मेरुस्थित श्रीमाता का दर्शन नहीं पा सके। इसका कारण यह था कि तबतक उनकी तान्त्रिक दीक्षा सम्पन्न नहीं हो सकी थी। श्रीमाता के दर्शन करने योग्य विशुद्ध शाक्तशरीर उन्हें नहीं था। अन्ततः, पराशक्ति की गुह्य उपासना करने योग्य अधिकार प्राप्त करने के लिए उन्होंने देवीमाहात्म्य सुना और शाक्तदीक्षा पाई। इस सिद्धि की महिमा इतनी अधिक थी कि इसके प्रभाव से पति-पत्नी दोनों ने गुरु-मण्डल में उत्तम स्थान पाया। पति-पत्नी दोनों ने सिद्धि पाई थी। मानसोल्लास के अनुसार श्रीविद्या के मुख्य उपासकों में अगस्त्य और लोपामुद्रा, दोनों का ही स्थान है।

दत्तात्रेय भी श्रीविद्या के एक प्रधान उपासक थे। दुर्वासा की नाई ये भी अनूसूया के गर्भ से उद्भूत हुए थे। प्रसिद्धि है कि शिष्यों के कल्याण के लिए श्रीविद्या की उपासना-हेतु इन्होंने श्रीदत्तसंहिता नामक एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी। आगे चलकर परशुराम ने उसका अध्ययन करके पञ्चाशत खण्डात्मक सूत्रग्रन्थ के रूप में बदल दिया। ऐसा सुना जाता है, इसके बाद शिष्य सुमेधा ने दत्तसंहिता और परशुरामसूत्र के सारांश से त्रिपुरारहस्य की रचना की। यह भी सुनने में आता है कि दत्तात्रेय महाविद्या महाकाली के भी उपासक थे।

इस प्रसंग में शिवभक्त नन्दिकेश्वर की वात याद आती है। ये भी श्रीविद्या के उपासक थे। ज्ञानार्णव में इनकी उपासित विद्या का उद्धार दिखाई देता है। इनके लिखे ग्रन्थ का नाम काशिका है। यह छोटा-सा कारिकात्मक ग्रन्थ है। उपमन्यु ने इनपर टीका की रचना की थी। नन्दिकेश्वर भी छत्तीस तत्त्ववादी थे। लेकिन, इनकी तत्त्व-गणना प्रचलित मत से विलक्षण है। इनका मत है कि छत्तीस तत्त्वों में सांख्य-सम्मत २५ तत्त्व हैं। इनके सिवाय शिवशक्ति, ईश्वर, प्राणादि पञ्चक और गुणत्रय हैं। इनके अनुसार प्रधान और गुणत्रय अलग-अलग हैं। किन्हीं-किन्हीं का खयाल है कि अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः—यह कारिका नन्दिकेश्वर की काशिका के अन्तर्गत है। किसी-किसी ग्रन्थ से पता चलता है कि दुर्वासा मुनि नन्दिकेश्वर के ही शिष्य थे। यह भी सुनने में आता है कि वीरशैवाचार्य प्रभुदेव की रचनावाली की जिन्होंने कन्नड भाषा में टीका की, वह दुर्वासा के सम्प्रदाय के थे।

ऐतिहासिक युग की ओर दृष्टि डालने से लगता है कि भारतीय संस्कृति के वास्तविक प्रतिनिधित्व में शंकराचार्य तथा उनके पहले एवं बाद के आचार्यगणों में तान्त्रिक उपासकों की संख्या कम नहीं थी। श्रीशंकर के परमगुरु श्रीगौड़पाद और गुरुदेव श्रीगोविन्दपाद का स्थान भारतीय दार्शनिकों में बहुत ऊँचा है। इस प्रसंग में एक दुर्भेद्य रहस्य का समाधान जरूरी है। श्रीशंकराचार्य एक ओर जैसे वैदिक धर्म के संस्थापक थे, दूसरी ओर वैसे ही वह तान्त्रिक धर्म के प्रचारक और उपदेष्टा थे। इस रहस्य की सही मीमांसा भविष्य के गवेषक करेंगे। शंकराचार्य की प्रसिद्धि दोनों में है। उनकी ऊपर एवं नीचे की गुरु-परम्परा को देखने से लगता है कि दोनों ही ओर आचार्य-परम्परा प्रायः एक-सी है। किन्हीं-किन्हीं का खयाल है, दोनों ओर की आचार्य-परम्परा एक और अभिन्न है। दूसरा मत यह है कि वैदिक और तान्त्रिक मत में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ था—दोनों ओर के आचार्यों की नामावली की भिन्नता न होने से यही सूचित होता है। गौड़पाद प्रकाण्ड वेदान्ती थे, उनकी माण्डूक्य-कारिका ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त की अनोखी रचना है। गौड़पाद माध्यमिक अद्वयवाद में जैसे निष्णात थे, वैसे ही योगाचार अद्वय सिद्धान्त के भी पूर्ण ज्ञाता थे। बौद्धदर्शन के भी वह पक्के पण्डित थे। वह शून्यवाद और विज्ञप्तिमात्रवाद—दोनों ही मतों को भली तरह जानते थे। आगम-सिद्धान्त में भी उनकी गहरी पैठ थी। देवीकालोत्तर का कोई वचन उनकी कारिका में मिलता है। मगर आज इस विषय में अधिक कहना सम्भव नहीं। उनकी सुभगोदयस्तुति ने प्राचीन स्तुति-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान पाया। उसपर बहुतेरी टीकाएँ भी थीं। यह भी कहा जाता है कि शंकराचार्य ने भी एक टीका लिखी थी। 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' भी इन्हीं की रचना है— इसकी भी अनेक टीकाएँ हैं। सुना जाता है कि गौड़पाद ने उत्तरगीता की तरह देवीमाहात्म्य के भी भाष्य की रचना की थी। इस टीका के रचयिता तान्त्रिक गौड़पाद भी परमहंस परिव्राजक और अद्वैत विद्या में निष्णात थे।

भगवान् शंकराचार्य के बारे में चार प्राचीन ग्रन्थों से कुछ विवरणों का संग्रह किया गया है। उन्हें देखने से उनकी वैदिक और तान्त्रिक निष्ठा के बारे में हमें जानकारी होगी।

१. पहले ग्रन्थ का नाम है : **श्रीक्रमोत्तम।**

यह लगभग ४५० वर्ष पूर्व लिखा गया था। इस ग्रन्थ में श्रीशंकर की एक गुरु-परम्परा दी गई है। इसमें आदिगुरु शिव से वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुकदेव, गौड़पाद, गोविन्दपाद और शंकर—यही परम्परा है। इस ग्रन्थ के अनुसार शंकर के शिष्य थे विश्वदेव। उसके बाद बोधधन और ग्रन्थकार मल्लिकार्जुन तक क्रम है। इस ग्रन्थ का आलोच्य विषय है श्रीविद्या।

२. दूसरा गन्थ है : सुमुखी पुजा-पद्धति ।

इस ग्रन्थ का विषय है मातंगी-पूजा । यह ग्रन्थ सुन्दरानन्द नाथ के शिष्य शंकर की रचना है । इसमें शंकर की गुरु-परम्परा का क्रम शिव से गोविन्दपाद तक एक ही प्रकार का है—शंकर के शिष्य बोधधन, फिर ज्ञानधन आदि से क्रमश: भारततीर्थ तक ।

३. तीसरा ग्रन्थ है : श्रीविद्यार्णव ।

इस ग्रन्थ ने वर्त्तमान समय में प्रसिद्धि पाई है । इससे यह पता चलता है कि शंकर के चौदह शिष्य थे । पाँच भिक्षु और नौ गृहस्थ ।

४. चौथा ग्रन्थ है : भुवनेश्वरी-रहस्य ।

इसके रचयिता पृथ्वीधर शंकर के शिष्य, गोविन्दपाद के प्रशिष्य और गौड़पाद के वृद्ध प्रशिष्य थे ।

इन सबको देखने से लगता है कि शंकर श्रीविद्या के सिवाय मातंगी और भुवनेश्वरी के भी उपदेष्टा थे । आशा करता हूँ, ऐतिहासिकगण इसपर खोज करेंगे ।

एक बात और । शंकर की शिष्य-कोटि में वेदान्त-प्रस्थान के आचार्य पद्मपाद पञ्चपादिका के रचयिता थे । क्या उन्हींने शंकरकृत प्रपञ्चसार की भी टीका लिखी थी ? कोई-कोई पुराने आचार्य ऐसा विश्वास करते हैं, परन्तु आज के पण्डित इसपर संशयालु हैं । श्रीशंकर की तान्त्रिक रचनावली में प्रपञ्चसार प्रधान है। इसके बाद ही सौन्दर्यलहरी आदि हैं । आनन्दलहरी की सौभाग्यवर्धिनीटीका में श्रीशंकरकृत क्रमस्तुति का उल्लेख मिलता है । इस स्तुति के एक प्रसिद्ध श्लोक का तात्पर्य यह है कि वेद के अनुसार मायाबीज ही भगवती पराशक्ति का नाम है । यह पराशक्ति जगन्माता, त्रिपुरा, त्रियोनिरूपा है । अभिनवगुप्त की परात्रिंशिका में जिस क्रमस्तोत्र के बारे में उल्लेख किया गया है, वह क्या शंकरकृत क्रमस्तुति ही है ?

[चार]

तान्त्रिक संस्कृति में मूलगत समता के होते हुए भी उसमें देशकाल और क्षेत्र के भेद से विभिन्न सम्प्रदायों का उद्भव हुआ था । साधकों के प्रकृतिगत भेद के कारण स्वभावतया ही ऐसा भेद हुआ करता है । भविष्य में जब ऐतिहासिक लोग विभिन्न सम्प्रदायों के इतिहास का संग्रह करेंगे और गहराई से तत्त्वों का विश्लेषण करेंगे, तब स्पष्टतया ही समझ में आयगा कि विभिन्न सम्प्रदायों में वैषम्य चाहे जितना हो, लेकिन उससे उसका मर्मगत साम्यभाव नष्ट नहीं होता । कितने तान्त्रिक सम्प्रदायों का उदय हुआ और कालक्रम से कितने लुप्त हो गये, कहना कठिन है । उपास्य के भेद से उपासना की प्रक्रिया और आचार आदि में भेद होता है । मामूली

तौर पर पार्थक्य का यही कारण है। शैव, शाक्त तथा गाणपत्य सम्प्रदाय की बात तमाम प्रसिद्ध है। इन सम्प्रदायों में अवान्तर भेद बहुत हैं। शैव एवं शैव-शाक्त मिश्र सम्प्रदायों में अवान्तर भेद अनेक हैं। जैसे—सिद्धान्त-शैव, वीर या जंगम-शैव, रौद्र, पाशुपत, कापालिक अथवा सोम, वाम, भैरव आदि। अद्वैत दृष्टि के अनुसार शैव सम्प्रदाय के भेद हैं—त्रिक अथवा प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द आदि। अद्वैत मत से शक्ति के प्राधान्यमूल में विभिन्न सम्प्रदाय हैं—जैसे, स्पन्द, महार्थ, क्रम आदि। दस शिवागम और अट्ठारह रुद्रागम सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। इनमें भी परस्पर थोड़ा-बहुत भेद जो नहीं है, ऐसी बात नहीं। द्वैत मत में कोई मत शुद्ध द्वैत, कोई द्वैताद्वैत और कोई शुद्धाद्वैत है।

सम्प्रदाय-भेद से इनमें कोई शिवसाम्यवाद मानते थे और कोई शिखा-संक्रान्तिवाद। काश्मीर का शिवाद्वैत अद्वैतभाव से ओत-प्रोत है। शाक्तों में कौलगण भी वैसे ही हैं। किसी समय भारतवर्ष में पाशुपत मत का खूब विस्तार हुआ था। न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर सम्भवत: पाशुपत थे। न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ तो पाशुपत थे ही। इनकी रची गणकारिका आकार में छोटी होते हुए भी पाशुपत-दर्शन का एक मुख्य ग्रन्थ गिनी जाती है। लाकुलीश पाशुपत मत भी एक समय में प्रवल था। यह पाशुपत-दर्शन एक समय पञ्चार्थवाद दर्शन और पञ्चार्थलाकुलाम्नाय नाम से जाना जाता था। प्राचीन पाशुपत सूत्र राशीकर का भाष्य प्रसिद्ध था। वर्त्तमानकाल में दक्षिण-भारत से पाशुपत सूत्र पर कौण्डिन्य-भाष्य प्रकाशित हुआ है। लाकुल मत वास्तव में बड़ा पुराना है। सुप्रभेद और स्वायम्भुव लाकुलागम का उल्लेख मिलता है। महाव्रत-सम्प्रदाय कापालिक-सम्प्रदाय का ही नामान्तर लगता है। यामुन मुनि के आगम-प्रामाण्य, शिवपुराण आदि में विभिन्न तान्त्रिक सम्प्रदायों का भेद दिखाया गया है। वाचस्पति मिश्र ने चार माहेश्वर सम्प्रदायों के नाम का उल्लेख किया है। श्रीहर्ष ने नैषधचरित (१०।८८) में 'सोम-सिद्धान्त' नाम के जिस मत का उल्लेख किया है, वह कापालिक-सिद्धान्त है, इसमें सन्देह नहीं। 'सोम' शब्द का अर्थ है 'उमा-सहित' अर्थात् शिवशक्ति-युगल। रघूत्तम ने भाष्यचन्द्र नाम की टीका में सोम-सम्प्रदाय का नाम लिया है। अकुलवीरतन्त्र में भी यह विषय आया है। नरकपाल धारण करने से कापालिक नाम आया, ऐसा लगता है। वास्तव में, यह वहिरंग व्याख्या है। इसकी अन्तरंग व्याख्या प्रबोध-चन्द्रोदय की 'प्रकाश' नाम की टीका में की गई है। इसके अनुसार इस सम्प्रदाय के साधक कपालस्थ यानी ब्रह्मरन्ध्र-उपलक्षित नर-कपाल का अमृत अथवा चान्द्री पिया करते थे। कापालिक नाम का यही रहस्य है। इनकी धारणा यह है कि यह अमृतपान है। इसी पान से ये महाव्रत की समाप्ति करते हैं। यही व्रतपारण है। बौद्ध आचार्य हरिवर्मा और असंग के समय भी कापालिक सम्प्रदाय मौजूद था। शावरतन्त्र में बारह गुरुओं और उन

कापालिक गुरुओं के बारह शिष्यों के नाम-सहित वर्णन मिलता है। गुरुओं के नाम हैं--आदिनाथ, अनादि, काल, अमिताभ, कराल, विकराल आदि। शिष्यों के नाम--नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, चर्पट आदि। ये शिष्य तन्त्रमार्ग के प्रवर्त्तक थे। पुराण आदि में मत के प्रवर्त्तक धन या कुवेर का उल्लेख है।

कालामुख और भट्ट नामक सम्प्रदाय की बात भी सुनने में आती है। परन्तु उनका विशेष विवरण नहीं मिलता। प्राचीन समय में शाक्तों में भी समयाचार और कौलाचार का भेद विद्यमान था। किन्हीं-किन्हीं की धारणा है कि समयाचार वैदिक मार्ग का समकालीन है और उससे संश्लिष्ट था। गौड़पाद, शंकर आदि समयाचार के उपासक थे। कौलों में भी पूर्वकौल और उत्तरकौल--ये दो अवान्तर विभाग थे। पूर्वकौलों के मत से शिव और शक्ति आनन्दभैरव और आनन्दभैरवी नाम से परिचित हैं। इस मत से शिव और शक्ति में शेषशेषि भाव स्वीकृत है। किन्तु, उत्तरकौल-मत में यह स्वीकृत नहीं। उत्तरकौलों का कहना है कि शक्ति की ही सदा प्रधानता रहती है, इसलिए शक्ति कभी शेष नहीं होती। शिव तत्त्वरूप में वदलते हैं, पर शक्ति सदैव तत्त्वातीत रहती हैं। शक्ति जब सभी कार्यात्मक प्रपंचों को अपने में खींच लेती हैं, तो उनका नाम कारण होता है। इसी का पारिभाषिक नाम है 'आधारकुण्डलिनी'। पुराने समय से ही कौलमत की चर्चा होती आई है। कौलमत में ही मानव का चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। ये कहते हैं, तपस्या, मन्त्रसाधना आदि द्वारा चित्त की शुद्धि होने पर ही कौलज्ञान धारण करने की योग्यता आती है। 'सेतुवन्ध'-टीका (पृ० २५) में कहा गया है :

पुराकृत तपोदान यज्ञतीर्थजप व्रतैः।
शुद्धचित्तस्य शान्तस्य धार्मिणो गुरुसेविनः।।
अतिगुप्तस्य भक्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते।।

विज्ञानभैरव की टीका में क्षेमराज ने कहा है :

वेदादिभ्यः परं शैवं शैवात् वामं तु दक्षिणम्।
दक्षिणात् परतः कौलं कौलात् परतरं नहि।।

परन्तु शुभागमपञ्चक के अन्तर्गत सनत्कुमार-संहिता में कौलज्ञान की निन्दा है। कौल, क्षपणक, दिगम्वर, वामक आदि सम्प्रदायों का प्रसंग उसमें है। शक्तिसंगमतन्त्र के विभिन्न अंशों में तान्त्रिक सम्प्रदाय का कुछ-कुछ विवरण मिलता है। वौद्ध और जैनतन्त्र के वारे में भी वहुत-सी वातें कहने की हैं। पर, इस प्रसंग में सम्भव नहीं।

किसी समय भारतवर्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक और भारतवर्ष के वाहर भी तान्त्रिक साधना का विस्तार हुआ था। तन्त्र के 'कादि' और 'हादि' मत

छप्पन देशों में प्रचलित थे। इन दो मतों के प्रचार-क्षेत्र की सूची को मिलाकर देखने से यह समझ में आयगा कि किन प्रदेशों में 'कादि' और किन प्रदेशों में 'हादि' मत था। ये सारे प्रदेश भारतवर्ष के चारों ओर और बीच में अवस्थित थे। पूर्व में थे—अंग, वंग, कलिंग, विदेह, कामरूप, उत्कल, मगध, गौड़, सिलहट्ट, कीकट आदि। दक्षिण में थे—केरल, द्रविड़, तैलंग, मलयाद्रि, चोल, सिंहल आदि। उत्तर में थे—कश्मीर, शौरसेन, किरात, कोशल आदि। बीच में थे—महाराष्ट्र, विदर्भ, मालव, आवन्तक आदि। भारत से बाहर थे—वाह्लीक, कम्बोज, भोट, चीन, महाचीन, नेपाल, हूण, कैकय, मद्र, यवन आदि।

कादि और हादि—दोनों ही मत के नाना अवान्तर विभाग भी थे।

[पाँच]

तन्त्र के विस्तार का थोड़ा-बहुत परिचय दिया गया। इससे यह पता चलता है कि भारतवर्ष के प्रायः सभी क्षेत्रों में वैदिक संस्कृति के समान्तराल रूप में तान्त्रिक संस्कृति का विस्तार हुआ था। कभी-कभी इसकी स्वतन्त्र पृथक् सत्ता थी, कभी तटस्थ रूप में और कभी अंगीभूत। कभी-कभी प्रतिकूल रूप में भी इस संस्कृति का प्रचार हुआ था। किन्तु, सर्वदा और सर्वत्र यह भारतीय संस्कृति का अंश ही गिनी जाती थी। भारतवर्ष के बाहर पूरब और पश्चिम में भारतीय संस्कृति का प्रभाव फैला था। और, सिर्फ बौद्ध संस्कृति के स्रोतरूप में नहीं, बहुत स्थानों में ब्राह्मण्य संस्कृति की धारा के रूप में भी। लगभग बारह सौ वर्ष पहले दूसरे जयवर्मा के राजत्वकाल में कम्बोज अथवा कम्बोडिया में भारतवर्ष से तन्त्र-ग्रन्थ पहुँचे थे। वे ग्रन्थ बौद्धतन्त्र के नहीं, ब्राह्मण्यतन्त्र के थे। वे शिवागम के अन्तर्गत थे। उन ग्रन्थों के नाम हैं : १. नयोत्तर, २. शिरश्छेद, ३. विनयशील और ४. सम्मोह। ऐतिहासिकों की राय में नयोत्तर सम्भवतः निःश्वास-संहिता के अन्तर्गत नहीं है और सम्भवतः यही उत्तरसूत्र है। ईसा की आठवीं सदी में गुप्तलिपि में लिखी तन्त्रसंहिता की प्रति नेपाल-दरबार पुस्तकालय में है। यह ग्रन्थ सातवीं या छठी शती का हो सकता है। लगता है, 'शिरश्छेदतन्त्र' जयद्रथ-यामल का ही नामान्तर है। जयद्रथ-यामल की एक पोथी दरबार-पुस्तकालय में है। कोई-कोई विनयशील को जयद्रथ-यामल का परिशिष्ट मानते हैं। सम्मोहनतन्त्र परिशिष्ट ही गिना जाता है। यह आज के प्रचलित सम्मोहनतन्त्र का प्राचीन रूप ही लगता है।

जिस प्रकार, भारत से तन्त्र या तान्त्रिक संस्कृति बाहर गई, उसी प्रकार बाहर से भी कोई-कोई तन्त्र भारत में आया है। इस सन्दर्भ में कुब्जिकातन्त्र का नाम याद हो आता है। वशिष्ठ-उपाख्यान के सिलसिले में सुनने में आता है कि

चीन या महाचीन से उपासना-क्रम भारतवर्ष में लाया गया—ऐसी किंवदन्ती है। तारा, एकजटा और नील सरस्वती से भिन्न नहीं। तारातन्त्र में तारा-सम्बन्धी बहुतेरी ज्ञातव्य बातें हैं।

कम्वोज के लिए जो कहा गया है, वह केवल कम्बोज के लिए ही नहीं, आसपास के अन्यान्य देशों के लिए भी सत्य है। देवराज के नाम से शिव की उपासना एवं विभिन्न प्रकार की शक्ति-उपासना भारतवर्ष से दूसरे देशों में प्रवत्तित हुई थी। इन सब देवी-देवताओं के नाम हैं—भगवती, महादेवी, उमा, पार्वती, महाकाली, महिषमर्दिनी, पाशुपत, भैरव आदि। चीनी भाषा में लिखे प्राचीन इतिहास में यह सब विवरण मिलता है। इस काम में आन्ध्र हिस्टोरिकल सोसाइटी कुछ अग्रसर हुई है। अब तन्त्रपीठ, विद्यापीठ, मन्त्रपीठ आदि के बारे में थोड़ी-वहुत चर्चा की जा रही है। कामरूप, जालन्धर, पूर्णगिरि और उड्डीयान—इन चार पीठों के सम्बन्ध में कुछ-कुछ धारणा वहुतों को है। कामरूप से मत्स्येन्द्रनाथ का सम्वन्ध था। जालन्धर-पीठ से अभिनवगुप्त के गुरु शम्भुनाथ का सम्बन्ध था। यह एक ज्योतिर्लिंग का स्थान है। प्राचीनकाल में यह सव स्थान विद्याकेन्द्र अथवा पीठस्थान में गिने जाते थे। इनमें से श्रीशैल अथवा श्रीपर्वत प्रधान था। ऐसी प्रसिद्धि है कि स्वयं नागार्जुन अन्तिम समय में यहीं से तिरोहित हुए थे। इन पीठों में विभिन्न तान्त्रिक साधना, प्रत्यक्ष अनुभव और योग्य आधार से विद्या दी जाती थी। वाद में वौद्धों ने नालन्दा, विक्रमशिला, उदन्तपुरी आदि स्थानों में इन प्राचीन पीठों का अनुकरण किया था। तक्षशिला का नाम सर्वत्र प्रसिद्ध है। सारे देश में उनचास या पचास पीठ हैं—तन्त्रशास्त्र में इनका विस्तार से विवरण है। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने इस विषय में थोड़ी-वहुत चर्चा की है। पीठतत्त्व का रहस्य वड़ा गम्भीर है। पीठ शब्द से वास्तव में जाग्रत् शक्ति-सम्पन्न स्थान का बोध होता है। वहाँ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारादि विषय, अव्यक्त अलिंग का व्यक्त ज्योतिःस्वरूप लिंग-रूप धारण करता है। अम्बिका और शान्ता—इन दो शक्तियों की जहाँ समरसता है, वह प्रधान पीठ है। वहाँ अलिंग-अव्यक्त महाप्रकाश परम ज्योतिरूप में अभिव्यक्त होता है। इस पीठ का पारिभाषिक नाम परावाक् है। इस प्रकार जहाँ इच्छा, ज्ञान और क्रिया तथा वामा, ज्येष्ठा और रौद्री का सामरस्य हुआ है, वे स्थान वैसे पीठों के रूप में परिणत हुए हैं।

[छह]

अवतक जो कुछ कहा गया, वह तान्त्रिक संस्कृति के वाहरी अंग की एक छोटी-सी चित्रच्छाया-मात्र है। लेकिन स्मरण रखना है कि संस्कृति का महत्त्व

उसके बाहरी अवयव के आडम्बर पर निर्भर नहीं करता। संस्कृति के महत्त्व का परिचायक है—मानव-आत्मा की महनीयता का आदर्श-प्रदर्शन। जिस संस्कृति में आत्मा की स्वरूप-स्वतन्त्रता और सामर्थ्य का अतिशय जितना ही अधिक है, उस संस्कृति का गौरव उतना ही अधिक स्वीकार करना आवश्यक है। वैदिक संस्कृति के प्रतिनिधि आर्य ऋषियों ने गाया था :

शृन्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्।।

मानव-आत्मा ही यह महान् आदित्यवर्ण पुरुष है, जिन्हें जानने से मृत्यु अतिक्रान्त होती है।

इसी मानदण्ड से तान्त्रिक संस्कृति का महत्त्व बोधगम्य होगा। आत्मा की स्वरूपगत और सामर्थ्यगत पूर्णता का आदर्श ही इसके महत्त्व का अभिव्यंजक है। आगमशास्त्र का स्पष्ट निर्देश है कि आत्मा यद्यपि स्वरूपतः नित्य शुद्ध है, फिर भी उसकी प्रबुद्ध अवस्था ही श्रेष्ठ है। अप्रबुद्ध अवस्था चित्स्वरूप तो होती है, किन्तु चेतन नहीं होने के कारण उसे अचित्कल्प ही कहना होगा। विमर्शहीन चित् अथवा प्रकाशचित् होते हुए भी अचित् सदृश है, प्रकाश होते हुए भी अप्रकाशवत् है और शिव होते हुए भी शववत् है।

इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है :

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।

इसीलिए, आणव मल को ही आदिमल माना जाता है और उसका अपनयन न होने तक चित्स्वरूप अवस्था को शिवत्वहीन पशुकल्प दशा कहा जाता है। इस अवस्था में आत्मा सांजन नहीं होते हुए भी निरंजन पशुमात्र है।

इस भित्ति पर तान्त्रिक संस्कृति की उदात्त घोषणा यह है कि सोये रहने से मनुष्य का नहीं चलने का, उसे जागना होगा, 'प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत्'। जिस पूर्णत्व को मानव-जीवन का लक्ष्य माना जाता है, उसकी उपलब्धि के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है—निद्रा से जागरण अर्थात् प्रबोधन। उसके बाद है आत्मा की क्रमिक ऊर्ध्वगति के मार्ग में परमशिव, परा संवित् अथवा परम सत्ता का साक्षात्कार करना।

मनुष्य को जागना होगा, यह इसकी पहली शर्त्त है। परन्तु यह बड़ा कठिन है। साधारण दृष्टि से देखने में आता है कि सभी आत्मा सुप्तरूप में विद्यमान हैं। कर्मी, ज्ञानी अथवा दूसरी किसी भी अवस्था में अवस्थित आत्मा अधिकांशतः आत्मविमर्शशून्य,

दीखती है। अपनी विशुद्ध स्थिति में रहने पर मानव अनवच्छिन्न चैतन्यमय शिव से अभिन्न होता है। अशुद्ध अवस्था में चैतन्य का अवच्छेद रहता है। अवच्छिन्न अवस्था में आत्मा ग्राहक रूप में अथवा परिच्छिन्न अहंरूप में अथवा परिमित या खण्ड-प्रमाता रूप में अभिव्यक्त होती है। खण्ड-प्रमाता के सामने सभी प्रमेय ग्राह्य रूप में अनुभूत होते हैं। ग्राहक आत्मा ग्राह्य सत्ता को अपनी सत्ता से अलग देखती है। आत्मा ग्राह्य की ओर उन्मुख हो कि समझना चाहिए चैतन्य अवच्छिन्न हुआ है। पिण्ड-विशेष के साथ अर्थात् देह से सम्बद्ध होने के नाते अन्य के साथ अहंता अभिमान प्रकट नहीं हो सकता। परन्तु, पूर्णत्व की अवस्था में अनाश्रित शिव से पृथ्वी तक छत्तीस तत्त्वात्मक समग्र विश्व ही आत्मा के रूप या शरीर-भाव से प्रकाशित होता है। अपूर्ण अहं का पूर्णत्व होना आवश्यक है। यही आत्मा का परम जागरण है। अद्वैत साधना ने इसी को परम लक्ष्य माना है।

अनवच्छिन्न चैतन्य में नियत विशेष रूप का भान नहीं होता। यदि हो तो उस अवस्था की अनवच्छिन्नता को मानना सम्भव नहीं। उस समय वह आत्मा की ग्राहक अवस्था होती है। उस समय सामान्य सत्ता के रूप में पूर्णत्व का भान होता है, सामान्यात्मक महासत्ता का यह भान विशेष एवं निर्विशेष दोनों ही रूपों में हो सकता है। सर्वातीत रिक्त रूप भा-मात्र है और सर्वात्मक पूर्णरूप भी भा है। दोनों में भा-स्वरूपता है। सामान्य सत्ता का यह भान ही 'स्वभाव' पदवाच्य है। यह वास्तव में वहु में एक की खोज है। पहले आत्मा का जो प्रतिनियत भान होता था, वह उस समय नहीं होता। इस प्रकार, क्रमशः अनवच्छिन्न चैतन्य की ओर प्रगति होती रहती है।

आत्मा जबतक निद्रित रहती है, यानी कुण्डलिनी-शक्ति जबतक प्रवुद्ध नहीं होती, तबतक उसका स्तरभेद स्वाभाविक ही रहता है। उस समय उसकी अस्मिता योग्यता के तारतम्य से देह, प्राण, इन्द्रिय अथवा शून्य या माया में क्रिया करती रहती है। यह स्मरण रखना होगा कि यह अस्मिभाव वास्तव में चैतन्य का ही है, ग्राहक का नहीं। पद का विस्तार-क्षेत्र चूँकि अनाश्रित से पृथ्वी तक है, इसलिए पद की संख्या अनेक है। किन्तु, अस्मिता किसी पद का धर्म नहीं, वह चिति का धर्म है। जिस किसी पद में अस्मिता की धारणा हो सकती है। धारणा का मतलब है दृढ अभिनिवेश, जिसके प्रभाव से इच्छा मात्र से क्रिया तक उद्भव हो सकता है।

शुद्ध आत्मा का अस्मिताजन्य अभिनिवेश शुद्ध अवस्था में विश्व में सर्वत्र है; क्योंकि शुद्ध आत्मा ग्राहक नहीं है, यह पहले ही कहा जा चुका है। विन्दु से देह तक विभिन्न स्थिति में यह सर्वत्र व्यापक है। फिर भी, इसका विकास सर्वत्र नहीं है; क्योंकि विकास भावना-सापेक्ष है। जिसे हम कर्तृत्व, ईश्वरत्व या स्वातन्त्र्य कहते हैं,

वह अहंता के विकास के अलावा और कुछ नहीं है। तान्त्रिक सिद्धगण उसी को चित्स्वरूपता कहते हैं। हर प्रकार की सिद्धि अहंता से अनुप्राणित है।

तान्त्रिक योग या ज्ञान-साधना का लक्ष्य है आत्मा को जगा देना। जिन आत्माओं से हम परिचित हैं, वे प्रायः सभी सुप्त हैं। क्योंकि, उनकी दृष्टि में चित् और शक्ति परस्पर विलक्षण हैं। वास्तव में समग्र विश्व अखण्ड प्रकाश-मात्र है और आत्मा के अन्तःस्थित है। किन्तु सुप्त आत्मा समझती है कि विश्व उसके बाहर है। ये सारी आत्माएँ सुप्त और संसारी हैं—हमारा परिचय साधारणतः इन्हीं से है। जैसे ही आत्मा की नींद टूटती है, स्थिति का परिवर्त्तन होना शुरू हो जाता है। ऐसा शुद्ध विद्या के प्रभाव से होता है। इन आत्माओं की तात्कालिक अवस्था ठीक-ठीक सुप्ति भी नहीं, किन्तु जागरण भी नहीं। यह दोनों के बीच-बीच की अन्तराल-अवस्था है। इस अवस्था में सुप्तिजन्य भेद की प्रतीति भी रहती है, और जागरण का अभेद-ज्ञान भी रहता है। ऐसे लोगों का संसार नहीं रहता, पर संसार का संस्कार रहता है। इनकी स्थिति भव भी नहीं होती, उद्भव भी नहीं। किसी हद तक ये आत्माएँ पातंजल दर्शन में वर्णित सम्प्रज्ञात समाधि जैसी हैं; क्योंकि इस अवस्था में अविवेक रह जाता है। इसके बाद शुद्ध चित् का प्रकाश होता है—यह अवस्था किन्हीं अंशों में पातंजल दर्शन की विवेक-ख्याति के अनुरूप है। यह स्वप्नवत् अवस्था है—ठीक-ठीक सुप्ति भी नहीं, जागृति भी नहीं। इसलिए, इसको सही मानी में प्रवुद्ध अवस्था नहीं कहा जा सकता। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि इस अवस्था में कर्मक्षय सिद्ध हुआ है, इसलिए एक दृष्टि से इन आत्माओं की मुक्त अवस्था कही जा सकती है। ये भी पशुकोटि में शामिल हैं। लेकिन, यह सत्य है कि ये आत्माएँ संवित् मार्ग में सिद्धान्त ग्रहण की अधिकारिणी हैं।

इसके बाद ही यथार्थ जागरण का सूत्रपात होता है। उस समय प्रमाता सचमुच ही प्रवुद्ध होता है। उस समय भेद-दृष्टि बिलकुल नहीं रहती। हाँ, भेद और अभेद दोनों का संस्कार रहता है। इसीलिए, इस अवस्था में भी इदं रूप में जड अवस्था की प्रतीति रहती है। ये आत्माएँ सारे जगत् को अपना शरीर अनुभव करती हैं। किसी-किसी अंश में यह अवस्था ईश्वर के अनुरूप होती है। इसमें अनेक वैचित्र्य हैं। पर वह अनुभववेद्य है।

इसके बाद आत्मा का जागरण और भी स्पष्ट हो आता है। प्रबुद्ध भाव वढ़ता है और फलस्वरूप इदं प्रतीतिवेद्य प्रमेय अहंरूप, आत्मस्वरूप में निमग्न हो निमेष जैसा प्रतीत होता है। परन्तु, इतना होने के बावजूद इसे सुप्रबुद्ध अवस्था नहीं कहा जा सकता। मगर इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रवुद्ध अवस्था से श्रेष्ठ होता है। तान्त्रिक योगीगण इन आत्माओं को उद्भवी कहा करते हैं। ये आत्माएँ अभेद-

प्रतिपत्ति अथवा कैवल्य-प्राप्ति द्वारा अहमात्मक स्वरूप में निमग्न रहती हैं। यहाँ इदंता होती तो है, पर अहंता द्वारा आच्छादित होने के कारण अस्फुट रहती है। इस अवस्था को किसी-किसी अंश में सदाशिव के अनुरूप माना जा सकता है, पर यह भी पूर्णत्व नहीं है।

इस प्रकार एक लम्बी राह तय करने के बाद वास्तविक पूर्णता का उदय होता है। परन्तु, वह मात्र उदय ही है। वह स्थायी नहीं होता; क्योंकि तबतक उन्मेष-निमेष चलता रहता है। चूँकि ऐसा होता रहता है, इसलिए स्थिति कभी ईश्वरवत् होती है, कभी सदाशिववत्। जब उन्मेष रहता है, तब की स्थिति ईश्वर जैसी होती है। और, जब निमेष रहता है, तब स्थिति सदाशिव जैसी होती है। दोनों ही हालत में महाप्रकाश अनावृत रहता है। शिवादि धरणी तक विश्व का भान कभी रहता है, कभी नहीं रहता। जब विश्व का भान रहता है, तब प्रकाशात्मक रूप में ही उन्मेष रहता है। और जब विश्व का भान नहीं रहता, तब प्रकाशात्मक रूप में ही निमेष रहता है। इसके बाद पूर्णता स्थायी होती है।

पूर्णत्व के स्फुरण की बात कही गई। लेकिन, पहली अवस्था में पूर्णत्व स्थायी नहीं होता। इसलिए कि उसके साथ मन का सम्बन्ध रहता है। मन रहने से मन के होते हुए उन्मेष होता है और मन का सम्बन्ध नहीं रहने से निमेष होता है। मन के रहते तक उन्मेष और निमेष की सम्भावना रह जाती है। उसके बाद मन नहीं रहता है। तब उन्मनी अवस्था आती है। कह सकते हैं कि उसके प्रभाव से पूर्णत्व सुसिद्ध होता है। आगमविद् आचार्यों ने इसे सुप्रबुद्ध अवस्था कहा है। अब कहा जा सकता है कि आत्मा का जागरण पूर्ण हुआ।

यहाँ प्रसंगत: सिद्धि-रहस्य के सम्बन्ध में दो-एक बात कही जा रही है। यह याद रखना है कि तत्त्व और अर्थ—इन दो में से किसी एक का आश्रय लेकर सिद्धि का उदय होता है। जागतिक दृष्टि से जगत् के प्रत्येक पदार्थ का एक विशिष्ट क्रिया-कारित्व होता है। योगी संयम के द्वारा उन पदार्थों से कार्य-सम्पादन कर सकते हैं। तत्त्वमूलक सिद्धि के दो प्रकार हैं—एक परा, दूसरा अपरा। पातंजल योगशास्त्र में भी तत्त्वमय अवस्था से सिद्धि के उदय का विवरण मिलता है। अर्थ-विशेष में आत्म-भावना करके योगी वैसा रूप धारण करते और कार्य-सम्पादन करते हैं। जो देवता जो कार्य सम्पादन करते हैं, योगी उस देवता से तादात्म्य करके या अहंभाव-स्थापन करके वह कार्य करते हैं। इसका मतलब यह कि जिस किसी तत्त्व में अहंता के अभिनिवेश से सिद्धि आ सकती है। माया तक इकत्तीस तत्त्व का अवलम्बन करके सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। इन सिद्धियों का नाम गुह्यसिद्धि है। 'गुहा' शब्द माया का वाचक है। मायातीत शुद्ध विद्या अथवा सरस्वती को आश्रय करके जिन सिद्धियों का उदय होता है,

उनका नाम तत्त्वमूलक परासिद्धि है। लौकिक कामों के लिए जिन सिद्धियों की जरूरत होती है, उन्हें अपरासिद्धि करते हैं।

परा और अपरा—ये दोनों ही सिद्धियाँ खण्ड सिद्धियाँ हैं, महासिद्धि नहीं। इन दोनों से महासिद्धि श्रेष्ठ है। महासिद्धि भी दो प्रकार की है। पहली है सकलीकरण और दूसरी शिवत्व-लाभ। सकलीकरण अवस्था में योगी को भयंकर जलन होती है। उसके बाद शान्त-स्निग्ध शीतलता आती है। जिस समय कालाग्नि योगी के शरीर के पाशों को जलाती है, उस समय षडध्वा-दाह होता है। उस हालत में भयंकर ताप का अनुभव होता है। उसके बाद स्निग्ध अमृतरस से योगी की सारी सत्ता आप्लावित हो जाती है। इस समय योगी पूर्ण रूप से इष्ट देवता का दर्शन पाता है। उस समय वह शोधित अध्वा या सारे विश्व का अनुग्राहक होता है। इस अमृत-प्लावन का नाम पूर्णाभिषेक है। इस अवस्था में आकर योगी जगद्गुरु के पद पर अधिष्ठित होते हैं। इस प्रकार, पूर्णत्व पाकर इसे भी पार करना पड़ता है; क्योंकि यह भी अपूर्ण स्थिति है। इसके बाद यथार्थ पूर्णख्याति का उदय होता है। उसी का नाम शिवत्व है। यह परम शिव की अवस्था है। यही वास्तविक पूर्णत्व है। इस अवस्था में पूर्ण स्वातन्त्र्य आता है। वैसे में इच्छा-मात्र से भुवन-रचना या विश्व-रचना की शक्ति आती है। पञ्चकृत्यकारिता का आविर्भाव इसी समय होता है।

बौद्धमत में सुखावती की रचना अभिताभ बुद्ध द्वारा हुई थी, ऐसी प्रसिद्धि है। विश्वामित्र आदि की संसार-सृष्टि का वर्णन शास्त्र में है। तान्त्रिक अध्यात्म-दृष्टि का लक्ष्य इसी परिपूर्ण अवस्था को पाना है, मात्र स्वर्ग आदि ऊर्ध्वलोक और लोकान्तर में गति अथवा कैवल्य अथवा निरंजन भाव की प्राप्ति अथवा मायातीत अधिकारी का पद पाना ही नहीं। मनुष्य-मात्र में यह अवस्था पाने की स्वरूप-योग्यता है। यही तान्त्रिक संस्कृति का अवदान है, इसे तुच्छ नहीं समझा जा सकता।

अनादि सुषुप्ति और उसका भंग

जो प्रबुद्ध अथवा जागरित अवस्था तान्त्रिक साधना का मूल लक्ष्य है, उसको समझना हो तो जीव की सुषुप्ति और उससे जागरण को समझना जरूरी है। जीव का प्रथम जागरण कब होता है, इसका समय बताना सम्भव नहीं। क्योंकि, जीव जब प्रथम जाग उठता है, उसके लिए वास्तव में तभी काल की गति का आरम्भ होता है। जब जीव सुषुप्त रहता है, काल उस समय स्तम्भित-सा रहता है, रहते हुए भी नहीं रहता। निद्रा या सुषुप्ति दो प्रकार की है—आदि और अनादि। आदिसृष्टि के आरम्भ में जीव प्रबुद्ध होकर अपने-अपने पथ पर यात्रा करता है। जिस निद्रा से यह जागरण होता है, वही अनादि निद्रा है; क्योंकि उस निद्रा से पहले जीव जागा हुआ नहीं था। सच पूछिए तो उस निद्रा की पूर्वावस्था ही नहीं है। यदि पूर्वावस्था कबूल की जाय, तो उसे अनादि निद्रा नहीं कहा जा सकता। प्रलय के अन्त में जो सृष्टि होती है, वह सादि निद्रा से जागरण-क्रम में होती है। आदिसृष्टि से यह तो खण्ड-प्रलय या महाप्रलय, कुछ भी नहीं था। फिर, यदि प्रलय शब्द का व्यवहार करना हो, तो उसे अनादि निद्रा का ही नामान्तर मानना होगा। ऐसा नहीं मानने से आदिसृष्टि कहने की कोई सार्थकता ही नहीं रहती। जीवभाव के क्रम-विकास का पहला सूत्र-पात आदिसृष्टि से ही होता है। अनादि सुषुप्ति की अवस्था में अनन्त जीव पृथक् रूप में लीन रहता है। अनादि सुषुप्ति से ऊपर, जहाँ नित्य चैतन्य विराज करता है, वहाँ से अव्यक्त भाव से सुषुप्ति में अनन्त जीव की सूचना होती है। यह सुषुप्ति विश्वमातृका महामाया है। इस महामाया के ऊपर जो सर्वदा विराज करते हैं, वही परमेश्वर-परमेश्वरी हैं, शिवशक्ति या भगवान्-भगवती का नित्य मिलित अद्वय स्वरूप। परमेश्वर की स्वतन्त्रता के बल से उनकी स्वरूपभूता शक्ति व्यक्त चैतन्य स्वरूप में आत्म-प्रकाश करती हैं। चैतन्य के आत्म-प्रकाश से पहले शक्ति परमेश्वर के स्वरूप में छिपी रहती हैं। उस समय एक ओर जैसे शक्ति का अस्तित्व नहीं मिलता, वैसे ही दूसरी ओर परमेश्वर की भी आत्म-उपलब्धि नहीं होती। शक्ति की अभिव्यक्ति के बिना परमेश्वर के नित्य सिद्ध स्वरूप की उपलब्धि सम्भव नहीं।

अतएव, शक्ति की दो अवस्थाएँ हैं—एक, गुप्त अवस्था; दूसरी, प्रकट अवस्था। शक्ति जब गुप्त रहती है, तब मात्र स्वरूप ही रहता है, पर वह नहीं रहने के ही समान है। शक्ति के रहने पर भी उसका अलग अस्तित्व अनुभूतिगोचर नहीं होता। यही शिव की 'शव' अवस्था है। यह एक प्रकार से जडत्व है। पर, शक्ति जब प्रकट

हो, तो उसे चैतन्य कहते हैं। इसी के प्रभाव से सृष्टि आदि व्यापार का स्फुरण होता है। शक्ति की प्रकट या चैतन्य अवस्था की, विशिष्ट आगमविद् 'परनाद' कहकर व्याख्या करते हैं। इस अवस्था में जड नहीं, चैतन्य-ही-चैतन्य होता है। परनाद या चैतन्य के प्रभाव से महामाया की सोई सत्ता झंकार करके जाग उठती है। महामाया की गति चैतन्य के ही प्रभाव से सदा शक्ति के अधीन होती रहती है। दृष्टि ही शक्ति है। क्षण के भेद से अनन्त दृष्टि मानों उस महामाया की सत्ता में सोये अनन्त जीवरूप में विलीन है। एक ओर से 'है' कहा जा सकता है, दूसरी ओर लौकिक प्रज्ञा के अनुरोध से निरन्तर 'हो रही है' भी कहा जा सकता है। यह विलीन भाव वास्तव में अनादि निद्रा की ही एक अवस्था है। परनाद की जो वात कही गई, वही मानों विश्वगुरु श्रीभगवान् की पुकार है। उसी पुकार से विश्व-सृष्टि होती है।

परनाद के प्रभाव से महामाया या विन्दु के क्षुब्ध होने से महामाया के कार्य-रूप में अपरनाद का सूत्रपात होता है। अपरनाद शब्द-रूप ज्ञान है, परनाद शब्दातीत बोधरूप ज्ञान।

ज्ञान बोधरूप और शब्दरूप—दो प्रकार के हैं। बोधरूप ज्ञान भी शब्दरूप पर आरूढ होकर प्रवृत्त होता है। नहीं तो उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। सुप्त जीव जब महामाया से जाग उठते हैं, तब वे जिस ज्ञानभूमि पर रहते हैं, वह परनाद रूप में साक्षात् चैतन्य नहीं है और मायिक ज्ञान, भेदज्ञान भी नहीं है। क्योंकि उस समय माया का क्षोभ नहीं हुआ रहता है। वही शब्दरूप ज्ञान है, जो विन्दुजनित नाद या अपरनाद द्वारा अनुविद्ध होता है। इस अवस्था में नादात्मक महाज्ञान से उसकी पञ्चधारा के सहारे पञ्चस्रोतोमय ज्ञानधारा उपदेश-रूप में आविर्भूत होती है। यही आदिगुरु है और आदि ईश्वरकल्प सिद्ध जीवगण प्राप्त करके 'आदिविद्वान्' नाम की सार्थकता-सम्पादन करते हैं। परनाद-रूप चैतन्य से विन्दु-क्षोभ के बाद आहतनाद की अभिव्यक्ति होने पर पञ्चस्रोतोमय शास्त्र या उपदेशात्मक ज्ञान आदिदृष्टि से आविर्भूत अधिकारी पुरुषों को प्राप्त होता है। पूछा जा सकता है—इस महाज्ञान का उपदेश किसके लिए—सृष्टि-धारा में आवर्त्तनशील प्रवृत्ति-प्रधान जीवों के लिए अथवा संहारधारा में उत्थानशील निवृत्ति-प्रधान जीवों के लिए? इसका जवाव यह है कि वह दोनों के लिए उपयोगी है। पतंजलि ने कहा है, : 'स पूर्वेषामपि गुरुः'। 'पूर्वेषां' शब्द से सृष्टि के आदिकाल के ऋषि, सिद्ध, कार्य-ईश्वर आदि सबका बोध हो सकता है। ये सभी उसी परम स्थान से ही, ज्ञान के उस परम भाण्डार से ही अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए, ऋग्वेद में अग्नि को **'पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यः'** कहा गया है। 'पूर्व' या 'प्रत्न' ऋषि वे हैं, जो सृष्टि के आदि में आविर्भूत हुए थे। 'नूत्न' वे हैं, जो सृष्टि के बीच में आविर्भूत हुए या हो रहे हैं। परमेश्वर ने ब्रह्मा की

सृष्टि करके उन्हें वेद की शिक्षा दी। उसके वाद ब्रह्मा स्वयं वेद के अर्थ को ग्रहण करके सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त हुए। इसके गूढ़ अर्थ को समझना जरूरी है।

याद रखना होगा, महामाया-रूप विन्दु में दो प्रकार के जीव सुप्त हैं। उनमें से एक श्रेणी निवृत्ति-अभिमुख और दूसरी श्रेणी प्रवृत्ति-अभिमुख होकर विन्दु-क्षोभ के साथ-साथ आविर्भूत होती है। जो जीवाणु मायाराज्य में पतित होकर संसार-जीवन-यापन करते हुए उसके अन्त में फिर से अपने स्थान में पहुँचने के लिए निवृत्ति-मार्ग पर चलने लगे हैं, युगपत् या क्रमशः सभी तत्त्वों को भेद करके मायातत्त्व को भी पार करने में समर्थ हुए हैं, वे महामाया में सुप्त भाव से विलीन रहते हैं। माया-भेद चाहे जैसे हो, उससे कुछ आता-जाता नहीं। ये जीव निवृत्तिमुखी हैं। इनमें से जिनका आणव मल प्रलय के बीच में ही परिपक्व होता है, वे यहीं से भगवद्-कृपा से पूर्णत्व पा जाते हैं। उन्हें फिर नई सृष्टि में अधिकारी आदि रूप में आना नहीं पड़ता। लेकिन, जिन्हें अधिकार आदि की वासना है, वे भगवद्-कृपा पाकर वैन्दव देह धारण करके कार्य-ईश्वरादि रूप में अधिकार आदि प्राप्त करते हैं। वासना विलकुल न हो तो अधिकार नहीं मिलता। वासना भी मल है, पर यह अनादि मल नहीं है, सादि मल है। ये जीव या अणु अपने प्रभाव से अपने स्वरूप को पहचान सकते हैं और विन्दु-क्षोभ द्वारा शुद्ध देह आदि प्राप्त करके ईश्वर, देवता आदि पद पाते हैं। पञ्चस्रोतोमय महाज्ञान का उपदेश इन्हीं को मिलता है। इस उपदेश से ये सभी विभुत्व और सर्वज्ञत्व प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञत्व नहीं रहने से इनके द्वारा भगवान् के सृष्टि आदि पञ्चकृत्य का करना सम्भव नहीं होता। इन सबमें भगवान् की कर्त्तृत्व-शक्ति और करण-शक्ति समान रूप से प्रतिफलित न होने पर भी सर्वज्ञान-शक्ति समान रूप से ही विकसित होती है। प्राचीन वैदिक ऋषि की भाषा में कहा जा सकता है : ये सभी साक्षात् परमेश्वर से देवज्ञान प्राप्त करते हैं।

जो जीव अनादि सुषुप्ति से सबसे पहले जाग उठते हैं, वे अपने ही प्रभाव से जागते हैं; क्योंकि परनाद-रूपी चैतन्यशक्ति के आघात के विना महामाया से सुप्त जीव का आविर्भाव नहीं होता। ये प्रवृत्तिमुखी जीव हैं। इनका लक्ष्य अभी भी वहिर्मुख रहता है। जागते ही ये आत्मविस्मृत-से चलने लगते हैं। यह जागरण वास्तव में आधा जागरण है। पहले जागरण की पूर्वावस्था अनादि सुषुप्ति है। प्रथम जागरण से ही स्वप्न शुरू होता है, इसी का नाम अर्द्ध-जागरण है। दूसरे जागरण से स्वप्न समाप्त होकर प्रकृत या पूर्ण जागरण आरम्भ होता है। दूसरे जागरण के वाद अन्तर्मुखी गति जहाँ खत्म होती है, वही पूर्णतम जागरण है। किन्तु, उसे अव जागरण नहीं कहा जा सकता। वास्तव में वही तुरीय है। साधारण लोग जिसे तुरीय कहते हैं, यह वह नहीं है। इसे सचेतन भाव से प्राप्त करने पर ही सुषुप्ति में प्रवेश करना

सम्भव होता है। सुषुप्ति में प्रवेश किये विना भगवत्ता प्राप्त करने की वात अलीक कल्पना है। जहाँ से स्वप्न-रूप में सृष्टि का प्रारम्भ होता है, दुवारे वहीं स्वप्न के अन्त में महाजाग्रत् काल में प्रवेश। इसीलिए, निवृत्ति-पथ की यात्रा भी ठीक जागरण नहीं। पहले जागरण से सामने वढ़ना, दूसरे जागरण से अपने स्थान पर लौट आना— फिर आवर्त्तन पूरा हो जाने पर सामने-पीछे जाना-आना, भीतर-वाहर कुछ भी नहीं रहता। वहीं सुषुप्ति और जागरण का समन्वय होता है। फिर सक्रिय और निष्क्रिय, सगुण और निर्गुण, सकल और निष्कल, एक और अनन्त—ये सारे भेद सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं।

आत्मविस्मृत होकर ही जीव वाहर की ओर दौड़ते हैं। इसकी जड़ में चैतन्य है, उसके नहीं होने से किसी प्रकार की गति नहीं हो सकती। अनादि सुषुप्ति में भी गति तो होती है, पर चैतन्य की प्रेरणा के अभाव में वहिर्गति नहीं रहती। वैसी आत्म-विस्मृति होते ही जीव की गति वहिर्मुखी होती है। इसके भी मूल में चैतन्य की प्रेरणा होती है। यदि वह न होती, तो आत्मस्मृति के साथ-साथ ही विज्ञान-कैवल्य-रूपी सुषुप्ति-अवस्था का उदय होता है। वैन्दव देह प्राप्त करके अन्तर्मुखी गति नहीं होती। वहिर्गति की समान मात्रा में अन्तर्गति सम्पन्न होती है, इसलिए वहिर्गति का संस्कार जल जाता है। वैसे में उत्थान की सम्भावना नहीं रह जाती।

सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति 'वहुत्व' में खेलती रहती है। जवतक वहुत्व-भाव का सम्यक् विकास नहीं होता, यह इच्छा काम करती रहती है। यह काल के ईक्षण-रूप में वीजभाव पाकर महामाया के गर्भ में सोई रहती है। यही सुप्त जीव-समष्टि है। इस समष्टि में अनन्त जीवाणु हैं या क्रमशः संचित हो रहे हैं। लेकिन, ये सव जीव सुप्त होने के कारण एक प्रकार से जड पदार्थ की नाईं अस्तित्वहीन न होते हुए भी अस्तित्वहीन की भाँति पड़े रहते हैं। ये अणु संख्या में अनन्त होते हुए भी इनका परस्पर भेद अभी तक विकसित नहीं हुआ होता है।

ये सब समष्टि-रूप में एकाकार हो, सुप्त हो, विलीन रहते हैं। जिस महाकर-इच्छा से इनका आविर्भाव होता है, उसकी पूर्णता अभी भी वहुत दूर होती है। क्योंकि, वह परमपुरुष 'वहु' होने की इच्छा करके ही इस तरह आविर्भूत हुए हैं। जवतक वहु-पुरुष का आविर्भाव नहीं होता, तवतक परम पुरुष की वहु होने की इच्छा सार्थक नहीं होती। सच तो यह, वहु होने के लिए जीव को स्तर-स्तर में खिलना पड़ेगा। परमेश्वर की इच्छा मातृशक्ति में व्यापक रूप से आती है। इसलिए, एक ओर जैसे महामाया में अणु-समष्टि संचित होती है, दूसरी ओर वैसे ही माया में भी

३

होती है। क्योंकि महामाया की भाँति माया भी मातृशक्ति है। स्वातन्त्र्य के प्रभाव से काल की ओर से, आग से जैसे निरन्तर स्फुल्लिंग निकलता रहता है, वैसे जीव की सृष्टि होती रहती है। सृष्टि होते ही महामाया में या माया में या महामाया होकर माया में वे सारे अणु सुप्त पड़े रहते हैं। महामाया का आदि नहीं है, माया का भी आदि नहीं है। इसीलिए उन सब जीवों की सुषुप्ति भी आदिनिद्रा कही जाती है। साक्षात् रूप में या परम्परा से जीव को इस निद्रा से परनाद या चैतन्य जगाता है, जिनके बारे में कहा जा चुका है। अर्थात् चैतन्य के प्रभाव से ही जीव सुषुप्ति से जाग रहा है।

पूर्ववर्णित सुषुप्ति वास्तव में अणुओं की रोध-अवस्था है। उस अवस्था में परमेश्वर का अनवच्छिन्न ज्ञान और क्रिया यानी चैतन्य या भगवत्ता प्रति अणु में गुप्त भाव से निहित रहती है। मल या आवरण से ढँकी रहती है। जिस कारण से जीव की अनादि निद्रा की बात कही जाती है, ठीक उसी कारण से अनादि मल सम्बन्ध को भी स्वीकार करना पड़ता है। इसे आपाततः परमेश्वर का रूप, निग्रह-रूप मानने पर भी वास्तव में यह भी अनुग्रह का ही प्रकार-भेद है। जहाँ मूल सत्ता ही मंगलमय हो, वहाँ निग्रह का उद्देश्य मंगलमय हुए बिना नहीं रह सकता।

भगवान् का स्वातन्त्र्य कालरूप में खेल रहा है, यह कहा गया। उसी प्रकार वह चैतन्य रूप में भी खेल रहा है। एक ओर काल-रूप में जीवाणुओं का संचय किया जा रहा है, दूसरी ओर चैतन्य रूप में उन्हें अनादि निद्रा से जगाया जा रहा है। काल के खेल से जैसे चैतन्य का योग है, वैसे ही चैतन्य के खेल से भी काल का योग है। काल का खेल निग्रह है, चैतन्य का खेल अनुग्रह। चैतन्य के प्रभाव से जीव अनादि सुषुप्ति से जाग जरूर उठता है, पर एक ही साथ सब जीव नहीं जागते, क्रमशः जागते हैं। यही है चैतन्य पर काल का प्रभाव।

पहले कहा जा चुका है कि यह जागरण दो प्रकार का है। अभिनव जीव जब जाग उठते हैं, तो वे बहिर्मुख भाव से ही जागते हैं। इसलिए कि सृष्टिकर्त्ता के बहु होने की इच्छा अभी भी सम्यक् रूप से पूर्ण नहीं हुई होती है। बहिर्मुख हुए बिना बहु नहीं हुआ जाता और अपने व्यक्तित्व का विकास भी नहीं होता। ये सब जीव या अणु जाग उठते ही अपने और अपने धाम के ज्योतिर्मय स्वरूप की उपलब्धि करते हैं। जीव जब सोया था, उसे बोध नहीं था, वह अचेतन था, उसमें 'मैं' का भाव नहीं था। लेकिन जब वह जागता है, तब 'मैं' का भाव लेकर ही जागता है। यही 'मैं' का प्रथम आविर्भाव है। यह 'मैं' या 'बोध' परिदृश्यमान अनन्त ज्योति से अपने अभेद की उपलब्धि करता है। लेकिन, जो उसका अपना प्रकृत स्वरूप है, जो इस ज्योति से भी परे हैं, उसकी वह धारणा नहीं कर सकता। क्योंकि इस स्थिति में जीव

वहिर्मुख होता है, इस समय अपने स्वरूप की उपलब्धि की सम्भावना उसमें नहीं रहती। क्योंकि वहिर्मुख गति को परिसमाप्त करके अन्तर्मुख गति प्राप्त हुए विना स्वरूप-दर्शन नहीं हो सकता।

ज्योति-स्वरूप में यह जो अपनी उपलब्धि है, वह स्थायी नहीं होती। ज्योति-स्वरूप होते हुए भी जीव चूँकि वहिर्मुख है, इसलिए उसमें स्थित नहीं रह सकता। वाहर ताककर वह छाया-सी एक चीज देख पाता है और अपने को उससे अभिन्न सोचता रहता है। इस प्रकार ब्रह्मभाव से क्रमशः महाकारण, कारण और सूक्ष्म भाव को भेदते हुए स्थूल तक वह अवतीर्ण होता है। अवतरण की यही चरम सीमा है। इसके वाद भोग। इसके वाद निवृत्ति की ओर सद्गुरु की कृपा से ऊपर आरोहण। यही आरोहण पहले वताये गये दूसरे जागरण का तत्त्व है। इसके प्रभाव से चरम अवस्था में अपने स्वरूप को पहचाना जा सकता है। वैसे में वाहरी और भीतरी किसी भाव से ही सम्वन्ध नहीं रहता।

• जीव को सृष्टि की ओर भेजना चैतन्य या गुरुशक्ति का काम है। वह जीव को जगाकर वाहर भेजते हैं, वाहर जाते-जाते जहाँ जो ग्रहण करने का है, उसे ग्रहण कराके उसको पुष्ट करते हैं। इस तरह प्रत्येक का व्यक्तित्व अलग-अलग निखरता है। और, पुरुष आकार पाने के फलस्वरूप परमपुरुष के प्रतिविम्ब को धारण करने की योग्यता पैदा होती है। इस अवस्था में दूसरे जागरण की आवश्यकता होती है। दूसरे जागरण के वाद पुरुष-रूप में उसके दिव्य भाव का विकास पूर्ण होता है। इस प्रकार वह क्रम से स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य-भेद करके अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। अवरोहण के मूल में जैसे चैतन्य की क्रिया या जागरण है, वैसे ही आरोहण के मूल में भी चैतन्य की क्रिया या दूसरा जागरण है।

प्रथम जागरण से यानी अन्नमय कोष के प्रथम गठन से मनोमय कोष के विकास तक जीव की गति वहिर्मुखी होती है। मनोमय कोष में रहते हुए ही विज्ञान के संचार से दूसरा जागरण शुरू होता है। उसके फलस्वरूप अन्तर्मुखी गति चलती रहती है। ब्रह्मलोक से जव महाकारण-शरीर में अवतरण होता है, तभी सबसे पहले नरलोक का साक्षात्कार होता है। महाकारण विश्व है। यही नर है। किन्तु, यह याद रखना होगा कि नर होने पर भी वह एक प्रकार का प्रतिविम्व है। असली नर-स्वरूप अभी भी वहुत दूर रहता है। यह आकार कारण-अवस्था में अवतीर्ण होकर लिंगात्मक भावरूप में व्यक्त स्थूल सत्ता में प्रवेश करता है। बीज जैसे खेत में गिरता है, यह भी ठीक वैसा ही है। इसके वाद क्रमशः योनिभेद से स्थूल रूप में अभिव्यक्ति होती रहती है। स्थावर से मनुष्य-योनि के पूर्व तक चौरासी लाख योनियों की वात प्रसिद्ध है। उद्भिद, कीट, पतंग, पक्षी, पशु प्रभृति अगणित वैचित्र्य हैं।

प्रकृति के क्रमविकास के अन्तर्गत जिस किसी देह में शुद्ध दृष्टि का संचार किया जा सकता है, वहाँ अन्तर के अन्तस्तल में मनुष्य का आकार देखने को मिलता है। क्रम-विकास के फलस्वरूप बाह्य आकार धीरे-धीरे अन्तःस्थित आदर्श-रूप मनुष्य-आकार का सादृश्य-लाभ करता है। उस समय प्रकृति का विकास तबतक के लिए स्थगित रहता है। मनुष्य-शरीर पाना और अन्नमय कोष से मनोमय कोष तक विकास होना एक ही बात है। चौरासी लाख योनि तक पहले अन्नमय, फिर प्राणमय कोष का विकास होता है। अन्त की ओर मनोमय कोष का आभास मिलता है। यथार्थ मनोमय कोष का विकास मनुष्य-देह में ही सम्भव होता है। मनुष्य-देह प्राप्त करने पर ही कर्म का अधिकार आता है। सत् और असत् का विचार, पाप-पुण्य का बोध, कर्त्तव्य का निश्चय, आभास-मात्र ही, पर विवेक-ज्ञान का उदय, कर्त्तृत्व का अभिमान आदि मनुष्य-शरीर का धर्म है। चूँकि मनुष्य कर्त्ता बनता है, इसलिए उसकी गृह-रचना का भार प्रकृति प्रकाश्य रूप से अपने हाथ से छोड़ देती है। मनोमय कोष के विकसित होने के बाद जीव की संसार-दशा चलती रहती है। इन्द्रियादि द्वारा कर्म करना और उसके फल का भोग करना—यही इस अवस्था की विशेषता है। परिणाम के जिस प्रवाह से मनोमय कोष तक विकास हुआ है, वह प्रवाह उस समय रुद्ध रहता है। मनुष्य उस समय स्वप्न-राज्य में विचरण करता है। इसी स्वप्न-भ्रमण का नाम संसार है। विचित्र वासना के अनुसार विचित्र भोग सम्पन्न होता है। जैसा चाहा जाता है, वैसा ही पाया जाता है। कर्त्ता बन जाने के नाते प्रकृति की सरल सृष्टि से अलग हट जाना और जटिल विकारमय जाल में फँस जाना पड़ता है। इस तरह बहुत दिनों तक स्वप्न-राज्य में विचरण करते-करते थक जाने पर अतृप्ति और अवसाद से चित्त बोझिल हो जाता है। वैसे में भोग्य पदार्थ से वैराग्य उपजता है। ज्ञान और आनन्दमय एक नित्य वस्तु के लिए प्राण अकुलाने लगता है। उस समय स्वप्न का मोह अच्छा नहीं लगता। स्वयं कर्त्ता बनकर रहने की इच्छा नहीं होती। अपना अज्ञान और अक्षमता पल-पल मन को क्लिष्ट करती है। और, मिथ्या कर्त्तृत्व-भार को छोड़कर फिर से शिशु होकर प्रकृति-जननी के चरणों में लुट जाने को जी चाहता है।

इसके बाद दूसरा जागरण शुरू होता है। गुरुरूपा प्रकृति ऐसे में उसे जगाकर अपनी गोद में खींच लेती है। उसके इतने दिनों का घरौंदा टूटकर बिखर जाता है। वह शिशु होकर माता की गोद में बैठकर द्रष्टा के रूप में माँ का खेल देखता रहता है। प्रकृति माता उस समय फिर गृह-रचना में जुट जाती है। यह घर है, विज्ञानमय कोष। इसकी रचना में बड़ा आयास करना पड़ता है। जीव उस समय जीव नहीं रह जाता, मुक्त पुरुष हो जाता है; क्योंकि वह साक्षी होकर प्रकृति का खेल देखता है।

प्रकृति को अपने काम में बाधा नहीं होती, इसलिए वह निर्विघ्न अपना काम करती है। दूसरे जागरण से अन्तर्जगत् में बिन्दु तक प्रवेश कर पाना ही विज्ञानमय और आनन्दमय कोष का विकास है। आनन्दमय कोष का विकास ही भगवत्ता प्राप्त करना है। महाकारण दशा में जिस आकार का पहले सन्धान किया गया था, दूसरे जागरण के बाद अन्तर्मुखी गति के अन्त में जीव उसी आकार में स्थित होता है। प्रथम जागरण के बाद बहिर्मुखी गति, द्वितीय जागरण के बाद अन्तर्मुखी गति—दोनों गतियों के बराबर-बराबर हो जाने पर भीतर और बाहर एक हो जाता है। यही है परम स्वरूप में अवस्थान।

अनादि निद्रा के बाद, प्रथम जागरण के अनन्तर बहुत बार निद्रा का आक्रमण होता है, पर वह सादि निद्रा है। दूसरे जागरण के बाद सादि निद्रा भी नहीं रहती, जो रहता है, वह महज निद्रा का आभास है। अन्तर्मुखी गति का अन्त हो जाने पर आभास भी नहीं रहता। लिहाजा उस महाजागरण को वास्तव में जागरण भी नहीं कहा जा सकता।

शास्त्र का आदेश है कि पूर्णत्व पाने के लिए भगवत्कृपा-प्राप्त योगी को सदा प्रबुद्ध अवस्था में रहना होगा।

प्राचीन समय में बुद्धदेव अपने शिष्यों को अप्रमत्त रहने के लिए कहते थे। वह कहते थे—प्रमाद मृत्यु-पद है, अप्रमाद अमृत का पद। अप्रमत्त रहने का मतलब यह कि योगी को अपने लक्ष्य के प्रति सदा सावधान या सतर्क रहना होगा। स्पन्दवादी शाक्त योगियों ने इसकी बहुत आलोचना की है। उसका तात्पर्य समझ सकें, तो अन्तर्मुखी योगी मात्र का परम कल्याण अवश्यम्भावी है।

शाक्त अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार आत्मा एक और अभिन्न है। आत्मा ही शिव और आत्मा ही परमशिव है। जिसे भगवत् तत्त्व (या परमेश्वर) कहा जाता है, सच पूछिए, तो वह भी आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं। आत्मा की दो स्थिति है। उसके अनुसार एक ओर से यह स्वातन्त्र्य शक्तिवाली है। यही परमशिव-रूप है। दूसरी ओर, यह स्वातन्त्र्यहीन चिदात्मक प्रकाशमात्र है। यही शिवरूप है। स्वातन्त्र्य-शक्ति परावाक्, पूर्णाहन्ता, परम ऐश्वर्य आदि नामों से प्रसिद्ध है। आत्मा कभी भी परम स्थिति में शक्तिशून्य नहीं होती। यह शक्ति, जिसका दूसरा नाम स्पन्द है, सामान्य और विशेष—दो प्रकार की होती है। सामान्य शक्ति सामान्य स्पन्द कही जाती है और विशेष शक्ति विशेष स्पन्द कहलाती है। सामान्य शक्ति से ही विशेष शक्ति का आविर्भाव होता है। इसका कारण आत्मा के स्वातन्त्र्य का उल्लास है। जब हम विश्व-सृष्टि की ओर से आत्मा की चर्चा करते हैं, तो हम इस विशेष शक्ति के उद्भव और क्रिया का अनुभव करते हैं, परन्तु उसके पीछे सृष्टि की इच्छा-रूप

स्वातन्त्र्य-शक्ति का विलास मौजूद रहता है। इस अवस्था में आत्मा का सामान्य स्पन्द अक्षुण्ण ही रहता है, पर उसको आश्रय करके अनन्त विशेष स्पन्द का आविर्भाव होता है। हम जगत् में बाहर और भीतर, बाह्य पदार्थ और भाव-रूप में जो कुछ अनुभव करते हैं, वह पहले बताये हुए सामान्य स्पन्द से आविर्भूत विशेष स्पन्द का फल है। सामान्य स्पन्द विशुद्ध अहंरूप में स्फुरित होता है, किन्तु विशेष स्पन्द 'अहं' रूप में स्फुरित होने के बजाय 'इदं' रूप में स्फुरित होता है। लेकिन यह प्रश्न उठ सकता है—यह स्फुरण किसके निकट होता है? यह सामान्य स्पन्दात्मक पूर्ण अहं के निकट नहीं होता है, यह कहना ही बाहुल्य है। क्योंकि, उस 'अहं' से 'इदं' भाव का सम्बन्ध नहीं है। वह पूर्ण अहंरूपी और अपरिच्छिन्न है। उसके प्रतियोगी के रूप में 'इदं' नहीं रह सकता। एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा—यही उसका प्रकाश है, वह अद्वैत है। इस स्थिति में दूसरे का कोई स्थान नहीं। उस विराट् 'अहं' के निकट पृथक् विश्व या जगत्-रूप में कुछ नहीं रह सकता। अतएव, पूर्वोक्त 'इदं'-रूपी अर्थ और भाव पूर्ण अहं के निकट प्रकाशित नहीं होता। वह परिच्छिन्न 'अहं' के निकट ही प्रकाशित होता है। यह परिच्छिन्न 'अहं' ही क्षेत्रज्ञ, जीव, पशु आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है। यद्यपि अपरिच्छिन्न 'अहं' या परमात्मा और परिच्छिन्न 'अहं' या जीवात्मा मूलत: एक ही आत्मा हैं, तथापि दोनों में भिन्नता है। परमात्मा में संकोच नहीं है, पर लीला के लिए सृष्टि के समय संकोच ग्रहण करके वह जीवरूप में आत्म-प्रकाश करते हैं। वैसे में देहादि उपाधि अवलम्बन करने से उनका अहंभाव प्रकाशित होता है, इसलिए उन्हें परिच्छिन्न प्रमाता या जीव कहकर ग्रहण किया जाता है। शून्य से पृथ्वी तक समग्र सृष्टि का प्रकाश अवस्था-भेद से इस जीव के ही निकट होता है। जीवमात्र की साधारणतया तीन अवस्थाएँ होती हैं : १. जाग्रत्, २. स्वप्न और ३. सुषुप्ति। इन तीन अवस्थाओं की परस्पर भिन्नता क्या है, यह बतायें। लेकिन, इससे पहले जिस बात को जान रखना जरूरी है, वह है—वेद्य और वेदक का सम्बन्ध। वेद्य का मतलब है ज्ञेय और वेदक का अर्थ है ज्ञाता। ज्ञाता और ज्ञेय को मान लेते ही दोनों के संयोजक रूप में ज्ञान को भी स्वीकार करना पड़ता है।

सो, इस तरह हमने ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी की जानकारी प्राप्त की। कहना फिजूल है, यह ज्ञाता क्षेत्रज्ञ या स्वयं जीवात्मा है। पहले कहा जा चुका है, स्वातन्त्र्यवश परमात्मा ही अपने को परिच्छिन्न करके जीवात्मा-रूप ग्रहण करते हैं। यह जीवात्मा देहादि में अभिमानशील होती है। ज्ञान और ज्ञेय—परमात्मा की ही पराशक्ति के दो रूप हैं। एक ज्ञानशक्ति है, दूसरा क्रियाशक्ति। जबतक जीवात्मा परिच्छिन्न 'अहं' रूप में विद्यमान रहती है, तबतक यह ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति उसके साथ-साथ ही रहती है। परन्तु, जीवात्मा की देह आदि में

अभिमान के विगलित हो जाने से ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति एकाकार होकर पराशक्ति में बदल जाती है। कहना नहीं होगा, यह ज्ञान या योग की उन्मेष-अवस्था है, साधारण अवस्था नहीं।

साधारण तौर पर ज्ञाता जीवात्मा को जिस ज्ञेय अर्थ का भान होता है, वह दो प्रकार का है--स्थिर और अस्थिर। जो अर्थ परमेश्वर द्वारा परिकल्पित है, वह स्थिर और जो जीवात्मा का स्वयं परिकल्पित है, वह अस्थिर है। ज्ञान का सम्बन्ध ज्ञेय-रूप स्थिर और अस्थिर दोनों ही से है। पहली जाग्रत् अवस्था है, दूसरी स्वप्नावस्था है। पहली अवस्था में जो सत्ता प्रकट होती है, उसका नाम व्यावहारिक सत्ता है। पर, दूसरी अवस्था में प्रकाशमान् सत्ता प्रातिभासिक है। स्वप्नावस्था से यहाँ स्वप्नजातीय सभी अनुभूतियों को समझना होगा। यह तो इधर की बात हुई। दूसरी ओर, जीवात्मा की ऐसी अवस्था भी है, जहाँ वेद्य (ज्ञेय) पृथक् रूप में प्रतिभासित ही नहीं होता। साधारणतः लोग इसे सुषुप्ति कहते हैं। मूर्च्छा आदि इसी के अन्तर्गत है---यह मोह की अवस्था है। इस अवस्था में ज्ञेय का भान नहीं रहता, इसलिए ज्ञाता के होते हुए भी उसका भान नहीं होता। ज्ञाता का भान होने से स्वयं प्रकाश 'अहं' रूप में ही होना चाहिए। परन्तु, साधारण सुषुप्ति में वह नहीं होता। इसलिए, अन्य दृष्टिवाले कोई-कोई सोचते हैं कि उस अवस्था में ज्ञानरूपी आत्मा रहती ही नहीं है। ऐसों को साधारणतः नास्तिक कहते हैं। इस मत से 'मैं' बोध के उदय के साथ-साथ जाग्रत् आदि अवस्था का भी उदय होता है और उसके तिरोधान के साथ-साथ आत्मा का भी तिरोधान होता है। इस दृष्टि से आत्मा भी और-और जागतिक सत्ता की नाईं आगम और अपाय धर्मविशिष्ट प्रतीत होती है। इसलिए, वह नश्वर पदार्थ है, प्रकृत आत्मा नहीं। सुषुप्ति में 'अहं' रूप में ज्ञाता के भान नहीं होने का एकमात्र कारण वही मोह का आवरण है। परमेश्वर की कृपा से जब यह मोह कट जाता है, तो यह तथाकथित सुषुप्ति ही मानो अवस्थान्तर से प्रकाशित होती है। तब उस अवस्था का नाम तुरीय होता है। वास्तव में सुषुप्ति और तुरीय एक नहीं हैं।

तीसरी एक स्वतन्त्र अवस्था है और वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से भिन्न है। इस तीसरी अवस्था का उदय परमेश्वर की चिद् आत्मा के प्रकाश से होता है। परन्तु, परा चित्शक्ति के उन्मेष से जो अवस्था आती है, वही प्रबुद्धता या प्रबोध है यानी कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण है। सुषुप्ति और तुरीय, दोनों ही अवस्था में आत्मा या चिदात्मतत्त्व वेद्यविरहित भाव से, विशुद्ध वेदक रूप में रहता है, यह सत्य है, परन्तु उसके बावजूद मोहवश वेदक आत्मा जब अपने को वेदक रूप में पहचान नहीं पाती, तो उस अवस्था का नाम होता है सुषुप्ति। लेकिन, जब

परमेश्वर की कृपा से वह मोह जाता रहता है और वेदक आत्मा स्वयं वेदक-स्वरूप में स्थित होती है, तो उसका नाम तुरीय होता है। यह प्रकाशात्मक शिवरूप पारमार्थिक सत्ता की अवस्था है। तान्त्रिक मत से हम इसके बदले शुद्ध विद्या का उदय और अहन्ता का उन्मेष पाते हैं, जिसके क्रम-विकास से परम शिवरूप पूर्णतम पारमार्थिक स्थिति का उदय होता है।

शुद्ध अहन्ता का यह जो उन्मेष है, यही वास्तव में सामान्य स्पन्द का स्फुरण है। एक बार स्फुरण होने पर इसकी कभी निवृत्ति नहीं होती। सुषुप्ति-अवस्था आत्मा की स्पन्दहीन अवस्था है। वह जितनी भी चंचलताहीन क्यों न हो, जड़त्व का ही प्रकार-भेद है। तुरीय अवस्था ही वास्तव में चैतन्य अवस्था है। शक्तिपात होने से जिस किसी भी स्थान से वास्तविक रूप में स्पन्द-साधना का आरम्भ हो सकता है।

शुद्ध अहन्ता का उदय अर्थात् सामान्य स्पन्द का सन्धान पाने पर भी बहुत बार योगी इसे पकड़कर नहीं रख सकते। मन जबतक उसमें लगा नहीं रहता, तबतक मन की बहिर्मुख क्रिया चलती ही रहती है। इसीलिए, मन को बार-बार स्पन्द में लगाये रहना होता है। और, मन उस स्पन्द में लगा भी रहता है, तो एक क्षण से अधिक देर तक उसे स्पर्श किये नहीं रह सकता; क्योंकि वह सामान्य स्पन्द अशुद्ध मन को स्वभावतया विकर्षित करता है, ढकेल देता है मानो। विश्वसृष्टि के बारे में पहले ही जिस विशेष स्पन्द की बात कही गई है, उसी विशेष स्पन्द की ओर मन अपने-आप आकृष्ट होता है और इसलिए मन बहिर्मुख होता है। बहिर्मुख हो, फिर भी योगी का कर्त्तव्य है कि वह बार-बार उसे इदन्ता की ओर से हटाकर शुद्ध अहन्तारूप में सामान्य स्पन्द की ओर उन्मुख करे। उन्मेष-तत्त्व का यही रहस्य है। उस समय मन पहले जैसा सामान्य स्पन्द में लगा रहता है। पर, वह पहले की तरह एक क्षण के लिए स्थित होकर फिर बहिर्मुख हो जाता है। इस तरह बार-बार चलते-चलते मन भी चिदात्मक हो जाता है और आत्यन्तिकी विशुद्धि प्राप्त करता है। ऐसे में मन होते हुए भी नहीं होने-सा हो पड़ता है—सामान्य स्पन्द से लगकर सामान्य स्पन्द ही हो जाता है। यही उन्मनी अवस्था का स्वरूप है।

मन ऐसे में फिर बहिर्मुख नहीं रहता, विशेष स्पन्द का 'इदं' रूप में भान भी नहीं कर सकता। एक ही साथ मन की निवृत्ति और विषय की चिन्मयता-प्राप्ति हो जाती है। उस स्थिति में एक विराट् 'अहं'-प्रतीति ही अखिल विश्व को ग्रास करके प्रकाशित हो पड़ती है। इसी का नाम पूर्णाहन्ता यानी भगवान् का आत्मप्रकाश है। यही अवस्था सुप्रबुद्ध अवस्था है। प्रबुद्ध से सुप्रबुद्ध अथवा को प्राप्त करना ही शाक्तों की साधना का लक्ष्य है। श्रीभगवान् की महाकृपा के पहले उन्मेष का परिणाम प्रबुद्ध दशा की प्राप्ति है और उनके चरम अनुग्रह का फल है—सुप्रबुद्ध अवस्था को

पाना। यही परमशिवत्व की प्राप्ति या शाक्तमत से जीवन्मुक्ति (जो देह में रहते हुए ही हो सकती है) है। बीच में योगी का शुद्ध मार्ग फैला हुआ है, जहाँ रहकर चित्-अणु जैसे शक्तिरूप में क्रमशः अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार शक्ति भी साथ-ही-साथ शिवरूप में आत्मप्रकाश करती है। चरम अवस्था में जब पूर्णत्व प्राप्त होता है, तब यह देखा जाता है कि आत्मा जैसे शिवरूपी अर्थात् विश्वातीत परम प्रकाश है, वैसे ही उसके साथ पराशक्ति के अभिन्न हो जाने से आत्मा विश्वातीत होते हुए भी परिपूर्ण विश्वात्मक प्रकाश है। क्योंकि, पूर्णावस्था में शिव और शक्ति भिन्न नहीं, समरस हो जाते हैं।

प्रवुद्ध से सुप्रवुद्ध अवस्था में आने के लिए सदा ध्यान रखते हुए यथासम्भव हर पल प्रवुद्ध भाव को वचाये रखना चाहिए—'प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत्। प्रबुद्ध रह सकें तो महाशक्ति की कृपा से सुप्रवुद्ध होंना निश्चित है। प्रबुद्ध अवस्था की जड़ में जो समाधि काम करती है, उसका नाम 'निमीलन समाधि' है। उन्मीलन समाधि के फलस्वरूप प्रवुद्ध से सुप्रबुद्ध अवस्था तक अखण्ड स्थिति प्राप्त होती है।

गुरुतत्त्व और सद्गुरु-रहस्य

पहले जिनकी चर्चा की गई, जीव का जागरण या प्रबुद्ध, सुप्रबुद्ध आदि अवस्था जिनके माध्यम से होती है, अब उस गुरु या सद्गुरु तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की जा रही है।

देखा जाता है कि गुरु-प्रणाम में निम्नोक्त श्लोक जुड़ा हुआ है :

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

इसके साथ-साथ यह श्लोक भी मिलता है और वह भी यहाँ उल्लेख योग्य है :

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

आपाततः इन दोनों श्लोकों का तात्पर्य देख लिया जा सकता है :

जो अखण्ड मण्डलाकार चराचर विश्व के परमपद का प्रदर्शन करते हैं, वही गुरु हैं और जो अज्ञान-तिमिर से अन्धी हुई शिष्य की आँखों को ज्ञानरूप अञ्जन-शलाका से खोल देते हैं, वही गुरु हैं।

यहाँ यह जो ज्ञानचक्षु के खोलने की बात आई, यही अखण्ड मण्डलाकार चराचर के व्यापक परमपद के दर्शन का एकमात्र उपाय है। यह ज्ञानचक्षु और परमपद वास्तव में उपाय और उपेय रूप में गिने जाने के बावजूद स्वरूप-दृष्टि से एक ही वस्तु हैं। प्रकारान्तर से ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह भाव व्यक्त हुआ है :

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥

यहाँ विष्णु के परमपद की अर्थात् श्रीभगवान् की परिपूर्णतम स्थिति की व्यापक दिव्य चक्षु से तुलना करने पर स्वरूप की दृष्टि से दिव्यचक्षु या ज्ञानचक्षु एवं परमपद की अभिन्नता ही सिद्ध होती है।

कई लोग यह भी पूछ सकते हैं—यह ज्ञानचक्षु कैसा है? और इसके निमीलन और उन्मीलन का रहस्य ही क्या है? इस प्रश्न के जवाब में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि—जैसे अज्ञानचक्षु है, वैसे ही ज्ञानचक्षु भी है। अज्ञानचक्षु से जैसे अज्ञान के जगत् और जगत् के समस्त पदार्थ भिन्न रूप में साक्षात् देखे जाते हैं, वैसे ही ज्ञानचक्षु के द्वारा ज्ञान-जगत् के सब कुछ को अभिन्न रूप में साक्षात् भाव से देखा जा सकता है। हर आदमी का ज्ञानचक्षु और अज्ञानचक्षु दोनों ही विश्व-प्रकृति की

देन है। जिन दो से हम परिचित हैं, उनका नाम अज्ञानचक्षु है। अज्ञान-अवस्था में ये दो चक्षु काम करते हैं और ज्ञानचक्षु मुँदे होते हैं। ज्ञानचक्षु के खुलने से वे भी उसी प्रकार क्रिया करते रहते हैं और हमारे पहचाने हुए दो अज्ञानचक्षु बन्द हो जाते हैं। ज्ञान और अज्ञान--दोनों से परे होकर दोनों का अधिकारी होने से मनुष्य 'त्रिनेत्र' पद पर अभिषिक्त होने के योग्य होता है।

साधारण अवस्था में अज्ञानचक्षु की क्रियाशीलता से मनुष्य द्विनेत्र होता है। निर्विकल्पक समाधि के समय या किसी उपाय से सम्भूत ज्ञान के उन्मेष के समय मनुष्य ज्ञानचक्षु-सम्पन्न एवं एकनेत्र कहा जाता है। उस अवस्था के समाप्त हो जाने पर फिर अज्ञान का प्रादुर्भाव होता है और मनुष्य द्विनेत्र रूप में व्यवहार-भूमि में संचरण करता है। ज्ञान की अवस्था में मात्र ज्ञानचक्षु खुला रहता है, इसीलिए शास्त्रीय व्यवहार में प्राचीन काल में प्रज्ञाचक्षु शब्द से अन्धा आदमी जाना जाता था। अवस्था की पूर्णता सिद्ध होने से ज्ञान-शक्ति और अज्ञान-शक्ति दोनों ही अपने अधिकार में होती हैं। उस समय मनुष्य इच्छा या प्रयोजन के अनुसार दोनों ही शक्तियों का समुचित भाव से या विकल्पित भाव से व्यवहार कर सकता है।

महाजन-समाज में इस ज्ञानचक्षु को ही तृतीय नेत्र के नाम से अभिहित किया जाता है। इसे खोल देना और ज्ञान-दान करना एक ही बात है।

साधारण अवस्था में मनुष्य विरुद्ध शक्ति के अधीन रहता है। प्रत्येक स्तर में उसे उस स्तर के अनुरूप विरुद्ध शक्ति का संघर्ष सहना पड़ता है। श्वास-प्रश्वास, प्राण और अपान की क्रिया, सुख-दुःख-बोध, मान-अपमान या अपने-पराये का ज्ञान आदि सभी द्वन्द्वभाव मौलिक विरुद्ध शक्ति से उद्‌भूत होते हैं। मनुष्य के दो चक्षु वास्तव में वाम और दक्षिण-रूप में दो परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रतीक हैं। चक्षु के समान अन्यान्य इन्द्रियाँ भी विरुद्ध शक्ति के आस्पद हैं। यह वाम और दक्षिण-शक्ति पर्याय-क्रम से प्राधान्य प्राप्त करती हैं। काल के आवर्त्तन और गुण के आवर्त्तन में भी कभी वाम प्रधान होती है, दक्षिण अभिभूत होती है, और कभी दक्षिण प्रधान होती है, वाम अभिभूत रहती है। मनुष्य-देह में उसके प्राणमय और मनोमय कोष में विश्व, की सभी भुवनावली में, यहाँ तक कि अणु-परमाणु में भी, इन दो विरुद्ध शक्तियों का चल रहा खेल देखा जाता है। इस विरुद्ध शक्ति को पार किये विना शान्ति, प्रेम, समन्वय, मैत्री आदि किसी भी सद्‌गुण के विकास की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए, सर्वत्र ही मनुष्य का, खास करके जिन्होंने पूर्णता की ओर लक्ष्य स्थिर किया है उनका, एकमात्र कर्त्तव्य है--जिस उपाय से भी हो, इस द्वन्द्व को पार करना, द्वन्द्वातीत होना। इसीलिए, देह को आश्रय करके कर्मपथ में प्रवृत्त होने से सबसे पहले इन दो विरुद्ध शक्तियों का संघर्ष मिटाना ही कर्म का उद्देश्य हो जाता है।

क्रिया-कौशल से जब इस संघर्ष का समन्वय होता है, तब ये दो विरुद्ध शक्तियाँ मध्यविन्दु में आकर साम्य-अवस्था प्राप्त करती हैं। यह जो मध्यविन्दु है, वह अव्यक्त है। मगर अव्यक्त होते हुए भी यह जो मध्य मार्ग का मूल आधार है, इसमें सन्देह नहीं है। विरोध नहीं रहता है, इसलिए अव्यक्त भूमि को भी मध्य कहा जा सकता है।

इस मध्यभूमि में दोनों शक्तियों के साम्य से योगीगण एक अचिन्त्य तेज के उद्दीपन का अनुभव करते हैं। कुण्डलिनी का जागरण वास्तव में इस उद्दीपन का ही पारिभाषिक नाम है। इसे कुण्डलिनी का जागरण न कहकर यदि महाशक्ति का विकास कहा जाय, तो भी कोई क्षति नहीं।

बुद्धदेव ने वहुत दिनों तक गुरु-उपदेश के अधीन और उसके वाद स्वयं वाह्यत: अनुपदिष्ट भाव से इस मध्यशक्ति की ही साधना की थी। अन्त में, जब इसकी प्राप्ति हुई, तो इसे मध्यमार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) के नाम से घोषित किया। मध्यमार्ग का आविष्कार वास्तव में चिदग्नि का प्रज्वलन-मात्र है। प्रज्वलित होकर वह अग्नि-शिखा क्रमश: मध्यपथ के सहारे ऊपर की ओर उठती रहती है। यद्यपि वाम और दक्षिण—ये दो पार्श्वगत शक्तियाँ अभिभूत हुई हैं और ब्रह्मपथ पर जानेवाली सरल शक्ति की ऊर्ध्व गति सिद्ध हुई होती है, तथापि संस्कार-रूप से दक्षिण और वाम का प्रभाव बिलकुल गायब नहीं हुआ होता है, इसलिए मध्यपथ की सरल गति का भी आवर्त्तभाव तिरोहित नहीं होता। क्योंकि, सरल गति में वायें या दायें आकर्षण-विकर्षण की क्रिया रहने से आवर्त्त-रचना निश्चित है।

परन्तु, प्रज्वलित अग्नि की ऐसी ही महिमा है कि ऊर्ध्वगति के साथ-साथ जैसे ही उसका वेग बढ़ता है, वायें से दायें का आकर्षण और विकर्षण कम हो जाता है। चरम अवस्था में वाम और दक्षिण का विरुद्ध संस्कार संस्कार-रूप में भी नहीं रहता और जब यह संस्कार क्षीण हो जाता है, तब एक हिसाब से अग्नि की ऊर्ध्वगति का भी अन्त हो जाता है। जबतक ईन्धन रहता है, तबतक ही जैसे आग जलती है, ईन्धन नहीं रहने से आग जैसे नहीं जल सकती है, वैसे ही जबतक दायें और वायें की वक्रगति का संस्कार रहता है, तबतक ही मध्यमार्ग की ऊर्ध्वगति का खेल चलता रहता है। जब उपशम होता है तब एक साथ ही सब निरुद्ध हो जाता है। इस अवस्था में विराट् और विशाल प्रकाश-रूप में वह ऊर्ध्वगतिशील अग्नि अर्थात् चिदग्नि अपने को अभिव्यक्त करती है। इसी का नाम ज्ञानचक्षु का विकास और षट्चक्र-भेद की पूर्ण परिणति है।

ज्ञानचक्षु अर्थात् व्यापक ज्ञान का प्रकाश होने से आत्मा स्वभावतया ही अनात्मा से अलग हो जाती है। उस समय देहात्मबोध नहीं रहता, सिर्फ देह ही

क्यों---प्राण, मन, बुद्धि यहाँ तक कि प्राकृतिक सत्त्व, तमाम से यह आत्मबोध उपसंहृत होकर शान्त प्रकाश के रूप में अभिव्यक्त होता है। यही चिदाकाश का प्रकाश और ज्ञाननेत्र का उन्मीलन है। इसके बाद जिस अवस्था का उदय होता है, समझना होगा, वह उस ज्ञाननेत्र के उपयोग और व्यवहार के सम्बन्ध में है। सद्गुरु अपनी शक्ति द्वारा शिष्य को, अर्थात् शिष्य-चैतन्य को सभी प्राकृतिक आवरण से मुक्त करके इस शान्त स्वरूप में स्थापित करते हैं। लौकिक भाषा में जिसे काशी-मृत्यु कहते हैं, वह वस्तुत: इस ज्ञान के उदय से देहात्मबोध का उल्लंघन-भर है। भ्रू के बीच तक षट्चक्र का विस्तार है। गुरु की कृपा से आत्मचैतन्य भ्रू के मध्य का भेद कर ले तो देहात्मबोध से छुटकारा मिल जाता है। इसका साक्षात् उपाय आत्मचैतन्य-रूप व्यापक ज्ञान का विकास है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

अब प्रश्न यह है कि सद्गुरु के अलावा और कोई जीव के आत्म-चैतन्य को इस अखण्ड प्रकाश-रूप स्थिति में पहुँचा दे सकते हैं क्या? इसका एक ही उत्तर यह है कि ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति पूर्ण रूप से अपने अधिकार में नहीं होने से यह उत्क्रमण-व्यापार सम्भव नहीं है। सर्वज्ञ होने पर भी जबतक कर्त्तृत्व प्राप्त करके क्रियाशक्ति को वश में नहीं किया जाता, तबतक स्वयं मुक्त होकर भी दूसरों की मोचन-क्रिया का अधिकार नहीं मिलता। लेकिन बात यह है, श्रीभगवान् की कृपा पाये हुए जीव का सद्गुरु दीक्षा द्वारा उद्धार भी कर दें, तो भी जीवन्मुक्ति के लिए उस जीव का अपना भी कुछ कर्त्तव्य रह जाता है। क्योंकि श्रीगुरु की कृपा से दीक्षा-रूप क्रियाशक्ति के प्रभाव से अधिकारी-विशेष में पौरुष-अज्ञान मिटने पर भी जीव का बुद्धिगत अज्ञान न मिटने तक शिवत्व-लाभ करके भी अपने को शिवरूप में नहीं पहचान पाता, और इसीलिए जीवन्मुक्ति साक्षात्कार-रूप आनन्द की सम्यक् रूप से उपलब्धि नहीं कर सकता। भोग के अन्त में देहपात होने से शिवत्व में जरूर प्रतिष्ठा होती है, इसमें सन्देह नहीं।

कहना नहीं होगा, यह भोग इस जन्म में पूरा हो सकता है और अवस्था-विशेष में ऊर्ध्वलोक में जन्मान्तर परिग्रह करके और वह उसके अनुरूप भोग प्राप्त करके ऊर्ध्वदेह का अवसान भी पूरा हो सकता है।

पहले जो कहा गया, उससे समझ में आयगा कि सद्गुरु अपनी अनन्त करुणा द्वारा प्रेरित होकर पूर्ण ज्ञानशक्ति और पूर्ण क्रियाशक्ति के प्रभाव से अनादिकाल के बँधे जीव को जगा देते हैं और उसकी आँखों का परदा हटाकर उसे शिवपद पर स्थापित करते हैं। बहुत ही ऊँचे अधिकारी के लिए, शायद हो कि गुरू की जरूरत नहीं भी हो, परन्तु साधारणत: यही नियम है।

अतएव शिष्य के लिए झुककर गुरु के महिमामय रूप का चिन्तन करके उनके चरणों में प्रणाम करना जरूरी है और इस स्वरूप-चिन्तन के अन्तर्गत उसके लिए मुख्यतया यही सोचना है कि गुरु ने अपने गुण से और अपनी शक्ति से संसार-पंक से निकालकर उसे चिदालोक से उद्भासित मुक्ति-पद पर प्रतिष्ठित किया है। और वही अखण्ड मण्डलाकार, चराचर-व्यापक पद का प्रदर्शन करते हैं।

जो गुरु अखण्ड पद पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकते, वह गुरु के रूप में परिचित होते हुए भी सद्गुरु नहीं हैं। क्योंकि निरवच्छेद मुक्ति ही मुक्ति है। अवच्छेदवाली, ग्रन्थियुक्त मुक्ति पूर्ण मुक्ति नहीं है और जो पूर्ण मुक्ति नहीं दे सकते, वह गुरु होते हुए भी वास्तविक गुरु नहीं हैं; क्योंकि अवशिष्ट सूक्ष्म वन्धन के लिए गुरु की जरूरत फिर भी रह जाती है। इसलिए अखण्ड मण्डल-रूप परमपद ही गुरु को भी दिखाना चाहिए और वही शिष्य को पाना चाहिए। यह अखण्ड पद मायिक जगत्, मायातीत विशुद्ध ज्योतिर्मय जगत् एवं अनन्त शक्तिमय महामाया जगत् और उसके भी परे शक्ति-जगत्-समन्वित अखण्ड मण्डलाकार प्रकाश है। इसमें निष्कल सत्ता अखण्ड-रूप और अनवच्छिन्न स्वातन्त्र्यमय प्रकाश-रूप में भित्ति-सी मौजूद है और विभिन्न कलामय खण्ड-सत्ता अनन्त वैचित्र्य-भरे भुवनरूप में तथा उसके अन्तर्गत देहधारी, इन्द्रियधारी, अन्तःकरण-सम्पन्न सत्ता-रूप में विद्यमान है। विशुद्ध ज्ञानचक्षु के उन्मीलन से अखण्ड रूप में यह अद्वैत सत्ता स्रष्टा के साथ अभिन्न भाव से खुल जाती है। जिन्होंने अपनी महिमा और अपार करुणा से इस अखण्ड सत्ता से अभेद की उपलब्धि का द्वार खोला है, वही गुरु हैं, वही नमस्य हैं।

कहा गया है कि गुरु का काम केवल प्रदर्शन है। यह खूब ही सत्य है। क्योंकि एक ओर जो शक्ति प्रदर्शन करती है, दूसरी ओर वही शक्ति दर्शन किया करती है। इसलिए कि अद्वैत भूमि में प्रदर्शन और दर्शन यानी दिखाना और देखना एक ही बात है। शिष्य-आत्मा साक्षात् भाव से देखती है, गुरु दिखाते हैं। यह अभिन्न और अविभक्त व्यापार है। बुद्धि के निकट विश्लिष्ट रूप से प्रतिभात मात्र होता है। केवल यही नहीं, गुरु का दिखाना, शिष्य का देखना और अन्त में हो जाना, एक ही अखण्ड स्वप्रकाश चिदुज्ज्वल महासत्ता की तीन दिशाएँ मात्र हैं। क्योंकि अभेद से आत्मा जो कुछ देखती है, खुद भी वही हो जाती है। या वह जो हुई है, वह वही देखा करती है। दूसरी और कोई चीज नहीं होती।

[दो]

'सद्गुरु' शब्द का प्रयोग शास्त्र में नाना स्थानों और विभिन्न प्रसंगों में आता है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत बार गुरु और सद्गुरु शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में

होता है। परन्तु, कहीं-कहीं 'सत्' इस पूर्वनिविष्ट विशेषण द्वारा असद्गुरु से गुरु-विशेष की विलक्षणता वताई जाती है। इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे स्थलों में सद्गुरु का क्या अभिप्राय होता है और प्रसंगतः असद्गुरु कौन है—इसकी चर्चा भी जरूरी है। यह जानने की इच्छा स्वभावतः होती है कि इस विषय में शास्त्र का निगूढ रहस्य क्या है। पर इस जिज्ञासा की निवृत्ति भी शास्त्र का सहारा लिये विना दूसरे उपाय से सम्भव नहीं। 'मालिनीविजय' में है :

... स यियासुः शिवेच्छया।
भुक्तिमुक्ति प्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ।।

इससे स्पष्ट है कि सद्गुरु का आश्रय पाये विना जीव एक ही साथ अभिन्न भाव से भोग और मोक्ष—दोनों सिद्धियाँ नहीं पा सकता, अर्थात् पूर्णत्व नहीं प्राप्त कर सकता।[1] सद्गुरु पाने में मूलतः भगवद्-इच्छा ही जो मुख्य कारण है और जीव की इच्छा उस मूल इच्छा की ही अनुगामिनी है, यह 'यियासुः शिवेच्छया' से साफ समझ में आता है। लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि असद् गुरु की प्राप्ति के मूल में एक ही भगवद्-इच्छा काम करती है, इसमें सन्देह नहीं। इसका विशेष विवरण क्रमशः

१. भोग और मोक्ष की साम्य अवस्था ही जीवन्मुक्ति है। भोक्ता जब भोग्य से एकीभूत होता है, तब उस एकीभाव को 'भोग' कहते हैं, 'मोक्ष भी कहते हैं।' प्रबोध-पञ्चदशिका में है—"तस्या भोक्ता स्वतन्त्रताया भोग्यैकीकार एष यः। स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम्।" वास्तव में भोग और मोक्ष की अनुभूति की समरसता ही जीवन्मुक्ति है। महेश्वरानन्द के मत से (म० मञ्जरी, पृ० १३७) यही त्रिक्दर्शन की विशेषता है। श्रीरत्नदेव में है—"भुक्तिर्वा मुक्तिश्च नान्यत्रैका पदार्थतः। भुक्तिमुक्ति उभे देवि विशेषे परिकीर्त्तिते।।" यह अवस्था अपनी विश्वात्मकता—'सर्वो ममायं विभवः' इस रूप में अनुभूत होती है। यह विश्वात्मकता आत्मा का स्वभाव है, आहार्य या आगन्तुक धर्म नहीं है।

भोग और मोक्ष का यह जो ऐक्य है, इसे बौद्धगण भी जानते थे। सहजियागण कहते हैं—वायु के गमन-पथ को रोककर, चन्द्र-सूर्य के मार्ग को रुद्ध करके उस घोर अन्धकार में मनः या बोधिचित्त को दीप बना पाने से 'महासुख' प्रकाशमान होता है। तब उस जिनरत्न या वरगगन नामक अधः-ऊर्ध्व पद्म को अवधूती-स्पर्श होता है, फलस्वरूप भव और निर्वाण एक ही साथ सिद्ध होता है। भवभोग = पाँच प्रकार के कामगुण; निर्वाण = महामुद्रा-साक्षात्कार।

सामने आयगा। परमेश्वर का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर जो उनसे तादात्म्य नहीं कर सके हैं, ऐसे तन्त्रमात्र के उपदेष्टा आचार्य को 'असद्गुरु' कहते हैं। जिन साधकों का चित्त इस कोटि के आचार्य के प्रति गाढ़ी श्रद्धा से भरा होता है, वे आगमशास्त्र की उपदिष्ट परामुक्ति नहीं पा सकते, यहाँ तक कि मायाराज्य को भी पार करने में समर्थ नहीं हो सकते। वे जो मुक्ति पाते हैं, वह वास्तविक मुक्ति नहीं, वह प्रलय-कैवल्य की भाँति एक अर्द्धजड अवस्था-मात्र है। वास्तविक मुक्ति में पशुत्व की निवृत्ति होकर शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु ऐसे साधकों का उस अवस्था में भी पशुत्व निवृत्त नहीं होता।[1] ये मायापाश या श्रीभगवान् की वामा नाम की शक्ति से रंजित रहते हैं, इसलिए असद्गुरु में इनका अनुराग और विश्वास गाढतर होता है।

किन्तु, यह बात नहीं कि इनमें से भी कोई-कोई सद्गुरु नहीं पा सकते हैं। भगवदकृपा-प्राप्त शक्तिपात-पवित्र साधक जब अपनी स्वरूप-प्राप्ति के लिए व्याकुल होता है, तब ज्येष्ठा नाम की भगवत्-इच्छा की प्रेरणा से उसके चित्त में सद्गुरु को पाने की शुभ इच्छा जाग उठती है।[2] यह इच्छा शुद्ध विद्या का विकास एवं 'सत्तर्क' नाम से प्रसिद्ध है।

---

१. जो आगम-सम्मत परामुक्ति है, वही पूर्णत्व है। आगम मत से सांख्य का कैवल्य पूर्णत्व नहीं है, वेदान्त की मुक्ति भी पूर्णत्व नहीं है। द्वैत और अद्वैत—दोनों ही आगमों से इसका समर्थन होता है। जयरथ कहते हैं (तन्त्रालोक-टीका, ४।३१) : वेदान्त-मुक्ति सवेद्य प्रलयाकल अवस्था जैसी है। वह इस मुक्ति को विज्ञान-कैवल्यवत् भी नहीं मानते। इससे ऐसा लगता है, उनके मत से इस अवस्था में (वेदान्त के मोक्ष में) आणव मल पूरा ही विद्यमान रहता है, ध्वंसोन्मुख भी नहीं होता। लेकिन विज्ञान-कैवल्य में आणव मल कम-से-कम ध्वंसोन्मुख तो होता ही है—बिलकुल ध्वस्त भी हो सकता है। विज्ञानकेवली का कर्म नहीं है, इसलिए पुनरावृत्ति नहीं होती—आणव मल ध्वंसोन्मुख है, इसलिए उससे कर्म भी नहीं जन्म ले सकता। लेकिन, कोई-कोई वेदान्त मोक्ष को विज्ञान कैवल्यवत् समझते हैं। वैष्णव आदि का मोक्ष उस मत से प्रलयाकल जैसा है। इस अवस्था में दीर्घकाल तक मोहादिरूप भोग होता है। बाद में जन्म होता है (नई सृष्टि में)। न्यायादि का अपवर्ग आत्मा का सर्वविशेष गुणोच्छेद होने के कारण अपवेद्य प्रलयाकल-सदृश है।

२. भगवान् की कृपा से सद्गुरु मिलते हैं—यह सर्वत्र स्वीकृत है।

असद्गुरु हो, चाहे सद्गुरु, दोनों ही प्रवृत्तियों के मूल में भगवत्-इच्छा है। असली बात यह है कि शक्तिपात की प्रवृत्ति क्रमिक है। इसीलिए, कोई-कोई असद्गुरु और अपूर्णता-प्रतिपादक शास्त्र का सहारा लेने के बाद सद्गुरु का आश्रय लेते हैं, और कोई-कोई पहले ही सद्गुरु की कृपा प्राप्त कर लेते हैं। शक्तिपात की विचित्रता से ही गुरु और शास्त्रगत सदसत् भाव की विचित्रता होती है। पूर्ण सत्य का प्रतिपादक शास्त्र और गुरु ही सच्छास्त्र और सद्गुरु हैं। जो वास्तविक मोक्ष नहीं है, वह भी जो मोक्ष जैसा लगता है और मोक्ष मानकर उसे ही पाने की जो स्पृहा पैदा होती है, इसका एकमात्र कारण माया ही है। माया पिशाची ही जीव को इस तरह से निरन्तर भटकाकर कष्ट देती है, परन्तु माया के पीछे भगवान् की करुणा भी जगी हुई होती है। इसीलिए, दृढ़ संस्कारवश साधक का चित्त उस प्रकार के शास्त्र और गुरु पर आस्था रखते हुए भी भगवान् की कृपा से उसमें 'सत्तर्क' और परामर्श-ज्ञान का आविर्भाव हो सकता है। वैसे में यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि कौन-सा सार है और कौन-सा असार। इस तरह शुद्ध विद्या के प्रभाव से, ज्येष्ठा शक्ति के अधिष्ठान से पवित्रता आती है तथा निर्विघ्न सत्पथ पाने का सामर्थ्य जगता है।

[तीन]

सत्तर्क या शुद्ध विद्या का उदय कैसे होता है? किरणागम के मत से किसी का 'सत्तर्क' गुरु के उपदेश से और किसी का शास्त्र से जनमता है। परन्तु, ऐसे उत्तम साधक भी हैं, जिनका सत्तर्क गुरु के उपदेश या शास्त्रादि की अपेक्षा न करके अपने-आप (स्वतः) उत्पन्न होता है। इसका वस्तु-विषयक सुनिश्चित ज्ञान आप-ही-आप (स्वतः) पैदा होता है—वह गुरु आदि के अधीन नहीं है।[1] जैसे यह ज्ञान भी स्वभावसिद्ध है, वैसे ही इस प्रकार के तत्त्वनिष्ठ साधक भी स्वभावसिद्ध हैं (सांसिद्धिक)। परन्तु, यह ज्ञान जो नितान्त निमित्तहीन है, यह भी नहीं। क्योंकि, भगवान् का शक्तिपात आदि अदृष्ट निमित्त अवश्य है। लेकिन हाँ, लौकिक निमित्त नहीं है, यह सत्य है।

१. त्रिपुरारहस्य में है : 'उत्तमानां तु विज्ञानं गुरु शास्त्रानपेक्षणम्'। वामदेव, कर्कटिका एवं अन्यान्य अकृत-श्रवण व्यक्तियों का ज्ञान ऐसा सांसिद्धिक था, यह पता चलता है। आत्मा के स्वरूप में ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान—यह भेद नहीं है, यह परमुक्त रूप, संकल्प-विकल्पहीन, मोहहीन है। नित्यसिद्ध होते हुए भी जीव इसे नहीं जानता। इसका उपलक्षण या परिचय नहीं है। गुरु और शास्त्र परिचय करा देते हैं। किसी-किसी को परिचय अपने-आप हो जाता है।

परामर्श-उदय की पूर्वनिर्दिष्ट कारण-परम्परा में गुरु से शास्त्र श्रेष्ठ है और शास्त्र से स्वभाव श्रेष्ठ है। क्योंकि, गुरु जैसे शास्त्राधिगम के उपाय-स्वरूप हैं, वैसे ही शास्त्र स्वभाव-प्राप्ति के द्वारभूत हैं। इसलिए गुरु और शास्त्र की कारणता गौण है, मुख्य नहीं। स्वभाव ही मुख्य कारण है।[२]

[चार]

जिसका 'सत्तर्क' स्वभावत: (स्वत:) उदित होता है, उसके अधिकार में बाधा दे, ऐसी कोई शक्ति नहीं है। उसे बाहरी दीक्षा और बाहरी अभिषेक की जरूरत नहीं रहती। वह अपनी संवित्ति-देवियों द्वारा ही दीक्षित और अभिषिक्त होता है। उसकी अपनी सारी इन्द्रिय-वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर प्रमाता के साथ--स्वात्मा के साथ—ऐक्य कर लेती हैं। ये ही द्योतना देनेवाली संविद्-देवियाँ हैं। ये उसके ज्ञान-क्रियाख्य सोये हुए चैतन्य को उत्तेजित करती हैं। यही दीक्षा है। जिस क्रिया के द्वारा वह सर्वत्र स्वातन्त्र्य प्राप्त करता है, वह अभिषेक है। बहिर्मुख चित्त की वृत्तियाँ ही अन्तर्मुख अवस्था में शक्ति के नाम से पुकारी जाती हैं।

ऐसे साधक सभी आचार्यों में श्रेष्ठ हैं। उसके मौजूद रहते दूसरा कोई परानुग्रह आदि व्यापार में अधिकारी नहीं होता। साधारण साधक गुरु से शास्त्र-रहस्य को जानता है। लेकिन, जिसका ज्ञान स्वभावसिद्ध है, वह सत्तर्क से सभी शास्त्रों का अर्थ समझ सकता है। उसके लिए बाहरी गुरु की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा कोई सत्य ही नहीं और हो भी नहीं सकता, जो शुद्ध विद्या के आलोक में प्रकाशित नहीं हो सकता। इसलिए, इस प्रकार का साधक किसी लौकिक निमित्त का सहारा लिये विना सभी शास्त्रों के निगूढ रहस्य को भेदने में समर्थ होता है। यही प्रातिभ महाज्ञान की विशिष्टता है।

यहाँ यह जो स्वभावजात महाज्ञान की बात कही गई, वह वास्तव में एक होते हुए भी उपाधिभेद से अर्थात् भित्ति और उसके अंश के भेदवश नाना प्रकार का हो सकता है। जिसे आश्रय करके ज्ञान का उदय होता है, उसे उस ज्ञान की भित्ति कहते हैं। यह अपने विमर्श और परकृत उन-उन कर्मों के अभिधायक शास्त्र के अलावा और कुछ नहीं है। और, यह समझने में भी कठिनाई नहीं होती कि स्वभाव-

२. योगवाशिष्ठ में है :

'शिष्यप्रज्ञेव बोधस्य कारणम् गुरुवाक्यत:'। (निर्वाण-प्रकरण, १।१२८।१६३) अर्थात् गुरुवाक्य से जो बोध उत्पन्न होता है, उसका कारण शिष्य की प्रज्ञा ही है। इसलिए, इसमें सन्देह नहीं कि स्वपरामर्श ही गुरु और शास्त्रज स्थल में प्रधान है।

सिद्ध ज्ञान किसी का भी सहारा लिये विना आता है, इसलिए वह भित्तिहीन है। परन्तु, कहीं-कहीं यह भित्तिविशिष्ट भी हो सकता है। कैसे होता है, देखें।

जिनके सत्तर्क का उदय अपने-आप ही होता है, उनके सारे बन्धन ढीले हो जाते हैं और शिवभाव का आविर्भाव होता है। उनको सांसिद्धिक गुरु कहा जा सकता है। अपने बारे में उन्हें कुछ करना नहीं रहता; क्योंकि वह स्वात्मा में कृतकृत्य होते हैं, इसलिए और का अनुग्रह ही उनका एकमात्र प्रयोजन होता है।

"स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयँल्लोक एष प्रयत्नात्
नो पारक्यं प्रतिघटयते काञ्चन स्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोक कर्त्तव्य मात्रम्॥"

योग-भाष्यकार ने ईश्वर के सम्बन्ध में जो कहा है, ऐसे सांसिद्धिक गुरु के सम्बन्ध में ठीक वही बात कही जा सकती है। 'तस्य आत्मानुग्रहा भावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्।' यह परानुग्रह अनुग्राह्य जनों की योग्यता के तारतम्य के हिसाब से विभिन्न प्रकार का होता है। जो शिष्य निर्मल संविद् या शुद्धचित्त है, उसे अनुग्रह करने के समय इन्हें किसी उपकरण का सहारा नहीं लेना पड़ता। केवल निष्काम या अनुसन्धानहीन दृष्टि के द्वारा ही ये वैसे अनुग्रहार्थी योग्य शिष्य को अनुग्रह किया करते हैं। अपनी बोधरूप स्व-शक्ति के संचार से शिष्य को अपने से समभाव करना ही अनुग्रह का लक्षण है।

"तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलसंविदः।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्ये वास्यानुग्रहात्मता॥"

इस प्रकार, निष्काम शिष्य के अनुग्रह के व्यापार में उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। यह निर्भित्तिक ज्ञान का उदाहरण है।

परन्तु अनुग्राह्य शिष्य वैसा निर्मल संविद्-विशिष्ट न हो तो उपकरण की आवश्यकता होती है। अर्थात्, ऐसे में 'इसे मैं इस प्रकार अनुग्रह करूँगा'—गुरु में ऐसा अनुसन्धानमूलक प्रश्न जागता है। इसलिए, उस समय बाहरी सभी उपकरणों की जरूरत होती है और शास्त्रीय मर्यादा का आश्रय लेना पड़ता है। अतएव, गुरु परमेश्वर-रूपी होते हुए भी उपायभूत शास्त्रादि के श्रवण और अध्ययन के प्रति आदर दिखाते हैं। अशुद्धचित्त अनुग्राह्यगण भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, इसलिए उनकी विभिन्न मानसिक प्रकृति के अनुसार आवश्यक उपकरण भी अलग-अलग होते हैं। ऐसे में जिन शास्त्रों में उन उपकरणों का वर्णन है, उनकी भी आवश्यकता होती है। मनुष्य का चित्त अलग-अलग होता है, इसलिए शास्त्र विभिन्न प्रकार के हैं। अलग-अलग रोगों में औषध की जैसी भिन्नता होती है :

"यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति ।
तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत् ।।"

अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति एक ही दवा की जानकारी से सभी प्रकार के रोगों का चिकित्सक नहीं हो सकता, उसी प्रकार किसी एक विशेष हेतु के अवलम्बन से भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य का गुरु नहीं हुआ जा सकता । इसीलिए, भित्ति को सर्वगत रूप में ग्रहण किया जाता है । किन्तु, कोई किसी निर्दिष्ट शास्त्र के अनुसार वैसे उचित अनुग्राह्यगण पर कृपा करते हैं । यहाँ भित्ति अंशगत होती है, केवल इतना ही नहीं, उन शास्त्रात्मक अंशों का भी मुख्य और अमुख्य भेद है; जैसे, वेद और आगम या वेद, स्मृति और पुराण । और, फिर आगम में भी वाम, दक्षिण, कौल, त्रिक इत्यादि । कोई किन्तु यह न समझ ले कि इस प्रकार शास्त्रीय मर्यादा की रक्षा की जाती है, इसलिए गुरु स्वभावसिद्ध प्रातिभ ज्ञान-विशिष्ट नहीं हैं । सच तो यह है कि गुरु को अपने लिए कुछ कर्त्तव्य नहीं है, फलस्वरूप उन्हें स्वार्थ-साधन के लिए कुछ भी आवश्यकता नहीं । इनकी जरूरत औरों के लिए होती है ।

इससे यह प्रतीत होगा कि यद्यपि गुरु स्वयं स्वतन्त्र और सांसिद्धिक परामर्श-विशिष्ट होते हैं, फिर भी उनका अनुग्रह-प्रदर्शन शिष्य के अधिकार के हिसाब से नाना प्रकार का होता है । अनुग्रह पानेवाला शिष्य निर्मल-चित्त हो तो उनका अनुग्रह निरुपाय होता है,, नहीं तो सोपाय ।[१] यही सांसिद्धिक गुरु ही अकल्पित गुरु हैं । चूँकि उन्होंने अन्य आचार्यों की मदद से सिद्धि नहीं पाई है, इसलिए उन्हें अकल्पित कहते हैं ।[२] ऐसे गुरु के सम्बन्ध में शास्त्र की उक्ति है :

१. बोधिचित्त-विवरण में है—"देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा' इत्यादि । बौद्धगण भी कहते हैं—गुरुओं के जो अलग-अलग उपदेश हैं, वह शिष्यों की योग्यतादि अधिकार-भेद-निबन्धन हैं । आपात दृष्टि से उपदेश में भिन्नता दिखाई देते हुए भी सभी सद्गुरुओं के मूल उपदेश एक ही हैं ।

२. प्रातिभ ज्ञान अकृत्रिम, अकल्पित है, गुरु भी अकृत्रिम हैं । कोई-कोई गुरु आदि का सहारा न ले करके भी पूर्णज्ञान प्राप्त कर सकता है, यह तन्त्र-सम्मत है । यह अगर तीव्र-तीव्र शक्तिपात के फलस्वरूप होता है, तो तुरत शिवत्व प्राप्त होता है—देह रह भी सकती है, नहीं भी रह सकती है । रहे भी, तो वह शिवदेह है । उसका प्रारब्ध नहीं होता । यह स्वच्छन्द अवस्था है । यदि यह मध्यतीव्र शक्तिपात के कारण हो, तो प्रातिभ ज्ञान का उदय होता है—बाहरी गुरु की आवश्यकता नहीं होती । बौद्धधर्म में भी बहुत-कुछ इसी तरह का अंगीकार है ।

अदृष्टमण्डलोऽप्येवं यः कश्चित् वेत्ति तत्त्वतः ।
स सिद्धिभाग्भवेन्नित्यं स योगी स च दीक्षितः ॥
एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी ।
दीक्षा भवेदिति प्रोक्तं तच्छ्रीत्रिंशकशासने ॥

[पाँच]

अकल्पित गुरु की चर्चा की गई । जो सांसिद्धिक होते हुए भी स्वयं उद्भूत ज्ञान की पूर्णता के अभाववश गुरु आदि की अपेक्षा न करके 'मैं ही परमहंस हूँ', आदि प्रकार से केवल अपनी भावना के बल से शास्त्रज्ञान प्राप्त करते हैं, वे 'अकल्पित कल्पक' हैं । उनका ज्ञान सांसिद्धिक है, इसलिए अकल्पित और आत्मभावना के बल से शास्त्रवेदन क्रम से कल्पित है—इसीलिए ऐसा नाम है । शक्तिपात-रूप उपाय के तीव्रतादि भेद से यह गुरु नाना प्रकार के होते हैं ।

यह नहीं कि इनके स्वयंप्रवृत्त ज्ञान की पूर्णता केवल आत्मभावना-रूप निमित्त द्वारा ही होती है, बल्कि ध्यान, जप, स्वप्न, व्रत, होम आदि अन्यान्य निमित्तों द्वारा भी हो सकती है । इन सब भिन्न-भिन्न उपायों से यह महाज्ञानी अकृत्रिम (अकल्पित) महान् अभिषेक प्राप्त करते हैं—शास्त्रज्ञान आदि का अधिकार पाते हैं । यह अभिषेक गुरु आदि द्वारा अनुष्ठित नहीं होता ।

इसके सिवाय 'कल्पित' और 'कल्पिताकल्पित' गुरु भी हैं । जिनके सत्तर्क का उदय अपने-आप नहीं होता, उनके लिए अकल्पित अथवा दूसरे किन्हीं गुरु को यथाविधि और भक्तिपूर्वक सेवा द्वारा प्रसन्न करके शास्त्रसम्मत क्रम के अनुसरण से उनसे दीक्षा लेकर शास्त्रार्थ-ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था है । गुरु की ऐसी आराधना से उनमें शुद्धविद्या का उदय हो सकता है । बाद में, वे अभिषेक प्राप्त करके परानुग्रह आदि बातों में अधिकार प्राप्त करते हैं । उन्हें कल्पित गुरु कहते हैं । परन्तु, कल्पित अर्थात् आचार्यान्तर द्वारा निष्पादित होने पर भी ये सभी पाश को बिलकुल नष्ट करने में समर्थ होते हैं ।

श्रावक से प्रत्येक बुद्ध की यह विशिष्टता है कि वह 'अनाचार्यक' हैं : भीतर से ज्ञान पाते हैं, गुरुनिरपेक्षा श्रावक बाहरी गुरुसापेक्ष-ज्ञानशाली है । यह भी लेकिन अकल्पित गुरु की ठीक-ठीक समानता नहीं । क्योंकि, प्रत्येक बुद्ध हेतु-प्रत्यय विचार द्वारा अपना परिनिर्वाण चाहते हैं । अकल्पित गुरु बहुत ही उच्च हैं । पर महायान-साधक किसी हद तक अकल्पित-से हैं । वह साधक सभी जीवों की मुक्ति के लिए सर्वज्ञत्व और सर्व-सामर्थ्य चाहता है ।

कोई-कोई कल्पित होते हुए भी गुरु आदि की अपेक्षा किये विना ही अपनी प्रतिभा के बल से लोकोत्तर शास्त्रीय तत्त्वों का आकस्मिक भाव से यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और सभी रहस्यों को समझ सकते हैं। कल्पित होते हुए भी स्वत:प्रवृत्त बोध होने के नाते ये अकल्पित हैं। इस गुरु को कल्पिताकल्पित नाम से अभिहित किया जा सकता है। इनके कल्पितांश से अकल्पित अंश ही श्रेष्ठ हैं।

पहले के विवरण से समझ में आता है कि चार प्रकार के गुरु ही मूलतया कल्पित और अकल्पित, इन दो प्रकार के भेदों के आपसी सम्मिश्रण के कारण अवान्तर विभाग-भर हैं। फलस्वरूप, कल्पित और अकल्पित गुरु में भी कोई प्रभेद नहीं हैं—कल्पित गुरु भी शिष्य के पाशों का छेदन करके शिष्यत्व की अभिव्यक्ति में समर्थ हैं। क्योंकि, स्वयं परमेश्वर ही आचार्यदेह में अधिष्ठित होकर जीवों के बन्धन का मोचन करते हैं—नहीं तो एक जीव दूसरे जीव का उद्धार नहीं कर सकता। शास्त्र में है :

यस्मान् महेश्वरः साक्षात् कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः॥

अर्थात् स्वयं परमेश्वर मानव-मूर्त्ति धारण करके कृपापूर्वक गुरुरूप में (माया) मग्न जीवों का उद्धार करते हैं।

यहाँ हम मनुष्य-गुरु की चर्चा कर रहे हैं। वास्तव में, सिद्ध गुरु और दिव्य गुरु भी हैं। मूल में लेकिन सर्वत्र परमेश्वर ही एकमात्र अनुग्राहक हैं। उनके सिवाय और कोई भी अनुग्रह नहीं कर सकते। परन्तु, गुरु के जो प्रकार-भेद किये गये हैं, उसका कारण है। ज्ञानेन्द्रियादि का प्रणाली-भेदमूलक, जिस किसी उपाय से हो अथवा विना उपाय के ही हो, ज्ञान उत्पन्न होते ही उसका कार्य होगा ही। लकड़ी से लकड़ी को रगड़कर आग जलाना जो है, जलती हुई आग के संस्पर्श से आग जलाना भी वही है। आग चाहे जैसे जले, दाहिका शक्ति दोनों में समान ही रहती है। अवश्य, दोनों अग्नि में कुछ पार्थक्य भी रहता है। इसीलिए, फल और सामर्थ्य के अभेद के बावजूद अकल्पित गुरु को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। नित्यसिद्ध परमशिव और जो बन्धन से मुक्त होकर शिवत्व प्राप्त करते हैं, इन दोनों में सर्वज्ञत्व आदि धर्म समान रहते हुए भी जैसे परमशिव का उत्कर्ष अधिक माना जाता है, वैसे ही अकल्पित गुरु की महिमा को अधिक स्वीकार किया जाता है। वास्तव में, अकल्पित गुरु के सामने कल्पित आदि गुरु या तो चुपचाप निष्क्रिय रहते हैं, या उनका अनुवर्त्तन करते हैं।

अतएव, सद्गुरु का मतलब साक्षात् परमेश्वर अथवा उनका अनुग्रहप्राप्त उन्हीं के साधर्म्यापन्न जीवन्मुक्त अधिकारी पुरुष समझना होगा। यह अधिकारी देवता, सिद्ध और मनुष्य—तीनों ही हो सकते हैं।

सवाल हो सकता है—असद्गुरु में गुरुत्व कहाँ है ? 'गुरु' शब्द का वास्तविक अर्थ लेने से इस प्रकार की शंका हो सकती है। यदि 'गुरु' शब्द का संकुचित अर्थ लें, तो कहा जा सकता है कि माया से उद्धार न कर सकने पर भी जो ऊर्ध्वलोक का भोग-ऐश्वर्य और अजरत्व-अमरत्व आदि परिमित सिद्धि दे सकते हैं, व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें भी गुरु कहा जा सकता है। मायिक जगत् में भी विभिन्न ऊर्ध्वस्तरों में आनन्द और भोग्य की कमी नहीं है। पृथ्वीतत्त्व से लेकर कलातत्त्व तक प्रत्येक तत्त्व में ही भोग्य विषय और भोग-उपकरणवाले नाना भुवन हैं। उन भुवनों में भी गुरु हैं। इसके सिवा भुवनेश्वरगण भी ज्ञान-सम्पन्न अधिकारी पुरुष हैं। सिद्धावस्था प्राप्त करने के पहले योगी ऐसा सामर्थ्य प्राप्त करते हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति-विशेष को, जिस तत्त्व में वह है, वहाँ से उठाकर दूसरे अभिलषित तत्त्व एवं उस तत्त्ववाले भुवन-विशेष में वहाँ के ऐश्वर्य-भोग के लिए नियोजित कर सकते हैं। इसके लिए दीक्षा की जरूरत नहीं होती। उन भुवनेश्वरों की आराधना द्वारा भी बेशक उन भुवनों में जाया और रहा जा सकता है।[1] वह सब भोगलोक हैं। भोग के अन्त में उन सब स्थानों से पतन निश्चित है, पर वहाँ यदि सद्गुरु प्राप्त करके पथ मिल सके तो और बात है। ये गुरु केवल भोगप्रद हैं। ये दिव्यज्ञान नहीं दे सकते, इसलिए माया को पार नहीं करा सकते। यही पूर्वोक्त असद्गुरु हैं। और, ऐसे भी गुरु हैं, जो ज्ञान दे सकते हैं, पर भोग या विज्ञान नहीं दे सकते। ज्ञान देकर वह माया से मुक्त कर देते हैं, पर विज्ञान के अभाव से ज्ञानी अधिकार नहीं प्राप्त कर सकता। वह स्वयं मुक्त होते हैं, परन्तु दूसरे को मुक्त नहीं कर सकते, इसलिए परोपकार करने में समर्थ नहीं होते। यह गुरु ज्ञानी होते हैं, योगी नहीं। वास्तविक सद्गुरु यह भी नहीं। सिद्ध योगी होने के नाते जो योगी और ज्ञानी दोनों ही होते हैं, वही सद्गुरु हैं। वह विज्ञान दान करते हैं, इसलिए शिष्य के भोग और मोक्ष दोनों का ही विधान कर सकते हैं। पूर्णत्व उन्हीं की कृपा से पाया जा सकता है।

'ब्रह्मानन्दं परम सुखदं' कहकर सद्गुरु को जो नमस्कार किया जाता है, गुरु-प्रणाम में जिनको 'तत्' पद का प्रदर्शक कहकर और ज्ञानाञ्जन-शलाका से अज्ञान-तिमिरान्ध में ज्ञान की आँखें खोलनेवाला बताया जाता है, वे दोनों एक ही हैं। साधारण तौर पर 'गुरु' शब्द से सद्गुरु ही समझा जाता है। क्योंकि, गुरुरूपी भगवान्

---

१. तन्त्रशास्त्र में भोग-दीक्षा की भी बात है, पर वह भिन्न है। वह सद्गुरु-प्रदत्त है। शिष्य के भोगार्थी होने के कारण सद्गुरु उसे दीक्षा देकर चाहे हुए भोग के लिए उचित लोक में भेजते हैं। और, भोगक्षय करके क्रमशः उठते-उठते वह भी पूर्णत्व पाता है, लेकिन बहुत दिनों के बाद।

अथवा गुरु की देह में अधिष्ठित भगवान् अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा (दीक्षा से) पशु के स्वतःसिद्ध दिव्यज्ञान-रूप आँखों के अवरोधक मल को हटा देते हैं। परिणाम-स्वरूप उसका पशुत्व मिटकर सर्वज्ञत्व और सर्वकर्त्तृत्व अभिव्यक्त होता है और शिवसाधर्म्य की प्राप्ति होती है।

यह क्रियाशक्ति दर्शन आदि विभिन्न उपायों से प्रयुक्त हो सकती है और उसके अनुसार दीक्षा के भी भेद होते हैं। शिष्य के उद्धार का सामर्थ्य गुरु का लक्षण है। योगवाशिष्ठ में आया है :

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेत् यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः।।

(निर्वाण-प्रकरण)

—अर्थात् जो दरस, परस और शब्द के द्वारा शिष्य की देह में शिवभाव के आवेश को जगा सकते हैं, वही देशिक या गुरु हैं। कुण्डलिनी-प्रवुद्ध होकर षट्चक्र का भेदन करके ब्रह्मरन्ध्र में परशिव के साथ मिल जाने से यह आवेश होता है। सत्य-संकल्प गुरु केवल एक बार कृपादृष्टि डालकर भी इस महत् कार्य को कर सकते हैं।

योग्य शिष्य का उद्धार और अयोग्य को योग्य वनाकर उद्धार करना, यही गुरु का काम है। बोधसार में नरहरि ने कहा है :

तत् तद्विवेक वैराग्ययुक्त वेदान्तयुक्तिभिः।
श्रीगुरुः प्रापयत्येव अपद्ममपि पद्मताम्।।
प्रापय्य पद्मतामेनं प्रबोधयति तत्क्षणात्।।

— अर्थात् श्रीगुरु विवेक-वैराग्ययुक्त वेदान्त-युक्ति से अपद्म को भी पद्मरूप में परिणत कर सकते हैं। उसके वाद उसे पल में जगा देते हैं। भास्कर राय ने 'ललितासहस्रनाम' के भाष्य में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है :

'अयोग्येपि योग्यतामापाद्य श्रीगुरु सूर्यः वोधयति'—अर्थात् श्रीगुरुरूपी सूर्य अयोग्य को भी योग्य वनाकर प्रवुद्ध करते हैं।[१]

---

१. नवचक्र के तन्त्र में हैं :

'पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम्।
यो वै सम्यक् विज्ञानाति स गुरुः परिकीर्त्तितः।।'

—अर्थात् जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत—इन चारों से सम्यक् रूप से परिचित हैं, वही गुरु है।

[छह]

वैदिक शास्त्र की भाँति आगम में भी श्रौत, चिन्तामय और भावनामय—इन तीन प्रकार के ज्ञान का विवरण मिलता है।[1] इनमें पूर्व-पूर्व ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञान का प्रतिहेतु है। विक्षिप्त चित्त के शास्त्रार्थ-ज्ञान को श्रौतज्ञान कहते हैं। सबसे अधिक निकृष्ट शास्त्रार्थ आलोचनापूर्वक 'यही यहाँ उपयोगी है'—इस प्रकार अनुपूर्वी द्वारा व्यवस्था ही चिन्तामय ज्ञान है। इसके दो भेद हैं—मन्द-अभ्यस्त और स्वभ्यस्त। स्वभ्यस्त चिन्तामय ज्ञान से भावनामय ज्ञान पैदा होता है, जिसे पण्डित लोग मोक्ष का एकमात्र कारण बताते हैं। वास्तव में, यही श्रेष्ठतम ज्ञान है। इसी से योग और योगफल प्राप्त होता है। भावनामय ज्ञान के अभाव में अशुद्ध शिष्य को मायिक तत्त्व से उद्धार करके इच्छानुसार स-कल सदाशिव अथवा निष्कल परमशिव से जोड़ना सम्भव नहीं है। यानी, गुरु के स्वभ्यस्त ज्ञानी होने पर भी भावना-विशेष के अभाव से उस तत्त्व-विशेष का साक्षात्कार नहीं करके अशुद्ध रहने से, जैसा कहा गया है, वे उस

• गुरुगीता के अनुसार—कुण्डलिनी-शक्ति, हंस, बिन्दु और निरंजन—इन चारों को क्रम से पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत कहा जाता है। यथा :

पिण्डं कुण्डलिनीशक्तिः पदं हंसः प्रकीर्त्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयं रूपातीतं निरञ्जनम्॥

स्वच्छन्दसंग्रह में भी यह श्लोक है। लेकिन वहाँ अन्तिम पद में है—'रूपातीतं हि चिन्मयम्।' योगिनीहृदयतन्त्र में इसी क्रम से चारों का उल्लेख है। परन्तु, दादूदयालजी के शिष्य सुन्दरदास ने अपने 'ज्ञानसमुद्र' नाम के ग्रन्थ में ध्यान के वर्णन-प्रसंग में—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—यह परिभाषा ग्रहण की है (श्लोक ७८—८४)। जैन-ग्रन्थ में भी इन चार प्रकार के ध्यान की बात मिलती है। इससे यह समझ में आता है—पूर्ण और शुद्धतम ज्ञान ही गुरु का लक्षण है।

१. बौद्धग्रन्थ में भी श्रुतचिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा की बात आई है। शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार की प्रज्ञाकरकृत पञ्चिका नाम की टीका में इस प्रज्ञा को भूमि-प्रविष्ट प्रज्ञा से पृथक् किया गया है। अभिधर्म-कोश में भी श्रौत ज्ञानादि का विवरण है। वैभाषिक मत से श्रुतमयी प्रज्ञा का विषय-नाम और अर्थ तथा भावनामयी प्रज्ञा का विषय अर्थ है। सौत्रान्तिक मत से श्रुतप्रज्ञा=आत्मप्रमाणज निश्चय। चिन्ता-प्रज्ञा=युक्तिनिर्धारणज निश्चय : भावना-प्रज्ञा=समाधिज निश्चय। जो शीलवान् और श्रुतचिन्ता प्रज्ञावान् हैं, वह भावना के अधिकारी हैं। [द्रष्टव्य, अभिधर्मकोश (६)]।

प्रकार के उद्धार और योजन-कार्य में समर्थ नहीं होते। और, सिद्ध योगी उस मायिक तत्त्व की सिद्धि प्राप्त करके भी सदाशिव आदि उत्तम पद में स्वभ्यस्त ज्ञानी के नाते योजना कर सकते हैं। यदि योगी योगवल से उन तत्त्वों की सिद्धि-लाभ करें, तो भी योगवल से उन तत्त्वों से शिष्य को युक्त नहीं कर सकते। क्योंकि, निम्नवर्त्ती तत्त्व में जो योगज सिद्धि होती है, वह विमोचन का उपाय नहीं है।

अब प्रश्न यह है—योगी को सदाशिवादि ऊर्ध्ववर्त्ती तत्त्व में योगज सिद्धि क्यों नहीं होती, जिसके प्रभाव से योगी सारे जगत् का उन्मोचक हो सकता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि योगी की नाईं ज्ञानी भी अभ्यासहीन हैं, फिर भी ज्ञानी सर्वथा स्वभ्यस्त भावनामय विज्ञान-प्रसंग में शिवत्वभाव पाता है, इसलिए, वह दीक्षा आदि क्रम में योगी से श्रेष्ठ है।

इस विषय को ठीक से समझने के लिए योगी के प्रकार-भेद का भी साधारण ज्ञान होना आवश्यक है। आगम-मत से सम्प्राप्त, घटमान, सिद्ध और सुसिद्ध--योगी के ये चार प्रकार हैं। जिस साधक को योग का उपदेश-भर मिला है, उसे सम्प्राप्त और योग के अभ्यास में लगे साधक को घटमान कहते हैं। इन दोनों ही प्रकार के साधक स्वयं ही योग अथवा ज्ञान में सुप्रतिष्ठित नहीं होते, इसलिए दूसरों के उपकार में समर्थ नहीं होते। परन्तु, जिनका योग सिद्ध हुआ है, उन्हें स्वभ्यस्त ज्ञान भी अवश्य है। इसी ज्ञान से वे दूसरे को मुक्त कर सकते हैं—दूसरे प्रकार से, यानी सिद्धि के प्रभाव से नहीं। योगी और ज्ञानी में वही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि योगी होते हुए भी वे ज्ञानी हैं। जो सुसिद्ध योगी हैं, वे व्यवहार-भूमि से परे हैं। वे किसी भी समय अपने स्वरूप से संवलित नहीं होते। वे जिस किसी भी स्थान में रहकर जिस किसी प्रकार से फलभोग करके भी हीन नहीं होते, निर्विकार रहते हैं। वे नररूपी विरूपाक्ष हैं। एक वस उन्हीं में सकलाध्वा की सिद्धि हुई है। पर, वे गुरुभाव लेकर साक्षात् रूप से अमर्त्यगण का मोचन नहीं करते--विद्येश्वरगण के भीतर से करते हैं।

अतएव, ज्ञान और योग का विचार करके मालिनीतन्त्र ने कहा है--मुमुक्षु के लिए स्वभ्यस्त ज्ञानवान् गुरु ही श्रेष्ठ है। इसलिए, स्वभ्यस्त ज्ञानता ही गुरु का एकमात्र लक्षण है। योगित्व गुरु-लक्षण नहीं है।

परन्तु, योगी गुरु भी हैं। यह सही है कि ज्ञानी योगी से श्रेष्ठ है। कहीं ज्ञानी गुरुकर्त्तव्य, कहीं योगी गुरुकर्त्तव्य या त्याज्य है, यह आचार्य अभिनव के गुरु शम्भुनाथ ने अपने मुँह से इस प्रकार कहा है। वह कहते हैं—जो मोक्ष ज्ञानार्थी है, उसके गुरु का स्वभ्यस्त ज्ञान होना जरूरी है। दूसरे प्रकार का गुरु मिलने पर भी उसके लिए वह गुरु अनिवार्य है। क्योंकि--

आमोदार्थी यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत् ।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ॥

अर्थात् जो गुरु विज्ञान-दान में असमर्थ हैं, वह शक्तिहीन हैं। जो स्वयं अज्ञ हैं, वह दूसरे का उपकार कैसे कर सकते हैं ? प्रश्न हो सकता है, भावना ही तो मुख्य है, अज्ञ गुरु में भी शिष्य को भावनावशतः सुफल मिल सकता है। फलतः अज्ञ गुरु के त्याग की क्या आवश्यकता है ? जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष देखकर भी अधम पद में रहता है, वह अभागा है। जो मोक्ष और विज्ञानप्रार्थी है, उसके गुरु का स्वभ्यस्तज्ञानी योगसिद्ध होना जरूरी है। यही तीसरे प्रकार के योगी हैं, जो मोक्ष और विज्ञानार्थी हैं, उनके गुरु ज्ञानी होते हैं। इस गुरु से भोगसिद्धि नहीं होती। और जो मितयोगी हैं, यानी जो योगी घटमान और सिद्धावस्था के वीच के हैं, वह गुरु तो हैं, पर सिर्फ भोगांश देने में समर्थ हैं—वह मोक्ष या विज्ञान-दान नहीं दे सकते। और, जो योगी केवल सम्प्राप्त और घटमान अवस्था में हैं, वह शिष्य के मोक्ष और विज्ञान-विधान की वात तो दूर, उसे भोगमात्र भी देने में समर्थ नहीं—वह सिर्फ उपदेश-कुशल हैं। जो मितयोगी भी नहीं हैं, ऐसे योगाभ्यासी से वल्कि मितयोगी भी गुरु की दृष्टि से श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वह ज्ञान के उपाय उपदेश द्वारा क्रमशः मुक्त करने में समर्थ होते हैं।

इस तरह अगर मितज्ञानी गुरु हों, तो शिष्य का कर्त्तव्य क्या है ? एक पूर्ण ज्ञानशाली गुरु अर्थात् सद्‌गुरु नहीं होने से भिन्न-भिन्न परिमित ज्ञान गुरु से अंशांशिका क्रम से ज्ञान-आहरण कर-करके स्वात्मा में अखण्ड मण्डल पूर्णज्ञान सम्पादन करेगा। मितज्ञानी से पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, इसलिए स्वकीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयत्न से असंख्य गुरु करने की आवश्यकता होती है। इसमें प्रत्यवाय नहीं।

भगवत्-कृपा के विना सद्‌गुरु नहीं मिलते। तीव्र शक्तिपात से पूर्ण ज्ञानवाले गुरु मिलते हैं, जिनकी कृपा से अनायास स्वात्मविज्ञान पूर्णरूप से उदित होता है। ऐसे में वार-वार गुरुकरण की आवश्यकता नहीं रहती।

[सात]

प्रातिभ ज्ञान के वारे में हम पहले कह चुके हैं। यह अनुत्तर महाज्ञान-स्वरूप है। यह स्वयं उद्‌भूत है, इसलिए सांसिद्धिक है।[1] किरणागम में है : दीक्षा से जैसे मुक्ति

१. पातञ्जल दर्शन और उसके व्यासभाष्य में भी प्रातिभ का जिक्र है। इसे विवेकज ज्ञान कहा गया है एवं अनौपदेशिक, सर्वविषयक, सर्वथाविषयक और अक्रम कहकर वर्णन किया गया है। यही तारक ज्ञान है। आगम में भी ठीक यही बात हैं। 'अनौपदेशिक' शब्द से जो अभिप्राय है, तन्त्र के 'गुरुशास्त्रानपेक्ष' शब्द से भी फलतः वही मतलब हैं।

होती है, वैसे ही प्रातिभ द्वारा भी मुक्ति होती है। लेकिन प्रातिभ स्व-सभाव है, दीक्षा गुरु के अधीन। यही विलक्षणता है। परन्तु, सूक्ष्म रूप से विचार करने पर समझ में आयगा कि जिन सब पुरुषों ने केवल स्व-प्रतिभा से मोक्ष का अनुभव किया है, उन्हें भी कम-से-कम किञ्चित् मात्रा में गुरु का अनुग्रह प्राप्त करना ही पड़ता है। इसलिए कि इस अखिल जगत् के सारे भावों के विजृंभण के ही मूल में परमेश्वर का स्वातन्त्र्य खेला करता है। इसलिए, उनकी आज्ञा के विना उन पुरुषों में वैसी प्रतिभा सम्पन्न ही नहीं हो सकती।

प्रातिभ ज्ञान दो प्रकार का है: (क) गुरु और आम्नायगत तथा (ख) स्वाभाविक (शुद्ध)। (क) शिव, शक्ति और नर या जीव—इन्हीं तीनों की समष्टि विश्व है। उनमें शिव कर्त्ता, शक्ति कारण (कारण में कर्म और कर्त्ता का आवेश तथा कर्त्तृत्व है) एवं जीवकर्म (या बन्धन का विषय)। इसलिए, वद्ध जीव गुरु और शास्त्र का उपदेश्य है—उसमें वध्य, बन्ध और वन्धकत्व विभाग अवभासपूर्वक महाज्ञान के उदय होने की सम्भावना है। गुरु और शास्त्र के माहात्म्य से शिवादि दोनों ही में प्रातिभ ज्ञान-रूप में आविर्भूत होते हैं। जब साधक के पाश गुरु की दीक्षारूपी तलवार से छिन्न होते हैं, तो उनका वास्तविक प्रातिभ तत्त्व विकसित होता है।[1] जैसे, राख से ढँकी आग मुँह की फूँक आदि के प्रभाव से उग आती है, जैसे समय में उप्त और संसिक्त बीज अंकुर, पल्लव आदि में अभिव्यक्त होता है, वैसे ही प्रातिभ ज्ञान भी गुरु के उपदेश से याग, योग आदि द्वारा व्यक्त होता है। यह प्रातिभ ज्ञान अन्त:करण-सम्पाद्य होने से सेन्द्रिय है।

(ख) स्वाभाविक प्रातिभ = विवेकज ज्ञान। यह अन्त:करण-सम्पाद्य नहीं है, इसलिए अतीन्द्रिय है। अतीन्द्रिय एवं अप्रमेय संवित् तत्त्व-विचार[2] अवस्था प्राप्त

---

१. "तदागम वशात् साध्यं गुरु वक्त्रन्महाधिपे।
शिवशक्तिकरावेशाद् गुरुः शिष्य प्रबोधकः॥
अधरोत्तरगैर्व्वाक्यैः प्रभु शक्त्युपवृंहितः।
तच्छक्त्या सुप्रबुद्धस्य ध्वस्तमायामलस्य च॥
दीक्षा संच्छिन्नपाशस्य भावनाभावितस्य च।
विकाशं तत्त्वमायाति यत्तज्-ज्ञानभिदं शिवे॥
प्रातिभं तत् समाख्यातं तत्त्व ज्ञानस्य भावनात्॥"

२. त्रिपुरारहस्य में है:
"राधिता परमा देवी सम्यक् तुष्टा सती तदा।
विचाररूपतां याति चित्ताकाशे रविर्यथा॥"
—अर्थात् हृदयस्था सकल की आत्मरूपा अन्तर्यामिनी चिन्मयी महेश्वरी को आराधना द्वारा प्रसन्न करने से वही साधक के चित्त में

होने पर जब स्वपरामर्श रूप में बदल जाता है, तो उसे विवेक कहते हैं। वैसे में पति, पशु और पाशज्ञान स्वयं ही उदित होता है—किसी बात की अपेक्षा नहीं रहती। यही विवेकज प्रातिभ ज्ञान है। यह सम्यक् ज्ञान है। ऐसी स्थिति में सारे इन्द्रिय-गम्य और अन्त:करणगम्य संकुचित ज्ञान दूसरी अपेक्षा छोड़कर उस महाप्रकाश में विश्रान्त होते हैं। दीये की क्षीण लौ जैसे सूरज की किरण में मन्द पड़ जाती है, यह भी ठीक वैसा ही है। विवेक के उदय से शब्दादि इन्द्रियगोचर वस्तु में देश, काल, आकारगत विप्रकृष्ट आदि विषयक ज्ञान पैदा होता है। विवेक के गाढ़ा होने से सिद्धि या ऐश्वर्य अच्छा नहीं लगता, उस समय शिवमय परम सत्य में विश्राम मिलता है, सारे भावों से विवेक होता है, इसलिए सभी विषयों से वैराग्य होता है—दर्पण में जैसे अपने को प्रतिबिम्ब-रूप में देखा जाता है, वैसे ही भीतर और बाहर, सर्वत्र शिव को ही देखा जाता है। अर्थात् शिवैकधन रूप में विश्व का साक्षात्कार होता है, एक ही समय में भीतर और बाहर शिव-दर्शन होता है—प्रातिभ का यही माहात्म्य है।

इस तरह उसका हेय और उपादेय कुछ नहीं रह जाता, इसलिए अकिंचितकर परिमित सिद्धि में निबन्धनभूत हर पल ध्यानादि छूट जाता है तथा केवल परासंवित् का ही परामर्शन होता है। उस समय सिद्धि का सारा सम्पद् स्वप्न और इन्द्रजाल जैसा लगता है। प्रातिभ का यह लक्षण देखते ही साधक हेय-उपादेय तत्त्वज्ञ होकर सदा विभु शिव का ही ध्यान करता है। सिद्धि सिर्फ परप्रत्यय निमित्त है—नहीं तो देह के अन्त होने पर मुक्ति का भरोसा क्या ? पर, जो पर-सत्त्व में ही दृढ भावना रखता है, वह जीते-जी ही मुक्त होता है।

और एक बात। विवेक का विकास होने पर अभ्यासवश शाप और अनुग्रह का सामर्थ्य पैदा होता है। उस समय साधक बालक्रीडा की तरह सिद्धियों से अनासक्त होकर मध्यस्थ भाव का अवलम्बन करके परतत्त्व में ही विश्रान्त रहता है। इसीलिए, स्वयं मुक्त होकर औरों को भी मुक्त करने में समर्थ होता है।

विचार-रूप में उदित होती हैं। इस प्रसंग में कहा गया है कि दीर्घकाल तक सद्गुरु द्वारा क्रमानुसार अकपट भाव से यानी फल की अभिसन्धि से रहित होकर इस हृदयवासिनी आत्मा देवी की आराधना करने से उनकी कृपा उपासक के चित्त में विचार के आकार में स्फुरित होती है (२।२९।८२)। अन्यत्र है : इसी विचार से क्रमशः सभी आध्यात्मिक अवस्था का विकास होता हैं और अन्त में आत्म-प्रत्यभिज्ञा का उदय होकर निर्विकल्पक आत्म-स्वरूप में स्थिति होती है (वही, १७।६३।६८)।

बद्ध अणु भूत-इन्द्रिय आदि से आच्छन्न रहता है। इसलिए, वह संसार-मार्ग में परिभ्रमण करने को विवश होता है। परन्तु, अणु यदि प्रतिभायुक्त हो, यदि उसमें विवेक का उदय हुआ हो, तो शक्ति-तत्त्व के रूप में वर्णित होता है। उस समय वह शुद्ध विद्यादशा में अधिष्ठित होता है। इसलिए अनुग्रह, निग्रह आदि में उसको प्रवणता आती है। इस विवेक के विकास से जीव भवसागर से मुक्त होकर कारणषट्क-त्यागपूर्वक शिवत्व को पाता है।

अतएव, शिव, शक्ति और जीव——यही तीनों तत्त्व ही प्रातिभ विज्ञान के रूप में आविर्भूत होते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

[आठ]

सद्गुरु वास्तव में परमेश्वर है, इसमें सन्देह नहीं। तन्त्रमत से वही परम-शिव हैं। वह स्वातन्त्र्य-शक्तिमय हैं—पंचकृत्यकारित्व उन्हीं का असाधारण काम है। इन पंचकृत्यों में जीव का अनुग्रह अन्यतम है। अन्यतम क्यों, यही प्रधान है। मतलब कि उनके और-और कृत्य इसके अंगीभूत हैं, यह भी कहा जा सकता है।

वह साक्षात् अनुग्रह करते हैं या किसी गुरुदेह में अधिष्ठित होकर अनुग्रह करते हैं। उनका साक्षात् अनुग्रह निरधिकरण और दूसरा साधिकरण है। शास्त्र कहते हैं कि जब-जब तमः और अनादि प्रवृत्त मल का तथा वामाख्य भगवत्शक्ति का आवरणात्मक अधिकार निवृत्त होता है, तो जीव का कैवल्याभिमुख भाव उदित होता है। इस भाव के उदय होने से जगत्-उद्धार-प्रवण परमेश्वर अणु-आत्मा की अनन्त दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति, यानी चैतन्य को प्रकट कर देते हैं। दृक्क्रिया की अनन्तता पशुओं में भी है, पर मल के अवच्छेद से वह ढँकी रहती है। परिणाम के फल से आवरण हटने से वह अभिव्यक्त होती है।

परमेश्वर सब समय अनुग्रह कर सकते हैं और करते हैं। जगत् का स्वाप, संहार, सृष्टि और स्थिति—सभी अवस्थाओं में उनका अनुग्रह आत्मप्रकाश करता है। पर अनुग्रह के फल में कुछ हेरफेर होता है। हाँ, अनुग्रह का मुख्य फल मुक्ति है, वह तो होती ही है। लेकिन, वह निरधिकार हो सकती है, साधिकार भी हो सकती है। निरधिकार मुक्ति ही शिवत्व है, साधिकार मुक्ति विद्येश्वरादि अधिकारी का पदविशेष है। स्वापावस्था में अनुग्रह के साथ-ही-साथ शिवत्व होता है—अधिकार-प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि, उस समय जगत् नहीं होता, इसलिए अधिकारी की जरूरत नहीं होती। संहार और सृष्टि के समय अनुग्रह के फल से शिवत्व-लाभ अथवा मलपाक के वैचित्र्य के अनुसार ऐश्वर्य-प्राप्ति-रूप साधिकार-मुक्ति होती है। जो संहारकाल में साधिकार अनुग्रह पाते हैं, वे सृष्टि में अधिकारी होते हैं। और, जो सृष्टिकाल में साधिकार

अनुग्रह प्राप्त करते हैं, वे परविद्येश्वर आदि अवस्था प्राप्त करते हैं। किसी-किसी को जो शिवत्व नहीं मिल सकता, ऐसी बात नहीं। क्योंकि, मलपाक और परमेश्वर का अनुग्रह—किसी के भी कालनियम नहीं है। अद्वैतदृष्टि से भी उनका स्वातन्त्र्य पर्यनुयोग के अयोग्य है—यह कहना ही बाहुल्य है। यह जो तीन काल का अनुग्रह है, वह निरधिकार भगवान् का अनुग्रह है। परन्तु, जगत् के स्थिति-काल में साधारणतः[1] उनका अनुग्रह वैसा साक्षात् या निरधिकरण नहीं होता—गुरु या आचार्य-रूप अधिकरण से आवेशपूर्वक होता है। स्थितिकाल में परमेश्वर प्रशान्ति पाने के योग्य चिद्युक्त अणुओं पर योग्यतानुसार अनुग्रह करते हैं और किसी को मन्त्रपद, किसी को पति-पद और किसी को सबसे ऊँचा ईशान-पद देते हैं।[2] इन पदों को सालोक्य आदि समझना होगा। यही सब अ-परमुक्ति है। हाँ, बहुत ही उन्नत योग्यतावाले कोई-कोई परामुक्ति या शिवत्व भी प्राप्त करते हैं। साधिकार-मुक्ति में (अनन्तादि) मन्त्र-महेश्वर का पद श्रेष्ठ है—उसके ऊपर और पद नहीं है और वहाँ से च्युति की भी सम्भावना नहीं।[3] इसके बाद ही अपवर्ग मिलता है, सिर्फ अधिकार-समाप्ति की अपेक्षा रहती है। महेश्वर-पद मध्यम है और रुद्रों का पद निकृष्ट है। इन दो पदों से च्युति हो सकती है—क्योंकि, उन भुवनों की प्राप्ति-रूप मोक्ष महाप्रलय तक रहता है। दुबारे सर्ग-आरम्भ में बाकी कर्म के कारण अधोगति की सम्भावना रहती है। अतएव, इन दो पदों का पाना मुक्ति नहीं है, मुक्ति का आभास-मात्र है। मगर इन दो पदों से भी मुक्ति नहीं हो सकती, ऐसा नहीं। मल-परिपाक से दीक्षा द्वारा उन दोनों पदों में भी मोक्ष असम्भव नहीं है; क्योंकि प्रत्येक भुवन में ही गुरु हैं।

परमेश्वर जगत् की स्वापावस्था में जो कृपा करते हैं, उसमें अनुग्राह्य जीवों की योग्यता का विचार नहीं करते। क्योंकि, उस समय अधिकार का उपयोग नहीं

---

१. स्थितिकाल में भी मलपाक के कारण निरधिकरण अनुग्रह हो सकता है, लेकिन विरले। (मृगेन्द्रागम, सटीक, पृ० १६५)

२. पञ्चाष्टकादि रुद्रगण का पद=रुद्रपद; सप्तकोटि मन्त्रगण का पद=मन्त्रपद; अ-पर मन्त्रेश्वरगण का पद=पति-पद; ईश्वर (अनन्त) सदाशिव और शान्त लक्षण ईशान-पद=ईशान-पद।

३. माया-उत्तीर्ण होने के कारण कर्मभावव शतः च्युति का भय नहीं है। रौरव में हैं:

'भुक्त्वा भोगान् सुचिरममरस्त्री निकायैरुपेताः।
स्वस्तोत्कण्ठाः शिवपद परैश्वर्यभाजोभवन्ति ॥'

रहता, इसलिए वैसी विभिन्न योग्यता-परीक्षा की आवश्यकता नहीं रहती। योग्यता वैचित्र्यमूलक अनुग्रह स्थिति-काल के लिए है—स्वापकाल के लिए नहीं। लेकिन, अत्यन्त मलपाक के कारण तीव्रतम वैराग्य-अवस्था में स्थितिकाल में भी स्वापकाल की नाईं अवस्था किसी-किसी की हो सकती है। लेकिन यह बहुत कम देखने में आता है।

तमः पति या दृक्क्रिया-निरोधक वामदेवनाथ की निरोधकता थोड़ी शिथिल होने और थोड़ी बाकी रहने से शरीरियों में नाना प्रकार के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। यानी परमेश्वर की तिरोधान-शक्ति का अधिकार विरत होने से ही अनुग्रह या शक्तिपात का लक्षण उत्पन्न होता है। इन सारे लक्षणों को देखकर यह समझते हुए कि शक्तिपात हुआ है, गुरुगण दीक्षा देते हैं। परन्तु, अशरीरी के शक्तिपात को गुरुगण भी लक्ष्य नहीं कर पाते हैं। तीव्र मुमुक्षा, संसार के प्रति वैराग्य और परमेश्वर-भक्ति-परायण पर भक्ति तथा तत् शासक शास्त्र पर श्रद्धा—उन लक्षणों में ये सब प्रधान हैं। पाश की शिथिलता जितनी ही अधिक होती है, ये लक्षण उतना ही अधिक दिखाई देते हैं।

किन्हीं-किन्हीं का खयाल है, स्वयं भगवान् जिन लोगों पर अनुग्रह करते हैं, वे सभी जगत् के आदिगुरु हैं। यह बात सत्य नहीं है; क्योंकि गुरुपद भी विशुद्ध वासनामय अधिकार-पद है। जीव का उद्धार और लोक-कल्याण की आकांक्षा नहीं रहने से कोई गुरुपद प्राप्त नहीं कर सकता। जिन आत्माओं का मलपाक बहुत अधिक होने से परम वैराग्य का उदय होता है, वे साक्षात् भगवदनुग्रह प्राप्त करने के कारण एकबारगी पूर्णत्व प्राप्त करते हैं। वे जगत् के अतीत होते हैं। आगम के मत से वे परमेश्वर की अधिकार-अवस्था तथा भोग-अवस्था को भेदकर बिलकुल लयावस्था प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में बिन्दुक्षोभ नहीं रहता, इसलिए यह सृष्टि की अतीत अवस्था है। द्वैत दृष्टि से विचार करने पर इनका जगत्-व्यापार से नाता नहीं रहता। ये मुक्त शिव हैं। मलहीन होने के कारण ये भी परमशिव की नाईं सभी शक्तियों से युक्त तथा स्वतन्त्र होते हैं, यह सत्य है, और वह स्वतन्त्रता उस समय अनावृत होती है, यह भी सत्य है। फिर भी चूँकि ये वासनामुक्त होते हैं, इसलिए जगत् के अधिकार आदि से उपरत तथा स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। निर्मल मुक्त पुरुष की शक्ति अर्थात् अव्ययास्वयंसंवेद्य संवित् सभी वस्तुओं को, जैसे है, उसी रूप में ग्रहण करती है। ये समर्थ होते हैं। परन्तु, सर्वज्ञत्व और सर्वकर्त्तृत्व के बावजूद इनमें प्रवृत्ति नहीं होती; क्योंकि नित्यमुक्त परमेश्वर ही विश्व के कार्यों के निर्वाहक हैं। ये राग-द्वेषहीन हैं। अद्वैत की दृष्टि से ये सभी एक परमेश्वर-रूप में प्रतिष्ठित हैं। इसलिए, अलग से इनके बारे में कहने की आवश्यकता नहीं।

परन्तु, जिनके हृदय में परानन्द के भोग की आकांक्षा बहुत प्रवल है, वे भगवद्-अनुग्रह प्राप्त करके विद्या-देह से दिव्य भोग-सम्भोग करते हैं। सदाशिव-पद में भोग-सम्पत्ति होती है। और, जो परोपकार करने को दृढसंकल्प होते हैं, वे मलपाकवशतः भगवान् का अनुग्रह पाकर ऐसी अवस्था पाते हैं कि उससे उनकी आकांक्षा पूरी हो सकती है। वे अधिकार-पद प्राप्त करते हैं। इनमें से एक अंश मन्त्रपद पाते हैं। वाकी अंश जगत् के आदिगुरु का पद प्राप्त करते हैं। इस आदिगुरु में सभी यानी आठ, माया के ऊपर ईश्वर-तत्त्व के आश्रय से वर्तमान रहते हैं। ये आठ—अनन्त से शिखण्डी तक—जगद्गुरु के रूप में वर्णित होने योग्य हैं। इनके अमायिक विशुद्ध सत्त्वमय वैन्दव देह है, जो ये सृष्टि के आदि में भगवद्-अनुग्रह के समकाल में बिन्दु-क्षोभ से प्राप्त करते हैं। वैन्दव देह के वावजूद ये (अ-पर) शिव पदवाच्य तथा सर्वज्ञत्व आदि से सम्पन्न होते हैं। इनके मायिक देह नहीं। पहले ही ये योग-विज्ञान आदि के द्वारा कर्म का क्षय करके माया से वाहर विज्ञान-कैवल्य-अवस्था में मलमात्र से युक्त होकर अवस्थान कर रहे थे।[1] उस समय भी मलपाक की सम्यक् पूर्णता नहीं होने के कारण ये भगवद्-अनुग्रह-प्राप्त नहीं होते। वह विदेह-कैवल्य की दशा है, : जो माया और पुरुष के विवेक-ज्ञान से उद्भूत होती है। उस अवस्था में कर्म, पूर्यष्टक, स्थूलदेह—कुछ भी नहीं रहते। पर शुद्ध वासना रहती है, यह सत्य है। आणव मल रहता है। सृष्टि के प्रारम्भ में भगवत्-कृपा से ये ज्योतिर्मय वैन्दव देह प्राप्त करते हैं और अपने अधिकारोचित पद पर रहते हैं। यह पूर्णत्व की अवस्था नहीं होते हुए भी ऐश्वर्य की अवस्था है। भगवान् की पञ्चकृत्यकारिता ये प्राप्त करते हैं। परमेश्वर के प्रेर्य या निदेशवर्त्ती होते हुए भी एक हिसाव से ये जगत् के प्रभु हैं। मायिक जगत् की सृष्टि, उसकी रक्षा आदि का भार इन्हीं पर होता है। अनुग्रह भी इसके अन्तर्गत है। इसीलिए, ये गुरुपद-वाच्य हैं। इनमें जो प्रधान होते हैं, उनके शरीर में अनुप्रविष्ट होकर ही परमेश्वर करुणावश अवच्छिन्न प्रमाता शिष्य का उद्धार करते हैं। अवश्य यह गुरुशक्ति-क्रम का आश्रय लेकर भी धीरे-धीरे आती है।

इन आठ की भाँति और भी गुरु हैं। लेकिन, वे आदिगुरु नहीं हैं और माया से परे नहीं हैं। वे माया-गर्भ के अधिकारी हैं। स्वाभाविक नियम से जो सब जीव कलादि उपसंहृत होते हैं और जो इस निमित्त उस समय जड कैवल्य-अवस्था में

१. वामाख्य क्रियाशक्ति द्वारा भगवान् अनादि मलयुक्त पशुओं को निरुद्ध करते हैं और वैसे नियमित पशु को कर्म-विपाक के अनुसार मायिक देह-धारण के लिए भेजते हैं, पर विज्ञान-केवलियों को नहीं।

माया में मौजूद रहते हैं, उन्हें प्रलयाकल कहते हैं। उनके मल तो होता ही है, कर्म भी रहता है। उनमें से जिन्हें मल परिपक्व होने से भगवदनुग्रह प्राप्त होता है, सृष्टि के समय वे द्विविध देह धारण करके जाग उठते हैं। अभुक्त कर्म के कारण उन्हें आतिवाहिक मायिक देह धारण करना पड़ता है—यह देह कर्म के अनुसार विभिन्न स्तर में कार्य कर सकती है, और भगवदनुग्रह के कारण विन्दु-क्षोभ से वैन्दव देह की प्राप्ति भी साथ-ही-साथ होती है। ये दोनों देह सम्मिलित हो साथ रहती हैं। इनका कार्यक्षेत्र मायिक जगत् के वीच ही कला-तत्त्व से पृथ्वी-तत्त्व तक विभिन्न स्तर में चलता रहता है। वैन्दव देह प्राप्त होने के नाते ये भी बड़े काम करते हैं। कहना नहीं होगा कि ये भी आदिगुरुओं में गिनने योग्य हैं। क्योंकि, माया से उत्तीर्ण अनन्त आदि से इन्हें पूर्णज्ञान नहीं प्राप्त होता—साक्षात् परमशिव से प्राप्त होता है। अर्थात्, परमेश्वर अनन्त आदि विद्येश्वर या आदिगुरुवर्ग के अधिष्ठान द्वारा माया से कला आदि तत्त्व, भुवन, पिण्ड और भाव की सृष्टि करके सभी कलाओं-सहित पुद्गल या जीवों को कर्म के अनुसार योजना करके उनमें से परिणत मल-अणुओं को मायागर्भ के अधिकारी विद्येश्वर-पद पर साक्षात् अनुग्रह करते हैं।

ये सव :

(क) मण्डलाधिपति—आठ-(कला-मस्तक पर)[1];

(ख) क्रोधेश आदि—आठ (प्रकृति-तत्त्व में);

(ग) वीरभद्र—एक (गुण के ऊपर और प्रधान के नीचे);

(घ) शतरुद्र—एक सौ;

(ङ) श्रीकण्ठ (अष्टकपति)—एक (गुणतत्त्व में)।

कुल ११८

लेकिन ये भी मन्त्रेश्वर हैं, परन्तु ये सात कोटि मन्त्र तथा ईश्वर-तत्त्वस्थ आठ विद्येश्वर की अपेक्षा वाद में उत्पन्न और मायागर्भ के अधिकारी होने के नाते अधोभूत हैं। आचार्य आदि की नाईं पशुओं के अनुग्रह के लिए मन्त्र के प्रयोजक होने के कारण ये मन्त्रेश्वर हैं। एक हिसाब से ये भी जगद्गुरु हैं। लेकिन, मन्त्र अग्रज हैं, निष्कल हैं, और ये मन्त्रेश्वर मन्त्र के प्रयोजक होते हुए भी अवरज और स-कल हैं। इसीलिए, इनकी शक्ति न्यूनतर है और इनका अधिकार नीचे मायागर्भ में सीमित है।

---

१. कलाभुवन में, अर्थात् रागादि कलान्त अध्वा में ६४ महापुर हैं—नाम हैं: मण्डला. यथा भुवनेशाष्टक, महादेवाष्टक, वामदेवाष्टक, भवाष्टक, उद्भवाष्टक, एकापांगेक्षणाष्टक, ईशानाष्टक, और अंगुष्ठ मात्राष्टक (८×८=६४)। सभी मण्डलेश्वर ही भास्वर और सुकान्ति हैं।

विज्ञानाकल और प्रलयाकल——इन जीवों से सृष्टि के आरम्भ में ये सब गुरु और अधिकारी भगवान् के साक्षात् (निरधिकरण) अनुग्रह से आविर्भूत होते हैं। स्थिति-काल में स-कला अवस्था में जो सब जीव मलपाकवश भगवान् के अनुग्रह-योग्य होते हैं, वे सभी अनन्त आदि किसी-न-किसी देह में आविष्ट भगवान् के द्वारा ही अनुगृहीत होते हैं। श्रीकण्ठ आदि असंख्य रुद्र इस प्रकार से ब्रह्माण्ड के अधिपति-पद पर स्थापित होते हैं।

इन रुद्रों से कई देवता अनुग्रह प्राप्त करते हैं। उन देवताओं से कई मनुष्य अनुग्रह पाते हैं। रुद्र आदि ये सब अधिकारी——स-कलावस्था में चार प्रकार के शक्तिपात के अनुसार अनुग्रह-प्राप्त होते हैं। इनके मलपाक का उदय स्थितिकाल में ही होता है। इस अवस्था में जिन्हें मुक्ति-जीव मिला होता है, क्रम से उनकी मुक्ति सम्भव है। स्थिति के अन्त में प्रलय में जो अनुगृहीत हुए, उनमें अधिकारी नहीं। क्योंकि, जिसका मलपाक पूर्ण होता है, वह तुरत पर-मोक्ष प्राप्त करता है।

[नौ]

पहले जो कहा गया, उससे यह ज्ञात होता है कि गुरु-वर्ग छह प्रकार का है। अनादिसिद्ध पञ्चकृत्यकारी होने से पञ्चमन्त्रतनु परमेश्वर ही सर्वानुग्राहक और स्वाभाविक स्वातन्त्र्यमय होने के नाते नित्यसिद्ध अनौपाधिक गुरु हैं। अन्यान्य गुरु क्रमशः उन्हीं के नियोज्य हैं। गुरुवर्ग के नाम, यथा——

(क) परमशिव, (ख) पर-मन्त्रेश्वर और अपर-मन्त्रेश्वर, (ग) रुद्र, (घ) देव, (ङ) मुनि और मनुष्य। परमशिव नियोजक हैं, मन्त्रेश्वर उनका नियोज्य। फिर, मन्त्रेश्वर जब नियोजक होते हैं, तो रुद्र नियोज्य होते हैं। इसी प्रकार का सम्बन्ध मनुष्य गुरु तक समझना होगा। इसके बावजूद मनुष्य आचार्य ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि उनमें पहले के सभी का सान्निध्य होता है।

मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। क्योंकि, दूसरों में वेदान्त-ज्ञान के अभाव से श्रवण की योग्यता नहीं होती। दूसरे वर्णों का मलपाक पूर्ण होने से निरधिकार दीक्षा के द्वारा वे मोक्ष प्राप्त करते हैं। या, फिर विश्वामित्र की भाँति विशिष्ट तपस्या से वर्णान्तर संक्रान्ति प्राप्त करके अधिकार पाते हैं। क्योंकि, अधिकारीगण लोक-संग्रह के लिए श्रुतिविहित वर्णाश्रम-धर्म का लंघन नहीं करते। एक बात और : चार वर्ण के साधकगण पहली जाति से उद्धृत होकर भी अपनी जाति के उचित आचार-फल की अभिसन्धि-वर्जन करके अवश्य अनुष्ठान करेंगे, ऐसा होने से फिर लोक-सांकर्य नहीं उत्पन्न होगा। अधिकार के नहीं उदय होने तक साधकों के लिए अपनी आचार-न्यूनता वर्जनीय है। अधिकार-उदय होने के पहले यदि प्रारब्ध-देह का त्याग हो तो साधक आदि तीन व्यक्तियों को क्रमशः शिवत्व, मन्त्रेश्वरत्व और रुद्रत्व प्राप्त होता है। साधक

और पुत्रक को समपद नहीं मिलता। शिवपद में भी उनमें भोग, लय-अवस्था आदि क्रम से मिलते हैं। इससे पता चलता है कि ब्राह्मणश्रेष्ठ ही सामान्य-विशेष शास्त्र में अधीती, समर्थ और सारी सम्पद्-सम्पन्न हैं, इसलिए सर्व पदार्थ विनियोग के लिए परमेश्वर के अधिकरण-रूप आचार्य हो सकते हैं।

विनियोग-सहित साधकगण पति, पशु और पाश—इन तीन वस्तुओं के ज्ञान द्वारा आचार्य का अधिकार प्राप्त करते हैं। आचार्यत्व वन्धन नहीं है—यह अ-पर मोक्ष है। सभी पाशों के छेदन विना आचार्यत्व नहीं आता। आचार्य के सिर्फ अधिकार-मल ही वाकी रहता है, जो सर्वज्ञत्व का अविरोधी है। आचार्य की देह पशुदेह जैसी नहीं। उस देह-विन्दु से उद्भूत होने से बोधक और पशुओं की देह माया से उत्पन्न है; इसलिए, मोहक है। आचार्य परमेश्वर के समान होते हैं। उन्हें परमेश्वर की वहिरंगी मूर्त्ति कहा जाता है। परमेश्वर की स्वशक्ति ही उनकी अन्तरंगी मूर्त्ति है, जिसे शाक्त-देह कहते हैं। परन्तु बैन्दव देहवाले आचार्य परमेश्वर की बाहरी देह हैं—इसमें अधिष्ठित होकर वह पशु के अनुग्रह-व्यापार का सम्पादन करते हैं। तात्पर्य यह कि परमेश्वर की अन्तरंगी मूर्त्ति के बावजूद जगत् के स्थितिकाल में जीव पर अनुग्रह के लिए वहिरंगी बैन्दव मूर्त्ति की जरूरत है। यह मूर्त्ति कर्म-रहित होती है, इसलिए, माया को उत्तीर्ण करके विशुद्ध भोगी किसी जीव से सम्बद्ध होती है। यही आचार्य हैं। अतएव परमेश्वर और आचार्य एक ही शरीर-अवलम्बन करके एक ही व्यापार के व्यापारक हैं। इसलिए, दोनों में परस्पर साधर्म्य है। इसीलिए, दोनों में भेद-रहित व्यवहार होता है। यथा 'गुरुरेव शिवः शिव एव गुरुः'। आचार्य या गुरु भी परमेश्वर के प्रेर्य हैं, लेकिन पुद्गल की नाईं कष्टकर भोग-साधन-कर्म में प्रेरित नहीं होते। आचार्य परमेश्वर के तीव्रतर शक्तिपात की अनुयायिनी तुरीय दीक्षा द्वारा अनुगृहीत और आत्मकल्प होते हैं। फलस्वरूप, उन्हें वह स्वोचित शुद्ध भोग के अविरुद्ध परार्थ व्यापार-मात्र में ही प्रवर्त्तित करते हैं। आचार्य का यह प्रयोज्यत्व परम मुक्ति का बाधक नहीं है। अधिकार के समाप्त होने पर देहपात के साथ-ही-साथ पूर्णत्व प्राप्त होता है। इसीलिए, आचार्यत्व अ-पर मोक्ष है।

साधक की दीक्षा से सभी पाश छिन्न अवश्य होते हैं, पर शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। उसके लिए कालान्तर भावी अभिषेक आवश्यक है। वही अ-पर निर्वाण है, जो साधक के लिए साधनीय और पर-निर्वाण का द्वार-स्वरूप है। परमेश्वर की अर्चना आदि अविनाभूत शास्त्र-चर्चा के द्वारा अभिषेक सम्पन्न होता है। इसे आरोग्य-स्नान की तरह समझना चाहिए।

साधक-मात्र की ही निर्वाण-दीक्षा पहले ही हो चुकी होती है। वही ज्ञान-साधन साधकत्व का सम्पादक है। उससे चूँकि पशुत्व की निवृत्ति नहीं होती, इसलिए

शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। शिवत्व–सर्वज्ञत्व आदि षड्गुण–सभी आधारों में नहीं खिल पाता। जहाँ कला आदि छह अध्वाओं की शुद्धि से तीनों पाशों का छेदन नहीं हुआ होता है, वहाँ शिवत्व की अभिव्यक्ति असम्भव है। क्योंकि, पूर्णज्ञान की साधना वहाँ कैसे हो सकती है? तीसरी या निर्वाण-दीक्षा का प्रयोजक अधिक मलपाक-निवन्धन तीव्र शक्तिपात है।

जिनका शक्तिपात मन्द है—क्योंकि, अध्वमल सामान्यत: पक्व है—उनके भाग्य में निर्वाण-दीक्षा ही नहीं होती, लिहाजा उनके लिए तुरीय दीक्षा और आचार्यत्व पाना असम्भव है। उन्हें पुत्रक-दीक्षा प्राप्त होती है। यही दूसरा जन्म है, यानी पहली जाति की निवृत्ति से वागीश्वरी के गर्भ से जन्म पाना है। इसका विशेष विवरण देना यहाँ अनावश्यक है। इस दीक्षा से भक्ति आदि सद्वृत्तियों का उदय होता है, कर्म आदि पाशों का क्षय होता है और मन्त्रग्रहण की योग्यता आती है। जिन्हें यह दीक्षा प्राप्त होती है, उन्हें 'पुत्रक' कहते हैं। यही दूसरी दीक्षा है।

इससे भी नीचे स्तर की जो दीक्षा है, उसमें अधिकार का विचार नहीं है—काल या आश्रम का विचार नहीं है। कोई भी आत्मा उसे प्राप्त कर सकती है। उसे समयी दीक्षा कहते हैं। मगर बहुतेरे जन्मों का कमाया हुआ पुण्यवल नहीं रहने से वह भी नहीं होती। उसके लिए भी अनिर्वचनीय भाग्योदय चाहिए। यह अनादिमल के किञ्चित् पाक होने से मन्दतर शक्तिपात के अनुसरण से होती है। यह शिष्य के माथे पर शिव के हाथ रखने जैसा है। जो इसे प्राप्त करता है, उसे 'समयी' कहते हैं। इस दीक्षा से भगवान् में भक्ति होती है। और, पुराने कर्मों का तेजी से परिपाक होता है। इस दीक्षा के पाने से गुरु की शुश्रूषा और साधारण देवता के अर्चन का अधिकार आता है।

हमने यहाँ जो चर्चा की, उससे यह समझ में आयगा कि मनुष्य-योनि में आचार्य-पद प्राप्त करना कितना कठिन है। पुत्रक-दीक्षा में वागीश्वरी के गर्भ से जो देह मिलती है, उसके बाद भी देह है—वह देह बैन्दव-देह है। वही आचार्य-देह है। निर्वाण-भूमि को भेद किये विना बैन्दव-देह नहीं मिलती। अधिकारादि सम्पत्ति के साथ-साथ बैन्दव देह की भी निवृत्ति होती है। उस समय बिन्दु-क्षोभ नहीं रहता, शुद्ध अध्वा भी अतिक्रान्त होती है। शिवत्व-लाभ होता है—उस अवस्था में शाक्तदेह की प्राप्ति होती है। यह निराकार अवस्था है। शक्ति चिद्रूपा है। शिव भी चिद्रूप हैं। दोनों अभिन्न हैं। यह परामुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में प्रेर्यत्व नहीं रहता। इसीलिए, यह स्वातन्त्र्य है।

इस अवस्था में परमेश्वर से अभेद होता है—या नाम को जरा-सा भेद रहता है, वह प्रस्थान-भेद से अलग से आलोच्य है। यहाँ वह अप्रासंगिक है।

मन्त्र या देवता-रहस्य

मन्त्र या देवता-तत्त्व गुरु-तत्त्व से ही घनिष्ठ रूप में सम्वद्ध है। यहाँ उसकी किञ्चित् चर्चा की जा रही है। मन्त्र का स्वरूप क्या है, मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में इसका स्थान कहाँ है, मन्त्र-साधन का तात्पर्य क्या है? साधारणतया ये प्रश्न तत्त्व-जिज्ञासु साधकों के मन में उठते हैं। ऐसा नहीं कि इसके साथ आनुषंगिक और-और प्रश्न नहीं उठते। इसके प्रकृत समाधान के लिए मन्त्र-रहस्य को जानना आवश्यक है।

सृष्टि के आदि में ईश्वर अपनी वहिरंगी शक्ति महामाया या विन्दु के ऊपर दृष्टि डालते हैं। यह दृष्टि डालना ही चैतन्य शक्ति का संचार है। दृष्टि डालने के पहले क्षण तक महामाया सुप्त अवस्था में विद्यमान रहती हैं। विशुद्ध जड शक्ति का नाम महामाया है। जो सब अणुरूपी जीव पूर्वकल्प की साधना, वैराग्य, संन्यास, विवेकज्ञान आदि के फलस्वरूप जडशक्तिरूपा महामाया को अतिक्रम करने में समर्थ हुए हैं, परमेश्वर के निजरूप में उपनीत नहीं हो सके हैं, वे महामाया के गर्भ में रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन सब जीवों की अवस्था सुषुप्तिवत् होती है। माया से मुक्त होने के फलस्वरूप इन जीवों की जैसे अशुद्ध मायिक देह अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण-देह नहीं रहती, वैसे ही कोई उच्चतर विशुद्ध देह भी नहीं रहती। ये माया से ऊपर, महामाया के गर्भ में लीन रहते हैं। माया के गर्भ में रहना जैसा है, महामाया के गर्भ में रहना भी वहुत-कुछ वैसा ही है। दोनों में सिर्फ आवरण का फर्क है। अप्राकृत दिव्य अवस्था या भागवत अवस्था वहुत दुर्लभ है। चैतन्य के विकास के सिवाय उसका आविर्भाव नहीं होता। वही पशुत्व की अतीत अवस्था है। माया की निद्रा और महामाया की निद्रा, दोनों ही स्थल में पशुभाव विद्यमान है। पशुत्व रहते हुए प्रकृत जागरण कहाँ?

महामाया के विश्रान्तिकाल में उसके गर्भ के सभी जीव सुषुप्त रहते हैं। उनका जीवत्व पशुत्वमूलक होता है। चैतन्य के उन्मेष न होने तक वह तिरोहित नहीं होता। उन विदेह कैवल्यप्राप्त जीवों को भगवत्ता-प्राप्ति के दो अन्तराय हैं। एक आत्मा का स्वरूपगत अणुत्व या पशुत्व, यह अभिन्न ज्ञान-क्रियात्मक चैतन्य के स्वरूप का आच्छादन है। और एक है महमाया का सम्बन्ध। इन दो आवरणों की निवृत्ति से शुद्ध भगवत्ता की अभिव्यक्ति का रास्ता खुल जाता है।

सृष्टि के आदि में जब महामाया में चैतन्य शक्ति का आधान होता है, तब उस शक्ति की क्रिया से महामाया क्षुब्ध होकर कार्योन्मुख होती है और उससे सुप्त-से अणुरूपी सारे जीव भी जाग जाते हैं। निद्रा के समय वे सारे जीव विदेह-अवस्था में महामाया में

लीन रहते हैं, पर महामाया के क्षुब्ध होते ही उनकी नींद टूट जाती है। देह-सम्बन्ध के सिवा कोई अणु कभी जाग नहीं सकता। इसीलिए, महामाया के क्षोभ से क्षुब्ध महामाया से प्रयोजन के अनुसार उन अणुओं की देह आदि उत्पन्न और विकसित होती हैं। अतएव, जब वे जाग उठते हैं, तब उनमें कोई भी विदेह नहीं रह जाता—महामायाजात देह लेकर ही वे प्रकाशित होते हैं।

महामाया में चैतन्य-शक्ति का आवेश और उन अणुओं में चैतन्य-शक्ति का संचार एक ही बात है; क्योंकि सुप्तावस्था में सारे अणु महामाया में अभिन्न रूप में मौजूद रहते हैं।

महामाया के गर्भ में असंख्य अणु हैं। महाप्रलय की अवस्था में ये समभाव से लीन रहते हैं, तो भी चैतन्य-शक्ति के सम्पात से सभी समान प्रबुद्ध नहीं होते, हो भी नहीं सकते। किसी-किसी ही अणु का जागरण होता है, सबका नहीं। यद्यपि सब अणु ही मलविशिष्ट हैं और चैतन्य या भगवदनुग्रह की आवश्यकता यद्यपि सबको समान है, फिर भी मल की परिपक्वता सबकी समान नहीं। जिसका मल जितना ही अधिक परिपक्व होता है, उसका मल उतना ही ज्यादा परिमाण में चैतन्यशक्ति की ओर उन्मुख होता है। मल ने अनादिकाल से आत्मा को अणुरूप में परिणत किया है। अणुत्व ही पशुत्व है—यह आत्मा का स्वभावसिद्ध धर्म नहीं। आत्मा का स्वाभाविक धर्म शिवत्व या पूर्ण चैतन्य है। यह ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का अभिन्न तथा अपरिच्छिन्न स्वरूप है। अनादि होते हुए भी मल आगन्तुक है। इससे वह स्वरूप आच्छन्न रहता है। वैसे में शिवरूपी आत्मा जीव या पशुरूप में परिणत होती है। यह मल कालशक्ति द्वारा निरन्तर परिपक्व होता रहता है। सृष्टिकाल में परिपाक के लिए दूसरा उपाय भी जो नहीं है, ऐसी बात नहीं। लेकिन प्रलयकाल में वह उपाय काम नहीं करता। परिपक्वता की ऐसी एक मात्रा है, जिसके मिलने से सारे अणु अपने-आप चैतन्य-शक्ति की ओर उन्मुख होते हैं। आसमान पर की सूर्य-किरण समुद्र पर और कुछ उसके तल तक पड़ती है, परन्तु जो जीव उन किरणों की सीमा-रेखा तक नहीं पहुँच पाते, वे आपाततः उन किरणों की क्रिया से मुक्त रहते हैं। और जिन्हें उन किरणों का स्पर्श मिलता है, वे उनके प्रभाव से जाग उठते हैं और अपने मलपाक की मात्रा के अनुसार विशुद्ध देह प्राप्त करके शुद्ध जगत् में संचरण करते रहते हैं। अतएव अपेक्षाकृत अपक्वमल-जीवों की सुषुप्ति भंग नहीं होती। साधारणतः कल्पान्तर में उसके होने की भी सम्भावना रहती है।

कहना नहीं होगा, यहाँ हमने परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति की खेलवाली दिशा का उल्लेख नहीं किया। स्वातन्त्र्य-शक्ति की ओर से विचार करने पर चैतन्य-शक्ति

का संचार मल की परिपक्वता पर निर्भर करता है। यह बात सर्वत्र सम्पूर्णतया सत्य नहीं मानी जा सकती। यहाँ साधारण नीति की दिशा का ही अनुसरण किया गया है। जिन जीवों के आलोक-स्पर्श होने की बात कही गई, वे सब पुराने जीव हैं। वे संसार में पतित हुए थे और प्रत्यावर्त्तन में माया तक तत्त्व को भेदकर देह से विमुक्त होकर महामाया में 'केवली' रूप में विलीन हैं। इनके द्वारा माया-राज्य का भेद तो हुआ, पर वासना से पूर्णतया मुक्ति नहीं हुई; क्योंकि मायातीत वासना अभी भी है। मायिक वासना को क्षीण करने के लिए मायिक देह ग्रहण करके मायिक जगत् में कर्म करना होता है। देह धारण किये बिना वासना का क्षय नहीं होता। मायातीत वासना का क्षय करने के लिए वैसी ही देह धारण करके वैसा ही कर्म करना आवश्यक है। मायिक वासना मलिन होती है, पर मायातीत वासना विशुद्ध होती है। कर्त्तृत्व के अभिमान से मायिक जगत् में कर्म और भोक्तृत्व के अभिमान से मायिक जगत् में भोग होता है। कर्म के अनुष्ठान और कर्मफल-भोग को ही सम्मिलित रूप में संसार कहते हैं। परन्तु, मायातीत वासना में कर्म के मूल में भी अहंकार नहीं होता और भोग के मूल में भी अहंकार नहीं होता। इसलिए, उसे वास्तविक संसार नहीं कहा जा सकता। संसार कहें तो उसे शुद्ध संसार कह सकते हैं। यह मायातीत कर्म ही 'अधिकार' और मायातीत भोग ही प्रकृत भोग या 'सम्भोग' है। इस अधिकार और भोग की अतीत अवस्था 'लय' है।

अब प्रश्न उठता है, यह मायातीत वासना विदेह अणु में किस प्रकार चरितार्थ हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि मायातीत वासना मायातीत देह से ही तृप्ति पाती है। मायिक वासना की तृप्ति मायिक उपादान से होती है, लेकिन मायातीत वासना की तृप्ति मायिक उपादान से कैसे होगी? इसलिए, जिस मायिक उपादान की आवश्यकता होती है, उसका नाम महामाया है। जब चैतन्यशक्ति महामाया को स्पर्श करती है, तो पहले बताये गये जीव, पक्वमल-जीव, जाग उठते हैं और क्षुब्ध महामाया द्वारा रचित देहों में अधिष्ठान करके अपने-अपने कार्य में जुट जाते हैं। महामाया का नामान्तर कुण्डली-शक्ति है। पूर्वोक्त पक्वमल-जीवों की देह आदि कुण्डलिनी शक्ति से रचित होती हैं। वे जीव फिर जीव-पदवाच्य नहीं रह जाते। जीव होते हुए भी वे ईश्वरीय शक्ति-सम्पन्न होते हैं।

परमेश्वर की करुणा-दृष्टि-रूप चैतन्यशक्ति के संचार की बात पहले कही जा चुकी है। यह वास्तव में चित्शक्ति का ही क्रियाशक्ति के रूप में उन्मेष है। चित्-शक्ति की सक्रिय और निष्क्रिय—दो अवस्थाएँ होती हैं। वास्तव में अवस्था दो नहीं होते हुए भी कार्यगत भेद के कारण कृत्रिम रूप से दो कही जाती हैं। निष्क्रिय अवस्था में क्रिया के अभाव के कारण शक्ति का संचार नहीं होता, इसलिए यह शक्ति-संचार

वास्तव में चित्शक्ति का व्यापार है। इसी का दूसरा नाम दीक्षा है। क्रियाशक्ति के प्रवर्त्तक के रूप में स्वयं ईश्वर चैतन्यदाता गुरु हैं। पूर्वोक्त परिपक्वमल-जीव सृष्टि के आदि में वह दीक्षा प्राप्त करके महामाया से उद्भूत विशुद्ध देह प्राप्त कर लेता है, तो परमेश्वर के आदिशिष्य के रूप में शुद्ध जगत् या महामायिक जगत् में स्थिति पाता है। हम जिस मायिक जगत् से परिचित हैं, उसकी सृष्टि, स्थिति आदि सारे ही व्यापार का भार इनके ऊपर रहता है। ये जीव होते हुए भी ईश्वरकल्प हैं, परन्तु नित्यसिद्ध परमेश्वर से न्यून होते हैं। इसलिए कि इनके शुद्ध वासना है, परमेश्वर कों वासना नहीं है। समष्टि रूप में समग्र जगत् की कल्याण-कामना—यही शुद्ध वासना का स्वरूप है। फिलहाल ऐसा लग सकता है कि विशुद्ध वासना से परे हो सकने से ही विशुद्ध भगवद्भाव की प्राप्ति हो सकती है, पर बात वास्तव में ऐसी नहीं है। वह विशुद्ध कैवल्य-अवस्था है, भगवदवस्था नहीं।

सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर की चैतन्य-शक्ति प्राप्त करके जो सब जीव विशुद्ध देह पाते हैं, वे सभी समान भाववाले नहीं होते। उनमें भी अवान्तर भेद है। एक हिसाब से सबको एक स्तर का कहा अवश्य जा सकता है; क्योंकि सबमें चित्शक्ति का उन्मेष रहता है। सभी शुद्ध विद्या प्राप्त करके शुद्ध राज्य के अधिवासी हुए हैं और न्यूनाधिक रूप में होते हुए भी सभी में क्रियाशक्ति जाग्रत् हुई है। पर क्रियाशक्ति में तारतम्य है, इसलिए इनमें तारतम्य दिखाई देता है। सच पूछिए तो शुद्ध जगत् के चैतन्य-वर्ग में जो विषमता दिखाई पड़ती है, उसकी जड़ क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति का तारतम्य है। यह तारतम्य क्यों होता है, इसकी छानबीन करने से पता चलता है कि अणुओं का मल समान रूप से परिपक्व नहीं रहता, इसीलिए भगवत्-शक्ति अर्थात् परमेश्वर की क्रियाशक्ति को सभी समान रूप से धारण नहीं कर सकते। जिस परिमाण में पक्व नहीं होने से मल चित्शक्ति के स्पर्श को सह नहीं सकता, वह शुद्ध जगत् के सबके आयत्त या अधिगत हुआ है, यह सत्य है, परन्तु इस परिपक्वता का तारतम्य है। उस हिसाब से परिपक्वता जहाँ अधिक है, वहाँ क्रियाशक्ति का आवेश अधिक मात्रा में होता है। मल के परिपक्व नहीं होने से क्रियाशक्ति को धारण नहीं किया जा सकता। इसलिए, अपक्वमल की अवस्था में क्रियाशक्ति का संचार कतई नहीं होता। इसीलिए, मलपाक नहीं होने से श्रीगुरु कभी जीव पर अनुग्रह नहीं करते।

पक्वमल-अणुओं में जिनका मल सबसे अधिक परिपक्व होता है, क्रियाशक्ति का आवेश होने से उनमें कर्त्तृत्वभाव का उदय होता है। कहना बाहुल्य होगा, यह शुद्ध कर्त्तृत्व है। इससे अहंकार का सम्बन्ध नहीं। इनके नीचे बहुसंख्यक अणु पहले बताई गई प्रणाली से भगवत्-शक्ति पाते हैं और चैतन्य प्राप्त करते हैं। इनकी क्रिया-

शक्ति की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत न्यून होने से इनमें कर्त्तृत्व-भाव का उन्मेष न होकर करण-भाव का उन्मेष होता है। जिन कुछ में कर्त्तृत्व-भाव का उदय होता है, एक हिसाब से सजातीय होते हुए भी उनमें भी परस्पर कमोबेश होता है। वैसी करण-शक्तिमय समष्टि में भी परस्पर उस प्रकार का कमोबेश होता है। जिनमें कर्त्तृत्व-भाव होता है, वे ईश्वर-तत्त्व को आश्रय करते हैं और जो करण-भाववाले होते हैं, उनका सहारा शुद्ध विद्यातत्त्व होता है। यह विद्या मायातीत ज्ञान-स्वरूप है। जो कई ईश्वर-तत्त्व में रहते हैं, वे ईश्वर अथवा गुरु हैं और जो विद्यातत्त्व का आश्रय लेते हैं, वे मन्त्र या देवता हैं। ये मन्त्र ईश्वर अथवा गुरु के अधीन होते हैं। ये गुरु के द्वारा प्रयुक्त होकर मायिक जीवों का उद्धार करते हैं। ये अपने से प्रेरित होकर जीव-उद्धार में नहीं लग सकते; क्योंकि ये करण हैं, कर्त्ता नहीं हैं।

गुरु एवं देवता—दोनों ही शुद्ध देहवाले होते हैं। परमेश्वर के अनुग्रह से दोनों में अपने स्वरूप का ज्ञान जगा होता है। अपने शिवत्व-बोध से दोनों ही क्षेत्रों में ज्ञान का उदय समान रूप से होता है। पर, गुरु कर्त्तृभाव और देवता करणभाव लेकर काम करते हैं। इसके अलावा दूसरी ओर से भी दोनों में थोड़ा पार्थक्य है। परमेश्वर की अनुग्रह-शक्ति यद्यपि दोनों पर ही पड़ी है, तो भी व्यक्तिगत विकास की ओर से तारतम्य रह सकता है। जो आत्माएँ तत्त्व-भेद के क्रम से ऊर्ध्वगति के परिणाम-स्वरूप माया को अतिक्रम करने में समर्थ हुई हैं, वे मलपाक के कारण भगवान् की कृपा प्राप्त होने से देवता-पद पर आसीन होती हैं। इनका नाम मन्त्र है। आत्मिक विकास इतना नहीं होने से देवत्व नहीं प्राप्त होता। हम माया के अन्तर्गत देवता की बात नहीं कह रहे हैं। मायातीत देवता के केवल शुद्ध देह ही रहती है, अशुद्ध देह नहीं रहती। लेकिन, गुरु की अवस्था और ही होती है। मल यदि परिपक्व हो, तो चैतन्य शक्ति का अवतरण निश्चित है और मलपाक की तीव्रता के कारण कर्त्तृत्व-भाव का आवेश स्वाभाविक है। ये सारे अणु दीक्षा प्राप्त करके आचार्य-अधिकार पाते हैं। तत्त्वभेद-क्रम से, चाहे आत्मिक विकास इनका जितना ही हुआ हो, वही पर्याप्त है। वे जिस तत्त्व में रहते हैं, गुरु-पद में अधिरूढ होने पर उनकी मायिक देह उसी तत्त्व की होती है। किन्तु, भगवदनुग्रह से जो विशुद्ध देह या बैन्दव देह प्राप्त होती है, वह गुरुपद-वाच्य सभी आत्माओं की एक ही प्रकार की होती है। मायातत्त्व-भेद नहीं करने तक गुरुमात्र के ही दो देह होती हैं। उनमें से एक गुरु की दी हुई शुद्ध देह, जो महामाया या कुण्डलिनी के उपादान से गठित होती है और दूसरी अपनी मायिक देह। यह दूसरी देह जीव के क्रमविकास की मात्रा के अनुसार किसी-न-किसी तत्त्व पर आश्रित होती है, अर्थात् किसी की मायिक देह पार्थिव, किसी की जलीय, किसी की तैजस आदि होती है। देह के विकास का मतलब है—देह के उपादान को

अधोतत्त्व से ऊर्ध्वतत्त्व में परिणत करना। कार्य की गति कारण की ओर और कारण की गति उसके स्वकारण की ओर—इस प्रकार पार्थिव देह जलीय में और जलीय तैजस में बदल सकती है। यही देह का उपादानगत उत्कर्ष है। भगवान् का अनुग्रह पाना इस तत्त्वभेद-रूपी उत्कर्ष पर नहीं निर्भर करता। यह उत्कर्ष पार्थिव क्रमविकास का परिणाम है। चैतन्यशक्ति का अवतरण एकमात्र मल की परिपक्वता पर निर्भर करता है। इसीलिए, कोई पृथ्वी-तत्त्व का भेद किये बिना भी भगवदनुग्रह प्राप्त करते हैं। और, फिर कोई मायातत्त्व का अतिक्रम करके भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते। शक्ति का अवतरण तत्त्वभेद पर निर्भर नहीं करता। लेकिन, यह निश्चित है कि अणु के मायातत्त्व का भेद करने पर भी जबतक मलपाक करणभाव की अभिव्यक्ति के योग्य नहीं होता, तबतक उसपर भगवान् की अनुग्रह-शक्ति संचारित नहीं होती। उन अणुओं को कल्पान्तर के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसलिए कि देव-देह की रचना सृष्टि के समय नहीं होती, सृष्टि के प्राक्काल में होती है। और, अगर माया-भेद नहीं हुआ हो, फिर तो कोई प्रश्न ही नहीं। क्योंकि, माया-भेद नहीं कर सकने तक किसी भी आत्मा में मलपाकवश भगवान् की शक्ति प्राप्त होने पर भी देवत्व का आविर्भाव सम्भव नहीं। माया-भेद के बाद जो आत्माएँ मलपाक के कारण भगवदनुग्रह प्राप्त करने की योग्यता पाती हैं, उनपर कल्पान्तर में शक्ति का अवतरण होता है। वर्त्तमान कल्प में वे आत्माएँ महामाया में लीन रहती हैं।

अतएव, यह निश्चित है कि किसी विशिष्ट कल्प की आत्मा अनुरूप मलपाक के बावजूद उस कल्प में देवत्व नहीं प्राप्त कर सकती। यहाँ तक कि माया का भेद हो जाने पर भी वह सम्भव नहीं होता। उसे महामाया में कल्पान्तर के प्रारम्भ तक विश्राम करना होता है। परन्तु, पहले ही कहा जा चुका है कि गुरु के लिए यह नियम नहीं है। गुरु में शक्ति का अवतरण ही प्रधान है, यानी जितना मलपाक होने से दीक्षाकाल में कर्त्तृत्वभाव का आवेश सम्भव है, उतना तो होगा ही। मायाभेद नहीं करने से भी हानि नहीं। यहाँ तक कि किसी निम्नवर्त्ती तत्त्व में रहने से भी नुक़सान नहीं। क्योंकि, गुरुभाव की अभिव्यक्ति में जीव की स्वकृत ऊर्ध्वगति की मात्रा का निर्देश जरूरी नहीं होता। मल-परिपाक ठीक-ठीक रहने पर अपने विकास के फलस्वरूप जो जहाँ है, वहीं से भगवदनुग्रह प्राप्त करके शुद्धदेह एवं आचार्य का अधिकार पा सकता है। लेकिन, अगर उसके मायातत्त्व का भेद हो चुका हो, तो उसे नये जन्म के आरम्भ तक इन्तजार करना पड़ता है।

यह सर्वत्र सत्य है कि देवता गुरु के अधीन है। देवता वास्तव में महामाया के राज्य का अधिवासी है। परन्तु, गुरु महामाया के राज्य का अधिवासी नहीं होते हुए भी माया-राज्य के भी अधिवासी हो सकते हैं। अवश्य यहाँ सृष्टिकालीन गुरु की

बात कही जा रही है, जिनके मायादेह और शुद्धदेह—दोनों ही हैं। सृष्टि के अतीत गुरुओं के बारे में यहाँ नहीं कहा जा रहा है—वे मायादेह-वर्जित एवं वैन्दव देह-वाले हैं।

ऊपर के विवरण में तत्त्वभेदपूर्वक ऊर्ध्वगति की बात कही गई। जरा साफ-साफ बताये बिना यह किसी के भी बोधगम्य नहीं होगा। इसलिए, संक्षेप में दो-एक बात यहाँ बताई जा रही है। सृष्टि के मूल उपादान-स्वरूप एक वस्तु रहती है। वहरहाल इसे जड कहकर गिना जा सकता है। इसके एक ओर (भीतर) शुद्ध और दूसरी ओर (बाहर) अशुद्ध है। जबतक सृष्टि का उदय नहीं होता, तबतक इस आन्तर-बाह्य विभाग को समझा नहीं जा सकता। ऐसा कि, यह जो अचित् स्वरूप मूल उपादान है, उसे भी नहीं जाना जा सकता। लेकिन, जब सृष्टि के पहले परमेश्वर की दृष्टि शुद्धांश पर पड़ती है, तो वह ज्योतिरूप उज्ज्वल होकर तिर उठता है और शुद्ध के बाहर वह अशुद्ध अंश छाया या अन्धकार-रूप में उस ज्योतिस्वरूप को घेरे रहता है। यह शुद्धांश या ज्योति महामाया है, बाहर की छाया माया है। सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो दीखेगा कि इन दोनों में एक ही अचित् सत्ता है। यह क्षुब्ध होकर स्तर-स्तर में तत्त्वरूप में अभिव्यक्त होती है। लेकिन यह सब तत्त्व अचित् का मूल विभाग नहीं है। अचित् का मूल विभाग पाँच कला है। इसमें शुद्धांश में दो और अशुद्धांश में तीन कलाएँ हैं। प्रत्येक कला अवान्तर रूप से तत्त्वरूप में अभिव्यक्त होती है। इसके अनुसार ज्योतिर्मय राज्य में पाँच और माया या छाया के राज्य में इकत्तीस तत्त्व अभिव्यक्त हैं। पाँच कलाएँ ही क्रमशः अधिक वहिर्मुख हैं। उसी प्रकार उनसे अभिव्यक्त तत्त्व भी उन्हीं की भाँति क्रमशः अधिक बहिर्मुख हैं। वहिर्मुखता की जहाँ पराकाष्ठा है, उसका नाम पृथ्वी है। उसी प्रकार जहाँ अन्तर्मुखता की चरम सीमा है, उसका नाम शिव या महामाया है। वास्तव में यहीं कुण्डलिनी-स्वरूप हैं। यह शिव शिव-नाम से परिचित होते हुए भी वास्तव में विशुद्ध जडवस्तु है। इसीका नाम आदितत्त्व या बिन्दु है। इसके सिवाय शिव या परमेश्वर इससे भिन्न हैं।

ये तत्त्व स्तर-स्तर में सजाये गये हैं। विश्व में सर्वत्र यह क्रम-विन्यास दिखाई पड़ता है। प्रत्येक तत्त्व से कुछ भुवनों का आविर्भाव होता है। ये भुवन तत्त्व की नाईं गुण, क्रिया, शक्ति आदि के विकास के तारतम्य के अनुसार अधः-ऊर्ध्व रूप से परस्पर शृंखलावद्ध हैं। ऊर्ध्वप्रदेश से सबके नीचे के प्रदेश तक इन भुवनों की समष्टि जीव के निकट भुवन नाम से परिचित है। अपने-अपने अधिकार और योग्यता के अनुसार जीव प्रत्येक स्तर में विद्यमान हैं। सृष्टिकाल में अथवा विश्व में रहते हुए जीव देहयुक्त होकर ही मौजूद रहते हैं। परन्तु, प्रलय-अवस्था में जीव के देह

नहीं होती। उस समय जीव माया में साक्षात् या परम्परा-रूप में लीन होकर सुषुप्तवत् रहते हैं, या यदि किसी कौशल से माया-भेद हो गया हो, तो महामाया में सुषुप्त-से लीन रहते हैं। माया में जो इकत्तीस तत्त्व हैं, उनमें से प्रत्येक को आश्रय करके जीव हैं या रह सकते हैं। इन सब तत्त्वों में जन्य-जनक भाव-अथवा अधः-ऊर्ध्व विभाग हैं, यह हम पहले कह चुके हैं। उसके अनुसार तत्त्ववर्ती जीवसमूह का भी श्रेणी-विभाग होता है। परन्तु, वह श्रेणी-विभाग तत्त्व का आपेक्षिक उत्कर्ष-मूलक है। उससे जीव के स्वकीय उत्कर्ष का परिचय मिलता है। प्रलय जड की क्रिया सापेक्ष है—वह जीव की साधना के अधीन नहीं। उपादान में जब बहिर्मुख प्रेरणा आती है, तब सृष्टि की ओर प्रवृत्ति होती है। इसके विपरीत जब उपादान में संकोच-भाव आता है, तो प्रवृत्ति निवृत्त होकर केन्द्र की ओर खींचती रहती है और चरम अवस्था में मूल उपादान के रूप में केन्द्र में स्थिति होती है।

अभिव्यक्ति के नियम के अनुसार जो सब जीव इन मूल उपादानों को अतिक्रम करके महामाया में रहते हैं, उनमें मलपाक के तारतम्य से कोई-कोई नई सृष्टि में देव-भाव से आविर्भूत होते हैं। इनकी देह बैन्दव होती है। अवतरण करते हुए भी एक प्रकार के देव-भाव का आविर्भाव होता है। वे स्वभावत: मायातीत होते हैं। इसीलिए, शुद्ध होते हुए भी वे क्रम-विकास के नियम के अधीन नहीं होते। वे एक प्रकार के अव्यक्त भावापन्न हैं। कहना बाहुल्य है, दोनों ही माया की अतीत भूमि की बात है।

ठीक इसी प्रकार अशुद्ध अथवा मायिक देवता भी हैं। इसका रहस्य समझ पाने से शास्त्र में वर्णित आजान देवता, कर्म देवता आदि विभिन्न देवताओं का तत्त्व हृदयंगम होगा।

शक्तिपात-रहस्य

अब श्रीभगवान्-रूपी श्रीगुरु के शक्तिपात या कृपा के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करना आवश्यक है।

[एक]

आत्मा के स्वरूप का अवस्थान या मोक्ष की प्राप्ति ही मानव-जीवन का वास्तविक उद्देश्य है। धारणा-शक्ति के अभाव में साधारण आदमी चाहे इसे स्वीकार न करे, पर इसकी सत्यता में विश्वास नहीं करने का कारण नहीं है। समय पर यह सत्य सबको हृदयंगम हो जाता है। जबतक मनुष्य अपने स्वरूप में स्थिति प्राप्त नहीं करता, कम-से-कम स्थिति के मार्ग में जाता नहीं, तबतक उसे शुभ-अशुभ कर्म के अधीन रहकर सुख-दु:ख-रूप फल-भोग के लिए उसके अनुरूप विविध भोग-स्थान में जाना और भोगायतन देह धारण करना ही पड़ता है। इसलिए, वाध्य होकर उसे जन्म-मरण के चक्र में निरन्तर आवर्त्तन करना ही पड़ेगा। इसीका नाम संसार है। स्वरूप में स्थिति नहीं पाने तक इससे छुटकारे की कोई सम्भवाना नहीं है।

तो क्या स्वरूप-स्थिति की कोई सम्भावना नहीं है? है, जरूर है और जीव उसे पा भी सकता है। जीव जब उसे पाता है, तो उस उपाय के तारतम्य के अनुसार, शीघ्र या विलम्ब से, क्रम अपनाकर या विना क्रम के, वह संसार से मुक्त होकर अपने पूर्ण स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। आत्मा के इसी स्वरूप को भगवत्-तत्त्व या पूर्ण ब्रह्मभाव समझना होगा।

तान्त्रिक आचार्यों की परिभाषा में इसी उपाय का नाम शक्तिपात है। इसका दूसरा नाम कृपा या भगवदनुग्रह है। इसके सिवाय केवल पौरुष-प्रयत्न से भगवत्-प्राप्ति नहीं हो सकती। वास्तव में, भगवन्मुखी वृत्ति के मूल में सर्वत्र ही भगवत्कृपा के प्रभाव को मानना ही पड़ता है। क्योंकि, उनकी कृपा के विना उनकी ओर चित्त की गति ही नहीं हो सकती।

शक्तिपात या कृपा के सम्बन्ध में शास्त्र में वहुत स्थानों में काफी चर्चा हुई है। ईसाई 'नोष्टिक' (Gnostic) आदि विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में भी इस विषय में वहुत विवरण मिलता है। यहाँ हम सिर्फ तन्त्रशास्त्र के अनुसार इस सम्बन्ध में कुछ चर्चा करेंगे।

[दो]

शक्तिपात अथवा कृपा कब और क्यों होती है, इसका जवाब विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रकार से दिया जाता है।

किसी-किसी के मत से ज्ञान का उदय होने से शक्तिपात होता है। अज्ञान से संसार का उद्‌भव होता है और ज्ञान का उदय होने से अज्ञान दूर होकर शक्तिपात होता है। ज्ञान की अग्नि सब प्रकार के कर्मों को भस्म करके शक्तिपात की भूमि की रचना करती है। ये कहते हैं, कर्म-फल का भोग चाहे क्रमशः हो, चाहे बिना क्रम के हो, उससे कर्म की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। भोग क्रमशः होता है, इसे स्वीकार करने पर कर्मान्तर का प्रसंग अनिवार्य हो जाता है। अतएव, कर्म निरन्तर होता रहता है, इसलिए कभी भी सारे कर्मों का क्षय नहीं हो सकता और कर्मफल-भोग को क्रमिक न मानकर युगपत् मानने से भी इस सन्देह की निवृत्ति नहीं होती। क्रमशः फल देना ही कर्म का स्वभाव है। एक ही समय सभी कर्मों का फलभोग होता है, इसे स्वीकार करने से कर्म का स्वभाव नष्ट हो जाता है। पर स्वभाव का नाश कभी भी सम्भव नहीं। इसीलिए, जैसे भी हो, भोग से कर्म का क्षय संगत नहीं होता। इसलिए, ज्ञानवादी आचार्यों के मत से ज्ञान को ही कर्म के क्षय का कारण मानकर उसी के साथ शक्तिपात के कार्य-कारण-सम्बन्ध को स्वीकार किया जाता है।

परन्तु, इस ज्ञान का आविर्भाव कैसे होता है, उसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। यदि कर्म को ज्ञान का कारण माना जाय, तो ज्ञान को कर्म का फल मानना पड़ेगा। इस हालत में ज्ञान और कर्म समानार्थक हो जाते हैं और ज्ञानी को कर्म-फलभोगी मानना होगा। अतएव, ज्ञानोदय के कारण शक्तिपात को मानने से प्रकारान्तर से भोग में भी शक्तिपात मानना आवश्यक हो जाता है। इससे अतिप्रसंग-दोष आता है। कोई-कोई कहते हैं कि ज्ञान कर्म का फल है, पर ईश्वर की इच्छा से उसमें कुछ विशेषता होती है। स्वर्ग आदि रूप कर्मफल कर्मान्तर को जला नहीं सकता, पर ज्ञान स्वयं कर्मफल होते हुए भी कर्मफल को जला सकता है। यही ज्ञान की विशिष्टता है। इस मत से ज्ञानोदय में अन्योन्याश्रय अर्थात् ज्ञानोदय होने में ईश्वर की इच्छा की निमित्तता का अनुमान एवं ईश्वर की इच्छा से ज्ञानोदय—इस प्रकार अन्योन्याश्रय और व्यर्थता-दोष आता है तथा ईश्वर में रागादि-प्राप्ति का प्रसंग आता है। इसलिए, यह मत स्वीकार करने योग्य नहीं।

[तीन]

किसी-किसी आचार्य का मत यह है कि शक्तिपात का वास्तविक कारण ज्ञान नहीं, कर्म का साम्य है। दो समान बलशाली कर्मों का परस्पर प्रतिबन्ध होने से

कर्म का साम्य होता है, इसी साम्य से शक्तिपात होता है। क्रमिक भोग के प्रभाव से बहुत कर्म के क्षीण हो जाने पर किसी अनिश्चित समय में अगर परिपक्व और समान बलवाले विशिष्ट विरुद्ध कर्म फल-उत्पादन में असमर्थ हों, यानी अपना-अपना फल न दें या नियत भोग-विधान न करें और उसके बाद के सारे कर्मों के अपरिपक्व रहने से भोग-उन्मुख न हों, तो ऐसे विरुद्ध कर्म का साम्य होता है।

इस मत के विरुद्ध यही कहना है कि अगर कर्म को क्रमिक माना जाय, तो उसके फल देने को भी क्रमिक मानना होगा। ऐसी हालत में किन्हीं दो कर्मों का परस्पर विरोध कैसे सम्भव है? एक कर्म के स्वरूप में दूसरे कर्म की स्थिति तो हो नहीं सकती। इसलिए कि किसी प्रकार के विरुद्ध कर्मों का एक साथ रहना ही सम्भव नहीं। इससे यही समझ में आता है कि कर्म सर्वथा क्रम के अधीन है। दो कर्मों का परस्पर विरोध कहने से यही समझना उचित है कि दो में से एक दूसरे के फल को बाधा देता है, जिसके फलस्वरूप जिस किसी समय इनकी युगपत् प्रवृत्ति का उदय नहीं होता। एक बात और है। विरोध स्वीकार करने पर भी यह स्वीकार करना होगा कि उसी समय एक दूसरा अविरुद्ध कर्म भोगात्मक फल देता रहता है। यदि उस अवस्था में किसी अविरुद्ध कर्म की प्रवृत्ति को स्वीकार न किया जाय, तो उसी समय देहपात होना चाहिए; क्योंकि भोगायतन देह भोग के विना एक क्षण भी नहीं रह सकती। यदि यह कहें—जाति और आयु, ये दो फलदाता कर्म प्रतिवद्ध नहीं होते, केवल भोग देनेवाले कर्म ही प्रतिवद्ध होते हैं, तो यह प्रश्न उठेगा यदि जाति और आयुप्रद कर्म के होते हुए भी शक्तिपात हो सकता है, तो भोगप्रद कर्म के होते शक्तिपात नहीं हो सकता, इसका कारण क्या है?

[चार]

द्वैतवादी तान्त्रिक आचार्यों का मत यह है कि ज्ञान अथवा कर्म-साम्य शक्तिपात का कारण नहीं है—शक्तिपात का वास्तविक कारण मल-पाक है। ये कहते हैं :

परस्पर विरोधेन निवारित विपाकयोः।
कर्मणोः सन्निपातेन शैवी शक्तिः पतत्यसौ ॥[1]

दो विरुद्ध कर्मों में दोनों ही धर्मात्मक हो सकते हैं, जैसे, एक स्वर्ग-प्रापक और दूसरा ब्रह्मलोक-प्रापक कर्म। दोनों ही अधर्मात्मक हो सकते हैं, जैसे एक अवीचि नरक-प्रापक और दूसरा रौरव नरक-प्रापक कर्म। अथवा एक कर्म धर्मरूप और दूसरा अधर्मरूप हो सकता है। जसे—अश्वमेध और ब्रह्महत्या। इस प्रकार दो विरुद्ध

---

१. जिन कर्मों का फलदान परस्पर विरोधवश रुद्ध हैं, उनके सन्निपात से शैवी शक्तिपात होता है।

कर्मों का सन्निपात होने पर भी शिवत्व देनेवाली अनुग्रह-शक्ति का पात आत्मा में नहीं होता। मलपाक हुए विना शक्तिपात हो ही नहीं सकता। मतङ्गागम में है—मलपाक की अविनाभूत दीक्षा कर्म के क्षय द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का हेतु होती है। किरणागम में है :

अनेकभविकं कर्म दग्धबीजमिवाग्निभिः।
भविष्यदपि संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगतः॥[1]

मलपाक से अनुग्रह-शक्ति का पात होता है। शक्तिपात होते ही मल का आवरण हट जाता है और नित्य सत्य विशुद्ध सर्वज्ञत्व आदिमय[2] स्वरूप प्रकाशित होता है। अर्थात् शान्त और निर्मल आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। एक ही परमेश्वर जीव का बन्धन भी करते हैं, मोक्ष भी करते हैं। जैसे, एक ही सूर्य अपने सान्निध्य से गलने योग्य मोम को गलाता है और सूखने योग्य मिट्टी को सुखाता है, वैसे ही एक ही परमेश्वर मोक्ष के अधिकारी पक्वमल जीव को मोक्ष देने की व्यवस्था करता है और वन्धन योग्य अपक्वमल जीव के मलपाक के लिए उनके वन्धन की व्यवस्था करता है। मलपाक से उपकार और अपकार-रूप कर्म में साम्य वुद्धि होती है—तव मोक्ष होता है। सभी प्रकार के कर्म का साम्य होने से विज्ञान कैवल्य-मात्र सिद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता। यथार्थ कर्म-साम्य का कारण मलपाक है। इसीलिए, मलपाक से दीक्षा के प्रभाव से मोक्ष मिलता है। परमेश्वर नित्यनिर्मल सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता है, पर पशु-आत्मा मल, माया और कर्म-पाश में बद्ध होता है। परमेश्वर कृपा करके उसके इन पाशों या बन्धनों को छिन्न करके उसे अपने जैसा किये लेते हैं। इसी का नाम शिव-साधर्म्य की अभिव्यक्ति है। यही मोक्ष है। किन्तु,

---

१. बहुत जन्मों का संचित कर्म अग्नि में भुने बीज की नाईं दग्ध होता है। भावी कर्म की फल देनेवाली शक्ति रुद्ध होती है और जिस कर्म से यह जन्म हुआ है, उसी कर्म यानी प्रारब्ध कर्म के भोग द्वारा क्षय होता हैं।

२. सर्वज्ञत्व, सर्व कर्तृत्व आदि धर्म शुद्ध और अशुद्ध भेद से दो प्रकार के हैं। अपरामुक्ति में अर्थात् आधिकारिक शिवावस्था में ये सब धर्म स्वरूप से अभिन्न होते हुए भी कुछ भिन्न-से लगते हैं। किन्तु, परामुक्ति या परम शिवावस्था में शिव और शक्ति में पूर्ण सामरस्य हो जाता है, इसलिए यह सब धर्म स्वरूप से सर्वथा अभिन्न रूप में प्रकाशित होते हैं।

जबतक पशु के चैतन्य अवरोधक आदि मल का अधिकार निवृत्त नहीं होता, तबतक अनुग्रह की प्रवृत्ति ही नहीं होती।

मृगेन्द्र आगम में है :

तमः शक्त्यधिकारस्य निवृत्तेस्तत् परिच्युतौ।
व्यनक्ति दृक् क्रियानन्त्यं जगद्बन्धुरणो शिवः ॥

तमःशक्ति रोधशक्ति या तिरोधान का दूसरा नाम है। जबतक इस शक्ति का अधिकार रहता है[1], तबतक उद्धार का कोई उपाय नहीं। अनादिमल धीरे-धीरे पक्व हो रहा है, परिणाम प्राप्त कर रहा है। परिपक्वता पूर्ण हो जाने पर उसकी निवृत्ति का समय आता है। आँख में छाला पड़ने से अस्त्रोपचार द्वारा उसे दूर करना पड़ता है। परन्तु, जबतक वह पूरी तरह पक नहीं जाता, अस्त्र का प्रयोग हो नहीं सकता। अपक्व मल को खींचकर हटाने की कोशिश करने से जीव का सर्वनाश होता है। इसीलिए, मंगलमय भगवान् इस तरह से बल-प्रयोग नहीं करते। वह मलपाक के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं और उसके पक जाने पर दीक्षा द्वारा उसे हटाते हैं। जीव के उद्धार का उनका क्रम यही है।

इस तरह मल चूँकि द्रव्यात्मक है, इसलिए क्रिया द्वारा उसकी निवृत्ति को स्वीकार किया जाता है। अवश्य यह क्रिया जीव का व्यापार नहीं, ईश्वर का व्यापार है। यही दीक्षा है। परन्तु, मलपाक नहीं होने तक इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। मलपाक के लिए ही भगवान् जीव को अलक्षित भाव से अनादि कर्मभोगात्मक संसार में भेजते हैं। भगवान् के इस कृत्य का नाम है तिरोधान या रोध। सच पूछिए, तो सृष्टि, स्थिति, संहार—ये तीनों तिरोधान के ही प्रकार-भेद हैं; तीनों में तिरोधान अनुस्यूत रहता है, मल की तरह माया और कर्म का पाक भी जरूरी है। माया के पाक का उद्देश्य है—माया की शक्तियों को अभिव्यक्ति के योग्य करना। इस प्रकार कर्म भी पकने से अपना-अपना फल देने में समर्थ होता है। अपक्व कर्म फल नहीं दे सकता। सभी पाशों का पाक या परिणाम परमेश्वर के सामर्थ्य या स्वातन्त्र्य से होता है। अनेक जन्मों की वासना और पुण्य के प्रभाव से जिस किसी समय या जिस किसी आश्रम में रहते हुए अचिन्त्य भाग्योदय के कारण किसी-किसी आत्मा की चैतन्य शक्ति का अनादि आवरणभूत मल कुछ पकने पर उसी के अनुसार शक्तिपात होता है।

---

१. आवरण-शक्ति के अधिकार के निवृत्त होने पर शक्ति का क्षय होता है। वैसे में जगबन्धु परमेश्वर पशु या बद्धजीव के प्रति अपनी अनन्त ज्ञान-क्रिया अभिव्यक्त करते हैं यानी उसे मुक्त कर देते हैं।

प्रचलित भाषा में इसी को भगवत्कृपा कहते हैं। इसकी मात्रा के अनुसार भगवान् के प्रति भक्ति और श्रद्धा उत्पन्न होती है। तब उस शक्तिपात के अनुरूप दीक्षा का अवसर आता है। शक्तिपात के तारतम्य से दीक्षा का भेद होता है। इस प्रकार, शक्तिपात के तारतम्य का मूल मलपाक की विभिन्नता है, यह समझना होगा।

कहना फिजूल है कि मलपाक के सिद्धान्त से ही अनुग्रह-तत्त्व का चरम रहस्य नहीं खुलता। भेदवादी आचार्य मल के नाश को स्वीकार नहीं करते। चूँकि मल एक है, इसलिए उसके नाश को स्वीकार करने से एक आत्मा के मलहीन होने के साथ-ही-साथ सभी आत्माओं के मलहीन होने की बात उठ आती है। फिर तो एक की मुक्ति के साथ-साथ सबकी मुक्ति होनी चाहिए। इसीलिए, ये लोग कहते हैं कि मल का पाक ही होता है, नाश नहीं होता। पाश का मतलब है अपनी शक्ति का प्रतिबन्ध। बात असल में यह कि ऐसे विचार से भी पूर्वोक्त दोष दूर नहीं होता। अथवा अग्नि की अपनी शक्ति के स्तम्भित होने से जैसे वह सबके लिए ही समान होती है, वैसे ही मल के पाक को मानने से भी मल अभिन्न है, इसलिए सबके लिए उस पाक को समान जानना जरूरी है। एक बात और, पाक का हेतु क्या है ? कर्म या ईश्वर की इच्छा नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म केवल भोग का कारण होता है, दूसरे किसी कार्य का कारण नहीं होता। ईश्वरेच्छा यदि हो, तो प्रश्न यह होता है कि वह स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? परतन्त्र होने से कर्म आदि दूसरे किसी निमित्त की अपेक्षा रहती है। फिर तो पूर्वोक्त दोष रह ही जाता है। इसके विपरीत यदि ईश्वरेच्छा स्वतन्त्र है, तो इस स्वतन्त्र इच्छा के फलस्वरूप सबका मलपाक समान होना चाहिए। ईश्वर में राग-द्वेष नहीं। लिहाजा उनकी इच्छा से किसी का मल पक्व होता है, किसी का नहीं होता; अथवा किसी का शीघ्र होता है, किसी का विलम्ब से। इस विषमता का कारण क्या है ? विषमता या पक्षपात-दोष ईश्वर में नहीं हो सकता। अवश्य यह आलोचना द्वैत दृष्टि से की जा रही है। अतएव यह लगता है कि मलपाक का कोई हेतु नहीं है, मगर उसे अहैतुक भी नहीं कहा जा सकता। बिना कारण के कार्य की सिद्धि में संशय होता है—इतने दिनों तक मलपाक क्यों नहीं हुआ ? वास्तव में अहेतु पक्ष में मल की स्थिति ही नहीं हो सकती। अतएव शक्तिपात के विषय में मलपाक को भी चरम सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

[पाँच]

ऊपर दिये गये कारणों से कर्म-साम्य आदि कोई मत ही समीचीन नहीं लगता। अद्वय दृष्टि ही चरम दृष्टि है। उसके अनुसार परमेश्वर अद्वय और स्वातन्त्र्यमय हैं। इस मत के अनुसार शक्तिपात का विवरण इस विषय में चरम सिद्धान्त है।

परमेश्वर स्वभावतया नियत क्रम और अनियत क्रम— दोनों कोटि को स्पर्श करके प्रकाशमान होते हैं। इसीलिए, शास्त्र में उनको स्वच्छन्द कहा जाता है। उनका अपना भाव या इच्छा ही स्वभाव-पदवाच्य है। वह जब कर्म और फल के परस्पर सम्बन्ध को आश्रय करके अवान्तर स्थिति-काल में सृष्टि, संरक्षण और संहार करते हैं, तब उन्हें नियत क्रम कहा जाता है, अर्थात् वह नियम या कार्य-कारण-भाव के सहारे कार्य करते हैं—ऐसा कहा जाता है। अर्थात् ब्रह्माण्ड, प्रकृति-अण्ड और माया-अण्ड की सृष्टि में कर्म और फल के नियम का सहारा लेते हैं। परन्तु, शाक्त महासर्ग में यानी शाक्ताण्ड की सृष्टि में वह सर्वथा निरपेक्ष और पूर्णतया स्वतन्त्र रहते हैं। यहाँ वह कर्मफल आदि किसी नियम के अधीन होकर अपने को प्रकाशित नहीं करते। महासर्ग में सृष्टि और संहार अनन्त हैं। शक्ति तक अध्वा अर्थात् शाक्ताण्ड की सृष्टि में जगत् के असंख्य सृष्टि-समूह अन्तर्भुक्त रहते हैं। यह शाक्त महासृष्टि है। यह पिछले कर्म के फलरूप में प्रादुर्भूत नहीं होती। इसीलिए, इसमें कर्म की अपेक्षा में नियति का परिग्रह नहीं होता। माया के ऊपर कर्म नहीं रह सकता, यह कहना ही वाहुल्य है। यानी अवान्तर सृष्टि में भी या ब्रह्माण्ड आदि में भी परमेश्वर नियति के अधीन नहीं। वह स्वतन्त्र हैं। उनका नियति-त्याग और नियति-ग्रहण इस प्रकार होता है—जब वह नियति के द्वारा यानी अपने स्वरूप का आस्वादन करके भोक्ता के रूप में दुःख, मोह आदि का भोग करते हैं, तो कर्मफल के क्रम को अर्थात् नियति को ग्रहण करते हैं। और, जब वह अनपेक्ष होने से कर्म का नियन्त्रण त्याग करके तिरोधान के समय दुःख, मोह आदि के सम्बन्ध का अवभासन करने की इच्छा करते हैं तो वह स्वतन्त्र और नियम-त्यागी होते हैं। यह जो तिरोधान की बात कही गई, यह एक प्रकार से उनका स्वेच्छा से आत्मगोपन है। रंगमंच में अभिनय के समय कुशल अभिनेता जैसा करता है, यह वैसा ही है। तिरोधान का कारण पिछला कर्म आदि नहीं हो सकता। कर्म से जाति, आयु, भोगरूप फल उत्पन्न होता है, तिरोधान नहीं होता। परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा ही इसका एकमात्र कारण है। दूसरा कोई कारण नहीं। याद रखना होगा, यह आलोचना अद्वैत दृष्टि से है। द्वैत-सम्मत स्वतन्त्र ईश्वरेच्छा से जो दोष होता है, इसमें उसका प्रसंग नहीं होता; क्योंकि इस मत में मूल तत्त्व अद्वैत है, इसलिए राग-द्वेष आदि प्रसंग नहीं उठते। अर्थात् कर्म आदि निरपेक्ष भाव से केवल ईश्वर की इच्छा से ही अनुग्रह उत्पन्न होता है—यही वास्तविक सिद्धान्त है, मतलब, शक्तिपात कर्मसाम्य, मलपाक प्रभृति के अधीन नहीं, वह निरपेक्ष और स्वतन्त्र है। पुराण आदि में भी ऐसा मत पाया जाता है : 'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्'।

महामाहेश्वराचार्य उत्पलदेव ने भगवान् की स्तुति के प्रसंग के कहा है :

शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित् ।[1]
अद्य मां प्रति किमागतं यतः स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे ।।

अर्थात् हे भगवन्, तुम शक्तिपात के समय अर्थात् जीव के प्रति कृपा करते समय न्यायतः उचित होने पर भी कभी पात्र-अपात्र का विचार नहीं करते । तो फिर आज मुझमें ऐसा नया क्या हुआ है कि तुम मेरे प्रति आत्म-प्रकाशन में विलम्ब कर रहे हो ?

शक्तिपात में मायांगत कर्मादि का व्यापार नहीं रहता, यह सच है; क्योंकि कर्म आदि जीव को माया में आवद्ध रखते हैं । इसीलिए, माया से छुटकारा नहीं होता । शक्तिपात सर्वथा माया-निरपेक्ष है । अतएव, जो सब देवता माया में या माया से ऊपर रहते हैं, वे भगवदनुग्रह से ही भगवान् को पाते हैं । जो मायाक्रान्त नहीं हैं, वे कर्म आदि के अधीन नहीं हैं । केवल शक्तिपात के प्रभाव से वे भोग अथवा मोक्ष-रूप सिद्धि प्राप्त करते हैं । किन्हीं-किन्हीं को शंका हो सकती है कि ये शुद्ध आत्माएँ जेव पूजा, ध्यान, देवाराधन आदि प्रभाव से मायातीत शुद्ध अवस्था – मन्त्रत्व, मन्त्रेश्वरत्व आदि—प्राप्त करती हैं, तो कहना ही पड़ेगा कि यह भी एक प्रकार से कर्म का ही फल है । परन्तु, वास्तव में यह सत्य नहीं है; क्योंकि कर्म आदि सारे उपाय माया के ही अन्तर्गत हैं ।

ईश्वरभाव, लेकिन माया के अतीत है । इसलिए मायातीत वस्तु के ध्यान, जप आदि विषय में सर्वप्रथम प्रवृत्त होना माया में मग्न आत्मा के लिए कैसे सम्भव हो सकता है ? कर्म, कर्मसाम्य, वैराग्य, मलपाक आदि कोई भी मायिक व्यापार इसके कारण नहीं हो सकता । इसलिए, स्वतन्त्र ईश्वर की इच्छा को ही कारण कहना पड़ेगा । निरपेक्ष शक्तिपातवादियों का यही सिद्धान्त है । जप, ध्यान आदि कर्म नहीं, क्रिया है । 'कर्म' शब्द से ऐसे पदार्थ का बोध होता है, जो परिमित भोग पैदा करके भोक्ता के पूर्णरूप अर्थात् अपरिच्छिन्न चित्स्वरूप को तिरोहित करता है, अर्थात् उसे

---

१. इस श्लोक में 'प्राप्तम्' और 'कर्हिचित्'—इन दो शब्दों के प्रयोग से लगता है कि शक्तिपात निरपेक्ष, सुलभ तथा रागादि प्रसंग से लेशहीन है । मतङ्गागम के टीकाकार अनिरुद्ध ने भी शक्तिपात के विषय में निरपेक्ष सिद्धान्त को ही ग्रहण किया है । यथा—

"स्थावरान्तमपि देवस्य स्वरूपोन्मीलनात्मिका ।
शक्तिः पतति सापेक्षा न क्वापि... ... ... ।।"

यहाँ स्थावरान्त से लगता है, अत्यन्त अयोग्य भी शक्तिपात हो सकता है ।

चित् रूप में संकुचित करके आच्छादित करता है। सिद्धान्त-दृष्टि से जप, ध्यान आदि परमेश्वर के स्वरूप-विकास की क्रियाशक्ति है, स्वरूप का आवरण करनेवाला कर्म नहीं।[१] एक ही चिद्रूप परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्यबल से प्रमाता, प्रमेय आदि विभिन्न रूपों और आकारों में प्रकाशमान होते हैं। इसीलिए, एकत्व के होते हुए भी ऐक्य का अवभास नहीं रहने से उनके अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से स्वरूप गुप्त होता है। इसी का नाम तिरोभाव या बन्धन है। वास्तव में, परमेश्वर का स्वरूप भी परमेश्वर से भिन्न नहीं। इसी प्रकार वद्ध भी भोग द्वारा भोक्तृत्व पुष्ट करके संकोच का अवभासनकारक जाति, आयु और भोगप्रद रूप में विकल्पित, स्वयंकल्पित कर्म के द्वारा आत्मा को वद्ध करता है। उसके बाद वह वन्धन-मोचन के क्रम से अपने आगन्तुक-रूप मल, कर्म आदि को हटाकर अपने विशुद्ध रूप में प्रकाशित होता है। उस समय पूर्ण ज्ञान-क्रियाशक्ति-सम्पन्न केवल परमेश्वर ही अवशिष्ट रहते हैं।

[छह]

पर और अपर-भेद से शक्तिपात मुख्यतया दो प्रकार का है। परशक्तिपात होने से परिच्छिन्न आत्मा पूर्ण चिदात्मा-रूप से प्रकाशित होती है। यही उसका परम प्रकाश है। उपाधिहीन—अनवच्छिन्न चैतन्य ही—उसका स्वरूप है। परन्तु अपर शक्तिपात में पूर्ण चिदात्मा का प्रकाश पहले की नाईं रहने पर भी अवच्छेद सम्यक् प्रकार से अपगत नहीं होता, इसलिए कि इस प्रकाश में भोगांश और अधिकारांशवश कुछ अवच्छेद रहता ही है। परन्तु, चरम अवस्था में वह नहीं रहता। प्रचलित भाषा में पर और अपर शक्तिपात को पूर्ण और अपूर्ण कृपा कहा जाता है।

परमेश्वर के सिवाय पूर्ण कृपा और कोई नहीं कर सकता। अपूर्ण कृपा ब्रह्मा आदि देव भी कर सकते हैं और किया करते हैं, जिसके प्रभाव से कृपापात्र जीव ब्रह्मा आदि के अधिकार के अन्तर्गत नाना प्रकार के भोग और अधिकार पा सकते हैं, परन्तु पूर्णत्व या परमेश्वरत्व नहीं पा सकते। यद्यपि यह सत्य है कि ब्रह्मा आदि भी परमेश्वर

---

१. परमेश्वर की क्रियाशक्ति जब भेदज्ञानशाली पशु में प्रकट होती है एवं त्याग, ग्रहण आदि रूप में क्षोभमय होकर बन्धन का कारण होती है तो उसे स्वरूप-आच्छादन करनेवाले सुख-दुःख आदि के जनक-कर्म के नाम से अभिहित किया जाता है। पर जब वही एक ही शक्ति स्वीय शिवशक्ति के मार्ग में अधिष्ठित होकर ज्ञान का विषय होती है, तो वह विभिन्न सिद्धियों का कारण होती है और उसे 'क्रिया' कहा जाता है। इसीलिए जप आदि क्रियाएँ कर्म नहीं हैं। अविच्छिन्न स्फूर्त्ति ही तन्त्र-शास्त्र में सिद्धि-पदवाच्य है। यह अक्षय भोग और मोक्ष का स्वातन्त्र्य हैं।

के ही रूप हैं, फिर भी स्वयं उन्नमित भेद-सम्बन्ध के कारण वह पद माया-पद के अन्तर्गत होने से साक्षात् परमेश्वर की कृपा से ब्रह्मा आदि देवता की कृपा को निकृष्ट कहना होता है। परन्तु यह बात सत्य है कि माया के अन्तर्गत होते हुए भी ब्रह्मा आदि देवतागण भोग आदि निकृष्ट अनुग्रह करने में समर्थ हैं। जिस प्रकार स्वातन्त्र्य या शक्ति के समावेश-निबन्धन राजगण किसी-किसी पर अनुग्रह दिखाते हैं, उसी प्रकार स्वातन्त्र्य के प्रभाव से ब्रह्मा आदि देवगण भी अनुग्रह करते हैं।

माया के गर्भ में जो सब अधिकारी पुरुष हैं, उनका अनुग्रह दो प्रकार का है—मन्द और तीव्र। मन्द अनुग्रह से प्रकृति-पुरुष का विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से जीव प्राकृतिक बन्धन से मुक्त होता है। परन्तु प्रकृति के ऊर्ध्व स्तर का कर्म—जो काल आदि तत्त्वों के आश्रय में विद्यमान रहता है, तब भी क्षीण नहीं होता। प्रकृति की निम्न भूमि के सारे कर्मों का क्षय अवश्य होता है। इस प्रकार विवेक-ज्ञानी में मल मौजूद रहता है। लेकिन इतना सत्य है कि ये साधक फिर से प्रकृति-गर्भ में जन्म-ग्रहण नहीं करेंगे। अनन्तेश नाम के ईश्वर की प्रेरणा से ये अप्राकृत मायिक जगत् में कदाचित् जन्म ले भी सकते हैं। यदि वह अनुग्रह तीव्र मात्रा में हो तो तुरत उस साधक का कला-पुरुष विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके कुछ ही समय बाद पुरुष माया से अपना भेद-ज्ञान प्राप्त करता है और माया-राज्य को पार करता है।

कला-लंघन के साथ-साथ सभी कर्मों का क्षय होता है, इसलिए पुरुष के लिए माया को पार करना सहज होता है। साधन-राज्य में इतनी दूर बढ़ जाने से माया-गर्भ में फिर से नहीं आना पड़ता। यही विज्ञानाकल अवस्था है। इसे एक प्रकार से कैवल्य-अवस्था कहा जा सकता है। इस समय आणव मल बाकी रहता है, इसलिए अधिकार की निवृत्ति नहीं होती। इन पुरुषों पर माया-अधिष्ठाता ईश्वर का कोई अधिकार नहीं रहता। विज्ञानाकल पुरुष परमेश्वर की इच्छावशतः उनसे क्रमशः अधिक तादात्म्य का अनुभव करते-करते क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर पद प्राप्त करके अन्त में साक्षात् परमेश्वर भाव प्राप्त करता है। परमेश्वर या पूर्ण ब्रह्म की कृपा से मूल अज्ञान-रूप आणव मल निवृत्त होता है और पूर्णत्व की अभिव्यक्ति होती है। ब्रह्म के अलावा माया-अन्तर्गत अधिकारी पुरुष की कृपा से पूर्णत्व-लाभ नहीं हो सकता, सिर्फ उत्कृष्ट भोग आदि मिल सकते हैं। इसलिए, मुमुक्षु-मण्डल में साक्षात् भगवान् की कृपा को ही कृपा कहकर वर्णन किया जाता है, निम्न अधिकारियों की कृपा को कृपा नहीं गिना जाता।

[सात]

शक्तिपात विचित्र है, इसलिए उसका अधिकार भी विचित्र है। समयी, पुत्रक, साधक, आचार्य या गुरु—यह सब अधिकार-भेद विभिन्न प्रकार के शक्तिपात से

होता है। यह सब अधिकार समष्टि-रूप में भी हो सकता है और अलग-अलग भी हो सकता है। यह सब किसी को पहले होता है यानी पहले समयी का अधिकार पाकर तब पुत्रक-भाव प्राप्त होता है, उसके बाद आचार्य-भाव में स्थिति होती है। परन्तु किसी-किसी के जीवन में यह सब बिना किसी क्रम के ही आते देखा जाता है। जैसे, कोई पुरुष समयी अवस्था प्राप्त किये बिना ही पुत्रक अवस्था पा लेता है अथवा समयी और पुत्रक दोनों ही अवस्थाओं को पार करके आचार्य-पद पर पहुँच जाता है। शक्तिपात की मात्रा मन्द होने से जीव माया-अधिकार प्राप्त करता है और रुद्रांश भाव लाभ करता है। उसके बाद परमेश्वर की विशिष्ट कृपा से पुत्रक-दीक्षा के बाद पूर्णत्व पर पहुँच जाता है। इसका नाम 'समयी' है। अपेक्षाकृत तीव्रतर शक्तिपात के प्रभाव से कोई-कोई पुरुष विशुद्ध अध्वा से युक्त होकर या तो देहान्त में पूर्णत्व पाता है अथवा क्रम का लंघन करके जीते-जी ही पूर्णत्व प्राप्त करता है। ऐसे पुरुषों को 'पुत्रक' कहते हैं। कोई-कोई पहले भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करके वैराग्य से परम पद में स्थित होता है। इनमें भी योग्यता-भेद से कोई शीघ्र और कोई विलम्ब से लक्ष्य को प्राप्त करता है। इनका नाम है 'साधक'। परन्तु ऐसे पुरुष भी हैं, जो अपना कर्त्तव्य समाप्त करके पंचकृत्यकारी परमेश्वर के स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं और 'गुरु' या 'आचार्य' पद पर आरूढ होकर जीवों पर अनुग्रह करते हैं। उनमें भी शिष्यों की अलग-अलग योग्यता के अनुसार भेद अवश्य रहता है—अर्थात् कोई शिष्य का भोग-विधान करते हैं, कोई मोक्ष-विधान करते हैं, पर उनका अपना कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं रहता।

[आठ]

शक्तिपात—तीव्र, मध्य और मन्द—तीन प्रकार का है। इसका प्रत्येक भेद फिर तीव्र, मध्य और मन्द भेद से तीन प्रकार का है। इस प्रकार विभिन्न मात्रा के शक्तिपात का फल भी अलग-अलग है। तीन शक्तिपात के तीन भेद ये हैं—तीव्र-तीव्र, मध्य तीव्र और मन्द तीव्र। तीव्र-तीव्र शक्तिपात के प्रभाव से अपने-आप ही देहत्याग होता है और मोक्ष प्राप्त होता है। भोग के द्वारा प्रारब्ध क्षय की जरूरत नहीं रहती। यह शक्तिपात अत्यन्त तीव्र होने से प्रारब्ध को भी नष्ट कर देता है। परन्तु, इस तीव्र-तीव्र शक्तिपात में भी तारतम्य है। इनमें जो शक्तिपात अत्यन्त ही तीव्र होता है, उसके प्रभाव से शक्तिपात के साथ-ही-साथ देह का नाश हो जाता है। बिजली गिरने से जैसे एक ही क्षण में देह जल जाती है, वैसे ही उत्कट तीव्र-तीव्र शक्तिपात से तुरत ही देह का नाश हो जाता है। परन्तु, तीव्र-तीव्र में अपेक्षाकृत मध्य मात्रा में शक्तिपात के जरा ही देर बाद देह का ध्वंस होता है। तीव्र-तीव्र शक्तिपात यदि और भी कम मात्रा में हो, तो देह के नष्ट होने में अधिक समय लगता है, परन्तु वह अपने-आप नष्ट

होती है। इससे यह समझ में आता है कि तीव्र-तीव्र शक्तिपात के कारण उसकी मात्रा के अनुसार प्रारब्ध-नाश होता है। मध्यतीव्र शक्तिपात से देह का नाश नहीं होता, केवल अज्ञान दूर होता है।[1] परन्तु, इस अज्ञान को दूर करने के लिए जो ज्ञान आवश्यक है, वह अलग से गुरु या शास्त्र से नहीं मिलता। वह आप-ही-आप हृदय में स्फुरित होता है। अपनी ही प्रतिभा से स्फुरित होने के कारण इस अनौपदेशिक महाज्ञान को प्रातिभ ज्ञान कहा जाता है। इसके उदय के लिए शास्त्र या आचार्य की आवश्यकता नहीं होती।

प्रसंगवश यहाँ प्रातिभ ज्ञान के बारे में कुछ कहने की जरूरत महसूस हो रही है। मध्यतीव्र शक्तिपात के फलस्वरूप प्रातिभ ज्ञान का उदय होता है, ऐसा कहा जाता है। सत्तर्क या शुद्ध विद्या इस ज्ञान का स्वरूप है, लेकिन वास्तव में यह ईश्वर की इच्छा के सिवाय और कुछ नहीं। जिन साधकों का चित्त ईश्वर में अनुरक्त न होकर तत्त्व का उपदेश देनेवाले आचार्य में अनुरक्त होता है, वे माया-पाश में आबद्ध होते हैं। वे जो मुक्ति पाते हैं, वह प्रलयाकल नामक पशु की अवस्था से किसी अंश में श्रेष्ठ नहीं है। कहना बाहुल्य है, वामाशक्ति परमेश्वर की शक्ति-विशेष का नाम है। शक्तिपात की न्यूनता से जीव की पहले असद्गुरु में अथवा द्वैतशास्त्र आदि में प्रवृत्ति होती है। उसके बाद भगवान् की ज्येष्ठा शक्तिरूपा मंगलमयी इच्छा के प्रभाव से यानी शुद्धा भगवत्-शक्ति के समावेश से जीव के हृदय में सत्स्वरूप-प्राप्ति की इच्छा

---

१. प्रचलित शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि तीव्र-तीव्र शक्तिपात से प्रारब्ध-सहित सभी कर्मों का दाह होता है और मध्यतीव्र शक्तिपात से प्रारब्ध के अलावा बाकी कर्म जल जाते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि तीव्र-तीव्र शक्तिपातवशतः अज्ञान का आवरणांश-विक्षेपांश दोनों एक साथ (जैसा तीव्र-तीव्र मात्रा में होता है) अथवा क्रमशः (जैसा तीव्र-तीव्र के मध्य और मन्द मात्रा में होता है) और मध्यतीव्र शक्तिपात के प्रभाव से अज्ञान का केवल आवरण-अंश नष्ट हो जाता है, विक्षेपांश रह जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है :

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

यहाँ समिद्ध अर्थात् वर्द्धित ज्ञानाग्नि समस्त कर्म का नाश करती है, ऐसा कहा गया है। यहाँ 'सर्वकर्म' कहने से यह बोध होता है कि प्रारब्ध इसके अन्तर्गत है। कारण, समिद्ध पद से सूचित होता है कि यह ज्ञानाग्नि की तीव्र-तीव्र अवस्था है।

जगती है। इस इच्छा का नाम 'सत्तर्क' है। इसके बाद क्रमश: सद्गुरु का आश्रय प्राप्त हो सकता है। उस समय अपनी योग्यता के अनुसार भोग या मोक्ष मिलता है। शक्तिपात की विचित्रता के अनुसार गुरु एवं शास्त्र में सद्भाव अथवा असद्भाव का वैचित्र्य उत्पन्न होता है। द्वैतशास्त्र और द्वैतगुरु परमेश्वर की वामाशक्ति के द्वारा अधिष्ठित हैं। इसलिए, उनके द्वारा माया का लंघन नहीं होता। वस्तुत:, जो अवस्था मोक्ष-पदवाच्य नहीं है, उसे मोक्ष समझकर उसकी प्राप्ति की चेष्टा करना माया का ही कार्य है। परन्तु, जबतक जीव के हृदय में सत्तर्क-रूप शुद्ध ज्ञान का उदय नहीं होता, तबतक सार और असार—इनकी विवेचना ठीक-ठीक नहीं हो सकती। सत्तर्क का उदय और ज्येष्ठा शक्ति का अधिष्ठान हुए विना अन्त:करण भी शुद्ध नहीं होता और शुद्धिमार्ग का आश्रय भी नहीं मिलता। पर यह सत्तर्क-रूप ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय, प्रश्न यह है। किरणागम में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है कि कभी-कभी यह ज्ञान गुरु और शास्त्र के अवलम्बन से उदित हो सकता है। परन्तु, कभी-कभी यह स्वयं ही उद्भूत होता है। उस समय गुरु के उपदेश या शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती। आचार्यगण इसे सांसिद्धिक और स्वप्रत्ययात्मक निश्चय-रूप ज्ञान कहा करते हैं। सांसिद्धिक कहने से यह समझना होगा कि यह ज्ञान स्वाभाविक है। परन्तु, इसका कोई हेतु नहीं है, ऐसा नहीं। क्योंकि, गुरु, शास्त्र आदि हेतु के न होते हुए भी भगवान् का शक्तिपात-रूप हेतु होता है।

ज्ञानोदय के जिन तीन कारणों का जिक्र किया गया, उनमें गुरु से शास्त्र श्रेष्ठ है; क्योंकि गुरु से शास्त्र के अर्थ का ज्ञान होता है। इसलिए, गुरु को उपाय और शास्त्र को उपेय माना जाता है। शास्त्र से अपनी प्रतिभा श्रेष्ठ है; क्योंकि चरम अवस्था में शास्त्र-ज्ञान भी प्रातिभ ज्ञान-उत्पादन करके सार्थकता प्राप्त करता है। प्रातिभ ज्ञान का उत्पादन हो जाने से एक ओर जैसे गुरु की उपयोगिता नहीं रहती, दूसरी ओर, वैसे ही शास्त्र की प्रयोजनीयता भी नहीं रह जाती।

परन्तु उत्कृष्ट योग्यतावाले पुरुष में प्रातिभ ज्ञान गुरु और शास्त्र के मार्ग का लंघन करके स्वत: उत्पन्न होता है। उसके लिए दीक्षा, अभिषेक आदि बाहरी संस्कार की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि, संस्कार का यथार्थ उद्देश्य है आदिगुरु परमेश्वर को उचित क्षेत्रों में अधिष्ठित करना। किन्तु प्रतिभावान् पुरुष में यह अधिष्ठान स्वत: सिद्ध होता है, इसलिए संस्कार बेकार है। शक्तिपात का प्रधान लक्षण भगवत्-भक्ति का उन्मेष है। जिस महान् पुरुष में प्रतिभा का उदय होता है, उसमें भगवत्-भक्ति न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। इन अवसरों पर दीक्षा एवं अभिषेक-व्यापार अपनी-अपनी संविद देवीगणों के द्वारा अपने-आप सम्पन्न होता है। वहाँ क्रिया और दीक्षा

आदि की आवश्यकता नहीं रहती। प्रातिभ ज्ञान के उदय से अपनी सारी इन्द्रियवृत्ति अन्तर्मुख होकर प्रमाता अथवा आत्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करके देवी-भाव लाभ करती हैं।[1]

शक्ति-भावापन्न अथवा देवी-अवस्था-प्राप्त ये सारी इन्द्रिय-प्रवृत्तियाँ पुरुष की ज्ञानक्रिया या चैतन्य को उत्तेजित करती हैं। इसी का नाम अन्तर्दीक्षा है, जिसके प्रभाव से साधक सर्वत्र स्वातन्त्र्य प्राप्त करता है। पारमार्थिक दृष्टि से यही अभिषेक का रहस्य है। ये साधक अन्य गुरु-वर्ग से श्रेष्ठ हैं। साधारणतः गुरु से शास्त्रज्ञान उत्पन्न होता है, परन्तु प्रातिभावान् पुरुष लौकिक निमित्त की अपेक्षा न करके केवल प्रतिभा से सभी शास्त्रों का रहस्य ठीक-ठीक जान सकता है। इसी का नाम शुद्ध विद्या-समुल्लास अथवा प्रातिभ महाज्ञान है।

शास्त्र में कहा गया है कि प्रातिभ ज्ञान का उदय अपने-आप हो सकता है या किसी और सहारे से भी हो सकता है। समझना होगा कि इस सहारे में अपना बोध अथवा औरों द्वारा रचित विभिन्न कर्मों के प्रतिपादक विभिन्न शास्त्र भी हैं। तान्त्रिक परिभाषा में इस उपजीव्य आश्रय का नाम है 'भित्ति'। इसीलिए इस ज्ञान को मामूली तौर पर भित्तिक तथा निर्भित्तिक कहा जाता है। जो ज्ञान अपने-आप उत्पन्न होता है, वह निर्भित्तिक है, पर जो ज्ञान सभित्तिक है, वह अंशगामी भी हो सकता है और सर्वगामी भी हो सकता है। अंश मुख्य और अमुख्य दो प्रकार का है, इसलिए अंशगामी ज्ञान भी दो प्रकार का है। वास्तव में तो अनुग्रह के पात्र शिष्य की योग्यता के तारतम्य से ही ज्ञान को सभित्तिक और निर्भित्तिक कहा जाता है। जिनका सत्तर्क स्वयं उदित होकर सब प्रकार के बन्धनों को ध्वस्त करता है, और जो इस प्रकार से पूर्णत्व प्राप्त करते हैं, वही सांसिद्धिक गुरु हैं। वह अपने बारे में कृत-कृत्य होते हुए भी सर्वदा दूसरे पर अनुग्रह करने को तैयार रहते हैं।[2] परन्तु यदि अनुग्रह-

---

१. बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्त्तिताः।
ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तयः परिकीर्त्तिताः॥

अर्थात् मन्त्र या चित्त के बहिर्मुख होने से, जिन्हें उसकी वृत्ति कहते हैं, मन्त्र के अन्तर्मुख होने से वह सब उसकी शक्ति के रूप में वर्णित होते हैं।

२. स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयन् लोक एष प्रयत्ना—
न्नो पारक्यं प्रतिघटयते काञ्चन स्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्तं तस्य स्फुटतरमिदं लोककर्त्तव्यमात्रम्॥

साधारण पुरुष किसी प्रकार से अपना काम करता है। दूसरों के कार्य की ओर उनकी वृत्ति नहीं जाती। किन्तु, जिनके सारे सांसारिक

पात्र जीव का चित्त निर्मल हो तो उसके अनुग्रह के व्यापार में किसी उपकरण की सहायता नहीं लेनी पड़ती। वह सिर्फ अपनी शुद्ध अनुसन्धानहीन चिदात्मिका दृष्टि के द्वारा ही इन जीवों को आत्मज्ञान प्रदान करके उन्हें अपने समान कर देते हैं। कहना नहीं होगा, यह अनुग्रह का ही फल है। इस तरह से दूसरों के प्रति अनुग्रह-प्रदर्शन के व्यापार में भी वह निरपेक्ष भाव से काम करते हैं। यही निर्भित्तिक ज्ञान की विशेषता है।

किन्तु अनुग्रह का पात्र यदि शुद्धचित्त न हो, तो अनुग्रह के व्यापार में उपकरण की आवश्यकता होती है। अनुग्रह के पहले गुरु अनुग्रह के पात्र पर अनुग्रह करने का संकल्प करते हैं। इसे अनुसन्धान कहते हैं। फिर इस संकल्प के अनुसार कार्य में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए, इसमें सारे बाह्य उपकरणों का प्रयोजन होता है और विधिमार्ग को अपनाकर आगे बढ़ना पड़ता है। गुरु साक्षात् परमेश्वर-रूप होने पर भी इस स्थिति में उपायभूत शास्त्र आदि का श्रवण, अध्ययन आदि का आदर किया जाता है। अशुभ जीव नाना प्रकार के हैं, अतः प्रत्येक के संस्कार के अनुसार उपकरण भी नाना प्रकार के होते हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न उपकरणों के प्रतिपादक भिन्न-भिन्न शास्त्र आवश्यक होते हैं। इनके न होने से इन जीवों पर अनुग्रह नहीं किया जा सकता। रोग भिन्न हो तो दवा भी भिन्न होती है। इसी तरह चित्त भिन्न होने से शास्त्र भी भिन्न होता है। तात्पर्य यह कि गुरु शिष्य की योग्यता देखकर उसके अधिकार के मुताबिक उसपर अनुग्रह करते हैं। यही सर्वगामी सभित्तिक ज्ञान का माहात्म्य है।

लेकिन, कोई-कोई निर्दिष्ट शास्त्र के अनुसार योग्य अनुग्रह-पात्र पर अनुग्रह करते हैं। यह अंशगामी सभित्तिक ज्ञान का व्यापार है। लेकिन, स्मरण रखना होगा, यह अंश भी असंख्य है और उनमें परस्पर उत्कर्ष-अपकर्ष मौजूद है। इन अंशों में कोई मुख्य और कोई गौण है। इसी कारण से अंशगामी ज्ञान का भेद होता है। यह याद रखना जरूरी है कि इसके विभिन्न क्षेत्र में ही प्रतिभारूपी गुरु अथवा स्वाभाविक ज्ञान समान रूप से रहता है; क्योंकि इसमें अपने विषय में कृतकृत्यता का अभाव नहीं।[1] केवल दूसरे के हित के लिए विभिन्न प्रकार की भित्ति का आश्रय लेना

मल नष्ट हो चुके हैं, उन भावगत पुरुषों का कर्त्तव्य लोकहित के सिवाय और कुछ नहीं रहता।

१. यह सांसिद्धिक गुरु ही अकल्पित गुरु हैं। यह अन्य गुरु से क्रिया, दीक्षा आदि द्वारा आत्मज्ञान नहीं प्राप्त किये होते हैं। इसीलिए इन्हें अकल्पित कहा जाता है। इसके सिवा अकल्पित कल्पक, कल्पित और कल्पिता-कल्पित—ये तीन गुरु और हैं।

पड़ता है। इस विवरण से समझ में आता है कि जीव पर अनुग्रह सोपकरण अथवा सोपाय और निरुपकरण अथवा निरुपाय–दो प्रकार का है।

दीक्षा के द्वारा गुरु जैसे शिष्य को संसार-वन्धन से मुक्त करते हैं और उसे सर्वज्ञत्व आदि ईश्वरीय धर्म देते हैं, प्रातिभ ज्ञान से भी ठीक वैसे ही फल-लाभ होता है। दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि दीक्षा पराधीन है और प्रातिभ ज्ञान अपना स्वभावभूत है। वात असल में यह है कि जीव, ईश्वर और शक्ति—ये तीन तत्त्व गुरु और आगम से तात्त्विक रूप में सिद्ध होने पर प्रातिभ ज्ञान के रूप में प्रकट होते हैं। गुरु और शास्त्र का यही महत्त्व है। अर्थात् जब गुरु साधक के माया-पाश को दीक्षा-रूप अस्त्र से काटते हैं और जिस समय साधक आगम के द्वारा सत्यासत्य भावना से भावित होते हैं, वास्तव में उसी समय शिष्य का प्रातिभ तत्त्व खुल जाता है।

शास्त्र में लिखा है :

तदागमवशात् साध्यं गुरुवक्त्रान् महाधिया।
शिवशक्तिकरावेशात् गुरोः शिष्यप्रबोधकः॥[1]

राख से ढँकी आग जैसे मुँह की फूँक से जल उठती है, जैसे ठीक समय पर बोने-सींचने से बीज में अंकुर, पल्लव आदि निकल आते हैं, उसी प्रकार गुरु-उपदिष्ट क्रिया से प्रातिभ ज्ञान अभिव्यक्त होता है।

यह अनुत्तर महाज्ञान शास्त्रज्ञान से श्रेष्ठ है, इसलिए कि यह विवेक से उत्पन्न होता है। अतीन्द्रिय और अप्रमेय चैतन्य तत्त्व जब विचार-भूमि में अवतीर्ण होकर आत्मबोध-रूप में प्रकट होता है, तो उसका नाम होता है 'विवेक'। इस अवस्था में जीव, ईश्वर, माया आदि पाश—इन सबका ज्ञान अपने-आप उदित होता है। यही प्रातिभ ज्ञान है। यह चूँकि सर्वथा अभ्रान्त होता है, इसलिए इसे सम्यक् ज्ञान या महाज्ञान कहते हैं। उस समय सब प्रकार का परिच्छिन्न ज्ञान अर्थात् इन्द्रियजन्य और अन्तःकरणजन्य सारे खण्डज्ञान दूसरे की अधीनता त्यागकर उस महाप्रकाश में विश्रान्ति-लाभ करते हैं यानी उसमें लीन हो जाते हैं। सूर्य की किरण में दीप की ज्योति जैसे मन्द पड़ जाती है, वैसे ही प्रातिभ ज्ञान के उदय से सारे खण्डज्ञान निष्प्रभ हो जाते हैं।

---

१. यह ज्ञान आगम और गुरुमुख से पाया जा सकता है। गुरु के चैतन्यशक्तिमय कर-स्पर्श से अर्थात् गुरुरूपी भगवान् की शक्तिरूपी किरण के द्वारा शिष्य प्रबुद्ध होता है।

विवेक के उत्पन्न होने से इन्द्रियगोचर शब्दादि विषय में दूर श्रवण आदि विचित्र ज्ञान उत्पन्न होता है। वैसे में देश, काल और आकारगत व्यवधान तथा सूक्ष्मता आदि के रहते हुए भी ज्ञान पर उनका किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। योगशास्त्र में जिन विभूतियों का वर्णन मिलता है, वह सब विवेकवान् पुरुष प्राप्त करते हैं, यानी शक्तिज्ञान प्राप्त होने पर उसके प्रभाव से तन्त्र में आये क्रियाकर्म, षट्चक्र, स्वरसाधन, मन्त्रवेध, परकाया में प्रवेश आदि सभी विषयों में अधिकार उत्पन्न होता है। एक ही समय में ये सारे सम्पत् आयत्त होते हैं। विवेक के बढ़ने के साथ-साथ सभी भावों के प्रति चित्त में वैराग्य उत्पन्न होता है और विकसित होता है। चरम स्थिति में परम चिद्भाव में विश्रान्ति मिलती है। उस समय किसी सिद्धि पर आसक्ति नहीं रहती—तब लगता है कि उन सब ऐश्वर्यों से खेलना बच्चों का खिलौने से खेलना है, वह स्वप्न और इन्द्रजाल की नाईं अलीक है।

दर्पण में जैसे अपनी परिछाईं दीखती है, प्रातिभ ज्ञान के प्रकाश में वैसे ही एक साथ भीतर-बाहर तमाम परमेश्वर की सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता है। उस समय प्रतीत होता है कि सारा विश्व ही मानों उनका घनीभूत प्रकाश ही है। इस अवस्था में हेय-उपादेय का बोध नहीं रहता, इसलिए साधक की परिच्छिन्न सिद्धि के आश्रयभूत उन-उन प्रकार का निर्दिष्ट ध्यान टूट जाता है। उस समय एकमात्र परम वस्तु की भावना ही सदा के लिए जागरूक रहती है।[1] इस भावना के मजबूत होने से ही जीवन्मुक्ति होती है। एक बात और, विवेक का विकास होने से साधक में शाप और अनुग्रह का सामर्थ्य आता है। इसीलिए विवेकवान् स्वयं मुक्त होकर औरों को मुक्त कर सकते हैं। बद्धजीव-रूपी अणु पञ्चभूत से आच्छन्न और इन्द्रिय-विशिष्ट होते हैं। इसीलिए उन्हें एक देह से निकलकर दूसरी देह को ग्रहण करना पड़ता है। लेकिन विवेक के उदय होने के बाद जब उसके साथ प्रतिभा का योग होता है[2] तब वह

---

१. साधक के चित्त में विश्वास पैदा करना ही सिद्धि का वास्तविक उद्देश्य है। अर्थात् इस देह में रहते हुए सिद्धि प्राप्त होने से विश्वास पैदा होता है कि मुक्ति मृत्यु के बाद अवश्य मिलेगी। जिनका विश्वास कमजोर है, उनके लिए सिद्धि की यही उपयोगिता है। परन्तु परिपक्व अवस्था में ज्ञान की तीव्रता सिद्ध होने से सिद्धि के प्रति उदासीनता और अनासक्ति होती हैं। उस समय एकमात्र परम तत्त्व की भावना ही दृढ़ होती है और तब जीवन्मुक्ति निश्चित हैं।

२. पातञ्जल दर्शन में विवेक-ज्ञान के स्वरूप-वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि यह सर्वविषयक, सर्वथाविषयक और क्रमहीन अनौपदेशिक ताकर

जीव फिर जीव-रूप में नहीं गिना जाता। वैसे में उसका स्थान शक्ति-तत्त्व में होता है। उस समय वह शुद्ध विद्या की अवस्था प्राप्त करके निग्रह और अनुग्रह-व्यापार में समर्थ होता है तथा उसमें क्रमशः प्ररूढ होकर यानी शक्तिपात में क्रमिक आवेशवशत: संसार-समुद्र को पार करता है और एक के वाद दूसरा—इस तरह व्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और शिव नामक छह कारण या अधिष्ठाता को त्यागकर अन्त में परमेश्वर का सायुज्य-लाभ करता है। अतएव शिव, शक्ति और जीव ही वास्तव में प्रातिभ ज्ञान के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं।

आत्मा का स्वाभाविक पूर्ण आत्मवोध संकुचित होकर ही अपूर्ण ज्ञान या अज्ञान का आकार लेता है। शक्तिपात के फलस्वरूप संकोच दूर हो जाने से उसका नित्यसिद्ध स्वभाव जाग उठता है। मध्यतीव्र शक्तिपात के निम्नोक्त लक्षण शास्त्र में हैं :

१. भगवान् में निश्चल भक्ति।
२. मन्त्रसिद्धि, जिसके प्रभाव से श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होता है।
३. सभी तत्त्वों को आयत्त करने का सामर्थ्य।
४. आकस्मिक रूप से सभी शास्त्रों का अर्थज्ञान, आदि-आदि।

ये सव लक्षण क्रमशः अभिव्यक्त होते हैं। शक्तिपात के तारतम्य के अनुसार किसी साधक में सबका ही प्रकाश होता है, किसी दूसरे साधक में मात्र कई का ही प्रकाश होता है। इनमें मुक्ति के विषय में भक्ति प्रधान है, अन्यत्र आनुषंगिक। मन्त्र-सिद्धि भोग-विषय में प्रधान है, अन्यत्र आनुषंगिक। दूसरे दो लक्षण दोनों में समान होते हैं।

[नौ]

मन्दतीव्र शक्तिपात के प्रभाव से सद्गुरु-लाभ की इच्छा उत्पन्न होती है। उस समय असद्गुरु के निकट जाने की इच्छा नहीं रह जाती। शक्तिपात होने के बाद

ज्ञान है। महोपनिषद् (अध्याय २) में है कि शुकदेव ने जन्मकाल में ही यह महाज्ञान प्राप्त किया था। यह उनके विवेक से स्वतः स्फुरित हुआ था :

जातमात्रेण मुनिराट् यत् सत्यं तदवाप्तवान्।
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः ॥
प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान् ॥

इस ज्ञान के प्रभाव से उन्होंने गुरु के उपदेश के विना ही परमार्थ-तत्त्व का अनुभव किया था और उनकी भोग-वासना निवृत्त हो गई थी। परन्तु उस ज्ञान के दृढ़ नहीं होने से उनके मन में शान्ति नहीं थी। अपने ज्ञान पर उन्हें विश्वास नहीं था। इसीलिए अपने पिता व्यासदेव के आदेश से वह विदेहराज जनक के पास जाने का विवश हुए थे।

किसी में मन्द प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होता है—उस समय यह जानने की इच्छा होती है कि तत्त्व क्या है और उसका अपरोक्ष ज्ञान किसे है। इसके बाद सद्‌गुरु को पाने की इच्छा होती है और यथासमय उसकी प्राप्ति होती है। पर किसी-किसी को ऐसा भी होता है कि शक्तिपात के बाद जागतिक उपदेष्टा या व्यावहारिक गुरु से परिचय हो जाता है। उसके बाद कुछ दिनों तक उनकी शुभ संगति से ऊपर की जिज्ञासा जगती है।

सद्‌गुरु दो प्रकार के हैं—सांसिद्धिक और संस्कृत। सांसिद्धिक गुरु में स्वयं ही—अपने-आप—ज्ञान का उदय होता है। यह शक्तिपात की मात्रा के अनुसार क्रम-शून्यता या क्रमवत्ता-निवन्धन सर्वगामी या आंशिक, हो सकते हैं।

जो गुरु अन्य गुरु से ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह संस्कृत गुरु हैं। ये गुरु भी कल्पित-अकल्पित भेद से विभिन्न प्रकार के हैं। सद्‌गुरु से दीक्षा प्राप्त करके जीव शिवत्व पाता है और सभी विषयों के तत्त्वज्ञान से सम्पन्न हो जीवन्मुक्त होता है। इस अवस्था में देह आदि में आत्माभिमान नहीं रहता और विकल्प-रहित स्वात्म-बोध उत्पन्न होता है। उस स्थिति में देह के रहने न रहने का पार्थक्य नहीं रहता। रत्नमाला-आगम में है :

यस्मिन् काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम्।
तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम्॥

जीवन्मुक्त का सुख-दुःख-अनुभव प्रारब्ध कर्म के अनुसार होता है। परन्तु यह अनुभव होता है, इसलिए उसकी मुक्ति के विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता।[1]

---

१. अविद्योपासितो देहो ह्यन्यजन्मसमुद्‌भवः।
कर्मणा तेन बाध्यन्ते ज्ञानिनोऽपि कलेवरे॥

देह दूसरे जन्मों में किये हुए कर्म के प्रभाव से उत्पन्न होती है। इसलिए उस कर्म द्वारा ज्ञानी भी बाधित होता है। प्रारब्ध कर्म का शुद्ध होना आवश्यक है। ऐसा नहीं होने से अर्थात् यदि मन्त्र आदि के प्रभाव से सद्यः निर्वाण देनेवाली दीक्षा के द्वारा देह का पात हो तो मृत्यु के बाद शोधन-अवशिष्ट देहारम्भक कर्म के फल से आयु-भोग आदि तो अवश्य ही भोगना पड़ता है। भोग समाप्त हुए विना तो मोक्ष हो ही नहीं सकता। इसलिए विधान यह है कि मरण के क्षण को जाने विना प्राण-वियोजिका दीक्षा नहीं देनी चाहिए। इस प्रकार की दीक्षा देने से भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन होता है।

मध्य तीव्र और मन्द तीव्र शक्तिपात के बारे में महापुरुषों में कुछ-कुछ मतभेद देखने में आता है। उसकी आलोचना यहाँ अनावश्यक है।

तीव्र मध्य शक्तिपात के बाद जो दीक्षा होती है, उसे अपने शिवत्व की सुदृढ़ उपलब्धि नहीं होती। दीक्षा के साथ-साथ शिव-भाव होता जरूर है, पर उसका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। निर्विकल्प आत्मसाक्षात्कार का अभाव ही इसका कारण है। अवश्य देहान्त में उसका शिव-सायुज्य निश्चित है। इस दीक्षा का शास्त्रीय नाम पुत्रक-दीक्षा है।

मध्य-मध्य और मन्द मध्य शक्तिपात से भगवत्-प्राप्ति की उत्सुकता होते हुए भी भोग की आकांक्षा की निवृत्ति नहीं होने के कारण दीक्षा से उस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस दीक्षा को बहुत स्थानों में शिवधर्मी साधक-दीक्षा कहा गया है। इसके प्रभाव से इष्ट तत्त्व आदि में योजना स्थापित होती है और योग-अभ्यास आदि के कारण उस तत्त्व-सम्बन्धी सभी भोग्य को भोग करने का अधिकार पैदा होता है। मध्य-मध्य शक्तिपात में भोग वर्त्तमान देह में रहते हुए ही होता है और भोग की समाप्ति के बाद देहान्त में शिवत्व प्राप्त होता है। परन्तु, मन्द मध्य शक्तिपात में वह भोग वर्त्तमान देह में न होकर देहान्तर में होता है। उसके बाद शिवत्व मिलता है।

तीव्र मध्य, मध्य मन्द और मन्द-मन्द—ये तीन प्रकार के शक्तिपात भोग की आकांक्षा जब प्रधान होती है, तब होते हैं। शक्तिपात के इन मन्द अधिकारियों के चित्त में शिवत्व-लाभ की उत्सुकता अधिक नहीं रहती। इनमें एक के बाद दूसरे भोग की लालसा अधिक होती है। ऐसे में लोकधर्मी दीक्षा आवश्यक होती है। तीव्र मन्द शक्तिपात होने से साधक अभीष्ट भुवन में अणिमादि ऐश्वर्य का भोग करते-करते ऊर्ध्वगति लाभ करता है। उसके बाद पहले परमेश्वर के स-कल रूप और फिर निष्कल रूप में मिल जाता है। परन्तु शक्तिपात और भी कम होने से अर्थात् मन्द-मन्द मात्रा में होने से किसी भुवन में कुछ समय तक भोग्य पदार्थ का उपभोग करके उस भुवन के अधिष्ठाता से दीक्षा ग्रहण करके शिवत्व को पाता है। किन्तु मन्द-मन्द शक्तिपात में उस भुवन में सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य प्राप्त करके दीर्घकाल तक भोग का आस्वादन करते-करते उस भुवन के नायक भुवनेश्वर से दीक्षा ग्रहण करके अन्त में शिवत्व पाता है।

[दस]

अबतक जो कुछ कहा गया, उससे यह समझ में आता है कि शक्तिपात या श्रीभगवान् की कृपा के बिना कोई जीव पूर्णत्व नहीं प्राप्त कर सकता। इतना ही

नहीं, पूर्णत्व के पथ पर प्रवेश भी नहीं कर सकता। शक्तिपात का तारतम्य जीव के आधरा या धारण-शक्तिगत तारतम्य से होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि जीव कितना भी निम्नाधिकारी या भोग की आकांक्षा से युक्त क्यों न हो, कभी-न-कभी परमपद अवश्य ही पायेगा। भोगाकांक्षा आदि अन्तराय रहने से उसकी गति में विलम्ब होता है, नहीं तो शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्ति हो सकती है। यहाँ तक कि एक ही क्षण में भी हो सकती है (जैसे तीव्र-तीव्र की तीव्र मात्रा से)। शक्तिपात के समय योग्यता का विचार नहीं होता, परन्तु स्वभावत: योग्यता की मात्रा के अनुसार ही शक्तिपात की मात्रा निश्चित होती है। पर, मात्रा चाहे जो भी हो, भगवत्-शक्ति की ऐसी महिमा है कि एक वार वह हो तो जीव को भगवद्-धाम में पहुँचाये विना शान्त नहीं होती, इसमें कोई सन्देह नहीं।

दीक्षा-रहस्य

दीक्षा और गुरु के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिभंगी

जिस शक्तिपात की चर्चा की गई, उसको लक्ष्य करके श्रीगुरु दीक्षा देते हैं। यहाँ उसी दीक्षा के रहस्य को भेद करने की चेष्टा की जा रही है।

आज जो लोग अध्यात्म-तत्त्व का अनुशीलन करते हैं, उनमें भी सबको दीक्षा और गुरुतत्त्व की स्पष्ट धारणा है, ऐसा नहीं लगता। किसी के मत से दीक्षा या गुरु की कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु, किन्हीं-किन्हीं का खयाल है, साधन-राज्य में दीक्षा और राह दिखानेवाले गुरु की आवश्यकता अवश्य ही है। दीक्षा और गुरुतत्त्व के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा रहने से ऐसे भिन्न-भिन्न मतों के समन्वय की प्रणाली जानी जा सकती है। जो दीक्षा की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते, वे अवश्य बाहरी अनुष्ठानात्मक दीक्षा को देखकर ही अपनी राय देते हैं। उन्हें यह पता नहीं है कि इन्द्रियगोचर बाहरी व्यापार के सिवाय भी दीक्षा-कार्य सम्पन्न हो सकता है। अवश्य किसी-किसी अवस्था में स्थूल प्रक्रिया भी अनिवार्य हो उठती है, यह मानना पड़ेगा।

इस प्रकार, 'गुरु' शब्द का वास्तविक तात्पर्य स्पष्ट रूप से मालूम नहीं रहने के कारण गुरु के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के विकल्पों का उदय होता है। अधिकार के अनुसार बाह्य गुरु की आवश्यकता होती है। पर, किसी-किसी अवस्था में बाह्य गुरु का सहारा लिये बिना भी इष्ट-सिद्धि हो सकती है। बाह्य गुरु से तात्पर्य है मानव-गुरु, सिद्ध गुरु अथवा दिव्य गुरु—इन तीन प्रकार की गुरु-पंक्ति के अन्तर्गत कोई महापुरुष। साधना की लौकिक प्रणाली में साधारणतया मनुष्य को ही बाह्य रूप में ग्रहण किया जाता है। कोई-कोई समझते हैं, भगवान् से जीव का विश्वास और भक्तिमूलक साक्षात् सम्बन्ध है—इस विषय में कोई मध्यस्थ नहीं हो सकता। भगवान् सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-सम्पन्न और दयालु हैं। उनसे साक्षात् रूप में मिलने का कोई प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। सरल हृदय से पुकारने पर जीव अवश्य ही उन्हें पा सकता है, कम-से-कम पाने के निश्चित रास्ते पर कदम रख सकता है। इस तरह अनेक विकल्प हैं। एक-एक करके इनके समाधान की चेष्टा न करके दीक्षा और गुरुतत्त्व के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्त की संक्षेप में चर्चा करना ही उचित प्रतीत होता है। इसी से इस निगूढ रहस्य के उन्मोचन में सहायता मिलेगी।

दीक्षा का स्वरूप

दीक्षा वास्तव में आत्म-संस्कार का ही दूसरा नाम है। आणव, मायीय और कार्म मल अथवा पाश से संसारी आत्मा आच्छन्न रहती है। इनके प्रभाव से उसका स्वाभाविक पूर्णत्व प्रस्फुटित नहीं हो सकता। वास्तव में पूर्ण और शिव-स्वरूप होते हुए भी आत्मा आणव मल के आवरण के कारण स्वरूपगत संकोचन-निवन्धन अपने को अपूर्ण समझती है। अपरिच्छिन्न होते हुए भी वह अपने को सब प्रकार से परिच्छिन्न-सी अनुभव करती है।[1] यह परिच्छिन्नता या आणव भाव प्राप्त करने के बाद उसमें शुभ-अशुभ वासना का उद्‌भव होता है। इन कारणों के विपाक से जन्म (देह-सम्वन्ध), आयुः (देह का स्थितिकाल) और भोग (सुख-दुःख का अनुभव) अनिवार्य होता है। इसी का नाम कार्म फल है। यह कर्म से उत्पन्न कंचुक-रूप आवरण है—कला, विद्या, राग, काल और नियति एवं इनकी समष्टिभूत माया। पुर्यष्टक और स्थूल भूतमय विभिन्न जातीय कारण, सूक्ष्म और स्थूल देह—इन देहों का आश्रयकृत विचित्र भुवन और नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों के अनुभव के कारण मायीय मलरूप में प्रसिद्ध है।[2] वद्ध आत्मा में ये तीन प्रकार के आवरण सदा रहते हैं। दीक्षा के द्वारा मलिन आत्मा का संस्कार होता है। मल की निवृत्ति तो होती ही है, निवृत्ति का संस्कार तक शान्त हो जाता है।

"दीयते ज्ञान सद्‌भावः, क्षीयते पशुभावना।
दानक्षपण संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्त्तिता॥"

---

१. इसी का पारिभाषिक नाम 'अभिलाष' है। भ्रमवश इसे बहुत लोग राग-तत्त्व सोच सकते हैं। पर वास्तव में यह राग नहीं है। राग से तात्पर्य है विषयासक्ति, जो 'मैं कुछ चाहता हूँ' ऐसी भाषा में अभिव्यक्त होता है। इस राग-सम्बन्ध से ही पुरुष भोक्ता-रूप में परिणत होता है। परन्तु अभिलाष कहने से ऐसा कोई भाव नहीं निकलता। यह केवल अपूर्णता का बोध-मात्र है और यही अन्य मलों का भित्ति-स्वरूप है।

२. स्वरूप में शरीर, भुवन, भाव, भूत, जो कुछ भी प्रतिभात होता है, सभी मायीय मल के अन्तर्गत है। अपने स्वरूप से भिन्न रूप में किसी पदार्थ के भान को माया का रूप समझना होगा। कला से पंचमहाभूत तक सारे तत्त्व ही देह-स्थित मायीय पाश हैं, ऐसा मानना होगा। यह पाश शरीर, इन्द्रिय, भुवन, भाव आदि भोग-सम्पादन के लिए आकार प्रदान करता है। कला से पृथ्वी तक ही संसार है।

अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशु-वासना का क्षय होता है, इस प्रकार के दान और क्षपण-युक्त क्रिया का नाम दीक्षा है। यही दीक्षा का स्वरूप है। शक्तिपात के तीव्रता आदि भेद और शिष्य के अधिकार-वैचित्र्य के अनुसार दीक्षा नाना प्रकार की होती है। शक्तिपात का स्वरूप, लक्षण, प्रकार-भेद और चित्त आदि का विवरण शक्तिपात-रहस्य के प्रसंग में पहले आलोचित हो चुका है। पाश के प्रशमन और शिवत्व की अभिव्यक्ति की योग्यता दीक्षा से आती है। भुना हुआ बीज जैसे अंकुरित नहीं होता, वैसे ही मन्त्र की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से प्रभावित पाशों के भी फिर से प्ररोह की सम्भावना नहीं रहती।

जीवों के मोक्षदाता ईश्वर हैं। पाशों का विच्छेद और सभी विषयों की ज्ञान-क्रिया का उद्भव अर्थात् सर्वज्ञत्व और कर्त्तृत्व का स्फुरण—यही मोक्ष का स्वरूप है। अपनी क्रियाशक्ति-रूप दीक्षा के द्वारा परमेश्वर पशु-आत्मा को मुक्त करते हैं। किसी एक या दो पाश के विच्छेद को मोक्ष नहीं कहते। मोक्ष-अवस्था में अज्ञता, अकर्त्तृत्व आदि नहीं रह सकते। ईश्वर की प्रेरणा के विना पशु-आत्मा स्वयं कुछ नहीं कर सकती। इसलिए, उसकी अपनी क्रिया, ज्ञान आदि उपायों से मोक्ष मिलना सम्भव नहीं। प्रकृति आदि पाश के ही अन्तर्गत हैं। इन पदार्थों से भी मोक्ष का उदय हो सकता है—ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। एकमात्र परमेश्वर ही जीव को मुक्ति दे सकते हैं। क्योंकि, और किसी को भी पूर्ण स्वातन्त्र्य नहीं है।

एक बात और है। सिद्धान्त में मोक्ष मोचनीय जीव की अवस्था-विशेष का नाम है। यह मोचनकारी वस्तु की अवस्था-विशेष नहीं है। क्योंकि, इस मत से मोचनकारी वस्तु एकमात्र परमेश्वर है। परमेश्वर चूँकि नित्यमुक्त हैं, इसलिए उनमें कभी भी किसी विशेष धर्म का आधान नहीं हो सकता। किन्हीं-किन्हीं आचार्य का खयाल है कि अज्ञान-रूप मल से आच्छन्न पुरुष ही भ्रमवश संसार में भ्रमण कर रहा है और वह स्वयं ही अपनी विरुद्ध-भावना के अभ्यास के बल से विवेक और ज्ञान प्राप्त होने से अज्ञान की निवृत्ति करके सर्वज्ञत्व आदि स्वरूप धर्म प्राप्त करता है। ईश्वर अधिष्ठाता-मात्र है। इस मत से मोक्ष का कर्त्तृत्व पुरुष का है। पर अधिकांश आचार्य इस मत का समर्थन नहीं करते। वे कहते हैं, धर्म-अधर्म पुरुष में हैं, यह पूर्णतः सत्य है; क्योंकि कला आदि के द्वारा कुछ परिमाण में आत्मा का मल हटने से उसके सम्बन्ध से पुरुष की ज्ञानक्रिया कुछ विकसित होती है। परन्तु यह विकास कभी भी इतने अधिक परिमाण में नहीं हो सकता कि उसके द्वारा सर्वज्ञत्व आदि ऐश्वर्य गुण का स्फुरण हो सके। इसलिए कला आदि के द्वारा पूर्णमान निवृत्ति असम्भव होने के कारण पुरुष के कर्त्तृत्व आदि धर्म अविच्छिन्न ही रह जाते हैं।

कोई-कोई आचार्य पाश के निवर्त्तन स्वभाव को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि पाश अपने स्वभाव से ही निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु, यह ठीक नहीं लगता; क्योंकि जीव अथवा पाश में अपनी प्रवृत्ति या निवृत्ति की कोई क्षमता नहीं होती। ईश्वर की प्रेरणा सर्वत्र आवश्यक है। इसलिए यही स्वीकार करना उचित है कि मोक्ष का कर्त्तृत्व ईश्वर का ही है। यह वेशक सत्य है कि संसार-दशा में कार्य और कारण-रूपी पाश-समूह नाना प्रकार से आत्मा में ज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति करता है, पर साथ ही यह भी सत्य है कि मोक्ष के विषय में पाश का स्वयं कर्त्तृत्व नहीं रह सकता। मोक्ष अपरिच्छिन्न ज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति है। जिस व्यंजक में जैसी व्यंजनाशक्ति प्रतीत होती है, उसे अन्यत्र अज्ञात विषय में भी वैसी ही व्यंजना-शक्ति-युक्त ही स्वीकार करना उचित है। अतएव, कार्य और करण-रूप में प्रतीयमान अचेतन पाश में ईश्वर की प्रेरणा एवं स्वतः सिद्ध व्यंजनाशक्ति के मौजूद होते हुए भी देहादि में आत्मवोध रहने के कारण वह जैसे ज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति करेगी, वह अपने आवरणात्मक आकार से सम्वद्ध स्त्री आदि विषय में अनुरागयुक्त, किसी समय, कहीं और किसी विषय में राग-द्वेष आदि विरुद्ध-भाव के द्वारा द्वन्द्वयुक्त एवं शरीर आदि के नाश के साथ नाशशील है। पूर्ण ज्ञान-क्रिया का नाम मोक्ष है। इसीलिए, वह पाश के द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता। दीप घर को उजाला करता है, इसीलिए वह ब्रह्माण्ड को भी प्रकाशित करेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सिद्ध पुरुष की ज्ञान-क्रियाशक्ति परमेश्वर की शक्ति की नाईं सभी पाशों को नष्ट करती है। पशुओं की नाईं वह पाश द्वारा अभिव्यक्त नहीं होती। और, शरीर आदि में आत्मवोध और अनुराग आदि युक्त भी नहीं।

द्वैत आगम-मत

द्वैतमत से आणव मल अज्ञान नहीं है। पर, अज्ञान का हेतुभूत द्रव्य-विशेष है। यही आत्मा के अनादि आवरण का कारण है। जैसे, आँखों में छाला पड़ता है, आणव मल भी वैसा ही है। द्रव्य होने के कारण यह ज्ञान से नष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान इसका विरोधी नहीं है। यह दीक्षा-रूप क्रिया से ही निवृत्त होता है। इस मत से अज्ञान दो प्रकार का है :

(क) पहला अज्ञान है बुद्धिगत अविवेक। पहले सादृश्य का अनुभव रहने से ही इस प्रकार का अज्ञान उत्पन्न हो सकता है, नहीं रहने से नहीं—रस्सी में साँप का भ्रम इसका उदाहरण है। इस तरह का अज्ञान विवेक-ज्ञान के द्वारा दूर हो सकता है। "यह साँप नहीं है, यह रस्सी है" ऐसा ज्ञान ही विवेक-ज्ञान का स्वरूप है।

(ख) दूसरा अज्ञान विकल्पज्ञान है। इस प्रकार का अज्ञान काच, कामल आदि द्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। द्विचन्द्रज्ञान, पीत शंख-ज्ञान आदि इसके

उदाहरण हैं। इसकी निवृत्ति ज्ञान से नहीं होती; क्योंकि स्वरूप-द्रव्य की निवृत्ति नहीं होने तक इस प्रकार के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती।

द्वैत आगम के अनुसार आत्मा का अज्ञान विकल्पात्मक है, यह द्रव्य-विशेष से उत्पन्न होता है। यह मात्र बुद्धिगत अविवेक नहीं है। इस द्रव्य का नाम मल है। इसका विशेष विवरण आगमशास्त्र में विभिन्न स्थानों में देखने को मिलता है। द्वैत आगम का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर दीक्षा-व्यापार द्वारा इस मलरूप आवरण को दूर करते हैं। इसीलिए मोक्ष के कर्त्ता आत्मा नहीं, ईश्वर हैं। "**दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि**" अर्थात् दीक्षा ही मुक्त करती है और ऊपर की ओर यानी शिवधाम की ओर संचालन करती है।

ज्ञान और क्रिया मूलतः अभिन्न हैं। वास्तव में भगवान् की शक्ति एक और अखण्डित है। यह अभिन्न ज्ञान क्रियात्मक है, अर्थात् एक ही साथ ज्ञान और क्रिया दोनों है और दोनों में कोई भेद नहीं। अगर ज्ञान से क्रिया भिन्न होती, तो जैसे ईश्वर से माया का समवाय-सम्वन्ध स्वीकार नहीं किया जाता, ठीक वैसे ही इससे भी सम्बन्ध स्वीकार करना सम्भव नहीं होता। उसके फलस्वरूप क्रियाशक्ति के अभाव में ईश्वर को अकर्त्ता मानना पड़ता। इस प्रकार कर्त्ता के नहीं होने के कारण विश्व-रचना का किसी प्रकार न्यायसंगत उपपादन नहीं होता। सच तो यह है कि ज्ञान और क्रिया का भेद कल्पित है। क्रियाशक्ति प्रयत्न रूप में एक होते हुए भी व्यापार की भिन्नता के कारण वामा, ज्येष्ठा और रौद्री—तीन प्रकार की मानी जाती है। जगत् की स्थिति एवं संरक्षणात्मक व्यापार-रोध एवं आवरण-स्वरूप है, इसलिए यह वामाशक्ति का कार्य है, संहार ज्येष्ठाशक्ति का और पाशक्षय अथवा अनुग्रह रौद्री नाम की क्रियाशक्ति का।

अनुग्रह की प्रवृत्ति कैसे होती है, यही मुख्य प्रश्न है। सिद्धान्त यह है कि मल अथवा वामाशक्ति का आवरणात्मक अधिकार जब समाप्त होता है और अनुग्रह की प्रवृत्ति होती है, तो आत्मा में एक अनिर्वचनीय भाव का उदय होता है—आत्मा उस समय कैवल्य-अभिमुखी हो जाती है। इसलिए सूक्ष्म स्वायम्भुवतन्त्र में है—"**क्षीणे तस्मिन् यियासा स्यात् परं निःश्रेयसं प्रति**" इस भाव के उदय होते ही परमेश्वर पशु-आत्मा के ज्ञानगत और क्रियागत आवरण को छिन्न कर देते हैं। वह सदा जगत् के उद्धार के कार्य में प्रवण रहते हैं। इसलिए, आत्मा की शुभ इच्छा के उदय के साथ-ही-साथ उनकी कृपा कार्यकरी होने लगती है। वास्तव में, पशु-आत्मा में भी ज्ञान और क्रिया अनन्त है, पर अनन्त होते हुए भी वह मल से आच्छन्न रहती है। मल के परिष्कार हो जाने से वह आच्छादन हट जाता है और साथ-ही-साथ ज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति होती हैं। यह अद्वैत आगम का मत है।

अद्वैतवादी तन्त्रमत से अज्ञान और ज्ञान दोनों ही दो प्रकार के हैं---पौरुष और बौद्ध। पौरुष-ज्ञान में किसी प्रकार का विकल्प नहीं रहता। कृत्रिम अहंकार आदि विकल्प उसमें रह नहीं सकते, वह पूर्णाहंतामय बोधस्वरूप है। जबतक परमेश्वर से पूर्णतया तादात्म्य नहीं होता, तबतक उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। इस तादात्म्य से पहले सारे बन्धनों का निवृत्त होना जरूरी है। पौरुष अज्ञान-रूपी आणव मल है और कार्म तथा मायीय मल के क्षीण नहीं होने तक बन्धन दूर नहीं हो सकता। दीक्षा के प्रभाव से पौरुष-अज्ञान अथवा आणव मल निवृत्त तो होता है, परन्तु वर्त्तमान देह के कार्म मल के होने के कारण पौरुष-ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। इसी मल का दूसरा नाम प्रारब्ध कर्म है। इसके कट जाने से देहपात हो जाता है। उस समय आत्म-साक्षात्कार के रूप में पौरुष-ज्ञान उदित होता है। तब जीव शिवरूप में प्रतिष्ठित होता है।

शक्तिपात की तीव्रता के अनुसार दीक्षा का क्रम अलग-अलग होता है। शक्तिपात जब बहुत तीव्र होता है, तब जो दीक्षा होती है, वह अनुपाय क्रम की दीक्षा है। उसमें शाम्भव, शाक्त और आणव उपाय का सम्बन्ध नहीं रहता। इस अनुपाय दीक्षा के प्रभाव से एक ही क्षण में पूर्णत्व-प्राप्ति हो सकती है। यह अत्यधिक मात्रा में शक्तिपात का फल है। जब शक्तिपात अपेक्षाकृत कम मात्रा में होता है, तो क्रमशः शाम्भवी दीक्षा, शाक्ती दीक्षा, और आणवी दीक्षा की सम्भावना रहती है। दीक्षा के बिना मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है, यह सत्य है, परन्तु इससे कोई यह न समझ लें कि सर्वत्र ही बाह्य क्रिया आवश्यक है। आत्म-संस्कार-रूप आन्तर दीक्षा का प्रयोजन सर्वत्र है। परन्तु, बाह्य क्रिया की आवश्यकता सर्वत्र स्वीकृत नहीं। अद्वैत आगमशास्त्र से जो बौद्ध ज्ञान उदित होता है, उसके प्रभाव से बौद्ध अज्ञान तथा उसका कार्य नष्ट हो जाता है---इससे जीवन्मुक्ति मिलती है। दीक्षा आदि से बौद्ध अज्ञान दूर नहीं हो सकता। इसीलिए, दीक्षा हो जाने पर भी विकल्प का उदय होना असम्भव नहीं है। बौद्ध ज्ञान के उदय से सब विकल्पों का उन्मूलन होता है और तुरत मुक्ति मिलती है। परन्तु, जिस चित्त में विकल्प रह जाता है, देह रहते तक उसकी मुक्ति नहीं होती। देह के कट जाने पर उसे शिवत्व मिलता है। विकल्पशून्य की जो सद्योमुक्ति है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। विकल्प दूर हो जाने पर देह के रहने पर भी मुक्ति में कोई बाधा नहीं रहती। इसलिए दीक्षा की प्राप्ति से आरम्भ करके पूर्णत्व-लाभ तक अवस्थाओं का क्रम इस प्रकार दिखाया जा सकता है :

१. दीक्षा।

२. पौरुष-अज्ञान का ध्वंस।

३. अद्वय आगमशास्त्र के श्रवण की अधिकार-प्राप्ति, उसके बाद श्रवण आदि साधन।
४. बौद्ध ज्ञान का उदय।
५. बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति।
६. जीवन्मुक्ति।
७. भोगादि द्वारा प्रारब्ध-नाश।
८. देहत्याग के बाद पौरुष-ज्ञान का उदय।
९. पूर्णत्व अथवा परमेश्वर की प्राप्ति।

भगवान् का जीव-उद्धार-क्रम

श्रीभगवान् ही गुरु हैं। वही जीवों के उद्धारकर्त्ता हैं। वही जीवों को माया के पंक से उद्धार करके परम पद पर स्थापित करने में समर्थ हैं। यह सामर्थ्य और किसी में नहीं। इसीलिए, सर्वत्र उन्हीं का गुरु-रूप में वर्णन किया जाता है।[1] योगभाष्य में लिखा है—"तस्य आत्मानुग्रहाभावेहपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्प-प्रलय महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषान् उद्धरिष्यामीति"—अर्थात् उन्हें अपना कोई प्रयोजन नहीं रहते हुए भी कल्प-प्रलय में एवं महाप्रलय में ज्ञान तथा धर्म के उपदेश से संसारी जीवमात्र का उद्धार करना ही उनका एकमात्र प्रयोजन है। यही उनकी कृपा है। अनुग्रह के योग्य होने से ही जीव उनका अनुग्रह पाता है, यह सत्य है। इस विषय में कोई कालनियम नहीं।

काल के भेद के अनुसार जीव-उद्धार की प्रणाली में वैचित्र्य आता है। प्रलय काल में सारे कार्यवर्ग परम कारण में लीन हो जाते हैं। उस समय जीव के देह, इन्द्रिय आदि कुछ भी नहीं रहता, परन्तु उस समय भी जरूरत के मुताबिक मलपाक होने से अनुग्रह की प्राप्ति में किसी को विघ्न नहीं होता। सृष्टि के समय भी ऐसा ही होता है। किन्तु इन दो समयों में किसी-किसी अंश में फर्क रहता है। जिन जीवों के कर्म का क्षय नहीं हुआ होता है, वे प्रलयाकल अणु के रूप में प्रलय के समय माया के गर्भ में लीन होते हैं और जिनके सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं, वे माया को पार करके विज्ञानाकल अणु-रूप में माया और महामाया की ओट में मौजूद रहते हैं। प्रलय के

---

१. पातञ्जल योगसूत्र में ईश्वर का पूर्व गुरुवर्ग के भी गुरुरूप में उल्लेख किया गया है। सृष्टि के आदिगुरु प्रत्येक सृष्टि में अलग-अलग होते हैं। इन्हीं को सिद्ध पुरुष और कार्येश्वर कहा जाता है। पर परमेश्वर काल से अवच्छिन्न नहीं तथा नित्यसिद्ध हैं। वह कार्येश्वर-वर्ग के भी ईश्वर स्वरूप हैं। वह अनादि गुरुतत्त्व हैं।

समय जो अनुग्रह या दीक्षा होती है, उसके प्रभाव से जीव साक्षात् शिवत्व पाता है। उस समय अशुद्ध सृष्टि नहीं रहती, इसलिए उसपर अधिकार की उपयोगिता नहीं रहती। मतलब कि जगत्-व्यापार उस समय नहीं रहता। शास्त्र में इसको निरधिकार मुक्ति कहते हैं। आधिकारिक पद-प्राप्ति प्रलयकालीन अनुग्रह से नहीं होती, पर सृष्टि और संहारकाल में निरधिकार मुक्ति भी हो सकती है और मलपाक के विलक्षणतावश ऐश्वर्य अथवा साधिकार मुक्ति भी हो सकती है।[1] इनमें से जो संहार-काल में साधिकार अनुग्रह प्राप्त करते हैं, वे रुद्राणु अवस्था प्राप्त करते हैं। ये आत्माएँ आगामी सृष्टि में सृष्टि का अधिकार पाती हैं। जो सृष्टि के समय सर्वज्ञान क्रिया का अभिव्यक्ति-रूप अनुग्रह प्राप्त करते हैं, उसके फलस्वरूप वे आधिकारिक पद पाते हैं। ये परमन्त्रेश्वर, मन्त्र और अपर मन्त्रेश्वर-पद पर प्रतिष्ठित होते हैं।[2] ये मन्त्रेश्वर मायिक जगत् में विभिन्न विभाग में शासक और व्यवस्थापक नियुक्त होते हैं। जो परमन्त्रेश्वर होते हैं, वे मायातीत महामाया-राज्य में ईश्वर-तत्त्व पर आश्रय करके अपने-अपने भुवन में विराजते हैं। परमन्त्रेश्वर कुल आठ हैं—इनमें अनन्त ही प्रधान है। इनमें से प्रत्येक की देह, भोग्य विषय और भुवन—विशुद्ध वैन्दव उपादान की बनी होती है। इनमें से कोई भी माया के स्पर्श से कलंकित नहीं। इसके बाद यानी

---

१. सृष्टि और संहार-काल में भी शिवत्व पाने की सम्भावना रहती है, परन्तु बहुत कम। इसका कारण यह है कि मलपाक और परमेश्वर का अनुग्रह—इनमें से कोई काल द्वारा नियन्त्रित नहीं है।

२. प्रलयाकल जीव परमेश्वर का साधिकार अनुग्रह प्राप्त कर लेने पर 'माया-गर्भाधिकारी' के नाम से परिचित होता है। यही अपरमन्त्रेश्वर का पद है। इन जीवों का सम्यक् रूप से कर्मक्षय होता है, इसलिए माया और पुरुष का ज्ञान नहीं रहता। इसीलिए ये प्रलयकाल में मायागर्भ में लीन रहते हैं और अभिनव सृष्टि में जग उठने के बाद पहले की तरह मायिक देह पा लेते हैं। परन्तु स्मरण रखना होगा कि इन्होंने परमेश्वर का साधिकार अनुग्रह प्राप्त किया है, इसलिए इन्हें वैन्दव देह भी मिलती है। विज्ञानाकल जीव साधिकार अनुग्रहवश मलपाक के तारतम्य के अनुसार परमेश्वर या मन्त्रपद पर प्रतिष्ठित होते हैं। इनके मायिक देह नहीं रहती, सिर्फ वैन्दव देह होती है। अनुग्रह पाने के पहले ये माया-पुरुष थे, विवेकज्ञानवश विज्ञान कैवल्य-अवस्था में माया के ऊपर मौजूद थे। इसलिए विन्दु के क्षुब्ध होने से विशुद्ध अध्वा की सृष्टि के समय सबसे पहले यही विशुद्ध देह और भुवन आदि प्राप्त करते हैं।

मन्त्रेश्वर-पद की प्रतिष्ठा के बाद परमेश्वर सात करोड़ विज्ञानाकल अणु को सर्वज्ञत्व आदि शक्ति की अभिव्यंजना द्वारा अनुग्रह करके मन्त्र-पद पर स्थापित करते हैं। अपर मन्त्रेश्वर मायागर्भ के अधिकारी हैं। इनकी देह एक ही साथ मायिक एवं वैन्दव—दोनों होती है। इनके अपने-अपने भुवन, देह, भोग्य विषय आदि उन सारे विभिन्न तत्त्वों को आश्रय करके विद्यमान हैं।

यह जो सृष्टि, संहार और प्रलयकाल में भगवान् के अनुग्रह की बात कही गई, इसे साक्षात् भगवान् का अनुग्रह ही समझना होगा। किसी पुरुष की देह में अधिष्ठित होकर यह अनुग्रह प्रवृत्त नहीं होता। संहारकाल और प्रलयकाल में पार्थक्य है। जब कार्य कारण में लीन रहता है, तो इस समय को अर्थात् जबतक कार्य कारण में सम्पूर्णतया लीन नहीं होता, उस समय को संहारकाल कहते हैं। कार्य के लीन होने पर नवीन सृष्टि के आरम्भ तक जो समय है, उसका नाम है प्रलयकाल। तान्त्रिक परिभाषा में इस साक्षात् अनुग्रह को निरधिकरण अनुग्रह कहते हैं। परन्तु स्थितिकाल में परमेश्वर साधारणत: आचार्य अथवा गुरु की देह को साक्षात् या परम्परा-क्रम से आश्रय करके देह-इन्द्रिय आदि कलाविशिष्ट स-कल जीव पर अनुग्रह करते हैं। जो जीव निरन्तर उनका चिन्तन करते-करते शुद्ध चिद्भावप्राप्त है, इस प्रकार का अनुग्रह उन्हीं पर होता है। परन्तु, यह याद रखना होगा, मलपाक पूर्णतया सम्पन्न हुआ हो तो स्थितिकाल में भी कभी-कभी किसी विरल जीवात्मा पर निरधिकरण अनुग्रह होता है। साधिकरण अनुग्रह के प्रभाव से शिवत्व मिल सकता है अथवा किसी आधिकारिक पद की प्राप्ति भी हो सकती है। इन सारे विभिन्न पदों की प्राप्ति शक्तिपात की तीव्रता आदि वैचित्र्य से होती है। ये पद स्थूल दृष्टि से चार श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं :

(क) पञ्चाष्टक आदि रुद्रों के पद (रुद्रपद)।

(ख) शतकोटि मन्त्र का पद (मन्त्रपद)।

(ग) अपर मन्त्रेश्वर-वर्ग का पद (पतिपद)।

यह 'पतिपद' अनन्त आदि के पद से भिन्न है। स्मरण रखना होगा कि यह अनन्तादि पद पाने के बाद माया और कर्म के अभाव से अधोगति या पतन नहीं हो सकता। रौद्रागम में है :

भुक्त्वा भोगान् सुचिरममरस्त्री निकायैरुपेता:।
स्रस्तोत्कण्ठा: शिवपदपरैश्वर्यभाजो भवन्ति ।।

अर्थात् ये अनन्तादि पद जो पाते हैं, वे दीर्घकाल देवांगनाओं के साथ सारे भोगों का उपभोग करके शून्य होने के बाद शिवपद पर स्थित होकर परम ऐश्वर्य पाते हैं।

(घ) ईश्वर (अनन्त), सदाशिव और शान्तस्वरूप ईशान का पद (ईशानपद)। इन पदों की प्राप्ति को सालोक्य आदि पदों की प्राप्ति के रूप में जानना होगा।

तान्त्रिकगण कहते हैं कि आगम-प्रतिपादित ज्ञान और योग को छोड़कर जो लोग दूसरे ज्ञान और योग-मार्ग को अपनाकर सिद्धि-लाभ करते हैं, वे सत्त्वगुण के सिद्धि-निबन्धन मध्यस्थ अवस्था को पाते हैं। इनमें दो विरुद्ध कर्मों की समान-समान अभिव्यक्ति होती है। इसके फलस्वरूप उपकारी के प्रति प्रसन्नता और अपकारी के प्रति क्रोध-साम्यरूप अभिन्न वृत्ति में परिणत होता है। इस अवस्था का नाम है—'माध्यस्थ्य'। उनकी परिभाषा के अनुसार इसी का नाम जीवन्मुक्ति है।[1]

साधिकार मुक्ति और उसका प्रकार-भेद

तन्त्र-प्रतिपादित साधिकार मुक्ति नाना प्रकार की है। इन साधिकार मुक्ति में दीक्षा आदि उपाय का वैचित्र्य है। और तत्त्वपद पाने के लिए प्रीति, श्रद्धा आदि का तारतम्य है। अतएव उपाय और आदर की विलक्षणता से योग्यता के तीन प्रकार होने के नाते उत्कृष्ट, मध्यम और निकृष्ट—इन तीन प्रकार के साधिकार पद प्राप्त होते हैं। इन तीन पदों के नाम हैं—मन्त्र महेश्वर, मन्त्रेश्वर और मायिक अधिकारी। इनमें से दूसरे और तीसरे पद में आशंका पूरी तरह दूर नहीं होती। इसलिए, ये पद चरम अवस्था अथवा परासिद्धि के द्योतक नहीं हैं। इसलिए, इन पदों में आत्मा निश्चिन्त होकर विश्राम नहीं कर सकती। इसके सिवा इस अवस्था में अपने पद से स्खलित होकर पतन की भी सम्भावना रह सकती है। अपने-अपने भुवन का पाना मोक्ष नहीं है, मोक्ष का आभास-मात्र है। यह अवस्था महाप्रलय तक ही रह सकती है। नई सृष्टि के आरम्भ में भुक्तावशिष्ट कर्म के प्रभाव से अधोगति की आशंका रहती है; क्योंकि कर्मफल-भोग माया के अन्तर्भुक्त संसार-मण्डल में ही हो सकता है। मल के परिपक्व होने से जब दीक्षा मिलती है तो मुक्त होने के मार्ग पर अधिकार प्राप्त होता है। दीक्षा के द्वारा बद्ध जीव को मुक्त करने के लिए प्रत्येक भुवन में योग्यता-सम्पन्न सद्गुरु विद्यमान रहते हैं। इसीलिए स्वायम्भुव आगम में कहा गया है—'भुवने भुवने गुरुवः प्रतिवसन्ति।' इन पदों में महेश्वर पद श्रेष्ठ है।

---

१. न हृष्यत्युपकारेण नापकारेण कुप्यति।
यः समः सर्वभूतेषु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

अर्थात् जो उपकार से प्रसन्न नहीं होते, अपकार से भी कुपित नहीं होते और सब प्राणियों पर समदृष्टि रखते हैं, उन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं। पर आगम-सम्मत जीवन्मुक्ति इससे भिन्न है।

इन पदों का अधिकार समाप्त होते ही अपवर्ग मिलता है। फिर तो पतन की कोई आशंका नहीं रहती।

प्रलय के समय जीव के उद्धार के लिए भगवान् जब दीक्षा देते हैं, तो वह जीव के पूर्ववर्णित तीन प्रकार की योग्यता पर ध्यान नहीं देते। ये योग्यताएँ अधिकार से संश्लिष्ट होती हैं। प्रलयकाल में अधिकार का कोई उपयोग नहीं रहता, इसलिए उस समय अनुग्रह के लिए अधिकार का विचार नहीं होता। किन्तु, यह सत्य है कि स्थितिकाल का जो अनुग्रह है, वह शिष्य की योग्यता पर निर्भर करता है।

परमन्त्रेश्वर और मन्त्र की मुक्ति को अपरा मुक्ति कहते हैं। यह परमेश्वर की वामा आदि तीन शक्तियों का कार्य है और भगवान् की आज्ञा के अधीन है। इसीलिए ये शक्ति-तत्त्व के नीचे रहते हैं।[१] उत्पन्न होकर ये भगवत्-प्रेरणा से अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त होते हैं। ये दोनों ही कलादि कार्य-कारणहीन और अधिकार-सम्पन्न हैं। यही कारण है कि व्यापक होने के बावजूद इन्हें माया के ऊपर स्थित माना जाता है। इनमें परमन्त्रेश्वर चूँकि मन्त्रवर्ग के प्रेरक हैं, इसलिए ऊर्ध्व स्थित हैं और उनसे प्रेरित होते हैं, इसलिए मन्त्र अधःस्थित होते हैं। इन दोनों पर अनुग्रह करने के बाद भगवान् इन मन्त्रेश्वरों में अधिष्ठित होकर माया से कला आदि तत्त्व और भुवनादि की रचना करते हैं और सकल कला द्वारा जीवों की कर्म के अनुसार योजना करते हैं। और, सबसे अन्त में परिपक्वमल जीवों को माया-गर्भाधिकारी या अपर मन्त्रेश्वर के पद पर स्थापित करते हैं। भगवान् का यह अनुग्रह परम्परा से होता है, साक्षत् रूप में नहीं।

समय-दीक्षा

दीक्षा के प्रकार-भेद के बारे में तान्त्रिकों ने विभिन्न ग्रन्थों में जो लिखा है, उसके सारांश की चर्चा से यह समझ में आता है कि विभिन्न दीक्षा में एक निर्दिष्ट क्रम है। शिष्य का योग्यतामूलक अधिकार-भेद ही इस क्रम का मुख्य कारण है। स्वाभाविक होने के कारण यह क्रम अनिवार्य होते हुए भी बहुत स्थानों में यथावत् अनुसृत नहीं होता। ब्रह्मचर्य आदि आश्रम-चतुष्टय क्रमबद्ध होते हुए भी जैसे तीव्र

---

१. यह अधोवर्त्तिता देशकृत नहीं है। क्योंकि यह सब आत्मा समान रूप से व्यापक और विभु है। परन्तु क्रियाशक्ति में तारतम्य रहने के कारण ऊर्ध्व और अधः ऐसा निर्देश किया जाता है। इसका तात्पर्य यह कि विभुत्व समान होते हुए भी क्रियाशक्ति के विकास में न्यूनता के कारण उसे अधोवर्त्ती कहा जाता है।

वैराग्य के स्थान पर मध्यवर्त्ती एक या दो आश्रम का लंघन करके पूर्ववर्त्ती किसी आश्रम से संन्यास-ग्रहण का अधिकार आ जाता है। ठीक उसी प्रकार दीक्षा-क्रम के विषय में भी कहा जा सकता है।

सब प्रकार की दीक्षाओं में समय-दीक्षा ही सबसे पहले आलोच्य है। इस दीक्षा में सभी पशु-आत्माओं का समान अधिकार है। इसमें काल और आश्रम आदि का नियन्त्रण नहीं है। आत्मा के अनादि मल के कुछ पक्व होते ही जब भगवान् की कृपा-शक्ति बहुत ही मन्द रूप में जीवों में अवतीर्ण होती रहती है, यह दीक्षा तभी हो सकती है। शिष्य के माथे पर गुरु द्वारा शिवहस्त का अर्पण ही समय-दीक्षा का स्वरूप है। इस दीक्षा के बाद गुरु की सेवा और विभिन्न देवताओं की पूजा का अधिकार आता है। इसके सिवा भगवान् के प्रति भक्ति भी जागने लगती है। इस दीक्षा का प्रधान फल पिछले कर्मों का परिपाक है। परिपक्व नहीं होने से कर्म नष्ट नहीं हो सकता। कालरूपी अग्नि द्वारा यद्यपि निरन्तर ही कर्म-समूह पक्व हो रहा है, फिर भी यह स्मरण रखना होगा कि काल क्रमधर्मक है, इसलिए कालकृत पाक भी क्रमिक भोग की ओर चित् की उन्मुखता-भर है। क्रमिक भोग द्वारा कर्मक्षय होता अवश्य है, पर क्रमशः होता है, एक साथ नहीं होता, हो भी नहीं सकता। और फिर उसके द्वारा कभी भी कर्म निःशेष नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म का मूल नष्ट नहीं होने के कारण नये कर्मों का संचय होता ही रहता है। अनादिकाल से असंख्य कर्म उपचित होते हैं, उन सबको एक-एक करके क्रमशः नष्ट नहीं किया जा सकता। इसलिए दीक्षा जरूरी है। क्योंकि, दीक्षा समष्टि रूप में कर्म के बन्धन को विच्छिन्न कर सकती है। उसी को पूर्णतम ज्ञानोदय कहा जाता है। अपूर्ण ज्ञानोदय के समय सञ्चित कर्मराशि नष्ट होती है और देहारम्भक कर्म बाकी रह जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर समझ में आता है कि कालशक्ति भी भगवान् की क्रियाशक्ति का ही रूपान्तर है। काल चूँकि रुद्रविशेष (कालाग्निरुद्र) है, इसलिए कालशक्ति रौद्री शक्ति है। दीक्षा भी रौद्री नाम की क्रियाशक्ति का ही व्यापार है। परन्तु, इन दोनों में मात्रा और विकास आदि की परस्पर विशिष्टता है।

'समय' से मतलब आगमशास्त्रीय मर्यादा का पालन है। पहली या समय-दीक्षा प्राप्त होने पर शास्त्र का अध्यापन, श्रवण आदि और होम, जप, पूजन, ध्यान आदि की योग्यता आती है। समयी की आत्मा चर्या और ध्यान से शुद्ध होती है। गुरु द्वारा उपदेश किये हुए शास्त्रोक्त आचार आदि के पालन को चर्या कहते हैं। ध्यान योग-अभ्यास का नामान्तर है। इस दीक्षा के प्रभाव से पूर्णत्व नहीं प्राप्त होता और मन्त्र के आराधन-क्रम में भोग-लाभ नहीं हो सकता। लेकिन हाँ, इससे ईश्वर-पद की

प्राप्ति या अपरा मुक्ति मिल सकती है और पुत्रक आदि भावी पद लाभ करने की योग्यता आती है। पाश-शुद्धि ही ऐश्वर्य का कारण है—इस दीक्षा द्वारा ईश्वर-सम्वन्ध हो तो हो सकता है। लेकिन, ऐसे में पाश-शुद्धि पाशों की समूल निवृत्ति नहीं। क्योंकि, कला-तत्त्व और भुवन आदि छह अध्वाओं की शुद्धि और परतत्त्व की योजना—ये दो व्यापार जवतक सिद्ध नहीं होते, तवतक सम्पूर्ण पाशों का अपगम नहीं होता और पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं होती, उसके लिए सूक्ष्म विधान है। परन्तु, समयी के लिए ऐसा विधान नहीं है, जरूरत भी नहीं होती। प्रश्न हो सकता है, समयी की ईश्वर-आराधना की योग्यता कैसे उत्पन्न होती है? उत्तर यह है कि ऐसी योग्यता पाने के लिए सिर्फ अधिष्ठातृ कारण-वर्ग का विश्लेषण ही पर्याप्त है। वहीं तक समयी की सीमा है।

जाति-उद्धार, द्विजत्व की प्राप्ति और रुद्रांश-लाभ—इन तीन व्यापारों से समयी का आत्म-संस्कार होता है। प्रारब्ध भोग के लिए पशु-आत्मा जो देह पाती है, उस देह-सम्बद्ध जाति का उत्कर्ष ही जाति-उद्धार कहलाता है। यह व्यापार यथा-विधि सम्पन्न हो तो पहली जाति से सम्बन्ध नहीं रहता। इससे यह प्रतीत होता है कि जाति-उद्धार-क्रिया के प्रभाव से देह के सूक्ष्मतम अवयव-संस्थान में आमूल परिवर्त्तन होना शुरू हो जाता है। इसके वाद जो अनुष्ठान करना होता है, उसका एक ही उद्देश्य है—द्विजत्व की प्राप्ति। इन दोनों प्रक्रियाओं में जाग्रत् मन्त्रशक्ति की उपयोगिता है। मन्त्रशक्ति अलौकिक और अचिन्त्य है। प्रयोग करनेवाले यदि योग्य हों, तो इससे दुस्साध्य कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकता है। मन्त्रशक्ति का देह पर प्रयोग करना उचित नहीं—साधारणत: यही नियम है। इसका तात्पर्य प्रारब्ध-जनित भोग के खण्डन में ही समझना होगा। मन्त्र में ऐसी शक्ति है कि उसका प्रयोग कर सकने से पल में प्राण लिया जा सकता है, परन्तु ऐसा करना उचित नहीं है। इसलिए कि उससे अभुक्त प्रारब्ध-कर्मभोग के लिए देहान्त के बाद भी अवस्थान्तर में आबद्ध रहना आवश्यक हो जाता है। इससे मोक्ष में बहुत विलम्ब होता है। शोषण, दाहन, आप्यायन और जाति-उद्धार आदि के लिए वर्त्तमान देह में मन्त्र-प्रयोग की व्यवस्था है। उग्र मन्त्र आदि से देह का शोषण होता है—इसीलिए अभिषेक की आवश्यकता है।

द्विजत्व की प्राप्ति के लिए मन्त्र के ही द्वारा देह की योनि, वीज, आहार, देश और भाव की शुद्धि करनी पड़ती है। देह रज: और वीर्य के संयोग से पैदा होती है। रजोवीर्य शुद्ध नहीं होने से शुद्ध देह नहीं हो सकती। गर्भाधान आदि संस्कार के रहस्य को आजकल लोग नहीं जानते। स्त्री-पुरुप के नैतिक संयम की कमी तथा चित्त की चंचलता के कारण वर्त्तमान युग में विशुद्ध देह का पैदा होना असम्भव हो गया है।

इसीलिए तन्त्रशास्त्र का आदेश यह है कि मन्त्रशक्ति के द्वारा योनि और बीज का शोधन जरूरी है। इससे देहगत अशुद्धि निवृत्त हो सकती है। श्रौत और स्मार्त प्रक्रिया के अनुसार आहार-निर्वाह करने से आहार-शुद्धि हो सकती है। परन्तु वर्त्तमान समय में यह भी ठीक-ठीक नहीं होता। इसीलिए इस कमी की पूर्त्ति के लिए मन्त्र का प्रयोग आवश्यक होता है। म्लेच्छ आदि के सम्बन्ध से देश अशुद्ध होता है और असत्य, कुटिलता आदि दोष के कारण भाव मलिन होता है। इसीलिए मन्त्र के ही द्वारा देश और भाव का भी शोधन करना आवश्यक है।

इस प्रकार शुद्धि का आधान होने से मन्त्र द्वारा शुद्ध विद्या में जन्म-लाभ करने के कारण अलौकिक द्विजत्व प्राप्त होता है।[1] इसी का नाम दूसरा जन्म है। द्विजत्व के अलौकिक होने से लौकिक द्विजों के लिए भी यह प्रक्रिया करणीय है, ऐसा माना जाता है।[2] इस दीक्षा से एक ही जाति की अभिव्यक्ति होती है। इसका नाम

---

१. गर्भाधान आदि चालीस संस्कार मन्त्रशक्ति से ही सिद्ध होते हैं। ये संस्कार शुद्ध विद्या में जन्म-ग्रहण के सर्वथा उपयोगी हैं।

२. मन्त्रशक्ति से वर्त्तमान शरीर का दाह और जाति-उद्धार होता है। किन्हीं-किन्हीं का खयाल है कि इस प्रकार शुद्ध तत्त्वमय देहान्तर का उत्पादन और द्विजत्व दूसरी जाति में भी किया जा सकता है। प्रसिद्धि है कि योगी लोग अभी भी मन्त्र के द्वारा अपनी और दूसरे की जाति बदलते हैं। आगम-मत से शिव, पुरुष और माया को छोड़कर सभी तत्त्व और जाति अनित्य हैं। इसलिए जाति-उद्धार, द्विजत्वापादन आदि व्यापार में किसी अंश में भी असंगति नहीं है। कोई-कोई मानते हैं कि देह में शूद्रत्व आदि जाति नित्य होने के लिए नहीं है। इसीलिए द्विजत्वापादन केवल द्विज के लिए ही करणीय है, दूसरे के लिए नहीं। इस मत से यह वर्त्तमान देह-विषयक है। वे कहते हैं, कर्मान्तरवश द्विज-देह प्राप्त होने के बाद अड़तालीस क्रियाओं द्वारा यह सिद्ध होती है। इसमें शूद्रादि का अधिकार नहीं। क्षेमराज कहते हैं कि यह परमेश्वर-आगम का मत नहीं है; क्योंकि यह क्रिया अलौकिक हैं और इससे भावी देह का सम्बन्ध है। शंका हो सकती है—तो भुवनाध्वा में अड़तालीस संस्कारों के आधान द्वारा द्विजत्वापादन क्यों किया जाता है? इसके उत्तर में यह कहना है कि यह शंका अमूलक है; क्योंकि उस क्रिया का उद्देश्य और है। यह पुत्रक की भोग-शुद्धि के लिए है, समयी के लिए नहीं। वागीश्वरी में गर्भाधान आदि द्वारा उन तत्त्वों से उद्भूत सम्पूर्ण भूतसर्ग अर्थात् चौदह प्रकार के प्राणियों

'शिवमयी' या 'भैरवीय' जाति है। इसके वाद यदि कोई पूर्व जाति से सम्बन्ध व्यक्त करता है तो शास्त्रमत से वह प्रायश्चित्त के योग्य होता है। द्विजत्व सिद्ध होने पर शिशु को उपवीत देने का नियम है। यह भी अलौकिक है। उपवीत लेने का अर्थ हुआ आत्मा के सान्निध्य में मन्त्र के सामर्थ्य द्वारा सम्बद्ध होना। तन्त्रशास्त्र के मत से उपवीत अनन्त मन्त्र और देवता-वर्ग के व्यापक शुद्ध विद्यारूप शक्तिसूत्र का प्रतिरूपक है। गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक के चालीस संस्कारों के वल से शुद्ध विद्या में जन्म होने के बाद सूक्ष्म विज्ञान अथवा भावना द्वारा चैतन्य संस्कार करना होता है। इस प्रकार अड़तालीस संस्कारों द्वारा पूर्ण द्विजत्व होता है। इसके वाद समयी का रुद्रांशापादन करना आवश्यक है। स्वयं रुद्रांश नहीं होने से शास्त्र-अर्थ-ज्ञान द्वारा रुद्र के ध्यान में एकाग्रता लाना असम्भव है। इसके सिवा भविष्य में ईश्वर-सम्बन्ध प्राप्त होना कठिन है। इस क्रिया को ठीक-ठीक करने के लिए गुरु के लिए पहले शिष्य का प्रोक्षण और ताड़न की आवश्यकता है। उसके बाद गुरु स्वयं उच्च मार्ग के रेचक द्वारा अपने शरीर से वाहर होकर शिष्य की देह में प्रवेश करेंगे और उसी मार्ग से शिष्य के हृदय तक पहुँचेंगे। वहाँ पहुँचकर शिष्य के चैतन्य या पुर्यष्टक को शिथिल करेंगे। इसका पारिभाषिक नाम विश्लेषण-क्रिया है। इससे शरीर के साथ जीवन का एक सूक्ष्म सूत्र या रश्मि-मात्र का सम्बन्ध रह जाता है। इसके वाद पुर्यष्टक का छेदन करके अर्थात् उसको अलग करके उसके अवगुण्ठन को शुद्ध उपादान द्वारा ढँकना होता है। उसके बाद सम्यक् रूप से खींचकर द्वादशान्त या मस्तक में स्थापित करना पड़ता है। उसके बाद उस स्थान से जीव को सम्पुटित करके संहार-मुद्रा द्वारा खींच लेना होता है। इतना कार्य करने के समय गुरु से शिष्य के अभेद-ज्ञान की रक्षा करना जरूरी है। उसके बाद ऊर्ध्वपूरक द्वारा गुरु को अपने हृदय में लौट आना पड़ता है।

इस व्यापार में कुम्भक द्वारा स्वारस्य का सम्पादन करके अर्थात् अपने से शिष्य का अभेदापादन करके फिर से ऊर्ध्व उद्वेष्टन के क्रम में रेचन करना होता है। रेचन के समय जीव उत्तरोत्तर छहों देवताओं को त्यागता है। उनके नाम और स्थान इस प्रकार हैं:

की भोगशुद्धि करना आवश्यक है। द्विज भोगशुद्धि भी इसी के अन्तर्गत है। यह उसी के लिए करणीय है। समयी के लिए तत्त्व-शोधन का आदेश नहीं है। इसीलिए समयी दीक्षा में इसका कोई स्थान नहीं।

१. हृदय में ब्रह्मा;
२. कण्ठ में विष्णु;
३. तालु में रुद्र।
४. भौंह में ईश्वर;
५. ललाट में सदाशिव;
६. ब्रह्मरन्ध्र में शिव।

देह की नाईं वाह्य जगत् में भी इन छह देवताओं का क्रम से अधिष्ठान है। सच तो यह कि विश्व के निम्नतम प्रदेश से समस्त अध्वा ही इन छह देवताओं द्वारा अधिष्ठित हैं। देवता के त्याग से ही शिष्य के लिए उन देवताओं के अधिष्ठित मार्ग से विश्लेष-लाभ की योग्यता आती है। स्वामी को पराभूत करने से उनके वश के सभी अधीनता स्वीकार करते हैं। उनके साथ अलग से लड़ना नहीं पड़ता। देवता-त्याग के बाद यानी देह अथवा विश्व के अधिष्ठातृ कारण-वर्ग से विश्लेष होने पर ईश्वर-पद की प्राप्ति के लिए ईश्वर की आराधना की योग्यता हासिल करनी पड़ती है। भौंह से जीव को लेकर सम्पुटित करना पड़ता है और संहारमुद्रा द्वारा उसे उठाकर फिर से शिष्य के हृदय में स्थापित करना होता है।

भोग-दीक्षा : साधक-दीक्षा

समयी दीक्षा के वाद पुत्रक आदि अन्य दीक्षा की व्यवस्था है। इसके सिवा पहले ही पुत्रक आदि दीक्षा हो सकती है। इस समय दीक्षा में अध्वाशुद्धि जरूरी है। परन्तु पूर्ण पाश-शुद्धि के विना वह हो नहीं सकती और परतत्त्व-योजन के विना पाशों का उन्मूलन असम्भव है। उसके विना भोग या मोक्ष, किसी भी फल का मिलना सम्भव नहीं। समयी दीक्षा में पाश-शुद्धि की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि दीक्षा के द्वारा ही अंशतः पाश-शुद्धि हो जाती है।

फल पानेवाले शिष्य भोग और मोक्ष के भेद से दो प्रकार के हैं——भोगार्थी और मोक्षार्थी। मोक्षार्थी या मुमुक्षु पुत्रक और आचार्य-भेद से दो प्रकार के हैं। शिष्य की दीक्षा के पहले गुरु को देखना होता है कि वह स्व-प्रत्ययी अथवा गुरु-प्रत्ययी है। स्व-प्रत्ययी होने से गुरु को उसकी वासना के अनुसार ही दीक्षा देनी पड़ती है। और गुरु-प्रत्ययी होने से तथा गुरु पर निर्भरशील होने से गुरु का कर्त्तव्य है कि पहले उसकी भोग-दीक्षा की व्यवस्था न करके मोक्ष-दीक्षा की व्यवस्था करे।

शिवधर्मी और लोकधर्मी दीक्षा

साधक दो प्रकार के हैं——शिवधर्मी और लोकधर्मी। इसीलिए, भोग या भूत (भुक्ति) दीक्षा भी शिवधर्मी और लोकधर्मी——दो प्रकार की होती है। दोनों दीक्षाओं में भेद होते हुए भी दोनों में ही साधन हैं। इसीलिए, दोनों दीक्षाओं को साधक-दीक्षा

कहते हैं। शिवधर्मी दीक्षा के प्रभाव से योग्यता के अनुसार साधक तीन प्रकार की सिद्धि प्राप्त करता है—मन्त्रेश्वर-पद की प्राप्ति, मन्त्रपद-प्राप्ति और पिण्ड-सिद्धि या अवान्तर सिद्धि। पहली दो सिद्धियाँ एक प्रकार से पारमेश्वरिक फल हैं। और तीसरी है—विभिन्न भोग-भूमि में आपेक्षिक अमृत-तत्त्व प्राप्त करके अभीष्ट-सिद्धि। दीक्षा के प्रभाव से जीव जिस भोगभूमि में भोग के आस्वादन के लिए जाता है, वहाँ वह जरा-मृत्युहीन स्थिर देह प्राप्त करता है। प्रलयकाल में उस भोगभूमि के नष्ट नहीं होने तक देह नष्ट नहीं होती। इस तीसरी सिद्धि में बहुत अवान्तर सिद्धियाँ भी हैं; जैसे, खड्ग-सिद्धि, अंजन-सिद्धि, पादुका-सिद्धि आदि। शिवधर्मी साधक गृहस्थ हो सकता है, यति भी हो सकता है। इनकी अध्वसिद्धि शिवमन्त्र से होती है। ये साधक मन्त्र-आराधना-परायण होकर आराध्य मन्त्र के आदेशानुसार कार्य करते हैं। ज्ञानवत्ता, अभिषेक आदि इस दीक्षा के फल हैं। इस मार्ग के साधक को भी समयाचार का पालन करना पड़ता है।

लोकधर्मी दीक्षा के प्रभाव से पिछले या संचित कर्मों में अशुभ अंश या दुष्कृत अंश ही नष्ट होता है और शुभ अंश अणिमा आदि सिद्धि में बदल जाता है। प्रारब्ध कर्म को अवश्य भोगना पड़ता है। भोग के अन्त में प्रारब्धजात देह के गिर जाने से गुरु दीक्षित साधक को अणिमादि भोग के लिए ऊर्ध्वलोक की ओर संचालित करते हैं। वहाँ का भोग समाप्त होने पर भी यदि भोग की वासना अतृप्त रहती है तो उस वासना के अनुरूप भोग के लिए गुरु उसे उससे भी ऊँचे भुवन में भेजते हैं। इस तरह शुभ कर्म के भोग के बाद वैराग्य का उदय होने पर उस स्थान से—अन्तिम भोग-स्थान से—परमेश्वर के निष्कल स्वरूप से योजित करते हैं। यह योजना, जो सिर्फ निष्कल स्वरूप से ही होगी, ऐसी कोई बात नहीं। नाना प्रकार के मायातीत विश्वभुवन के अधीश्वर-वर्ग के साथ भी सालोक्य से सायुज्य तक फल के लिए हो सकती है। ये सारी अवस्थाएँ साधक के आध्यात्मिक उत्कर्ष की तारतम्यमूलक हैं। कहा गया है :

लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवन भर्त्तरि।
तद्धर्मापादनं कुर्यात् शिवे वा मुक्तिकांक्षिणम्॥

अर्थात्, लोकधर्मी साधक को गुरु अपने इष्ट भुवनेश्वर-स्वरूप से युक्त करके उसके धर्म से जोड़ते हैं। और, अगर मुक्तिकामी हो तो शिव में आरोपित कर उनका धर्म जोड़ते हैं। यह ऊर्ध्वगति और योजना क्रमश: साधक और गुरु के संकल्प के अनुसार होती है।

सबीज और निर्बीज दीक्षा

मुमुक्षु की दीक्षा तीन प्रकार की है—सबीज, निर्बीज और सद्य: निर्वाण देनेवाली। इनमें से तीसरी दूसरी का ही प्रकार-भेद है। इसलिए मुमुक्षु की दीक्षा वास्तव में दो

प्रकार की है। साधारणतया निर्वीज दीक्षा बालक, मूर्ख, वृद्ध, स्त्री और रोगग्रस्त के लिए है। अर्थात् निर्वीज दीक्षा उनके लिए है, जो शास्त्र-विचार में कुशल नहीं हैं। उनके लिए समयाचार के पालन की जरूरत नहीं। इस दीक्षा के प्रभाव से केवल गुरुभक्ति से ही मुक्ति मिलती है।

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद् भक्तिमात्राद् गुरोः सदा।

(स्वच्छन्दतन्त्र)

इसमें गुरु की भक्ति ही समय है, दूसरा समय नहीं।

सद्योनिर्वाण-दीक्षा मुमूर्षु अवस्था में देनी चाहिए; क्योंकि यह दीक्षा बहुत ही प्रदीप्त मन्त्र द्वारा दी जाती है, इसलिए अतीत आदि त्रिविध पाश को ही नष्ट करती है। दीक्षा के साथ-ही-साथ देह की शुद्धि और देहपात के बाद परमपद की प्राप्ति होती है।

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम्।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत्॥

शिष्य जरा और व्याधिग्रस्त हो तो गुरु उसे शरीर से उत्क्रमित कराकर परमतत्त्व में नियोजित करते हैं।

सबीज दीक्षा की अवस्था विद्वान् और कष्टसहिष्णु शिष्य के लिए है। इस दीक्षा के पानेवाले को शास्त्र-विहित आचारों का ठीक-ठीक पालन करना होता है। नहीं करने से अपनी शिवमय सत्ता से कुछ समय के लिए भ्रष्ट होकर विपत्ति में पड़ना पड़ता है।

मुमुक्षु के दोनों प्रकार की—सबीज और निर्वीज—दीक्षा का एकमात्र प्रयोजन मोक्ष है। आचार्य की दीक्षा सबीज होती है। बुभुक्षु-साधक दीक्षा भी सबीज होती है। सबीज दीक्षा होने से ही अभिषेक हो सकता है। विद्वान् और कष्ट-सहिष्णु व्यक्ति को सबीज दीक्षा देकर आचार्य और साधक-पद पर अभिषिक्त करना होता है। आचार्य मुमुक्षु होता है, लेकिन साधक भोगार्थी। अभिषेक के बिना भोग और मोक्ष का अधिकार नहीं होता। मात्र सबीज दीक्षा ही परमेश्वर से योजना की साधक है। इसीलिए साधक और भोगार्थी का भी पहले शिव या परमेश्वर के निष्कल रूप से योग होता है। उसके बाद भोग की सिद्धि के लिए सदाशिव अर्थात् परमेश्वर के स-कल रूप से योग होता है। निष्कल रूप से सर्वप्रथम योग का उद्देश्य यह है कि सभी रूप सिद्धि-बहुल होने पर भी इस निष्कल योजन की क्रिया के प्रभाव से सभी पदों पर अवस्थान के समय सिद्धि या ऐश्वर्य-भोग के रहते हुए भी भोग के अन्त में परमपद पाने में कोई बाधा नहीं होती।

शिवधर्मी दीक्षा में साधक का साधकत्व में अभिषेक होता है। अभिषेक विद्यादीक्षा के बाद होता है। शिवधर्मी साधक का शिवपद में योजन के बाद जो सदाशिव पद-योजना की दीक्षा होती है, उसे विद्यादीक्षा कहते हैं। (बत्तीस वर्णात्मक) सभी मन्त्र विद्या है, उससे विद्यादीक्षा होती है। सदाशिव-पद विद्यात्मक है। यद्यपि सभी मन्त्र द्वारा परमपद की प्राप्ति भी हो सकती है, फिर भी वासना के भेद से उसे विद्यादीक्षा कहते हैं। सदाशिव-पद तक अणिमादि भोग-दीक्षा ही भूतिदीक्षा है। यह शान्ति तक पद-योजन के बाद होती है। अवश्य गुरु की कृपा से यह शिव-योजनात्मक भी हो सकती है—यह पहले भी कहा जा चुका है। शिवधर्मी साधक को विधिपूर्वक कर्म-शोधन करना होता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा और विद्या—इस कला में जो कार्मफल है, वह स्थूल है। सूक्ष्म रूप में पाँच ही कलाओं में कर्मसत्ता रहती है। अर्थात् शान्ति और शान्ति-अतीत कला में सूक्ष्म कर्मफल होता है। इसलिए समना तक सभी अध्वा पाश-जाल हैं।

साधक को कर्म का क्षय तो करना होता है, पर सभी कर्मों का नहीं। पिछले या संचित और आगामी कर्मों का क्षय एक साथ करना होता है। परन्तु, वर्त्तमान देह द्वारा मन्त्र-आराधना आदि कर्म को नष्ट नहीं करना चाहिए, इससे साधक को सिद्धि या भूति की प्राप्ति नहीं होती। भोगार्थी साधक के भोगपथ में बाधा देना अनुचित है। विद्यादेह या सदाशिव रूप में मन्त्रों का न्यास करके और उस देह को अणिमादि गुणसम्पन्न ध्यान करके वैसी गुण-सम्पत्ति के लिए होम करके साधक का अभिषेक करना जरूरी है। सभी योग ठीक-ठीक पूरा हो जाने पर अणिमादि गुण के उदय के लिए प्रक्रिया की जाती है। अभिषेक की प्रणाली से समझ में आता है कि भोगार्थी साधक के लिए आपातत: भोग की व्यवस्था रहते हुए भी अन्त में मोक्ष ही मिलता है।

शिष्याभिषेक

अभिषेक पाँच कलशों से होता है। ये कलश क्रम से दक्षिण, उत्तर, पश्चिम, पूर्व और ईशान कोण में स्थापित होते हैं। प्रथम तीन कलशों से क्रमश: निवृत्ति आदि तीन कलाओं के न्यास के बाद शान्ति-अतीत कला का न्यास ईशान कोण के कलश में करके अन्त में पूरब के कलश में शान्तिकला का न्यास करना चाहिए। शान्ति-अतीत कला के बाद शान्तिकला के न्यास का मतलब यह है कि साधक जिसमें पहले शिवदशा में विश्रान्ति लेकर निर्विघ्न भाव से सदाशिव दशा में सिद्धि प्राप्त कर सके। शान्तिकला का भोग ही परमेश्वर की स-कल अवस्था का अणिमादि भोग है। शान्ति-अतीत कला प्रथम तीन कलाओं और शान्तिकला से आवृत रहती है। इन पाँच

कलशों से पृथ्वी आदि पाँच का न्यास करना होता है। ये पाँच पंच स्थूलभूत नहीं, पर वास्तव में ब्रह्मस्वरूप हैं, जिनमें सभी तत्त्व और तत्त्वेश्वर स्फुरित होते हैं। इसके बाद प्रत्येक कलश में आराध्य मन्त्र अर्थात् प्रधानतः सकल मन्त्र और अन्यान्य मन्त्रों का न्यास करके सर्वज्ञत्व आदि विद्या-समूह द्वारा 'सकलीकरण' करना होता है। उसके बाद उनमें इन सभी विद्यांगों का आवरण-न्यास करना पड़ता है। यह सब सर्वज्ञत्व आदि विद्यांग सिद्धि-सम्पादन के अनुरूप हैं, इसलिए दूसरे प्रकार के आवरण-न्यास की आवश्यकता नहीं होती। इसके बाद साध्यमन्त्र से निवृत्ति आदि प्रति कलश को अभिमन्त्रित करना होता है। इससे मन्त्र के प्रभाव से सकल भूमि ही सिद्धिप्रद हो सकती है।

आचार्याभिषेक

अब संक्षेप में आचार्य-अभिषेक की कह लें। जो कोई भी आचार्य-पद पर नियुक्त नहीं हो सकता। जिसने गुरु से आगम का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया है या कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति में संयमशील है, जो सदाचारी है और सम्यक् रूप से शास्त्रविहित अनुष्ठान करता है--ऐसा ही व्यक्ति आचार्य-पद पर अभिषिक्त होने योग्य है। शिव-योजन तक की दीक्षा समाप्त होने पर ही यह अभिषेक करना चाहिए। इसमें पाँच कलश में पाँच तत्त्व और उनके व्यापक पाँच कला-न्यास करके उनमें अनन्त से शिव तक पंच भुवनेश्वर को स्थापित करना चाहिए। उसके बाद पूर्वादि क्रम से षडंग आवरणयुक्त मन्त्र के चिन्तन के साथ परमेश्वर का अर्चन होता है, परमतत्त्व की भावना-सहित प्रत्येक कलश को अभिमन्त्रित करना चाहिए। कलशों का पूजन करके मुख्य अभिषेक-कार्य आरम्भ होता है। एक मण्डल बनाकर उसे स्वस्तिक आदि से अलंकृत करके उसपर एक चन्द्रातप लगाना तथा उसे ध्वजा से सुशोभित करना होता है। उसके बाद उस मण्डल में चन्दन या दूसरी किसी अच्छी लकड़ी के बने पीठ को स्थापित करके अनन्तासन ध्यान करना होता है। फिर, अभिषेकार्थी शिष्य का 'सकलीकरण' संस्कार करना पड़ता है। उसके बाद उसे उस पीठ पर ईशान की ओर मुँह करके बैठाना होता है। उसके बाद शिवभाव से आविष्ट होकर गुरु गन्ध-पुष्प आदि से उसका अर्चन करते हैं। दीप से आरती, पूर्ण कलश से निर्मन्थन करना होता है। इससे सभी विघ्न दूर होते हैं। फिर, उन निवृत्त्यादि कलश के मुख से शिष्य पर जलधारा ढालनी पड़ती है। यही अभिषेचन है। इसके बाद शिष्य पहले का वस्त्र त्यागकर नया वस्त्र धारण करेगा। पूर्व वस्त्र मायिक कंचुक-भाववाला होता है, अभिषेक के बाद वह नहीं रहता। नया वस्त्र परम शिव का प्रकाश है। इसे ही सदा धारण करना होता है। उसके बाद योगपीठ या आसन पर बैठे हुए शिष्य को गुरु अधिकार देते हैं या उष्णीष, मुकुट आदि छत्र; पादुका, आसन,

अश्व, शिविका आदि राजोचित उपकरण और आचार्यभाव की उपयोगी कर्त्तरी (कैंची); स्रुक, दर्भ और पुस्तक आदि दान करते हैं। और, साथ-ही-साथ आदेश किया जाता है: "आज से तुम आश्रम चतुष्टयस्थ भगवत् शक्तिपात-युक्त होने से दीक्षा योग्य व्यक्ति को केवल अनुग्रह करने की इच्छा से (स्नेह, लोभ आदि वशतः नहीं) दीक्षा-दान करो। यह अधिकार तुम्हें साक्षात् परमेश्वर के आदेश से दिया जा रहा है।"

उसके बाद आचार्य अभिषिक्त शिष्य को अपने हाथ से उठाकर मण्डल में प्रवेश करायेंगे और वहाँ परमेश्वर की पूजा कराकर कहेंगे—"भगवन्! आपके आदेश से आपके आज्ञानुवर्त्ती आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित मैंने इस व्यक्ति को अभिषिक्त किया है। यह व्यक्ति अब गुरु-परम्परा-क्रम से शिवतत्त्व का उपदेश करेगा। मैं आपके सान्निध्य में इसे उपदेश दे रहा हूँ, जिससे यह अनुगृहीत पुरुष आपका स्वरूप-लाभ कर सके।" उसके बाद मण्डप से बाहर आकर गुरु पाँचों ही कलशों को अग्नि में आहुति देंगे। उसके बाद पूर्णाहुति। फिर, अभिषिक्त पुरुष को दायें हाथ से पंच अंगुली मन्त्र से चिह्नित करेंगे और कनिष्ठिका पंच अंगुली भी स्पर्श करेंगे। यथाविधि इस कर-स्पर्श के प्रभाव से मन्त्रदीप्त करणरूप में थोड़े ही समय में कार्यक्षम होता है और सारे पाश जले हुए बीज-से हो जाते हैं। उस समय शिष्य मण्डलाग्नि के सामने परमेश्वर, कलश और अग्नि को दण्डवत् प्रणाम करके अधिकार-प्राप्तिवश प्रसन्न होकर जीवन्मुक्ति और परम शिवत्व दोनों ही फल प्राप्त करता है। उस समय से वह शिव के समान होकर शिवधाम-प्रापक गुरुपदवाच्य होता है।

परमेश्वर की स-कल रूप में योजना तथा उसके बाद अणिमा आदि गुण की प्राप्ति के लिए यह जो अभिषेक-क्रिया की बात कही गई, उसके पहले भगवान् के निष्कल रूप से योग तथा उनके गुण की प्राप्ति के लिए क्रिया जरूरी है। क्योंकि, भोगार्थी साधक के लिए शास्त्र में व्यवस्था है कि पहले निष्कल-योजन करके तब स-कल-योजन करना होगा। प्रकृत प्रस्ताव से दीक्षामात्र का ही अन्तिम फल मोक्ष है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु, जो मुमुक्षु और निवृत्ति-मार्गी हैं, उन्हें भोग-वासना नहीं रहने के कारण मोक्षरूप फल पाने में कोई अड़चन नहीं रहती। परन्तु, भोगार्थी पुरुष पहले इच्छानुरूप भोग का आस्वादन करके भोग-वासना से रहित होने पर मुक्त होता है। इन दोनों दीक्षाओं में प्रयोजन का भेद है, पर फल का भेद नहीं है।

क्रिया-दीक्षा

क्रिया और ज्ञान के भेद से दीक्षा दो प्रकार की है। दोनों ही दीक्षाओं की एक वैज्ञानिक भित्ति है। सूक्ष्म दृष्टि से अनुसन्धान करने से यह समझ में आता है।

क्रिया-दीक्षा नाना प्रकार की, पर ज्ञान-दीक्षा एक ही प्रकार की होती है। क्रिया-दीक्षा दो प्रकार की है--साधारण और असाधारण। फिर अध्वा-भेद से असाधारण दीक्षा भिन्न होती है--जैसे, कला-दीक्षा, तत्त्व-दीक्षा, भुवन-दीक्षा, वर्ण-दीक्षा, मन्त्र-दीक्षा आदि। इनमें से तत्त्व-दीक्षा साधारणत: चार प्रकार की है—छत्तीस तत्त्व-दीक्षा, नव तत्त्व-दीक्षा, पंचतत्त्व-दीक्षा और त्रितत्त्व-दीक्षा। एक तत्त्व-दीक्षा की बात भी पाई जाती है। छतीस तत्त्वों को नवतत्त्व में परिणत कर पाने से नवतत्त्व-दीक्षा द्वारा भी छत्तीस तत्त्वों की शुद्धि हो सकती है। नव तत्त्व हैं--प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव। छत्तीस तत्त्वों को पाँच या तीन तत्त्वों में परिणत कर पाने से पंचतत्त्व या त्रितत्त्व द्वारा वही एक ही फल प्राप्त हो सकता है। पंचतत्त्व हैं—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश। त्रितत्त्व हैं—शिव, आत्मा और माया। एक तत्त्व-दीक्षा में छत्तीस तत्त्वों को समष्टि रूप में एक तत्त्व ग्रहण किया जाता है। इसी का नाम 'विन्दु' है। उसकी शुद्धि से सभी तत्त्वों की शुद्धि होती है। पद-दीक्षा की प्रणाली नवतत्त्व-दीक्षा जैसी है। वर्ण, मन्त्र, भुवन-दीक्षा की प्रणाली कला-दीक्षा जैसी। अतएव, अध्वा के वैचित्र्य से क्रिया-दीक्षा एकादश प्रकार की है।

लेकिन पहले ही कहा जा चुका है कि ज्ञान-दीक्षा एक और अभिन्न है। इसमें वैचित्र्य नहीं। कुल मिलाकर बारह प्रकार की दीक्षा है। पुत्रक की दीक्षा सबीज, निर्बीज और सद्योनिर्वाणदायी भेद से तीन प्रकार की है—कुल (१२×३) छत्तीस प्रकार की। आचार्य-दीक्षा सिर्फ सबीज होती है, इसीलिए बारह प्रकार की। शिवधर्मी और लोकधर्मी साधक की दीक्षा एक साथ (१२+१२) चौवीस प्रकार की। समयी की दीक्षा में अध्वन्यास नहीं रहता। ज्ञान से हृदय-ग्रन्थि का भेद होने से एक और क्रिया द्वारा ग्रन्थिभेद होने से एक--कुल दो प्रकार की। कुल संख्या (३६+१२+२४+२=७४) चौहत्तर। भिन्न-भिन्न शिष्य का आशय भिन्न-भिन्न होने से किसी साधक में किसी अध्वा की प्रधानता रहती है, बाकी अध्वा की गौणता होती है। इस प्रकार दीक्षा अनन्त प्रकार की है। आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है :

> यत्र यत्र हि भोगेच्छा तत् प्राधान्योपक्षेपत:।
> अन्यांतर्भावनातश्च दीक्षाऽनन्तविभेद भाक्॥

इसी प्रकार, तत्त्वाध्वा में किसी तत्त्व की प्रधानता और दूसरे तत्त्वों की गौणता हो सकती है। दीक्षा इसीलिए स्वभावत: ही विचित्र है, पर यह स्मरण रखना होगा कि छत्तीस तत्त्व-दीक्षा से नवतत्त्व-दीक्षा का अधिकारी और गुरु श्रेष्ठ है। नवतत्त्व से पंचतत्त्व, उससे त्रितत्त्व और उससे एक तत्त्व-दीक्षा का अधिकार विरल है। वास्तव में एक तत्त्व-दीक्षा का गुरु और शिष्य--दोनों ही दुर्लभ हैं।

कला-दीक्षा का विज्ञान (पाशक्षपण और शिवत्व-योजन)

दीक्षा-विज्ञान के सम्बन्ध में एक स्पष्ट धारणा के लिए यहाँ दृष्टान्त-रूप में कला-दीक्षा का विवरण दिया जा रहा है। सभी अध्वाओं के मूल में कला की प्रधानता है और शिष्य के अधिकार के प्रकार-भेद की दृष्टि से पुत्रक की प्रधानता है। इसीलिए, यहाँ पुत्रक की कलादीक्षा का वर्णन दिया जा रहा है।

वागीश्वरी के गर्भ से जन्म पाने के वाद संसार-उपशम के कारण पुत्रक नाम की सार्थकता है। पृथ्वी से कलातत्त्व तक माया का अधिकार है। यही संसार-मण्डल है। इसके वाद है शुद्ध विद्या का राज्य। शुद्ध विद्या ही वागीश्वरी है। वागीश्वरी के गर्भ से जन्म ले सकने से विशुद्ध भुवनों में रहने और संचार का अधिकार पाया जा सकता है। यह वास्तव में वैन्दव देह मन्त्रदेह-प्राप्ति का नामान्तर है। इस जन्म-व्यापार के सम्पादन के लिए इक्कीस अवान्तर संस्कार आवश्यक होते हैं। जन्म के क्रमशः और भी पाँच संस्कार आवश्यक होते हैं—यथा, अधिकार, भोग, लय, निष्कृति और विश्लेष। इन कुल छह संस्कारों से मन्त्र के प्रभाव से पशुपाश सब विनष्ट होते हैं। पाश कटता है, वाद में उसका संस्कार भी कटता है। यही दीक्षा का प्रथम अंग या पाशक्षय है। दीक्षा का दूसरा अंग है शिवत्व-योजन, जिसके लिए तेरह पदार्थों का अनुभावात्मक ज्ञान जरूरी होता है। सद्गुरु जब दीक्षा देते हैं, तो ये दोनों ही अंग पूर्णरूप से निष्पन्न होते हैं। शिवत्व-योजन में जिन तेरह विषयों के विशेष ज्ञान की जरूरत है, उनके नाम हैं—चार प्रमाण, प्राण-संचार, छह अध्वा के विभाग, हंसोच्चार, वर्णोच्चार, वर्णगण द्वारा कारण-समूह का त्याग, शून्य, सामरस्य, त्याग-संयोग, उद्भव, पदार्थ-भेदन, आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति और शिवव्याप्ति। शिवत्व-व्याप्ति में अपनी शिवभावापत्ति पूरी होती है। योजना-क्रिया का यही उद्देश्य है।

पाशक्षपण-कला में अन्य अध्वा का आविर्भाव

दृष्टान्तस्वरूप यहाँ कला-अध्वा को लिया जरूर गया है, पर यह जानना चाहिए कि इसमें अन्य अध्वा भी अन्तर्भूत हैं। तत्त्व आदि दूसरी दीक्षा में भी यही नियम है। सबसे पहले सब अध्वाओं का सन्धान और उपस्थापन चाहिए। पुंज, मण्डल, गुरु, शिष्य और दीक्षार्थी शिष्य के शरीर में पाशसूत्र—इन छह अधिकरणों में अवस्थित अध्वाओं का एकत्र सम्मेलन—यही अध्वसंगर है। इस क्रिया के साथ अध्वाओं का साधारण या अभिन्न रूप में ज्ञान ही उपस्थापन क्रिया द्वारा सम्मिलित अध्वाओं से इष्ट अध्वा का उपस्थापन। अध्वा उपस्थित होने से उसकी व्याप्ति देखना चाहिए, जिससे अध्वा का विस्तार जाना जाता है। तब देखने में आता है कि वह व्याप्तिदर्शन वास्तव में सर्वत्र विश्व का ही दर्शन है; क्योंकि विश्व इसमें अन्तर्भूत है।

कला-दीक्षा में पाँच कला में छत्तीस तत्त्व, दो सौ चौवीस भुवन, पचास वर्ण, दस मन्त्र और इक्यासी पद अन्तर्भुक्त हैं। इसे भावना द्वारा समष्टिरूप में और अलग जानना चाहिए। निवृत्ति आदि कला पृथ्वी आदि का सूक्ष्म रूप या शक्ति है। कला-वर्ग के अधिष्ठान ब्रह्मा से शिव तक छह देवता। अर्थात् पाँच कला के समष्टिभूत विन्दु के अधिष्ठाता शिव। इसलिए कुल छह अधिष्ठाता। इन छह देवताओं की शुद्धि से कला-शुद्धि।

अध्वशुद्धि

अध्वशुद्धि का मतलब समझना हो, तो सृष्टि और शुद्धितत्त्व के रहस्य को समझना जरूरी है। चिदानन्दमय परमेश्वर अपने स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य या उन्मना-शक्ति के द्वारा समग्र विश्व को अपने से अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् भासित करते हैं। शिव से पृथ्वी तक सारा विश्व वाच्य या ग्राह्य और वाचक या ग्राहक रूप में स्थित है। वाचक पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप में वर्ण, मन्त्र और पदनाम से प्रसिद्ध है। वाच्य भी पद आदि रूप में कला, तत्त्व, भुवन नाम से प्रसिद्ध है।

वर्ण शब्द का तात्पर्य है—अभेद विमर्शनरूपा शक्ति—यह परा है। कुछ स्थूल होने से यह भेदाभेद विमर्शमय मन्त्र होती है—यह सूक्ष्म है। और भी स्थूल होने से यह भेद-विमर्शमय पद के नाम से प्रसिद्ध होती है—यह स्थूल है। वाच्यरूपा शक्ति क्रमशः कला, तत्त्व और भुवन-रूप धारण करती है। सच तो यह कि कला नाम से एक ही शक्ति स्फुरित होती है। इस स्फुरण में यौग पद्य तो रहता ही है, उसके अलावा दर्शननगरवत् क्रम का भी भान होता है। क्रम के भान में भी विशिष्टता होती है। यानी, जो पूर्वकालिक है, वह उत्तरकालिक रूप में व्यापक भाव से रहता है—जैसे घट आदि में मिट्टी रहती है। और जो परकालिक है, वह पूर्वकालिक में शक्तिरूप में रहता है, जैसे वृक्ष बीज में रहता है। अतएव, सब वस्तु में सब वस्तु है—'सर्वं सर्वात्मकम्'।

इस प्रकार से देखने से पता चलता है, प्रति प्रमाण या भाव ही वस्तुतः परम शिव का स्वरूप है। यह स्वरूप छह अध्वाओं का स्फुरण-रूप परमेश्वर शक्तिमय तथा अकार से हकार तक परामर्शरूप पूर्णाहंतामय विश्राम-स्थान है। परन्तु, आत्मा अपनी माया-शक्ति के प्रभाव से अपने परम शिव को नहीं जानती है, इसलिए अपने को अपूर्ण मानती है। शाब्दी कला के प्रभाव से उसका ऐश्वर्य लुप्त होता है। ऐश्वर्य के लोप होने का मुख्य फल यह है कि वर्ण और कला अपने तात्त्विक रूप में स्फुरित न होकर प्रत्ययों का उत्पादन करती है। इस प्रत्यय के कारण ही आत्मा देहादि अनात्म वस्तु में अहं की प्रतीति करने को विवश होती है। और, साथ-ही-साथ क्रियांश से

सम्बन्ध होने के नाते अपने को भोक्ता समझती है। इस अभिमान के कारण खेचरी, दिक्चरी, गोचरी और भूचरी—इन चार शक्तिचक्रों के अधीन होकर 'पशु' पदवाच्य होती है। इस पशुभाव को दूर करने के लिए परमेश्वर की अनुग्राहिका शक्ति भगवत्-भाव से आविष्ट गुरु के हृदय में परमार्थ-स्वरूप में स्फुरित होकर समस्त अध्वा को, उसका संकोच दूर करके, अनवच्छिन्न चित्शक्ति के स्फुरण-रूप में प्रदर्शित करती है और दीक्षा तथा ज्ञान द्वारा शोधन करती है। अतएव, गुरु का स्फुरण-रूप मन्त्र आदि शोधक है और पशु-आत्मा में अभिनिविष्ट मन्त्र आदि शोध्य है। इस तरह मन्त्र आदि में शोध्य-शोधक भाव है—इसे याद रखना है। एक-एक अध्वा के सर्वमय होने के कारण उन-उन अध्वाओं की प्रधानतावशत: दीक्षा के व्यापार में अन्य पाँच अध्वाओं का भी अन्तर्भुक्ति-रूप में शोधन होता है।

निवृत्ति-कला का शोधन

पूर्ववर्णित उपस्थापन-क्रिया द्वारा जब कला अध्वा के सम्मुख उपस्थित होती है, तब उसे निकट लाकर शुद्ध करना आवश्यक है। इसके बाद शिष्य की देह में नीचे से ऊपर तक क्रमशः निवृत्ति आदि पाँच कलाओं का न्यास करना जरूरी है। यह इस ढंग से करना होगा कि जिसमें गुल्फ तक निवृत्ति एवं नाभि, तालु, मूर्द्धा तथा ब्रह्मरन्ध्र तक क्रम से प्रतिष्ठा आदि कला का न्यास हो सके। यहाँ तक आरम्भिक व्यापार है। यह हो जाने से अध्वगत तीनों पाशों का शोधन हो सकता है। सम्पूर्ण विश्व ही पाशमय है। निवृत्ति-कला को आश्रय करके पृथ्वी-तत्त्व है और उसे आश्रय करके एक सौ आठ भुवन हैं।[1] यहाँ वर्ण है एक (क्ष), मन्त्र हैं दो और पद हैं अट्ठाईस। प्रतिष्ठा-कला में जल से प्रकृति-तत्त्व तक तेईस तत्त्व हैं। भुवन हैं छप्पन।[2] वर्ण हैं तेईस (ह से ट तक), मन्त्र हैं तीन और पद हैं इक्कीस। विद्याकला में

---

१. ब्रह्माण्ड में सात भुवन हैं। ब्र ाण्ड के बाहर दस दिशाओं में एक सौ रुद्रभुवन हैं और सभी भुवनों के ऊपर सर्वाधिष्ठाता वीरभद्र का भुवन है। इसी प्रकार निवृत्ति-कला के अन्तर्गत पृथ्वी-तत्त्व में एक सौ भुवन हैं, यह जानना चाहिए। ब्रह्माण्ड के सात भुवन ये हैं—अधोभाग में कालाग्नि, कुष्माण्ड और हाटक ये तीन; बीच में भूलोक एक और ऊर्ध्वभाग में सत्यलोक से सप्तलोकात्मक एक भुवन। उसके बाद इसके पीछे विष्णु-लोक एक और रुद्रलोक एक—कुल सात भुवन।

२. जलतत्त्व में गुह्याष्टक नामक आठ भुवन हैं। तेजतत्त्व में अति गुह्याष्टक नामक आठ भुवन हैं। वायुतत्त्व में गुह्यतर अष्टक नाम के आठ भुवन। आकाशतत्त्व में पवित्राष्टक, अहंकार, तन्मात्र और इन्द्रियतत्त्व में

तत्त्व हैं सात (पुरुष से माया तक); भुवन हैं सत्ताईस[1], वर्ण हैं सात (ज से य), मन्त्र हैं दो और पद हैं बीस। शान्ति-कला में तत्त्व तीन हैं (शुद्ध विद्या से सदाशिव तक), भुवन हैं सत्रह।[2] वर्ण तीन हैं (ग, ख, क), मन्त्र दो और पद हैं ग्यारह। शान्त्यतीत कला में तत्त्व हैं दो (अर्थात् बिन्दु, नाद--अपरूपा शक्ति और शिव), भुवन हैं सोलह[3], वर्ण सोलह (विसर्ग से अ तक), मन्त्र एक और पद एक (ऋ) है।

स्थाण्वष्टक नाम के आठ—इस प्रकार कुल मिलाकर छप्पन भुवन हैं। बुद्धितत्त्व में देवयोनि अष्टक और गुणतत्त्व में योगेश्वराष्टक नाम के आठ। देवयोनि नाम के जिस भुवन की बात कही गई, वह सूक्ष्म है। इनके स्थूल भुवन भी हैं, वह सब ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत हैं।

१. पुरुष और रागतत्त्व में आठ विद्येश्वर के भुवन, नियति और विद्यातत्त्व में वामा से मनोन्मना तक नौ शक्ति के भुवन, काल और कलातत्त्व में महादेव आदि द्वारा अधिष्ठित तीन भुवन और मायातत्त्व में सात भुवन—एक नीचे, एक ऊपर, चार बीच में और मायाधिष्ठाता अनन्त का भुवन एक--कुल सात भुवन।

२. शुद्ध विद्या में विद्यावाग्मियों का एक भुवन, ईश्वरतत्त्व में पन्द्रह भुवन, ईश्वर का एक भुवन, अनन्त आदि विद्येश्वरों के आठ भुवन, धर्म आदि के चार भुवन, वामादि तीन शक्तियों का एक भुवन, ज्ञान-क्रिया का एक भुवन और सदाशिव तत्त्व में एक भुवन--इस प्रकार कुल मिलाकर सत्रह भुवन समझना चाहिए। इनमें से ज्ञानक्रिया-भुवन में उनसठ भुवन हैं। यहाँ उनका विवरण देना अनावश्यक है। सदाशिव भुवन शिव, रुद्र आदि आवरण के अन्तर्गत अनन्त भुवनावलि का व्यापक हैं।

३. शान्त्यतीत कला में जो शिवतत्त्व हैं, उनमें बिन्दु से समना तक सारी ही भूमि विद्यमान है। इनमें बिन्दु, नाद और कला—ये तीन आवरण प्रधान हैं, उनमें बिन्दु-आवरण में तीन भुवन हैं। यथा, शान्त्यतीत भुवन—यह निवृत्ति आदि चार कलाओं से वेष्टित है। अर्धचन्द्र भुवन और निरोधिका भुवन—ये अपनी-अपनी पाँच कलाओं से वेष्टित हैं। नाद आवरण में छह भुवन हैं, नाद में इंधिका आदि पंचशक्ति के पाँच भुवन और नादान्त में सुषुम्नेश्वर परब्रह्म में एक भुवन। शक्ति-आवरण में कुल सात भुवन हैं; यथा सूक्ष्म आदि चार शक्तियों द्वारा परिवेष्टित पराशक्ति का भुवन, व्यापिनी भूमि में पञ्चकला का पञ्चभुवन एवं समना अथवा महामाया में एक शिवभुवन— कुल सोलह भुवन।

इस विशाल विश्वव्यापक पाश-समूह का शोधन करने के लिए एक प्रणाली है[1], जिसमें जन्म आदि छह संस्कार अन्तर्गत हैं। सारे जगत् में चौदह प्रकार के प्राणी मौजूद हैं। सारे प्राणी देवता, मनुष्य और तिर्यक्—इन तीन श्रेणियों के अन्तर्गत हैं। इन जीवों की देह-सृष्टि भूतसर्ग के नाम से परिचित है। परन्तु, योनि के विना देहसृष्टि नहीं हो सकती। इस चौदह प्रकार की भूतसृष्टि की मूलभूत योनि शतरुद्र से अनन्त तक फैली हुई है। शतरुद्र ब्रह्माण्ड के बाहर अवस्थित है और अनन्त ब्रह्माण्ड के अधोभाग में अवस्थित है। वाक् अथवा वागीश्वरी इन योनियों में न रहकर निवृत्ति की ऊपरवर्त्ती कलाओं में व्याप्त रहती हैं। निवृत्तिव्यापिका वागीश्वरी का पृथ्वीतत्त्व में स्थित अनन्त से शतरुद्र तक विभिन्न भुवनों के अधिवासी चौदह प्रकार के प्राणियों के विभिन्न शरीर का सम्बन्ध है। वास्तव में, वागीश्वरी सकल शरीर की उत्पादिका है। कला-दीक्षा के समय जब अध्वसन्निधान के बाद अध्व विशेष रूप से कला, अध्वा और उसके अन्तर्गत निवृत्ति-कला का उपस्थापन होता है, तो निवृत्ति-व्यापिका वागीश्वरी को निवृत्ति-कला के अन्तर्गत योनियों में एक साथ ऋतुरूप में सन्निहित करना आवश्यक होता है। वास्तव में, जिस व्यक्ति पर भगवान् का अनुग्रह उत्पन्न होता है, उसके लिए वागीश्वरी आर्त्तव-रूप में सन्निहित रहती हैं। यह आर्त्तव शुद्ध सृष्टि की ओर उन्मुखता-युक्त एक ही साथ बहुत देहों की सृष्टि का सामर्थ्य-मात्र है। गुरु केवल प्रयोजन-व्यापार द्वारा सन्निहित वागीश्वरी को मुद्रा-बन्धन द्वारा स्थापित करते हैं। उसके बाद उस शिष्य के पाशसूत्र का प्रोक्षण और ताड़न करके अपने दक्षिणमार्ग से बाहर करके फिर उसे शिष्य के वाममार्ग द्वारा भीतर प्रवेश कराकर पाशसूत्र के पुर्यष्टक का छेदन करना होता है। उसके बाद छिन्न पुर्यष्टक को खींचकर देह से उसका रश्मिमात्र सम्बन्ध रखते हुए अपने द्वादशान्त स्थान में, यानी मस्तक में रखना पड़ता है। उसके बाद उस स्थान के चैतन्य को सम्पुटित करके दिव्य शिवहस्त से संहारमुद्रा के द्वारा पूरक क्रिया की सहायता से हृदय में अपनी आत्मा से योजन करना आवश्यक है। इसके बाद कुम्भक और रेचक क्रिया करके उसे द्वादशान्त में उठाकर लिंगमुद्रा द्वारा सन्निहित वागीश्वरी के गर्भ में स्थापित करना होता है। इस गर्भाधान के समय गुरु अपने को क्रियाशक्ति-प्रधान स्रष्टा ईश्वररूप में एवं वागीश्वरी को मायारूप में दर्शन करते हैं। इस समय वागीश्वरी अशुद्ध जगत् का प्रसव करनेवाली मायारूपा ही होती हैं, पर कालान्तर में

---

१. दीक्षा से पुरुष में विद्यमान सभी पाशों का शोधन होता है। बुद्धिगत पाश का शोधन नहीं होता। इसलिए बुद्धि में दोष रह जाने पर भी दीक्षा निष्फल नहीं होती। लेकिन, शक्तिपात तीव्रतम होने पर बुद्धिगत दोष-समूह के बीज भी नष्ट हो जाते हैं।

शुद्ध जगत् प्रसव करने के समय यही महामायारूपा हो जाती हैं। इस मायारूपा वागीश्वरी से शुद्ध विद्या का कोई सम्बन्ध नहीं होता, नहीं तो क्रमिक कर्मभोग द्वारा सभी को एक ही समय में शुद्ध करने के लिए अनन्त देह-सृष्टि की आवश्यकता नहीं होती। गुरु के लिए शिष्य के चैतन्य को मायारूपा वागीश्वरी से युक्त करके निवृत्ति-कला-प्रधान अध्वा में अर्थात् एक सौ आठ भुवनों में विभिन्न शरीर में सृष्टि करना आवश्यक होता है।

इन देहों की सृष्टि का एकमात्र उद्देश्य यह कि इनके द्वारा पिछले कर्मवासना-निमित्तक अनन्त जन्म, आयु और भोगात्मक फल मिले। इन सारे विभिन्न शरीरों में उन-उन देश-काल और स्वभाव के अनुसार भोग होता है; क्योंकि मन्त्रशक्ति के प्रभाव से ये शरीर एक ही साथ फलोन्मुख होते हैं। यह नहीं कि नाना प्रकार के भोग के लिए शिष्य का शुद्ध शरीर ही विभिन्न प्रकार का और बहुसंख्यक होता है। किन्तु, वह निर्दिष्ट भोग के लिए उसी प्रकार के विभिन्न जीवभाव में भी वागीश्वरी की योनि में संयोजित होता है। ऐसे में दीक्षा का पात्र एक ही होने के बावजूद विभिन्न शरीर धारण करने के नाते उसे अनेक कहा गया है। अनेक देह के आश्रयस्वरूप देह और विचित्र भोग्य के सम्बन्ध से एक होते हुए भी उसमें अनेकत्व आविर्भूत होता है। वागीश्वरी के गर्भ में शिष्य के चैतन्य को संयोजित करने के बाद सभी गर्भ में एक साथ शतरुद्र से अनन्त तक परमेश्वर-भाव से आविष्ट गुरु की इच्छा से अनेक प्रकार की देह सम्पन्न होती है। इसके बाद गर्भ से निःसरण होता है। इसी का नाम जन्म है। पाश के नाश के लिए जो छह संस्कार हैं, उनमें यही प्रथम संस्कार है।

जन्म के बाद अधिकार आदि और भी पाँच संस्कार हैं, यह कहा जा चुका है। वे देह सभी योनियों में एक ही साथ बढ़ती रहती हैं। और, तब उनमें भोग का अधिकार पैदा होता है। माया के अन्तर्गत भोग ही कर्म का फल है। कर्म शुद्ध या अशुद्ध वासनात्मक होते हैं। इन कर्मों से भोग क्रमशः उत्पन्न होता है, लेकिन मन्त्रशक्ति के प्रभाव से अ-क्रम से एक ही साथ सारे भोग निष्पन्न हो सकते हैं। अनेक जन्मों के संचित पिछले कर्म जल जाते हैं और भविष्य के कर्म की वृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है। भोग से केवल देहात्मक कर्म ही नष्ट होता है। कर्म के अनुष्ठान से भोग के साधन प्राप्त होने पर सुख-दुःखात्मक भोग के अनुभव का अवसर मिलता है। भोग के निवृत्त हो जाने पर कुछ समय के लिए एक अनिर्वचनीय तृप्ति आती है, यह परम प्रीति की अवस्था है। तन्त्रशास्त्र में उसे लय कहा गया है। इसके बाद निष्कृति नाम के संस्कार की जरूरत पड़ती है। शुभ अथवा अशुभ कर्म से वीरभद्र भुवन तक विभिन्न भुवनों में जन्म, आयु, भोग—इन तीन फलों का अनुभव होता है। इसी को शुद्ध करने के लिए निष्कृति-संस्कार की आवश्यकता होती है। भुवनाकार

विषय में जो सव विषय भोग्यरूप होते हैं, उन्हें शुद्ध करना जरूरी होता है। निष्कृति के साथ-साथ सभी कर्मों का फलभोग समाप्त हो जाता है। यह नहीं कि इससे केवल जन्म आदि की ही शुद्धि होती है, बल्कि रुद्रांश-प्राप्तिरूपा शुद्धि भी उत्पन्न होती है। निष्कृति भोग की समाप्ति की सूचक है। इसके बाद भोग से विश्लेष होता है। अर्थात् भविष्य में भोग से किसी प्रकार का सम्वन्ध नहीं होता। क्योंकि, उस समय भोक्ता में भोक्तृत्व नहीं रहता। आणव मल के कारण जो विषयासक्ति या राग उत्पन्न होता है, उसी का नाम है भोक्तृत्व। विश्लेष अथवा भोगभाव सम्पन्न हो जाने पर भूतसर्ग-रूप नाना प्रकार के स्थूल, सूक्ष्म आदि शरीर नष्ट हो जाते हैं। उनके फिर से होने की सम्भावना भी नहीं रहती।

इस प्रकार दीक्षा से तीनों प्रकार के ही पाशों का विश्लेष होता है। उस समय सब शरीर नष्ट हो जाता है, इसलिए गुरु शिष्य को अविच्छिन्न चैतन्य के रूप में देखते हैं। पाश-सम्वन्ध से विमुक्त चैतन्य शुद्ध निवृत्ति-कला पर स्थित और सोने की दीप्ति-जैसा दमकता है। ऐसे में निवृत्ति द्वारा व्याप्त पृथ्वी-तत्त्व से शिष्य को उठा लेना होता है। यद्यपि निवृत्ति की शुद्धता के कारण यह चैतन्य निर्मल होता है, तथापि चूँकि तवतक अन्यान्य कला की शुद्धि नहीं हुई होती है, इसलिए उसे मलयुक्त ही कहना पड़ता है। उस चैतन्य को पृथ्वी-तत्त्व से खींचकर गुरु प्रणवपुटि में हंसबीज के आकार में संहार-मुद्रा द्वारा पूरक क्रिया के सहारे अपने हृदय में ले आते हैं। उसके बाद कुम्भक और द्वादशान्त में रेचन करके फिर से द्वादशान्त से उठाकर नाड़ीरन्ध्र के द्वारा शिष्य के हृदय में पहुँचा देते हैं। तन्त्रशास्त्र में इस क्रिया को 'तत्स्थीकरण' कहते हैं।

निवृत्ति-कला के शुद्ध हो जाने पर उस कला के अधिष्ठाता ब्रह्मा का आवाहन करके पूजन और तर्पण करना होता है। उसके वाद शिष्य के पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्म देह का कुछ अंश उन्हें अर्पण करना होता है। पुर्यष्टक शब्द का अर्थ है पुरी या सूक्ष्म देह के आरम्भक पंच तन्मात्रा और मन, बुद्धि तथा संस्कार—ये आठ अवयव। इन आठ अवयवों से शब्द और स्पर्श—ये दो अवयव ब्रह्मा को अर्पण करना और उसके वाद परमेश्वर निम्नोक्त आदेश सुना देना होता है :

> "भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया।
> प्रतिवन्धः प्रकर्त्तव्यः यातुः पदमनामयम् ॥"

(द्रष्टव्य : मालिनीविजय)

हे भुवनेश्वर! भगवान् शिव के आदेशानुसार परमपद के यात्री इस साधक की राह में विघ्न मत डालना।

इसके अन्तर्गत पूजा, होम आदि करके उसके बाद ब्रह्मा, फिर वागीश्वरी का विसर्जन करना चाहिए। वागीश्वरी वास्तव में स्वातन्त्र्य शक्तिरूपा परावाक् का ही स्फुरण-मात्र है। इसलिए, परावाक् से उसका एकत्व करना ही उसका विसर्जन है। इसके बाद विशुद्ध निवृत्ति-कला में विशुद्ध पाशों का दर्शन करना होता है। इसके फलस्वरूप पिछला और भविष्य का—दोनों ही प्रकार का कर्म कट जाता है। यह साफ देखने में आता है; क्योंकि पुत्रक शिष्य मुमुक्षु होता है, इसलिए साधक की नाईं फल की ओर उन्मुख नहीं होता।[1] फलदान के लिए उन्मुख वर्त्तमान या प्रारब्ध की शुद्धि का विधान नहीं है। केवल भोग से ही उसे क्षीण करना पड़ता है।

इस तरह, निवृत्ति-कला की शुद्धि के बाद उसका सन्धान आवश्यक है। साधारणतः यह दो प्रकार से किया जाता है—१. शुद्ध कला का सन्धान और २. प्रतिष्ठा कला के सम्बन्ध के कारण अशुद्ध कला का सन्धान। सम्पूर्ण पाश के शोधक एकादश अंग विशिष्ट निष्कल मन्त्र ही शोधन करता है। शुद्ध कला का वाचक होने के नाते इस निष्कल मन्त्र को शुद्ध कहा जाता है। और, अशुद्ध कला का वाचक होने से इसी को अशुद्ध कहा जाता है। शुद्ध निवृत्तिवाचक निष्कल का उच्चारण किसी स्वरूप से किया जाता है। इसका स्वरूप परबिन्दु तक व्यापक और फैलनेवाला होता है। इन दोनों का एकत्व अथवा सामरस्य करते-करते और शुद्ध निवृत्ति को लीन तथा अशुद्ध प्रतिष्ठा को उद्बुद्ध करने के लिए तद्वाचक[2] मूल मन्त्र के साथ भावना को एकीभूत करके उच्चारण करना होता है।

प्रतिष्ठा-कला का शोधन

इसके बाद पूर्ववर्णित प्रणाली से प्रतिष्ठा-कला के शोधन का विधान है। यहाँ भी पहले की भाँति कला-सन्धान, प्रतिष्ठा-कला की प्राप्ति का दर्शन, वागीश्वरी के गर्भ से जन्म और उसके बाद के अधिकार आदि विश्लेष तक सारी क्रियाएँ ही

१. शिवधर्मी दीक्षा में साधक को भी जन्मान्तर से संचित शुभाशुभ एवं वर्त्तमान जन्म में भावी कर्म को शुद्ध करना होता है। केवल मात्र भावी मन्त्र-आराधना-रूप कर्म का शोधन नहीं किया जाता; क्योंकि इन कर्मों से विभूति का आविर्भाव होता है। लोकधर्मी दीक्षा में लौकिक साधक के पिछले और अगले कर्म में अधर्म के अंशमात्र को नष्ट किया जाता है, धर्मांश को रख दिया जाता है। दीक्षा के प्रभाव से यह धर्मांश अणिमादि विभूतिरूप फल देता है।

२. निवृत्ति आदि पाँच कलाओं के बीजमन्त्र को क्रमशः हृत्, शिरः, शिखा, कवच और नेत्र मन्त्र कहा जाता है।

करनी पड़ती हैं। परन्तु कहीं-कहीं निवृत्ति से विशिष्टता देखने में आती है। यहाँ ताड़न, प्रोक्षण आदि कार्य क्रिया-प्रधान ऐश्वर्य-मूर्त्ति में और अधिकार, भोग, लय तथा निष्कृति शिवभावापन्न[1] होकर करना होता है एवं विश्लेषण एक चैतन्य भावना तथा उद्धार आदि क्रिया ज्ञानशक्ति-प्रधान सदाशिव-रूप में होती है। परन्तु क्रियाशक्ति-प्रधान ईश्वर-रूप में नहीं होती। प्रतिष्ठा-कला के अधिपति हैं विष्णु। इन्हें पूर्व-प्रणाली के अनुसार रस अर्पण करना होता है। इन्हें भी पहले की भाँति भगवत् आदेश सुनाकर विसर्जन करने के बाद परावाक् में वागीश्वरी को विसर्जन करना होता है। इसके बाद पहले की तरह कला-सन्धान करना आवश्यक है।

विद्याकला का शोधन

इस प्रकार पशु जब दो कलाओं से मुक्त होता है, तो उसके चैतन्य को विद्या से युक्त करके शुद्ध करना होता है। इसमें भी सारी प्रक्रिया पहले जैसी ही होती है। परन्तु विश्लेषण और पाशच्छेद के बाद आत्मस्थता और तत्स्थीकरण करना जरूरी है। इस कला के अधिपति रुद्र हैं। उनका आमन्त्रण करके पुर्यंष्टक का गन्धरूप अंश अर्पण करना चाहिए।

शान्ति और शान्त्यतीत कला का शोधन

शान्ति और शान्त्यतीत कला के शोधन में नई कोई प्रक्रिया नहीं, लेकिन यहाँ पुर्यंष्टक के अहंकार-रूप अंश को शान्ति के अधिष्ठाता ईश्वर को और मनरूप अंश को शान्त्यतीत के अधिष्ठाता सदाशिव को अर्पण करना होता है।

पंचकलाविशिष्ट दीक्षा समाप्त होने के बाद वागीश्वरी से क्षमा-प्रार्थना का विधान है।

पुर्यष्टक-अर्पण

पुर्यंष्टक-अर्पण का तात्पर्य क्या है? पहले यह दिखाया गया है कि शिष्य के पुर्यंष्टक को ब्रह्मादि पंचकारण में अर्थात् कलाधिष्ठाता देवता को अर्पण करना चाहिए। ये पंचदेवता समस्त अध्वा के प्रतिष्ठाता हैं। ब्रह्मा में शब्द और स्पर्श का अर्पण करना चाहिए। यह ब्रह्मा वास्तव में परम व्यापक रूप में नादान्त के ऊर्ध्व में विराजमान होते हैं। ब्रह्मरन्ध्र के अधिष्ठाता ब्रह्मस्वरूप[2] विष्णु में रस अर्पित

---

१. अधिकार आदि ज्ञान प्रभुत्ववश होता है। सदाशिव आदि सभी स्थलों में एकमात्र शिव ही प्रभु हैं।

२. ब्रह्म में सूक्ष्मतम शब्द और स्पर्श तथा स्पर्श का सम्बन्ध है; क्योंकि यह नादान्त और शक्ति के बीच की अवस्था है।

होता है। ये प्रसरणमय शक्तिस्वरूप[1] हैं। रुद्र को रूप और गन्ध का समर्पण होता है। ये परम व्यापक रूप में व्यापिनी पद पर अवस्थित अनाश्रित नाथ[2] हैं। यह स्मरण रखना होगा कि व्यापिनी शून्य का दूसरा नाम है। बुद्धि और अहंकार-रूप अंश ईश्वर को ही अर्पित होता है। यह ईश्वर समना पद पर आरूढ़ सृष्टि के अधिकार से युक्त शिव का ही नामान्तर है।[3] मन सदाशिव को अर्पित होता है। यह सदाशिव निर्मल स्वातन्त्र्यमय चिदानन्दघन परम शिव का ही स्वरूप है।[4] इन देवताओं को पुर्यष्टक का अंश समर्पित करने का उद्देश्य यह है कि इस उपाय से सूक्ष्मदेह में सूक्ष्मतम संस्कार भी शान्त हो जायगा। आत्यन्तिक रूप में सूक्ष्म देह के निवृत्त हो जाने से कहा जा सकता है कि दीक्षा का पहला उद्देश्य पूरा हुआ।

शान्त्यतीत कला शुद्ध होकर परम शिव में लीन हो जाती है। यह परम शिव स्वातन्त्र्यमय और व्यापिनी से पृथ्वी तक सब प्रकार के भाव और अभाव की भित्ति की नाईं महाशून्य का आश्रय है। स्वातन्त्र्य-शक्ति ही उन्मना है, महाशून्य समनात्मक।

ऊपर के विवरण द्वारा मायातत्त्व तक अध्वशुद्धि दिखाई गई है। यहाँ तक अध्वा आत्मतत्त्व द्वारा व्याप्त है और परम दृष्टि से देखने से यही प्रमेय-स्वरूप है। माया के ऊपर शुद्धविद्या से सदाशिव तक अध्वा भगवान् की ज्ञानक्रियात्मिका शक्ति के द्वारा व्याप्त होती है। समग्र अध्वा के इस अंश को परम दृष्टि से प्रमाण और करुणात्मक समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पृथ्वी से माया तक आत्मतत्त्व ही प्रमेय है, शुद्ध विद्या से सदाशिव तक विद्यातत्त्व ही प्रमाण और शक्ति तथा शिवरूप शिवतत्त्व ही प्रमाता है। इन तीन तत्त्वों की शुद्धि से

---

१. विष्णु से सूक्ष्म रस का सम्बन्ध है। क्योंकि, शक्ति मूलतः स्पर्श-प्रधान होते हुए भी प्रस्रवण अवस्था में रसमयी होती है। इसीलिए शक्तिमय विष्णु में सूक्ष्मतम रस का सम्बन्ध माना जाता है।

२. रुद्र में सूक्ष्मतम संस्कार-रूप में अति सूक्ष्म गन्ध की सत्ता है। व्यापिनी अथवा अनाश्रित पद में समग्र विश्व में सन्धायक रूप में रुद्र की स्थिति है। सूक्ष्मतम संस्कार अर्थात् गन्ध पूर्वसृष्ट जगत् के उपसंहार के बाद स्थिति-शील बीजभाव-मात्र है।

३. शिव केवल मननात्मक होते हैं, इसलिए उनसे लीन बुद्धि और अहंकार-वासना का सम्बन्ध रहता है।

४. परमशिव उन्मना-शक्ति से संश्लिष्ट होते हैं। उनमें मनन-संस्कार नहीं रहता, यह सत्य है; पर तान्त्रिक आचार्य कहते हैं कि उनमें अत्यन्त ही सूक्ष्म, सुप्रशान्त मनःसंस्कार का सम्बन्ध होता है।

क्रमश: पूजा, होम आदि विधि और अनुष्ठानगत न्यूनता एवं अधिकतावश मन्त्रोच्चारण में विलोम भाववश तथा मनोविज्ञान-रूप भावना में कैवल्यवश जो त्रुटियाँ होती हैं, उन सबका निराकरण भी जरूरी होता है।

शिखाच्छेद

इसके वाद शिखाच्छेद का विधान है। स्थूल देह में जो शिखा रखी जाती है, वह मस्तक तक ऊर्ध्वगतिशील प्राणशक्ति का अनुकरण है। इस शक्ति का अध:प्रवाह ही वन्धन का हेतु है। वाह्य शिखाच्छेद का मतलव है प्राणशक्ति का उपशम। शान्त्यतीत शक्ति सभी तत्त्वों में व्याप्त है, वह सभी कारणों का कारण एवं सभी उपाधि-रहित तथा निष्कलंक है। इस शक्ति को फूल के अगले हिस्से के जलविन्दु की नाईं शिष्य की शिखा की नोक पर भावना करके मन्त्रपूत कैंची से उस शिखा का छेदन करना चाहिए। उसे प्राणशक्ति का विलापन समझना होगा। जव यहाँ तक ये कृत्य पूरे हो जायँ, तो शिष्य गुरु के शिवहस्त की पूजा करके और मण्डप में परमेश्वर की पूजा करके परमेश्वर की इस तरह से प्रार्थना करेगा—"हे भगवन्! आपकी कृपा से छह अध्वाओं में निवद्ध पशु को खींचकर तथा उसके मल को शुद्ध करके शिखाच्छेद तक सारे कृत्य मैंने आपके वताये हुए क्रम से किये। अव उसे निश्चित रूप से परमशिव अवस्था में पहुँचाने का एकमात्र उपाय आपका निरपेक्ष अनुग्रह है।"

शिवत्वयोजन (क्रियादीक्षा)

योजना के उपयोग की जो क्रियाएँ हैं, उनका तात्पर्य क्या है? पाशशुद्धि के अनन्तर भगवत्-आदेश के अनुसार गुरु को शिष्य की अभेद-सम्पादक क्रिया करनी पड़ती है। इस क्रिया के अन्तर्गत प्राथमिक कृत्य करके उन्हें अंगमन्त्रों को शुद्ध करना होता है। ये सारे मन्त्र श्रीभगवान् के अन्तरंगी शक्ति-स्वरूप हैं। ये चैतन्य-स्वरूप आत्मा के निष्कल स्वरूप को आच्छादित, स-कल भावों को स्फुरित करते हैं और इस प्रकार भेदज्ञान के उत्पादक होते हैं। इन मन्त्रों से यह अनुरोध करना होता है कि वे जिसमें पशु को स-कल भाव में परिणत न करें। योजन-कर्म बड़ा कठिन है। इसी से जीवात्मा और परमात्मा का योग सिद्ध होता है और जीव परमशिव अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इसीलिए स्वच्छन्दतन्त्र में है :

> तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सर्वज्ञादिगुणान्वितः।
> शिव एको भवेद्देवि अविभागेन सर्वतः॥

ज्ञान और योग का अभ्यास नहीं रहने से योजन-क्रिया नहीं की जा सकती।

पुर्यष्टक में यानी लिंग-शरीर में जो अहंकार रहता है, पहले उसे ही शान्त करना होता है। क्योंकि, इस अहंभाव के उपशम हुए विना भगवान् से योग

स्थापित नहीं हो सकता। स्वप्नावस्था में प्राण को आश्रय करके पुर्यष्टक काम करता है, परन्तु सुषुप्ति में इसका आश्रय शून्य होता है। इसीलिए, प्राण और शून्यभूमि को शान्त करना जरूरी होता है। क्योंकि, यद्यपि कारण-अधिष्ठातृ देवतादि को पुर्यष्टक के अवयव अर्पित किये गये होते हैं, तथापि उससे एक हिसाब से मात्र बुद्धि सकल का निरोध हो सकता है। उसके फलस्वरूप भूमि-शुद्धि नहीं होती और भूमि-शुद्धि नहीं होने से योजना-उपयोगी आत्मा आदि की व्याप्ति नहीं हो सकती। प्राण और शून्य के प्रशमन के लिए ज्ञान तथा योग आदि आन्तर क्रिया कुछ-कुछ आवश्यक है। इस प्रसंग में श्वास के देशगत और कालगत परिमाण को जानकर प्राण के आरोहण और अवरोहण—इन दो क्रियाओं के तत्त्व को जानना जरूरी है। इसलिए, पूर्णत्व पाने के लिए जिस परिमाण में अध्वा को अतिक्रम करना पड़ता है, उसकी जानकारी रहना जरूरी है। यह व्यापार, जो तन्त्रशास्त्र में अध्वलंघन नाम से अभिहित होता है, ऊर्ध्वनाद से सम्पन्न होता है। इसका पारिभाषिक नाम है—'हंसोच्चार'।

हंसोच्चार

यह उच्चार दो प्रकार का है: एक स्वाभाविक और दूसरा प्रयत्न से सिद्ध होता है। इस दूसरे प्रकार के उच्चार के प्रभाव से निष्कल मन्त्र के अवयवभूत वर्ण अर्थात् अ, उ, म आदि ब्रह्मादि कारण-वर्ग को और तदनुकूल काल को छोड़ने में समर्थ होते हैं। यहाँ तक की क्रिया कर लेने से प्राण की चंचलता दूर होती है और प्राण शान्ति पाता है। प्राण के उपशम की यही प्रणाली है। इसके बाद शून्यभूमि को शान्त करने की आवश्यकता होती है। इसका सम्यक् ज्ञान जरूरी है; क्योंकि उसके नहीं होने से मन्त्र, आत्मा और नाड़ी आदि का सामरस्य नहीं समझा जा सकता। और सामरस्य को समझे विना परमात्मा से आत्मा का योग कैसे स्थापित होगा? याद रखना है कि ये सव प्रमेय प्रणव के विभिन्न अवयव हैं। इनके नाम हैं—अ, उ, म, विन्दु. अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना। इन सब प्रमेयों को जानकर उनकी प्रत्येक दशा को त्याग कर सकने पर क्रमश: ऊर्ध्व आरोहरूप अवस्था मिलती है। इसे उद्भव कहते हैं। परन्तु, इन दशाओं के त्याग के क्रम को जानने से पहले इनके संयोग-प्रकार को जानना आवश्यक है। ज्ञान एवं मन्त्र-रूपी शूल के द्वारा अर्थात् विशुद्ध ज्ञान और मुद्रा तथा भावयुक्त मन्त्र के वल से ग्रन्थियों का भेद नहीं कर सकने से ऊपर वर्णित दशा-त्याग या उद्भव कुछ भी नहीं हो सकता। इस ज्ञान और योग का मूल है भाव-प्राप्ति अर्थात् सुदृढ़ धारणा और शब्दादि का अनुभव। इन दो प्रकार के भावों के वल पर ही विशुद्ध ज्ञान और योग मिल सकता है। इस स्थिति में शून्य का उपशम हो

जाता है। इतनी दूर तक रास्ता तय कर लेने पर आत्मतत्त्व में अपनी विशुद्ध अवस्था का अनुभव होता है। इसे आत्म-व्याप्ति कहते हैं। इसके बाद विद्यातत्त्व क्रमशः उन्मना में विश्रान्त होने पर विद्याव्याप्ति आयत्त होती है। उसके बाद शिवतत्त्व के परम शिव में समाविष्ट होने पर शिवव्याप्ति सिद्ध होती है। शास्त्र और अनुभव के द्वारा जब इन तीन प्रकार की व्याप्तियों का ठीक-ठीक ज्ञान होता है, तब सही-सही परमतत्त्व-योजन हो सकता है।

प्राणोच्चार-विज्ञान

अब पहले परिमाण-सहित प्राणोच्चार का विज्ञान कह लें। योगीगण कहते हैं—हृदय से प्रसृत होकर प्राण ऊपर की ओर समनाशक्ति के केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र तक संचार करता है। वहुत ही वृहत् से वहुत ही क्षुद्र प्राणी में भी इस प्रदेश का विस्तार अपने-अपने मान के अनुसार छत्तीस अंगुल होता है। प्रांण की यह गति यद्यपि सभी प्राणियों में एक-सी ही होती है, फिर भी कर्म के वैचित्र्य से इसमें भी तारतम्य पाया जाता है। छत्तीस उँगली के इस संचार में जाना और आना—दोनों ही गति शामिल हैं। इसमें प्राण की गति को आरोह और अपान की गति को अवरोह जानना चाहिए। प्राणरूपी सूर्य हृदय में उदित होकर ब्रह्मरन्ध्र में अस्त होते हैं, इसका नाम दिन है। इसके विपरीत अपानरूपी चन्द्र ब्रह्मरन्ध्र में उगकर हृदय में डूबते हैं—इसका नाम रात है। प्राण-अपानरूप इस दिवा-रात्रि में दो सन्ध्याएँ हैं। प्रात:-सन्ध्या का स्थान हृदय है और सायं-सन्ध्या का स्थान वह्मरन्ध्र। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक जाने में प्राण को जितना समय लगता है, उसे षोडश त्रुटि अथवा एक नि:श्वास कहते हैं। इस तरह ब्रह्मरन्ध्र से हृदय तक उतरने में अपान को ठीक उतना ही समय लगता है। इसका नाम प्रश्वास है। दोनों सन्ध्याओं का इसी में अन्तर्भाव समझना होगा। प्रत्येक सन्ध्या एक-एक त्रुटिकाल तक स्थायी होती है। इसलिए प्राण-अपान दोनों के सम्मिलित संचार को सवा दो उँगली कहा जाता है।

जवतक परमतत्त्व का ज्ञान नहीं होता, तवतक प्राण-संचार-क्रिया का अभ्यास करना होता है। प्राणरूपी मन्त्र हृदय से उठकर ज्ञान-विकास के तारतम्य के अनुसार ऊपर की ओर प्रवाहित होता है, लेकिन परमतत्त्व का ज्ञान नहीं रहने के कारण वह ब्रह्मरन्ध्र तक उठकर नीचे लौट आता है, ब्रह्मरन्ध्र को भेद नहीं सकता। मन्त्र सवसे पहले अट्ठारह अंगुल तक उठकर तालु में पहुँचता है। यह रुद्र या मायाग्रन्थि का स्थान है। इस ग्रन्थि को भेद नहीं कर पाने के कारण यह मध्य नाड़ी के द्वारा भ्रू-मध्य ईश्वर-स्थान को जाता है। फिर भ्रू-ग्रन्थि को नहीं भेद पाने के कारण बाद की छह अंगुलि वहीं रह जाता है। यहाँ से वगल की दो नाड़ियों के सहारे अन्तिम वारह अंगुलि प्राण ब्रह्मरन्ध्र तक जाता है। पर, शाक्त-बल नहीं रहने से वह ब्रह्मरन्ध्र को नहीं भेद सकता। इसलिए, शेष वारह अंगुलि यहीं रह जाता है। वहीं प्राण का अस्त होता है। इसके बाद अपान-क्रिया के अनन्तर वह फिर हृदय-देश से उठता है। इस प्रकार, यह कार्य निरन्तर चलता है। यह दुर्वल अधिकारी की वात हुई।

लेकिन, जिस साधक को शाक्त-वल होता है, उसका प्राण सभी ग्रन्थियों में जाने में समर्थ होता है। परतत्त्व के ज्ञान से सम्पन्न होने पर चाहे जिस ग्रन्थि में ही स्थित हो, प्राण की गति बाधित नहीं होती। यानी देहादि में प्रमातृभाव उदित होकर उसे अधीन नहीं कर सकता। परज्ञान के कारण देहादि में विद्यमान अहंकार से वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। प्राण के ऊर्ध्व-संचार की मात्रा के अनुसार अज्ञान से ज्ञान के उदय एवं उसके वाद ज्ञान की वृद्धि का एक निर्दिष्ट क्रम देखने में आता है। जिस समय प्राण शक्ति से रुकावट पाकर नीचे की ओर जाता है, उस समय साधक अज्ञान की अवस्था में रहता है। यह 'अवुध' अवस्था है। उसी समय ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जिस समय वह हृदय में स्थित होकर हृदय से ऊपर की ओर उठना शुरू करता है, वह उसकी 'बुध्यमान' अवस्था होती है। उस समय ज्ञान की उत्पत्ति होती रहती है। ऊपर उठते-उठते जव उसे शक्ति प्राप्त होती है, उस समय की अवस्था का नाम 'वुध' अर्थात् ज्ञानी है। शक्ति-वल प्राप्त होने पर तत्त्वारोहण का कौशल जाना जा सकता है—उसके फलस्वरूप व्यापिनी तक पहुँच पाने से साधक की अवस्था का नाम होता है—प्रबुद्ध। इससे भी ऊपर उठकर समना तक सभी अध्वाओं को पार कर सकने से 'सुप्रबुद्ध' अवस्था की प्राप्ति होती है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि यह अवस्था ब्रह्मरन्ध्र के भेद के वाद ही आती है। सुप्रबुद्ध अवस्था में परमतत्त्व का आभास मिलता है। उस समय मन का संस्कार भी क्षीण हो जाता है, इसलिए उन्मना-भाव की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में अणुतम से महत्तम तक काल का स्पर्श नहीं रहता, निवृत्ति आदि कोई कला नहीं रहती, प्राण और अपान का संचार भी नहीं रहता, पृथ्वी आदि छत्तीस तत्त्व भी नहीं रहते और ब्रह्मा, विष्णु आदि कारण-वर्ग भी नहीं रहता है। यह परम अद्वय और परम शुद्ध अवस्था है। इस अवस्था का अनुभव होने से जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है।

षडध्वा

प्राण में ही छह अध्वाएँ अवस्थित हैं। सूक्ष्म और स्थूल—प्राण दो प्रकार का है। प्राण-संचार के प्रसंग में जिस प्रकार के बारे में कहा गया, वह स्थूल प्राण है। सूक्ष्म प्राण में संचार नहीं होता। परन्तु, स्थूल प्राण का एक परिमाण है–यह मात्र छत्तीस अंगुल है। यहाँ अध्वा के आश्रयरूप जिस प्राण की बात कही गई, वह सूक्ष्म प्राण है। विशेष सकल में सामान्य का आभास रहता है—उसे तत्त्व कहते हैं। शरीर और भुवन आदि की रचना का मूल उपादान यही तत्त्व है। देह, मृत्तिका, काठ, पत्थर आदि में जो कठोरता है, वह पृथ्वी-तत्त्व है। ऐसा ही दूसरे तत्त्वों के बारे में भी जानना चाहिए। यह सामान्य का आभास परमचिद् भित्ति में भासमान होता है।

भासमान तो होता है, पर परमचिद् भूमि में यह सब चिदेकरस रहता है, इसलिए वहाँ किसी प्रकार का विभेद नहीं रहता। संकोच के समय चित्शक्ति पहले प्राण का रूप लेकर देह में व्यापक होती है और विभिन्न तत्त्व के रूप में स्फुरित होत रहती है। छह अध्वाओं में इसी का नाम तत्त्वाध्वा है। पाँव से माथे तक काठिन्य के रूप में जिस चित्शक्ति का भान होता है, वही तत्त्वाध्वा और भुवनाध्वा है। समग्र देह में व्यापक सूक्ष्म प्राण में और-और अध्वाओं का विभाग जानना चाहिए। निवृत्ति और प्रतिष्ठा-कला देह के अधोभाग में, विद्या आदि तीन कला ऊपरी भाग में हैं। आत्मा की शुद्ध दशा शान्त्यतीत कला के भी बाद की है। उससे भी ऊपर उन्मना और परतत्त्व के सामरस्यरूप अव्ययपद है। मन्त्रकला सकल की स्थिति भी प्राण में ही जानिए। वर्ण है शब्द, शब्द है ध्वन्यात्मक प्राण का नवरूप। इसीलिए, ध्वनिरूप प्राण से ही वर्णों का उदय और ध्वनि में ही वर्ण का लय होता है। इसलिए वर्णाध्वा भी प्राण में स्थित है। शब्दातीत हो सकने से परमतत्त्व से अभेद होता है और विभुत्व का आविर्भाव होता है। वैसे में धर्म-अधर्म और प्राण-अपान आदि सभी द्वन्द्वों का नाश होता है।[1] वर्ण की नाईं मन्त्र और पद भी प्राण में प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि वे भी शब्दात्मक हैं।

हंसोच्चार और वर्णोच्चार

अब संक्षेप में हंसोच्चार और वर्णोच्चार की चर्चा की जायगी। परमेश्वर की बोधरूपा शक्ति विश्व को गर्भ में धारण करके पराकुण्डलिनी-रूप में और विमर्शात्मिका के नाते नादात्मिका कुण्डलिनी-रूप में स्फुरित होती है।[2] इसके बाद यह भीतर ही वर्णकुण्डलिनी-रूप को अभिभूत कर प्राण-कुण्डलिनी रूप में भासमान होती है। यही प्राण 'हंस' है। स्वभावतया ही यह ऊपर-नीचे चलता रहता है। इसके इस प्रकार से चलने से 'ह'कार और 'स'कार विमर्श-रूप में उसका भान होता है। यहाँ 'ह'कार का धर्म-त्याग और 'स'कार का धर्म-ग्रहण। इस नाद-रूपी हंस का जो स्वाभाविक उच्चार है, वही परिस्फुट वर्ण का उच्चार है। यह वर्णोच्चार योगियों के भ्रू-मध्य

१. अधर्म के प्रभाव से स्थावर तक देह की प्राप्ति होती है। ये देहें अपान-प्रधान होती हैं। धर्म के प्रभाव से प्राणप्रधान शक्ति अथवा समना-भूमि तक देवादि योनि की प्राप्ति होती है। परन्तु, विज्ञान-बल से अद्वय-बोध होने पर दोनों का त्याग होता है और जीवित रहते ही सर्वव्यापकत्व और विभुत्व आता है।

२. विश्वगर्भा यह कुण्डलिनी-शक्ति सोये साँप जैसी होती है। स्वभावतः ही यह नादमय या विमर्शमय रूप त्याग करके प्राणात्म रूप धारण किये हुए हैं।

स्थान में अनुभूत होता है। यह विन्दु अविभक्त ज्ञानरूप है। जगत् के सब प्रकार के भेद अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं के सम्पूर्ण भेद के वाचक अ, उ और म—ये तीन मात्रा हैं। इन तीनों को पिण्डित या मिलित करने से जिस ज्योतिर्मय ज्ञान का उदय होता है, उसी का नाम विन्दु है। इसकी उपलब्धि भ्रू-मध्य में होती है। इसके वाद मस्तक अर्थात् ललाट पर अर्द्धचन्द्र स्थान पर पहुँचने से ऊपर वर्णित वर्णोच्चार विन्दुरूप में भी सूक्ष्म रूप धारण करता है। विन्दु-अवस्था में विभिन्न ज्ञेयों का भेद विगलित होकर उनके अभिन्न ज्ञेय रूप का भान होता है। परन्तु, इसमें ज्ञेयांश की प्रधानता होती है, ज्ञानांश की नहीं। लेकिन अर्द्धचन्द्र में ज्ञानांश के वढ़ने के कारण ज्ञेयांश की प्रधानता कम होती रहती है। इसके बाद उच्चार निरोधिका अवस्था में उपस्थित होता है और ज्ञेयभाव की प्रधानता बिलकुल जाती रहती है और परिस्फुट रेखा-रूप में ऊर्ध्वोन्मुख प्रतीत होता रहता है। इस रेखा से नाद में प्रवेश होता है। पर, अयोगी के लिए यह नादमार्ग का रोधक है। इसीलिए, इसका नाम 'निरोधिका' है। इसके बाद वर्णोच्चार नाद और नादान्त भूमि का अवलम्बन करता है। यह ईश्वरपद है—यहाँ ज्ञेयभाव अभिभूत रहता है और विभिन्न वाचक शब्द का अभेद ज्ञान प्रधानत: स्फुरित होता है। स्मरण रखना होगा कि वाच्यवर्ग का अभेद विन्दु में होता है और वाचक-वर्ग का अभेद नाद और नादान्त में होता है। इसके बाद प्राण ब्रह्मरन्ध्र या शक्ति-स्थान में एक प्रकार का दिव्य स्पर्श करके कौशलपूर्वक ऊर्ध्वप्रवेश करके व्यापिनी में व्यापकत्व-लाभ करता है। त्वक् से जहाँ केश का सम्बन्ध है, वही व्यापिनी का अनुभव-स्थान है। इसके वाद समनापद में अर्थात् शिखा के संग केश के सम्बन्ध-स्थान में वह विशुद्ध मनन-रूप में स्थित होता है। यह मन्तव्यहीन मनन अथवा विशुद्ध मन की अवस्था है। प्राणात्मक हंस जब उसे भी पार करता है, तो वह शुद्ध आत्म-स्वरूप में प्रकाशमान होता है। इसका स्वभाव है मन का उल्लंघन। अर्थात् समना तक ज्ञानक्रिया आदि सभी क्रमयुक्त हैं, समना के ऊपर शुद्ध आत्मा अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेती है तो क्रमलंघन होता है। इस समय एक ही समय में समग्र विश्व अभेद में प्रकाशित होता है। यह अभेद-प्रकाश उन्मना-शक्ति का व्यापार है। उन्मना-शक्ति के आश्रय में शुद्ध आत्मा परमेश्वर-अवस्था प्राप्त करती है अर्थात् चिदानन्दमय परमशिव से आत्मा का अभेद हो जाता है।

इस प्रकार, शिवत्व-लाभ से प्राणात्मक संचार हीन हो जाता है। प्राण का सिकुड़ना और फैलना अब नहीं रहता। वह व्यापक होता है—छत्तीस तत्त्वमय समग्र विश्वरूप में और साथ-ही-साथ विश्वातीत रूप में स्फुरित होता रहता है।

अब वर्णों के कारण-त्याग के बारे में कहना है। निवृत्ति आदि कला के अधिष्ठाता हृदय आदि प्रदेश से ब्रह्मा आदि देवगण के साथ निष्कल मन्त्र के अवयव

अकारादि वर्ण का वाच्य-वाचक सम्बन्ध है।[1] ये सब वर्ण छह कारणात्मक देवता का उल्लंघन करके परावाक्-स्वरूप में सर्वकारण, कारण परमेश्वर-स्वरूप में लीन होता है। इनमें से प्रथम तीन भूमि में वाच्य और वाचक आपस में भिन्न या पृथक् रहते हैं। परन्तु, बिन्दु में या उससे ऊपर उनमें कोई भी भेद नहीं रहता। अ, उ, म क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का वाचक होते हुए भी साक्षात्भाव से ब्रह्मादि रूप में वर्णित नहीं हो सकते, परन्तु बिन्दु साक्षात् ईश्वर-रूप है। उसी प्रकार, नाद स्वयं सदाशिव-रूप एवं समना तक शक्ति आदि स्वयं शिवतत्त्व हैं[2]—ऐसा कहा जा सकता है। समना का लंघन होने पर योगी शुद्ध आत्मरूप में प्रतिष्ठित होता है और उन्मना-शक्ति में अनुप्रविष्ट होकर परमशिव-भाव प्राप्त करता है। उन्मना का वस्तुतः त्याग नहीं होता—उन्मना के आश्रय में परमशिव-भाव-प्राप्ति को ही उन्मना के त्याग-रूप में वर्णित किया जाता है।

भाव में आपेक्षिक स्थूलता और सूक्ष्मता देखी जाती है। आरोहण-क्रम में चरम अवस्था में परम सूक्ष्म भाव की प्राप्ति होती है। भावसकल की इस परा अवस्था का परासत्ता के रूप में वर्णन किया जाता है। सर्वकारणभूत परमेश्वर ही इस आत्यन्तिक सूक्ष्मता के विश्राम हैं। वह अखण्ड रूप है, इसलिए अनन्त खण्ड कारण सकल का अभाव-रूप है। इसीलिए कहीं-कहीं उसे 'अभाव' या 'असत्' भी कहा जाता है। समना सारी ही उपाधियों से परे है, इसीलिए उसे अलक्ष्य (अलख) कहते हैं—वह इन्द्रिय और मन के व्यापार के अतीत है। द्रष्टामात्र के कारण उसमें दृश्यात्मक कोई भाव नहीं। वास्तव में, व्यवहार में अभाव पदवाच्य होते हुए भी वह चिदानन्दघन परम सत्ता है। उसी की प्राप्ति मोक्ष है। इस परमभाव की तुलना में उन्मना-शक्ति को भी अपरभाव कहा जा सकता है। उन्मना यद्यपि परमेश्वर की समवायिनी शक्ति है, फिर भी आत्मविमर्शरूपा होने के नाते यह अपरभाव है, परभाव नहीं। उन्मना की तुलना में समना अपरभाव है; क्योंकि उन्मना व्यापक है, समना उसका व्याप्य।

---

१. ब्रह्मा का स्थान हृदय हैं, विष्णु का कण्ठ और रुद्र का तालुमध्य। बिन्दुरूप ईश्वर का स्थान भ्रूमध्य, नादात्मक सदाशिव का स्थान ललाट से मूर्धा तक और शिव की अंगभुत शक्ति व्यापिनी तथा समना का स्थान मूर्धा के मध्य से क्रमशः ऊपर-ऊपर है। बिन्दु अर्द्धचन्द्र और निरोधिका तक व्याप्त होता है। नाद की व्याप्ति नादान्त तक। आनन्दमयी स्पर्शानुभूति के अन्त में शक्ति का त्याग होता है। उसी तरह निर्विषयक मनन-मात्र का अनुभव होने पर समना का त्याग होता है।

२. यह शिव सदाशिव की अपेक्षा असव्या, पर परमशिव की अपेक्षा सव्या है।

वास्तव में, तो समना उन्मना से अलग नहीं है। इस प्रकार, व्यापिनी समना का अपरभाव है। व्यापिनी चूँकि सभी भावों को अपने में धारण करती है, इसलिए वह महाशून्य पदवाच्य है। समना भी शून्य ही है, पर यह व्यापिनी की परावस्था है; क्योंकि महाशून्य को अतिक्रम कर सकने से ही समना की सत्ता प्राप्त की जा सकती है। व्यापिनी का अपरभाव शक्ति है– यह आनन्दरूपा है, स्पर्श-अनुभूतिमयी है। इस आनन्दानुभव को काट सकने से ही व्यापिनी का अनुभव सम्भव होता है। स्पर्शरूपा शक्ति का अपरभाव नाद और व्यापी नाद है। योगी शब्दरूप में स्पष्ट ही इसका अनुभव प्राप्त करता है। कहना नहीं होगा, शब्दानुभव निवृत्त होने से ही स्पर्श का अनुभव आनन्द के रूप में लक्षित होता है। नाद का अपरभाव है विन्दुरूप ज्योति, जो अर्द्धचन्द्र और निरोधिका तक व्याप्त है। ज्योति का अपरभाव है मन्त्र। अकार, उकार और मकार-रूप वर्ण-परामर्श ही मन्त्र है। यहाँ अर्थवाचक मन्त्र से अभिप्राय है। मन्त्र का अपरभाव पृथग्भूत वाच्य अथवा कारण-वर्ग—अर्थात् रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा है। इसी ब्रह्मादि कारणत्रय का अपरभाव पद की आश्रयभूत तत्त्व-समष्टि है। इसके बाद तत्त्वों का अपरभाव है भुवन। भुवन सबसे अधिक स्थूल है। इसके बाद और अपरभाव नहीं है।

भावों का यह परत्व-अपरत्व आपेक्षिक दृष्टि से सूक्ष्मता और स्थूलता का ही दूसरा नाम है। सारा भुवन ही पंचभूत का दूसरा नाम है। जो सब भुवन माया, विद्या आदि पद में विद्यमान हैं, वे सब सूक्ष्म तत्त्व से रचित हैं। सारे ही भुवन अपने-अपने कारण द्वारा अधिष्ठित हैं। वास्तव में, ये सभी शिव के छह स्थूल या अपररूप के अन्तर्गत हैं। ऐसे साकार रूप के ध्यान से नाना प्रकार की सिद्धि मिल सकती है, पर मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष केवल परम या चिन्मय रूप के ध्यान से ही हो सकता है। यह योगी के लिए ही सम्भव है। योगी भगवान् के भुवन आदि साकार रूपों को भी चिदानन्दमय शिवरूप में ही ध्यान करते हैं, साकार भाव से नहीं करते।

परमेश्वर के छह प्रकार के स्थूल रूप हैं—

१. भुवन—इसके चिन्तन से भुवनेश्वरत्व प्राप्त होता है।

२. विग्रह—ब्रह्मादि कारण देवताओं के विग्रह-चिन्तन से तद्रूपता प्राप्त होती है।

३. ज्योति अथवा विन्दु—इसके ध्यान से योग-सिद्धि-लाभ होता है और योग के प्रकर्ष से ज्योति के साथ तन्मयता होती है तथा श्रेष्ठ योगी-पद में प्रतिष्ठा होती है।

४. व्यापिनी या आकाश—इसके ध्यान से शून्यात्मभाव का उदय होकर बिन्दुत्व पैदा होता है।

५. नाद या शब्द के ध्यान से शब्दात्मभाव होता है और समस्त वाङ्मय पर अधिकार होता है।

६. मन्त्र-जप, होम या आराधना से इसकी आराधना के फलस्वरूप मन्त्रसिद्धि होती है।

परन्तु, मोक्ष की प्राप्ति परमशिव के ध्यान से होती है। चूँकि परमशिव द्रष्ट्वस्वरूप हैं, इसलिए दृश्यरूप में उनका ध्यान नहीं किया जा सकता। उसकी परम सत्तात्मक चिद्रूप में भावना करनी होती है। सदाशिव से पृथ्वी तक सभी भावों का निरालम्बन करना ही उनकी भावना है। ये सारे भाव जब प्रशान्त रूप या अरूप होकर शक्तिधाम में अनुप्रविष्ट होते हैं, तभी शक्तिमय हो जाते हैं। इसी का नाम है भाव-समूह की अवलम्बन-शून्यता या चित्‌तत्त्व की भावना। इसके फलस्वरूप उपाधिहीन परमतत्त्व की प्राप्ति होती है। यही कारण-त्याग का रहस्य है।

इसके बाद काल-त्याग होता है। समस्त अध्वा काल में प्रतिष्ठित होने के कारण समझना होगा कि देश और काल दोनों का भित्ति-प्राण है। आकार की भिन्नता के कारण जैसे देशाध्वा का विभाग अथवा देशक्रम का आभास पैदा होता है, वैसे ही क्रिया के वैचित्र्य से कालाध्वा का विभाग होकर कालक्रम का प्राविर्भाव होता है। प्राण परमेश्वर की शक्ति है। इसीलिए अन्त में सभी अध्वा चित्‌स्वरूप में ही विश्रान्त होते हैं। अतएव अमूर्त्त, सर्वगामी और निष्क्रिय चैतन्य की मूर्त्ति और क्रियारूप में स्फूर्त्ति ही 'देश' और 'काल' के नाम से परिचित है। काल ईश्वर की विश्व-आभासक क्रिया-शक्ति का रूप है। परमात्मा की यह नित्यरूपा माया प्रमाता की दृष्टि में काल-तत्त्व है। काल को जबतक प्राण में लीन नहीं किया जाता, तबतक परम तत्त्व की स्थिति असम्भव है। काल के प्रभाव से ही प्राण का उच्चार होता है, प्राण के उच्चार से मातृका या वर्णों का उदय होता है। वर्ण-सकल उदित होकर सारे वाचक शब्द में व्याप्त होते हैं और वाचक वाच्य अर्थ में व्याप्त होता है। इसीलिए जगत् के सारे पदार्थ काल की कलना के अधीन हैं।

तान्त्रिक आचार्यगण कहते हैं, परम प्रकाशरूप परमेश्वर अथवा व्यापक सत्ता की भित्ति से हृदय से द्वादशान्त तक भवनशील प्राण-संचार में अर्थात् छत्तीस अंगुल परिमित प्रदेश में एक-एक कर अष्टभैरव का उदय होता है। स्थूल प्राण सोलह त्रुटि परिमित होने से एक-एक भैरव दो-दो त्रुटियों को आश्रय करके कार्य करते

रहते हैं। अपान में भी यही होता है।[1] अनुभव-योग्य काल का आदिरूप (सूक्ष्मतम) है त्रुटि और अन्त या महान् रूप है—महाकल्प। यह वह महाकल्प नहीं, जिसके अन्त में ब्रह्मा का अन्त होता है। यह वह महाकल्प है, जिसके अन्त में महाशिव का अन्त होता है, अर्थात् परम महाकल्प। भूलोक, पितृलोक और देवलोक आदि स्थानों के कालमान से जैसे ब्रह्मलोक के कालमान का भेद है, वैसे ही ब्रह्मलोक के कालमान से सदाशिव-लोक के कालमान में भेद है। ब्रह्मा के लय होने पर भी सारी सृष्टि का लोप नहीं होता; क्योंकि उस समय ब्रह्मलोक की ऊर्धतन सृष्टि रहती है। परन्तु, सदाशिव सभी लोकों के ऊपर स्थित हैं और सभी भुवनों के प्रतिष्ठाता हैं। इसलिए सदाशिव के लय से सृष्टि का पूर्ण लय होता है, ऐसा कहा जा सकता है।[2] ब्रह्मा का संहारक काल मात्र एक ही कारण का संहार करता है, परन्तु सदाशिव का संहारक काल पाँचों ही कारणों का संहारक है। जब यह काल ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—इन पाँच अधिष्ठाताओं के साथ इनके भुवन को भी ग्रास करके शक्ति में अनुप्रविष्ट होता है, तो उसकी शान्ति होती है। शक्ति के मस्तक पर स्थित इस काल को अर्थात् परम महाकाल को अपरकाल कहते हैं। तान्त्रिक परिभाषा में त्रुटि से गणना करके इसे षोडश संख्यक काल कहा जाता है।[3] इसीलिए, कभी-कभी इसे केवल 'षोडश' शब्द में भी वर्णित किया जाता है। व्यापिनी में जो साम्य-संज्ञक काल है, वह पूर्वोक्त अपरकाल का अंगीस्वरूप परम काल है। यह 'सप्तदश' काल है। समना में यह भी नहीं रहता। वहाँ के काल का नाम है 'काल विषुवत्'—यह परात्पर या परार्धकाल है। संख्या में यह अट्ठारह है। यही सभी कालों का

---

१. ये त्रुटियाँ काल के कारण हैं। ये प्राण को क्षुब्ध करके काल को उद्बुद्ध करती है। दो क्षण में एक त्रुटि होती है। क्षण, सूक्ष्म और स्फुट अनुभव के योग्य नहीं होता, इसलिए त्रुटि से ही काल की आदिगणना की जाती है। इसका मतलब यह कि त्रुटि से न्यून काल का भान नहीं होता।

२. सदाशिव तक ही विश्व की व्याप्ति हैं। इसीलिए, सदाशिव के लय के साथ-ही-साथ शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकार के अध्वा का लय होता है। यही वास्तविक महाप्रलय है। पर, इस उपसंहृत विश्व की मूलभूत अरूपा शक्ति तब भी रहती है। अतएव, समनाभूमि में जब इसका भी उपशम होता है, तभी वास्तविक महाप्रलय कहना चाहिए।

३. त्रुटि से काल-संख्या इस प्रकार है—१. त्रुटि, २. लव, ३. निमेष, ४. काष्ठा, ५. कला, ६. मुहूर्त्त, ७. अहोरात्र, ८. पक्ष, ९. मास, १०. ऋतु, ११. अयन, १२. वत्सर, १३. युग, १४. मन्वन्तर, १५. कल्प, १६. महाकल्प।

अवयवी है। इसके वाद और काल नहीं है। जो कुछ है, वह नित्य उदित और परार्द्ध तक सभी काल का व्यापक है। उन्मना-अवस्था के अन्त में जब शक्ति और शक्तिमान के अनुभव में अद्वय भाव का आविर्भाव होता है, तो उससे उस नित्य काल का अभिन्न रूप में साक्षात्कार होता है। वहाँ काल नहीं होता। मात्र प्राणोच्चार के द्वारा इस परार्द्ध तक फैले बाह्य काल को शान्त करने के वाद कालातीत पद में स्थिति-लाभ होता है।[१]

शून्य-प्रशमन के लिए भी ज्ञान अपेक्षित है। परमशिव ही परम शून्यपद हैं। अन्यान्य शून्य को जानकर उनका त्याग करने से ही इसकी प्राप्ति होती है। तान्त्रिक-सम्मत सात शून्यों में से छह गतिशील हैं, इसलिए वास्तव में शून्य नहीं हैं। इसलिए छह शून्यों का त्याग करके सातवें शून्य में लय प्राप्त करना होता है। यही परम पद है। यह अवस्थाहीन[२] चिद्रूप सत्तामात्र है। इसी के प्रकाश से सभी भाव और अभाव प्रकाशित होते हैं। इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं। यह लोकोत्तर स्थिति वास्तव में शून्य या अभाव नहीं है, वल्कि प्रमेयादि प्रपंच या भाव से मुक्त होने के कारण ही इसे शून्य कहा जाता है :

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः।।

चूँकि, सभी प्रकार के भेदों का उपशम होता है, इसलिए वह पद परम स्थिर और विश्वातीत है। परन्तु, साथ-ही-साथ वह विश्वमय भी है; क्योंकि यह सत्तामात्र-रूपी शून्य सभी भाव को तिल-तिल, अंश-अंश में व्याप्प किये होता है। व्यापक ही व्याप्त रूप में स्फुरित होता है—व्याप्त उससे कोई अलग वस्तु नहीं। एकमात्र महाप्रकाश ही स्थूल उपाधि के सम्वन्ध से स्थूल होता है, अर्थात् अपने स्वातन्त्र्य-वल से यह स्थूल आभास रूप में भासित होता है। और, स्थूल कहा जाता है। यही

---

१. काल-त्याग की यह जो बात बताई गई, इसे वाच्य देवता का अवधिभूत बाह्यकाल समझना चाहिए। यह बाह्यतत्त्वगत विस्तारमय काल है। इसे प्रशान्त करने के लिए सूक्ष्म मन्त्र कला के उच्चार-काल का आश्रय लेना आवश्यक है। अर्थात् जैसे बीज के नष्ट होने से वृक्ष अपने-आप नष्ट होता है, वैसे ही सूक्ष्म काल के निवृत्त होने से स्थूल काल आप ही नष्ट होता है।

२. उन्मना भी एक अवस्था है; क्योंकि यह परतत्त्व में प्रवेश का उपाय है। इसीलिए, विज्ञानभैरव में इसका उल्लेख 'शैवो मुखमिहोच्यते' कहकर किया गया है।

एक ही वस्तु सूक्ष्म रूप में भी स्थित है। जिस महायोगी का बोध यहाँ तक पहुँच चुका है, वह दृढ़ प्रतिपत्ति के द्वारा उसका अवलम्बन करके तन्मय होता है।[1] जिन शून्यों को क्रमशः त्याग करना होता है, उनके नाम हैं :

१. अधःशून्य—हृदय, जिसमें प्रपंच का उदय नहीं हुआ है।

२. मध्यशून्य—कण्ठ, तालु, भ्रू-मध्य, ललाट और ऊर्ध्वरन्ध्र-स्थान। इनमें अपने-आप अधोवर्त्ती प्रमेय का उपशम होता है।

३. ऊर्ध्वशून्य—यह शक्ति-स्थान है। यहाँ नादान्त तक सभी पाशों का क्षय होता है।

४–६. व्यापिनी, समना और उन्मना शून्य।

ये छह शून्य चल हैं, इसलिए हेय हैं। पर, तत्त्व की तुलना में उन्मना में भी किञ्चित् चलत्व है। परतत्त्व या व्यक्त शून्य अचल होने के नाते उपादेय है। नीचे के शून्यों के अधिष्ठाता भी परमशिव ही हैं। इसीलिए, ये सम्यक् रूप से शुद्ध नहीं होते हुए भी अपनी-अपनी सिद्धि देने में समर्थ हैं।

उपसंहार

दीक्षा के बारे में मुख्य-मुख्य लगभग सभी बातें कही गईं। लेकिन, कलेवर-वृद्धि की आशंका से अवान्तर अनेक विषय ही छोड़ दिये गये। किसी-किसी ग्रन्थ में क्रियावती, वर्णात्मिका, कलावती और वेधमयी दीक्षा की बात कही गई है (शारदा-तिलक, पंचम अध्याय)। क्रियावती दीक्षा बाह्य है। वर्णमयी दीक्षा के प्रभाव से शिष्य को दिव्य देह मिलती है। गुरु शिष्य के शरीर में उन-उन स्थानों में वर्णों का न्यास करते हैं और प्रतिलोम में संहार करते हैं। यही वर्णमयी दीक्षा है। कलावती दीक्षा इससे भिन्न है। इसमें कला का उपयोग किया जाता है। वेधदीक्षा का तत्त्व इस प्रकार है : गुरु शिष्य की देह के मूलाधार में चतुर्दल कमल में त्रिकोण के बीच वलयत्रय-युक्त तडित् कोटिसम प्रभा-चिद्रूपा शैवीशक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करेंगे, जिससे मानों षड्चक्र को भेदकर उस शक्ति को मध्यपथ से परमशिव तक उठा रहे हों। साथ-साथ मूलाधार के चारों वर्ण ब्रह्मा में उपसंहृत हो रहे हों और ब्रह्मा षड्दलमय अधिष्ठान से युक्त हो रहे हों। उसके बाद अधिष्ठान के छह वर्ण विष्णु में उपसंहृत हो रहे हैं और विष्णु दशदलमय नाभिकमल से युक्त हो रहे हैं। उसके बाद मणिपुर के दस वर्ण रुद्र में संहृत हो रहे हैं। इस तरह से सबसे अन्त में सदा-

---

१. निम्न अधिकारी को इस सूक्ष्म अर्थ से आस्वादन नहीं मिलता, इसलिए त्याग आदि प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ता है।

शिव को 'ह—क्ष' मय द्विदल से युक्त करेंगे। फिर, उन दो वर्णों का बिन्दु में संहार करेंगे। बिन्दु ही शिव है। फिर कोई वर्ण नहीं रहता। बिन्दु को नाद से जोड़ेंगे, नाद को नादान्त से और नादान्त को उन्मनी से। उन्मनी को गुरुवक्त्र से जोड़ना होता है। कला, नाद, नादान्त, उन्मनी और गुरु वक्त्र—ये भ्रू-मध्य के ऊपर चक्र-संस्थान हैं। इसीलिए, सहस्रार को कोई-कोई द्वादशान्त कहते हैं।

इस प्रकार शिष्य की जीवात्मा के साथ शक्ति को शिव से वेध करना होता है। शक्ति के विना वेध-क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती। वेध के फलस्वरूप शिष्य छिन्नपाश होकर भू-पतित होता है। उसके वाद दिव्यबोध होता है। परिणामस्वरूप 'उसी क्षण' शिष्य 'सर्ववित्' होता है—साक्षात् शिवभाव प्राप्त करता है।

किन्हीं-किन्हीं ने पाश को तीन प्रकार का वताया है—सहज, आगन्तुक और प्रासंगिक (प्रयोगसार)। वेधदीक्षा के सम्वन्ध में राघवभट्ट ने कहा है—सोमानन्द ने वेध के द्वारा उत्पलाचार्य को शिवात्मक किया था, ऐसी प्रसिद्धि है। शारदातिलककार लक्ष्मण इन्हीं उत्पलाचार्य के शिष्य हैं।

षड्न्मय महारत्न में आणवी दीक्षा के दस भेदों का वर्णन है—शाक्तेयी दीक्षा एक प्रकार की, शाम्भवी भी एक प्रकार की। आणवी के दस भेदों के नाम इस प्रकार हैं—स्मार्त्ती, मानसी, यौगी, चाक्षुषी, स्पर्शिनी, वाचिकी, मान्त्रिकी, हौत्री, शास्त्री और अभिषेचिकी।[१]

---

१. स्मार्त्ती—विदेश-स्थित शिष्य को स्मरण करके गुरु उसके पाशत्रय का विश्लेष करते हैं और लययोगांग-विधान से परमशिव में उसका योजन करते हैं।

मानसी—शिष्य को अपने पास बिठाकर मन-ही-मन उसे आलोचन द्वारा उसके मलत्रय का मोचन।

यौगी—योगोक्त क्रम से शिष्य-देह में प्रवेश करके गुरु उसकी आत्मा को अपनी आत्मा से युक्त करते हैं। यह योग-दीक्षा है।

चाक्षुषी—शिवोहं भाव में समाविष्ट होकर गुरु करुणा-दृष्टि से शिष्य को देखते हैं। इसीलिए, इसका नाम चाक्षुषी दीक्षा है।

स्पर्शिनी—स्वयं परमशिव-रूप में गुरु निःसन्देह हो शिवहस्त से शिष्य के मस्तक को मन्त्र-सह-स्पर्श करते हैं। इसीलिए यह नाम है।

वाचिकी—गुरुवक्त्र को अपना वक्त्र मानकर श्रद्धा-सहित गुरुवक्त्र प्रयोग से दिव्य मन्त्र आदि देंगे (मुद्रान्यासादि-सहित)।

मान्त्रिकी—मन्त्रन्यास-युक्त अवस्था में गुरु स्वयं मन्त्रतनु होकर मन्त्रदान करेंगे।

मध्ययुग में बौद्धों में से कोई-कोई दीक्षा के बारे में उतना अनुकूल मत नहीं रखते थे। कहा जाता है कि आचार्य धर्मकीर्त्ति ने शायद दीक्षा के विरुद्ध अपना मत व्यक्त करते हुए कुछ लिखा था। ऐसी भी प्रसिद्धि है, सुविख्यात तान्त्रिक आचार्य खेटपाल ने धर्मकीर्त्ति के मत का खण्डन करते हुए एक ग्रन्थ लिखा था। दुःख की बात है कि जैसे धर्मकीर्त्ति का मूल ग्रन्थ नहीं पाया जाता, वैसे ही खेटपाल का प्रतिवाद-ग्रन्थ भी नहीं मिलता (द्रष्टव्य—प्रस्तुत लेखक-रचित **'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि'**, पृ० ४१)।

हौत्री—कुण्ड में या स्थण्डिल में अग्नि-स्थापन करके लययोग के क्रम में प्रत्येक अध्वा की शुद्धि के लिए होम करेंगे।

शास्त्री—योग्य भक्त सुश्रुषू अर्चनशील शिष्य को शास्त्रदान। यह भी एक प्रकार की दीक्षा है।

अभिषेचिकी—शिव और शिवा को कुम्भ में पूजन करके शिवकुम्भाभिषेक-दीक्षा सिद्ध होती है।

तान्त्रिक साधना की दृष्टिभंगी

अबतक दीक्षा की चर्चा की गई। तान्त्रिक मत से दीक्षा के बाद ही वास्तविक साधना शुरू होती है। अब तान्त्रिक साधना की मूल विशिष्टता दिखाने की चेष्टा की जा रही है। किसी भी साधना के बारे में चर्चा करनी हो, तो सबसे पहले उसकी दृष्टिभंगी से परिचित होना जरूरी है। दृष्टि से ही लक्ष्य का निर्देश समझा जा सकता है। जबतक लक्ष्य निर्दिष्ट नहीं होता, तबतक साधना की चेष्टा को नाहक समय की बरबादी समझना चाहिए। क्योंकि लक्ष्य और उसे पाने के उपाय को जानकर उस उपाय का अनुशीलन करने का ही दूसरा नाम साधना है। अतएव, तान्त्रिक साधना के रहस्य को समझना हो, तो तान्त्रिक दृष्टि का परिचय प्राप्त करना जरूरी है। पूर्ण और अपूर्ण--दृष्टि दो प्रकार की होती है। अपूर्ण दृष्टि से जो लक्ष्य मालूम होता है, पूर्ण दृष्टि का विकास होने पर वह लक्ष्य की गिनती में आने योग्य नहीं प्रतीत होता। तब ऐसा लगता है कि वह वास्तविक लक्ष्य का एक अंशमात्र है। जो भी हो, चर्चा के लिए हमें दोनों ही दृष्टियों की मर्यादा रखना आवश्यक है। साधना की परिपक्वता के साथ-साथ अपूर्ण दृष्टि पूर्ण दृष्टि में पर्यवसित हो जाती है।

बौद्ध लोग जैसे बुद्ध, धर्म और संघ नामक त्रिरत्न स्वीकार करते हैं, वैसे ही वेदवादी तान्त्रिक शिव, शक्ति और बिन्दु—ये तीन रत्न स्वीकार करते हैं।[1] ये

१. कामिक, रौरव, स्वायम्भुव, मृगेन्द्र आदि आगम में तथा अघोरशिव, सद्योजात, रामकण्ठ, नारायणकण्ठ आदि आचार्यों के ग्रन्थों में इसका विशेष विवरण मिलता है। इसके मूल में भेददृष्टि है। इस चर्चा के मूल में वही दृष्टि ली गई है। अभेदवादी आगम-आचार्यों के ग्रन्थों में किसी-किसी विषय में थोड़ा भिन्न विवरण मिलता है। दृष्टिभेद के सिवाय इसका और कारण नहीं। शाक्तगण प्रधानतः अद्वैतवादी हैं। शैव सम्प्रदाय में द्वैत और अद्वैत—दोनों ही प्रकार की दृष्टि देखने में आती हैं। प्रसिद्धि है कि शिव के ईशानादि पञ्चमुख से ही सारे मूल तन्त्र आविर्भूत हुए थे। इनमें भेदप्रधान शिवतन्त्र दस हैं, भेदाभेद-प्रधान रुद्रतन्त्र अट्ठारह और अभेद-प्रधान भैरवतन्त्र चौंसठ हैं। ईशान, तत्पुरुष और सद्योजात—इन तीन मुखों में से प्रत्येक की दो अवस्थाएँ हैं—एक का नाम उद्भूत और दूसरे का उद्भवोन्मुख है। इस तरह अलग-

ही सभी तत्त्वों के अधिष्ठाता और उपादान-रूप में प्रकाशमान हैं। शुद्ध तत्त्वमय कार्यात्मक शुद्ध जगत् का उपादान विन्दु एवं कर्त्ता शिव और करण शक्ति हैं। अशुद्ध तत्त्वमय जगत् में भी परम्परा में शिव और शक्ति, कर्त्ता और करण तथा निवृत्ति आदि पञ्चकला के माध्यम में विन्दु आधार है। विन्दु का दूसरा नाम महामाया है। क्षुब्ध होकर यही विचित्र सुखमय भुवन और भोग्य आदि रूप में बदलता है, अर्थात् शुद्ध जगत् पैदा करता है। भोगार्थी साधक भौतिक दीक्षा के प्रभाव से इस आनन्द-राज्य में प्रवेश करने का अधिकार पाता है। परन्तु, जो साधक शुरू से ही महामाया के राज्य के सुखभोग की आकांक्षा नहीं रखता, वह नैष्ठिक दीक्षा प्राप्त करके शक्ति से नित्यमिलित शिवस्वरूप साक्षात् परमेश्वर की उपलब्धि करता है। विन्दु-क्षोभ के परिणामस्वरूप जैसे एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुवनरूपी शुद्ध अध्वा की उत्पत्ति होती है, वैसे ही दूसरी ओर शव्द की भी उत्पत्ति होती है। शव्द के तीन भेद हैं—सूक्ष्म नाद, अक्षर विन्दु और वर्ण। सूक्ष्म नाद अभिधेय बुद्धि का कारण है—यही विन्दु का पहला प्रसार है। यह चिन्तन-शून्य है। अक्षरविन्दु सूक्ष्म नाद का कार्य और परामर्श ज्ञानरूप है। यह मयूराण्ड-रस[१] जैसा अनिर्वचनीय

अलग तीन मुँह से छह तन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। उसके वाद दो-दो मुखों के मिलन से (अर्थात् ईशान+तत्पुरुष, ईशान+सद्योजात और सद्योजात+तत्पुरुष से) तीन तन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। फिर तीन के परस्पर मिलन से एक तन्त्र का आविर्भाव हुआ है। इस प्रकार, तन्त्र की कुल संख्या दस है। ये भेदप्रधान हैं। अट्ठारह भेदाभेद तन्त्रों का उदय भी इसी प्रकार समझना चाहिए। ये पूर्ववर्णित तीन मुखों से वामदेव और अघोर नामक दो मुखों की व्यष्टि और समष्टि-भाव के मिलन से अथवा केवल वामदेव और अघोर—इन दो मुखों से उत्पन्न हुए हैं। यहाँ बताया गया, शिवज्ञान और रुद्रज्ञान ऊर्ध्वस्रोत के अन्तर्गत हैं। अभेदज्ञान अथवा भैरवागम शिव के दक्षिण-मुख अथवा योगिनीवक्त्र से उद्भूत होता है। यह शिवशक्ति का संयोगात्मक और अद्वय स्वभाव-विशिष्ट है।

१. मयूर के अण्डे के रस में जैसे उसके पखनों का भिन्न-भिन्न वर्ण अभिन्न भाव से अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है, अक्षर बिन्दु में वैसे ही स्थूल वाणी का सम्पूर्ण वैचित्र्य अव्यक्तभाव से अभिन्न रूप में रहता है। यही मयूराण्ड-रस जैसा है।

है। वर्णात्मक स्थूल शब्द श्रोत्रग्राह्य है। यह वायु और आकाश से उत्पन्न होता है। कालोत्तरतन्त्र में है :

स्थूलं शब्द इति प्रोक्तं सूक्ष्मं चिन्तामयं भवेत्।
चिन्तया रहितं यत्तु तत् परं परिकीर्त्तितम्॥

जड होने पर भी बिन्दु शुद्ध है। पञ्चरात्र अथवा भागवत-सम्प्रदाय के अन्तर्गत वैष्णव-आगम में जिसे विशुद्ध सत्त्व कहते हैं, उसी का दूसरा नाम बिन्दु है। परमेश्वर से बिन्दु अथवा महामाया का क्या सम्बन्ध है, इसपर दो प्रकार के मत प्रचलित हैं :

(क) एक प्रसिद्ध मत यह है कि समवायिनी और परिग्रहरूपा दो शक्ति शिव की आश्रित हैं। उनमें से समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, अपरिणामिनी, निर्विकारा और स्वाभाविकी है। आगमशास्त्र के छत्तीस तत्त्वों के अन्तर्गत यही शक्तितत्त्व है। यह शिवस्वरूप में नित्य समवेत रहता है। शिव और शक्ति—दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है। परिग्रह-शक्ति अचेतन तथा परिणामशील है—इसका नाम बिन्दु है। बिन्दु शुद्ध और अशुद्ध—दो प्रकार का है। साधारणत: शुद्ध रूप को ही बिन्दु या महामाया कहा जाता है। अशुद्ध रूप का नाम माया है। दोनों ही नित्य हैं। अशुद्ध अध्वा का उपादान-कारण माया एवं शुद्ध अध्वा का उपादान-कारण महामाया हैं। दोनों में यही पार्थक्य है। सांख्यसम्मत तत्त्व और कलादिकञ्चुक अशुद्ध अध्वा के अन्तर्गत हैं। यह सब माया का ही कार्य है। अवश्य पुरुष अथवा आत्मा नित्य एवं इन सबसे अलग है। परन्तु, उसमें भी पुंस्त्व नामक आवरण रहता है। माया का ऊर्ध्वस्थित तत्त्व शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत है।

(ख) दूसरा मत यह है कि एकमात्र बिन्दु ही शुद्ध और अशुद्ध अध्वा का उपादान है। इस मत से माया नित्य नहीं, कार्यरूपा है। महामाया अथवा बिन्दु की तीन अवस्थाएँ हैं—परा, सूक्ष्म और स्थूल। परा अवस्था के नाम 'महामाया', 'परामाया', 'कुण्डलिनी' आदि हैं। यह परम कारणस्वरूप और नित्य है। सूक्ष्म एवं स्थूल ये दो अवस्थाएँ कार्य हैं, इसलिए अनित्य हैं। महामाया के विक्षुब्ध होने से उससे शुद्धधाम एवं उन सब धामों में स्थितिशील मन्त्र (विद्या) और मन्त्रेश्वर (विद्येश्वर) वर्ग के शरीर और इन्द्रिय आदि रचित होते हैं। मतलब कि शुद्ध जगत् का संस्थान और देहादि सब साक्षात् रूप में महामाया के कार्य हैं। यह सब विशुद्ध, मायातीत और उज्ज्वलस्वरूप हैं। महामाया की सूक्ष्म और दूसरी अवस्था का नाम 'माया' है। कला आदि तत्त्व के अविभक्त स्वरूप को माया कहते हैं। कला आदि सम्बन्ध के कारण ही द्रष्टा आत्मा भोक्ता पुरुष-रूप में परिणत होता है। माया से तत्त्व और भुवनात्मक कलादि एवं प्रकृति आदि साक्षात् रूप से या परम्परा-क्रम से

उत्पन्न होती हैं। समस्त अशुद्ध अध्वा का मूल कारण 'माया' है। आगम में एक ओर माया को जैसे 'जननी' कहा गया है, दूसरी ओर वैसे ही इसे 'मोहिनी' कहा गया है। महामाया की स्थूल या तीसरी अवस्था का नाम 'प्रकृति' है। प्रकृति त्रिगुणमयी है। यह साक्षात् भाव से या परम्परा-क्रम से भोक्ता पुरुष की बुद्धि आदि भोगसाधन एवं भोग्यादि विषय की उत्पादिका है। कलादि तत्त्व के सम्पर्क से पुरुष भोक्ता रूप धारण करता है। उसके भोग्य और भोग-साधन की सृष्टि के लिए महामाया प्रकृतिरूप स्थूल अवस्था ग्रहण करती है।

बिन्दु शिवस्वरूप में समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहता, यह पहले कहा जा चुका है। यही प्रचलित मत है। इस मत से परिणामी होने के नाते बिन्दु 'जड' है। इसलिए, चिदात्मक परमेश्वर के स्वरूप से इसका समवाय-सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया जाता। शिव से बिन्दु का समवाय-सम्बन्ध स्वीकार करने से चित्-स्वरूप शिव का अचेतनत्व-प्रसंग हो पड़ता है। श्रीकण्ठाचार्य कहते हैं—

"स हि तादात्म्यसम्बन्धो जडेन जडिमावहः।
शिवस्यानुपमाखण्डचिद्घनैकस्वरूपिणः ॥"[1]

परन्तु, तान्त्रिक भेदवादियों में कोई-कोई बिन्दु-समवायवादी भी थे। उनके अनुसार शिव की समवायिनी शक्ति दो प्रकार की है—एक दृक्शक्ति या ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति या कुण्डलिनी। क्रियाशक्ति का दूसरा नाम कुण्डलिनी है। माया इससे सब प्रकार से भिन्न है। माया शिवस्वरूप में समवेत नहीं होती। परमेश्वर के जगद्विषयक ज्ञान और क्रियाशक्ति के द्वारा मायिक जगत्-रचना उत्पन्न होती है। ज्ञानशक्ति भिन्न-भिन्न पदार्थों के ग्रहण से चरितार्थ होती है। परन्तु, क्रियाशक्ति के विना वस्तुनिर्माण-रूप फल उत्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञान और क्रियारूप—ये दो शक्तियाँ परमेश्वर में अविनाभूत रूप में मौजूद रहती हैं।

बिन्दु के क्षोभ से जिस प्रकार शुद्ध जगत् उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार माया के क्षोभ से अशुद्ध जगत् उत्पन्न होता है। आत्मसमवेत शक्ति के द्वारा परमेश्वर जब बिन्दु का स्पर्श करते हैं, तब क्षुब्ध होने से बिन्दु में वैषम्य आता है। बिन्दु का क्षोभ और किसी प्रकार से नहीं हो सकता। इसीलिए, केवल साक्षात् परमेश्वर की शक्ति के प्रभाव से ही शुद्ध जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु, माया का क्षोभ साक्षात् रूप में परमेश्वर की शक्ति से नहीं घटित होता।

---

१. अर्थात् अनुपम एवं अखण्ड चिद्घनस्वरूप शिव के लिए जड के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध-स्वीकार जडत्व का कारण हो जायगा, यह आशंका रहती है।

तन्त्र के मत से सृष्टि, पालन, संहार, निग्रह और अनुग्रह—इन पाँच कार्यों के मुख्य कर्त्ता परमेश्वर हैं। ब्रह्मा, विष्णु आदि वास्तविक कर्त्ता नहीं हैं। इसीलिए, परमेश्वर को सर्वत्र पञ्चकृत्यकारी कहा जाता है। इन सारे कृत्यों को करने के लिए शुद्ध अध्वा जरूरी है। इसीलिए, बिन्दु क्षोभ का कारण है। परमेश्वर एवं उनकी शक्ति वास्तव में एक एवं अद्वितीय होते हुए भी उपाधि-भेद से उसमें आरोपित भेद भी अवश्य ही है। जब यह शक्ति अव्यक्त रहती है, तब यह निष्क्रिय, शुद्ध एवं संविद्रूप में आत्मप्रकाश करती है। उस समय बिन्दु भी अक्षुब्ध और स्थिर रहता है। क्योंकि, शक्ति के सक्रिय हुए बिना बिन्दु क्षुब्ध नहीं हो सकता। यह अवस्था बिन्दु के स्वरूप-अधिष्ठाता परमेश्वर की लयावस्था है।

यहाँ एक बात कह देना उचित जँचता है। प्रचलित मत से शक्ति एक है, इसलिए उसमें ज्ञान और क्रियागत भेद नहीं है। जो भेद दिखाई देता है, वह औपाधिक है। इसीलिए, साम्प्रदायिक साहित्य में 'क्रिया' शब्द प्रायः ही शक्तिवाचक रूप में व्यवहृत होता है। जब यह शक्ति सारे ही व्यापारों से उपरत होकर स्वरूप-मात्र में अवस्थित होती है, तब शिव (परमेश्वर) को शक्तिमान् कहा जाता है। उस समय क्रियारूप शक्ति मुकुलित होकर शिव में अवस्थान करती है। परमेश्वर की पूर्वोक्त लयावस्था यही है। परन्तु, जब शक्ति उन्मेषित हो उद्योगपूर्वक बिन्दु को कार्य-उत्पादन के लिए उन्मुख करती है और कार्य-उत्पादन करके शिव की ज्ञानक्रिया को समृद्ध करती है, उस समय की उस अवस्था को शिव की भोगावस्था कहा गया है। कोई लेकिन यह न समझे कि परमेश्वर का भोग परसुख-संवेदन है। क्योंकि मलहीन चित्-सत्ता में उपाधिभूत आनन्दरूपी भोग नहीं हो सकता। इस अवस्था में शक्ति सक्रिय होती है, इसलिए साथ-ही-साथ शिव को भी सक्रिय कहा जाता है :

"स तया रमते नित्यं सम्पद्युक्तः सदाशिवः।
पञ्चमन्त्रतनुः श्रीमान् देवः सकलनिष्कलः॥"

लयावस्था में शिव को निष्कल और भोगावस्था में उसे सकल-निष्कल कहा जाता है। किन्तु, इन दो के अलावा अधिकारावस्था नाम की उसकी एक और अवस्था है। इसके बारे में बाद में बताया जायगा। इस अवस्था में शिव स-कल भाव में विराजते हैं। याद रखना होगा कि शिव या परमेश्वर की ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ वास्तविक नहीं, मात्र औपचारिक हैं। शक्ति अथवा कला की अविकास-दशा, विकासोन्मुख दशा एवं पूर्णविकास-दशा का अनुसरण करके शिव की उपर्युक्त भिन्न-भिन्न दशाएँ कल्पित हुई हैं। शिव और शक्ति के इस अवस्था-भेद में बिन्दु के अवस्था-भेद का हाथ है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीत नामक

कलावर्ग बिन्दु का ही अलग-अलग नाम है। इनमें से शान्त्यतीत कला को बिन्दु का स्वरूप माना जा सकता है। यह अक्षुब्ध बिन्दु या लयावस्था है। शुद्ध और अशुद्ध सारे भोगाधिष्ठान ही शान्ति आदि चार कलाओं के परिणाम हैं। वास्तव में, 'भोगाधिष्ठान' शब्द से यहाँ शान्ति आदि चार कलाओं का भुवन समझना चाहिए। शान्त्यतीत कला अथवा परबिन्दु सभी कलाओं की कारणावस्था या लयावस्था है। इसलिए, शान्त्यतीत भुवन को ठीक-ठीक भोगस्थान नहीं कहा जा सकता। परन्तु, सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने के कारण किन्हीं-किन्हीं आचार्य ने इन्हें भी भोगस्थान के रूप में वर्णित किया है। यह भोग की बीजावस्था है।

कलात्मक शक्ति ही शिव के देह-रूप में कल्पित होती है। इसीलिए लयावस्था में बिन्दु का विक्षोभ नहीं रहते हुए भी कला का उद्भव नहीं रहता, इसलिए निष्कल शिव को 'अशरीर' कहा जाता है। भोगावस्था शिव की सकल-निष्कल-उभयात्मक अवस्था होती है। उस समय उनकी देह को पञ्चमन्त्रात्मक कहा जाता है। तन्त्रमत से शक्ति ही मन्त्र है। अतएव, उस देह को पञ्चमन्त्रमय समझना चाहिए।

"मननात् सर्वभावानां त्राणात् संसारसागरात्।
मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिः मननत्राणरूपिणी ॥"[१]

मूलतः, यह मन्त्ररूपा शक्ति एक और अभिन्न है, परन्तु उपाधि-भेद से भिन्न-भिन्न है। अधिष्ठानवश कार्यभेद होता है, इसलिए एक ही मूल शक्ति पञ्चरूप प्रतीत होती है। इसके अनुसार बिन्दु-भुवन अथवा शान्त्यतीत कलाभुवन की अधिष्ठात्री शक्ति को ईशान मन्त्र कहा जाता है और शान्ति आदि चार भुवनों की अधिष्ठात्री शक्ति को तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर मन्त्र कहा जाता है। ये भुवन भोगस्थान हैं। ईशान आदि पञ्चमन्त्रात्मिका शक्ति देह का कार्य करती है, इसलिए 'शिवतनु' नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में, यह पारमार्थिक देह नहीं है। यह देह पञ्चमूर्त्ति परमेश्वर के पञ्चकृत्य के उपयोगी है। बिन्दु की समस्त कला के कारणावस्था में लीन रहने से, अर्थात् परबिन्दु-अवस्था में बिन्दु का कोई विभाग नहीं रहता। इसकी अधिष्ठात्री शक्ति शिव की परामूर्त्ति है। यह लयावस्था की बात है। शिव को जब अशरीर कहा जाता है, तब उसी अवस्था को लक्ष्य किया जाता है। उस समय शक्ति लीन रहती है और बिन्दु अक्षुब्ध, इसलिए रहते हुए भी नहीं रहने के ही बराबर है। उस समय एकमात्र शिव ही अपनी महिमा से विराजते हैं। बिन्दु की कलाएँ जब कार्यावस्था में रहती हैं, तब

१. अर्थात् सभी भावों का मनन और समस्त संसार से त्राण करने के सामर्थ्य के कारण इस मनन-त्राणरूपी शक्ति को मन्त्र कहते हैं।

उनकी अधिष्ठात्री शक्ति को शिव की अपरामूर्त्ति कहते हैं। भोगस्थान के रूप में जिन कलाओं और भुवनों का उल्लेख मिलता है, उनमें से निवृत्ति-भुवन सबसे नीचे स्तर का है। इस निवृत्ति-भुवन के अधोवर्त्ती भुवन का नाम सदाशिव-भुवन है। इसकी अधिष्ठात्री शक्ति शिव की अपरामूर्त्ति या 'सदाशिवतनु' है। यह नाम औपचारिक है। इसकी उत्पत्ति सदाशिव-भुवन के अधिष्ठान से हुई है। दीक्षा आदि के द्वारा जो सारे जीव भिन्न-भिन्न भुवन में जाते हैं, उनमें सत्य-सत्य ही भेद है, परन्तु शिव और शक्ति का भेद वास्तविक नहीं है, औपचारिक या कल्पित है। क्योंकि कार्यभेदवश इस भेद को अंगीकार किया जाता है—

'अधिकारी स भोगी च लयी स्यात् उपचारतः।'

अर्थात् शिव की शक्ति से शोभित महामाया जो-जो कार्य-सम्पादन करती हैं, तत्तत् कार्य के अधिष्ठाता शिव और शक्ति में कार्यभेद और स्थान-भेदवश उपचार-निबन्धन तत्तत् संज्ञा का प्रयोग होता है। उदाहरण-स्वरूप, कहा जा सकता है; जैसे, शान्ति-भुवन के अधिष्ठान और उत्पादन के कारण शक्ति और शिव को यथाक्रम से शान्ता और शान्त की संज्ञा दी जाती है। अन्यत्र भी ऐसा ही समझना चाहिए :

"किन्तु यः पतिभेदोऽस्मिन् सः शास्त्रे शक्तिभेदवत्।
कृत्यभेदोपचारेण तद्भेदः स्थानभेदतः ॥"

अधिकार-अवस्थापन्न शिव 'सकल' पदवाच्य हैं। वह बिन्दु से अवतीर्ण अणुसदाशिव-वर्ग से आवृत हैं। ये सकल सदाशिव वास्तव में पशु-आत्मा हैं, शिवात्मा नहीं। चूँकि इनमें किंचित् आणवमल बचा रहता है, इसलिए इनकी ज्ञानक्रिया-रूप शक्ति कुछ संकुचित होती है। ये शिव जैसे, पूर्णतया अनावृत शक्ति-सम्पन्न नहीं होते। मुक्त पुरुष होने के बावजूद सब प्रकार से मलहीन नहीं होने के कारण इन्हें परामुक्ति या शिवसाम्य नहीं मिला होता है। सदाशिव-भुवन के अधिष्ठाता होने के नाते परमेश्वर को भी सदाशिव कहा जाता है। वह लेकिन स्वयं शिवरूपी हैं। वह ऊपर बताये गये अणुसदाशिव-वर्ग को अपने-अपने भुवन के भोग में नियोजित करते हैं। और, विद्येश्वर तथा मन्त्रेश्वर-वर्ग को अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार अशुद्ध अध्वा के अधिकार-कार्य में नियुक्त करते हैं। यही दो प्रकार के नियोजन-कार्य ही अधिकार-अवस्था में स्थित शिव या सकल शिव के कार्य हैं। यही उनका प्रेरकत्व और प्रभुत्व है। यही सदाशिव-रूपी शिव ही सारे जगत् के प्रभु के रूप में शुद्ध और अशुद्ध समग्र अध्वा के ऊर्ध्वदेश में मौजूद हैं। योगी इसी भाव से ध्यान करते हैं। माया के ऊपर शुद्ध अध्वा में अनेक भुवन हैं। प्रत्येक भुवन में उसके अनुरूप देह, इन्द्रिय एवं भोग्यादि भी हैं। यह सब विशुद्ध बैन्दव उपादान से रचित हैं।

इनमें भी भुवन के ऊर्ध्व-अध: विभाग के कारण समझ में आता है कि क्रमिक उत्कर्ष-अपकर्ष है। उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि विद्यातत्त्व में जो वामा, ज्येष्ठा आदि के भुवन हैं, उनमें वामा की अपेक्षा ज्येष्ठा भुवन श्रेष्ठ है और ज्येष्ठा से रौद्री भुवन श्रेष्ठ। इसी विद्यातत्त्व में ही सात करोड़ मन्त्र और उनकी अधिष्ठात्री सात विद्याराज्ञी का अवस्थान है। ईश्वर-तत्त्व में आठ विद्येश्वर अपने-अपने पुर में विराजते हैं। इनमें से शिखण्डी सबसे नीचे और अनन्त सबसे ऊपर हैं। इन आठों में पहले जैसा क्रमोत्कर्ष है। सदाशिव-तत्त्व को भी ठीक ऐसा ही समझना चाहिए।

इस प्रसंग में पशु-आत्मा के सम्बन्ध में दो-चार बातें कहना आवश्यक प्रतीत होता है। यह सब आत्मा स्वरूपत: नित्य, विभु एवं चैतन्य आदि विभिन्न शिवधर्ममय होते हुए भी ये संसार-अवस्था में इन सब धर्मों के विकास का अनुभव नहीं कर सकते। जैसे शिव में सर्वज्ञानक्रियारूपा चैतन्यशक्ति है, वैसे ही जीव अथवा पशु-आत्मा में भी है। किन्तु, दोनों में अन्तर यह है कि यह सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्वरूपा शक्ति शिवरूप में जैसे सदा आवृत रहती हैं, पशु में उन सब शक्तियों के सर्वदा रहते हुए भी अनादि काल से पाश-समूह से अवरुद्ध रहती हैं। मल, कर्म और माया—इन तीन पाशों में से कोई-कोई आत्मा एक पाश से, कोई दो और कोई तीनों ही पाशों द्वारा आबद्ध होता है। जिन आत्माओं में इन तीनों पाशों का बन्धन है, उन्हें 'सकल' कहते हैं। जिन आत्माओं की मायिक कला आदि प्रलयादि अवस्था में लीन हो जाती है और मल तथा कर्म क्षीण नहीं होता, उनका शास्त्रीय नाम 'प्रलया कला' है॥ विज्ञान आदि उपायों से कर्म का क्षय होने पर जब केवल मल नामक एक पाश बाकी रह जाता है, तब उस अवस्था में आत्मा को 'विज्ञानाकल' कहा जाता है। इसका दूसरा नाम 'विज्ञानकेवली' है। मल के परिपाकगत तारतम्य से यह आत्मा तीन प्रकार का होता है। सभी मायातीत और सभी कर्म-वासना से मुक्त होते हैं। पर, अधिकार-मल के किंचित् रह जाने से ये शिवसाम्य-रूप पूर्णत्व नहीं प्राप्त कर सकते :

"उत्तीर्णमायाम्बुधयो भग्नकर्ममहार्गलाः।
अप्राप्तशिवधामानः त्रिधा विज्ञानकेवलाः।।"

इन तीन प्रकार के विज्ञानाकल आत्मा के नाम और परिचय के सम्बन्ध में यहाँ कुछ बताया जा रहा है :

(क) विद्यातत्त्व-निवासी मन्त्र और विद्या— संख्या में ये सात करोड़ हैं। ये सभी विद्येश्वर-वर्ग के अधीन हैं। इनका वासस्थान अथवा भुवन विद्यातत्त्व में है। पाशबद्ध सभी जीवों के उद्धार के समय विद्येश्वरगण यह सब मन्त्र और विद्यासंज्ञक

विज्ञानाकल आत्मा अथवा देवता को अपने अनुग्रह-कार्य के करण-रूप में व्यवहार करते हैं। पञ्चकृत्यकारी होने से इन विद्येश्वरों में भी अनुग्राहकत्व है। वामा आदि सब विद्या-भुवन उत्तरोत्तर सजाये हुए हैं। देह, भोग, इन्द्रिय आदि का उत्कर्ष इन भुवनों में क्रमशः अधिक है। ज्ञान, योग, संन्यास आदि उपायों के द्वारा अथवा भोग के द्वारा कर्मशिव का क्षय होने के बाद कर्मों के फलभोग के साधनभूत मायिक, सूक्ष्म एवं स्थूल देह का आत्यन्तिक विश्लेप होता है। उस समय आत्मा कैवल्य प्राप्त करके माया के ऊपर शुद्ध विद्यातत्त्व को आश्रय करके अणुरूप में स्थित होती है। वैसी स्थिति में कर्म और माया के कट जाने पर भी मल बचा रह जाता है। इस मल के निवृत्त नहीं होने तक चूँकि आत्मा का पशुत्व नष्ट नहीं होता, इसलिए उसके शिवत्व-लाभ की भी सम्भावना नहीं रहती। मल जबतक परिपक्व नहीं होता, तबतक पशुत्व की निवृत्ति असम्भव है। अतएव, इन आत्माओं के मायातीत और कैवल्यभाव प्राप्त होने पर भी अपरा मुक्ति तक प्राप्त नहीं कर सकते, परामुक्ति तो दूर की बात। सृष्टि के प्रारम्भ में इन 'अणु'-रूपी आत्मा में से जिनका मल थोड़ा-बहुत परिपक्व होता है, उनपर भगवान् स्वयं ही कृपा करते हैं। अर्थात् अपने-अपने मलपाक के अनुरूप उनमें ज्ञान-क्रियाशक्ति उन्मीलित कर देते हैं और मन्त्र तथा मन्त्रेश्वरादि पद पर शुद्ध अध्वा में भोग और अधिकार-कार्य में नियोजित कर देते हैं। इनमें से जो बहुत ही शुद्ध होते हैं, वे एक ही साथ परतत्त्व अथवा शिव-तत्त्व में नियोजित होते हैं। बाकी आत्माओं का मलपाक नहीं रहता है; इसलिए, उनका आवरण बहुत ही घनीभूत रहता है। वे विज्ञानकैवल्य-अवस्था में ही रहते हैं। आत्मा की स्वाभाविक चैतन्यरूप सर्वज्ञानक्रियाशक्ति इस अवस्था में सुप्त रहती है। इसलिए, कैवल्य-अवस्था में भी उनके पशुत्व की निवृत्ति होकर शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। कर्महीन होने के नाते यह केवली आत्मा एक ओर जिस प्रकार माया के कार्यरूप जगत् को पार कर जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार महामाया अथवा विन्दु के कार्यरूप विशुद्ध जगत् में अभी तक प्रवेश भी नहीं कर पाता। यह मध्यावस्था में रह जाता है। स्वरूपतः आत्मा विभु होता है; इसलिए, विज्ञानकेवलियों की यह मध्यस्थता औपचारिकमात्र होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कैवल्य तन्त्रसम्मत मुक्ति नहीं है।

(ख) ईश्वरतत्त्ववादी विद्येश्वर संख्या में आठ हैं। उनमें अनन्त प्रधान है। ईश्वर-तत्त्व में इनके आठ भुवन हैं। इनमें उत्तरोत्तर गुण की अधिकता देखी जाती है। मतलब कि 'शिखण्डी' से 'श्रीकण्ठ' में गुणगत विशिष्टता है। भोग, देह, करुणा आदि विषयों में इनका भुवन शिखण्डी-भुवन से श्रेष्ठ है। इसी तरह श्रीकण्ठ से त्रिमूर्त्ति की शक्ति अधिक है। इन विद्येश्वरों में अनन्त सर्वश्रेष्ठ और

परम समर्थ है। इसका मल बिलकुल शान्त हो गया है। सिर्फ अधिकार-मल की यत्किंचित् वासना रह गई है। ये सभी साक्षात् शिव से अनुग्रह प्राप्त हैं। मल का उपशम, अधिकार-मल का कुछ सम्बन्ध और स्वयं शिव से अनुग्रह-लाभ, ये सारी विशिष्टताएँ मन्त्रवर्ग में भी हैं। लेकिन चूँकि विद्येश्वरगण पञ्चकृत्यकारी हैं, इसलिए जीवोद्धार के व्यापार में अनुग्रह के कर्त्ता तथा मन्त्रगण अनुग्रह के करण होते हैं। दोनों में यही भेद है। इन विद्येश्वरों के बारे में रौरव आगम में कहा गया है :

"सृष्टिसंरक्षणादानभावानुग्रहकारिणः ।
शिवार्ककरसम्पर्कविकासात्मीयशक्तयः ।।"

इससे पता चलता है, इनकी आत्मशक्ति सकल शिव के अनुग्रहरूप संसर्ग से विकसित होती है।

(ग) सदाशिवतत्त्वस्थ भुवनवासी पशुसदाशिव अथवा संस्कार्य सदाशिव अधिकारस्थ शिव के समान पञ्चकृत्यकारी हैं। सदाशिव-तत्त्व के आश्रित होने के कारण ये सदाशिव नाम से परिचित हैं। परमेश्वर की कृपा से ये शुद्ध अध्वा के ऊपर रहते हैं। शुद्ध अध्वा में विद्या, ईश्वर और सदाशिव—इन तीन तत्त्वों के आश्रय में भोक्तृवर्ग-सहित अठारह मुख्य भुवन हैं। प्रत्येक भुवन में उस भुवन के अधीश्वर हैं। इन आत्माओं में से कोई-कोई उस-उस भुवन के अधिष्ठाता की आराधना से और कोई-कोई दीक्षा के प्रभाव से भुवन में स्थान पाये हुए हैं। सूक्ष्म-स्वायम्भुव आगम में कहा है :

"यो यत्राभिलषेद् भोगान् स तत्रैव नियोजितः ।
सिद्धिभाङ्‌ मन्त्रसामर्थ्यात् ।।"

इस विषय में स्वच्छन्दतन्त्र में भी विशेष चर्चा पाई जाती है।

अब प्रलयाकल और सकल पशु-आत्मा के बारे में संक्षेप में कुछ चर्चा की जाय। प्रलय के समय ईश्वर सभी मायिक कार्यों का उपसंहार करके अवस्थान करते हैं, यह बात प्रसिद्ध है। बहुत दिनों तक संसार में परिभ्रमण करते-करते जो सब आत्मा थक जाते हैं, उन सबको विश्राम देना ही प्रलय का उद्देश्य है। प्रलय का दूसरा उद्देश्य है—कर्म का परिपाक और असंख्य कार्य-परम्परा के उत्पादनवशतः क्षीणशक्ति माया की शक्ति को बढ़ाना। जिन कलादि भोग-साधन द्वारा आत्मा विषय-भोग में समर्थ होता है, वह सब प्रलयकाल में विलीन हो जाता है। इसलिए कर्म और मल—इन दो पाशों में बद्ध होकर आत्मा माया में अवस्थान करता है। इन आत्माओं को 'प्रलयाकल' या 'प्रलयकेवली' जीव कहते हैं। यद्यपि उस समय तक भी इनका कर्मक्षय नहीं हो सका होता है, तथापि प्रलय के प्रभाव से ये कालादि-

शून्य होकर कैवल्य-अवस्था जैसी किसी एक अवस्था में मौजूद रहते हैं। इनमें जिनका कर्म और मल सम्यक् रूप से परिपक्व होता है, उन्हें अधिकार-प्रदान का अवसर उस समय नहीं रहता।[1]

जिन जीवों का मल, कर्म और माया परिपक्व नहीं हो सकते हैं, वे प्रलय-काल में नई सृष्टि के आरम्भ के पहले तक मुग्धवत् अवस्था में विश्राम करते रहते हैं। बाद में जब वे भोग के लायक अवस्था को प्राप्त करते हैं, तब परमेश्वर के 'अनन्त' नामक विद्येश्वर में अपनी शक्ति का संचार करके उसके द्वारा मायातत्त्व को क्षोभित करते हैं और अशुद्ध जगत् की रचना करते हैं। इस सृष्टि में वे सब अपक्वपाश-जीव कलादि सारे भोग-साधन प्राप्त करके 'सकल' पशुरूप में आविर्भूत होते हैं। इनमें तीनों ही प्रकार के पाश मौजूद रहते हैं। इन पशुओं के अलावा और भी एक प्रकार का 'सकल' जीव है। इसका मल और कर्म परिपक्व हो जाने पर यह सृष्टि के आरम्भ में साक्षात् परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त करके उसके द्वारा माया के गर्भ में स्थित जगत् के अधिकार की प्राप्ति के लिए अपर-मन्त्रेश्वर-पद पर प्रतिष्ठित होता है और अनन्त की कृपा से आतिवाहिक देह ग्रहण करके 'सकल' नाम से परिचित होता है। इस विश्व-व्यापार का सम्पादक माया के गर्भ में स्थित अधिकारी-मण्डल है। आतिवाहिक देह भी मायिक देह है, इसमें सन्देह नहीं। सबसे पहले माया से ऊपर स्थित शुद्ध जगत् में जिन सब अधिकारियों के विषय में चर्चा की गई है, उनकी देह बैन्दव, यानी महामायारूप उपादान से गठित है। परन्तु, परमेश्वर की अनुग्रह-प्राप्ति के समय जो बैन्दव देह उत्पन्न होती है, उसे ये सब आधिकारिकगण ही प्राप्त करते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। इसीलिए, इसके विद्यमान रहते हुए भी इसके द्वारा सभी पशु का अधिकार और शासन-कार्य नहीं हो सकता। अतएव, इस बैन्दव देह के अधिकरण-रूप में एक मायिक देह की जरूरत होती है। यह मायिक देह और पूर्वोक्त बैन्दव देह अभिन्न लगती है। बैन्दव देह शुद्ध और स्वच्छ होने से बोधमय और मायिक देह आतिवाहिक होते हुए भी वस्तुतः मोहमय होती है। फिर भी, इस बैन्दव देह के सम्बन्ध के कारण अपनी स्वाभाविक मोहमयता त्यागकर बोधमय रूप में

---

१. कर्मपाक और मलपाक के बहुतेरे तत्त्व चर्चा के योग्य हैं। मलपाक मुख्यतया श्रीभगवान् की शक्ति के सम्पर्क से होता है। कर्मपाक भी बहुत हद तक इसी के अनुरूप है। कर्म के अनेक भेद हैं। जो कर्म क्रमशः पक्व होने के योग्य है, उसका क्षय जीव के देह-सम्बन्ध होने के बाद भोग से होता है। और जो सब कर्म एक साथ पक्व होते हैं, उनका क्षय श्रीभगवान् के अनुग्रह से होता हैं। उनका भोग से क्षय नहीं करना पड़ता है।

भासमान होता है। मन्त्रवर्ग के सम्वन्ध में भी यही नियम है। इसके सिवा ऐसे जीव भी हैं, जिनका मल परिपक्व न होने पर भी पाप के क्षय और पुण्य के उत्कर्ष से भिन्न-भिन्न भुवनों में आधिपत्य पाने के योग्य शरीर प्राप्त करते हैं। ये भुवन विभिन्न स्तर में विभक्त और अँगूठे से कालानल तक विस्तृत होते हैं।

पशु-आत्मा की चर्चा के वाद अव पाश के वारे में कुछ कहना है। पाश के सम्वन्ध के कारण आत्मा पशुभाव प्राप्त करती है और संसार-अवस्था का अनुभव करती है। अचेतन होने के नाते पाश चेतन के अधीन होता है, वह परिणामशील और चैतन्य का प्रतिबन्धक होता है। आम तौर से मल, कर्म और माया—इन तीन प्रकार के पाशों का वर्णन मिलता है। इनमें मल ही प्रधान है। आत्मचैतन्य-रूप शुद्ध संवित् शक्ति मलहीन होने के कारण स्वरूप को प्रकाशित करती है। ये सदा अभिन्नरूप एवं परिणामहीन होती हैं। तन्त्रमत से घट-पट आदि बाहरी भेद असत्य नहीं, सत्य हैं। इन सब बाहरी पदार्थों के सान्निध्य से बौद्धज्ञान से विभिन्न आकार उत्पन्न होते हैं और उन आत्माओं के बोध में आरोपित होते हैं। पर, अर्थभेद के सान्निध्य से बौद्धज्ञान में भेद होते हुए भी उस ज्ञान की आश्रयभूत आत्मशक्ति अथवा ग्राहक चैतन्य सर्वदा एक ही रूप से भासमान होता है। यह नित्य और निर्विकार है। इस आत्मसंवित् को पौरुषज्ञान कहते हैं। पौरुषज्ञान से बौद्ध-ज्ञान का पार्थक्य नहीं मालूम रहने से ही ज्ञान में नानात्व के भ्रम का आविर्भाव होता है। इसका मूल कारण और कुछ नहीं, पशुत्व का हेतुभूत मल है।

"सा तु संविदविज्ञाता तैस्तैर्भावैर्विवर्त्तते।
मलोपरुद्धदृक्शक्तेर्नरस्येवोहराद् पशोः॥"

मल निवृत्त हुए विना पशुत्व दूर नहीं हो सकता और शिवत्व भी अभिव्यक्त नहीं हो सकता। सिर्फ ज्ञान के द्वारा मल का नाश नहीं हो सकता। दीक्षा के प्रसंग में पहले कहा जा चुका है, द्वैतमत से मल द्रव्यरूप है। इसलिए आँख का छाला जैसे चिकित्सक के शल्योपचार से दूर हो जाता है, वैसे ही मल की निवृत्ति ईश्वर के दीक्षात्मक व्यापार द्वारा हो सकती है। द्वैतदृष्टि से मल की निवृत्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं। स्वायम्भुव आगम में है : दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि—दीक्षा ही मल का नाश करती है और आत्मा को शिवलोक में ले जाती है। चित् और अचित् का अविवेक मल से उद्भूत होता है। इसलिए, मल की निवृत्ति हुए विना पूर्ण विवेक का उदय नहीं हो सकता। इसी अविवेक से विवेक या अध्यास उत्पन्न होता है। मल ही आणव पाश है। आत्मा की नित्य और व्यापक चित्-शक्ति यदि आणव पाश से अवरुद्ध नहीं होती, तो संसार-अवस्था में भोग-निष्पत्ति के

लिए कला आदि द्वारा अपने सामर्थ्य को उत्तेजित करने की जरूरत नहीं होती। मल के एक होने पर भी उसकी शक्ति अनेक है। उन शक्तियों में से एक-एक शक्ति के द्वारा एक-एक आत्मा की चित्क्रिया निरुद्ध होती है। इसलिए, मल के एक होने पर भी एक की मलनिवृत्ति के साथ सबकी मलनिवृत्ति का प्रसंग और एक के मोक्ष-लाभ के साथ सबके मोक्ष-लाभ की आशंका नहीं उठती। मल की यह सब शक्ति अपने रोध और अपसारण के मामले में स्वाधीन नहीं, सब भगवत्-शक्ति के अधीन हैं।

इसीलिए, उपचारवशत: भगवत्-शक्ति भी नाना रूप में व्यवहृत होती है। मल की शक्तियाँ अपने-अपने अधिकार के समय चैतन्य को रुद्ध किये रहती हैं, उस समय भगवत्-शक्ति उन शक्तियों का परिणाम-सम्पादन करके उनके निग्रह-व्यापार का अनुसरण करती है। वैसे में उस भगवत्-शक्ति का नाम रोध-शक्ति दिया जाता है। लेकिन, जब भगवत्-शक्ति सर्वानुग्रहशील नित्य उद्योगमय सदाशिव के ईशान नामक मस्तक से निकलकर मोक्ष प्रकाशक ज्ञान-प्रभा द्वारा अणुवर्ग के हृदय-कमल को उन्मीलित करती है, तो उसका नाम होता है अनुग्रह-शक्ति। जबतक मल का अधिकार समाप्त नहीं होता, तबतक मुक्ति नहीं हो सकती। मल के अधिकार की यह समाप्ति अपने परिणाम-सापेक्ष है। मल को परिणाम-प्राप्ति की यद्यपि योग्यता है, फिर भी अचेतन होने के कारण वह सदा सब प्रकार से चित्शक्ति के अधीन होता है। वह अपने-आप परिणत नहीं हो सकता। इसीलिए, कहा जाता है कि परमेश्वर की शक्ति के प्रभाव से ही मल को परिणति मिलती है। यह युक्तिसंगत सिद्धान्त है।

पाश के सम्बन्ध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। शास्त्र में धर्माधर्म, कर्म, अदृष्ट, बीज आदि नाम से इसका वर्णन किया जाता है। कर्म-सन्तान अनादि है और सूक्ष्मदेह के ऊपर बुद्धितत्त्व में अवस्थान करती है।

मायापाश को मायातत्त्व से भिन्न समझना होगा। सृष्टि के आरम्भ में जब मन्त्रेश्वर मायातत्त्व को क्षोभित करते हैं, तो माया साक्षात् भाव से और परम्परा-क्रम से कला, विद्या आदि तत्त्वरूप में परिणत होती है। कला से पृथ्वी तक तीस तत्त्वों की समष्टि ही माया का स्वरूप है। पुर्यष्टक, सूक्ष्मदेह आदि एक प्रकार से माया का ही नामान्तर है।[1] यह प्रत्येक आत्मा से अलग-अलग और मोक्ष नहीं होने तक

१. सांख्य और वेदान्तसम्मत सूक्ष्म या लिंगशरीर से यह सूक्ष्म शरीर किसी-किसी अंश में भिन्न है। सांख्य अथवा वेदान्त में तन्त्रोक्त कलादि तत्त्व का स्थान नहीं रहने के कारण सूक्ष्म शरीर के लक्षण में भेद दिखाई देता है। परन्तु, यह शरीर जीवन के भोग-साधन में प्रधान है। यह सर्ववादिसम्मत है।

उस आत्मा के भोग-साधन के रूप में कर्म के अनुसार सभी अधोवर्त्ती भुवनों में पर्यटन करता रहता है। अतएव मायातत्त्व और मायापाश एक नहीं हैं।

कला आदि तत्त्वों की समष्टिरूप माया–साधारण और असाधारण–दो प्रकार की है। साधारण माया बहुत विस्तृत और सारी आत्मा की भोगरूपा भुवनावली की आधारभूत है। यह बिन्दु की विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति नाम की कला में निश्चलवत् रहती है। विद्या कला में माया, कला, काल, नियति, विद्या (अविद्या), राग और प्रकृति—ये सात भुवनाधार हैं। इनमें अंगुष्ठमात्र भुवन से वामदेव नामक भुवन तक सत्ताईस भुवन अवस्थित हैं। प्रतिष्ठा-कला में त्रिगुण से जल तक तेईस तत्त्वमय भुवनाधार हैं, जिसमें श्रीकण्ठ भुवन से अमरेश भुवन तक छप्पन भुवनों का सन्निवेश है। निवृत्तिकला में केवल पृथ्वी-तत्त्व है : यह भद्रकालीपुर से कालाग्नि भुवन तक एक सौ आठ भुवनों का आधार है। इस साधारण माया के विशाल राज्य में प्रत्येक आत्मा की भोग-साधनभूत संकोच और विकासशील असंख्य सूक्ष्मदेह-समष्टि चारों ओर संचरण करती है। इसका नाम असाधारण माया या पुर्यष्टक है। अपने-अपने भुवन सें उत्पन्न स्थूल देहों से जब इन सूक्ष्मदेहों का सम्बन्ध होता है, तब उनमें अपना-अपना कर्मफल भोगने की योग्यता आती है।

माया-तत्त्व नित्य, विभु और एक है। किन्तु, इसमें विचित्र शक्ति है। सृष्टि के आरम्भ से यह ईश्वर-शक्ति से युक्त होकर कला, काल और नियति—इन तत्त्वों को पैदा करती है। इनमें से कलातत्त्व मलशक्ति को कुछ अभिभूत करके आत्मा की चैतन्य शक्ति को कुछ उद्बुद्ध करता है। फलस्वरूप, आत्मस्वरूप के अनुविद्ध होने के कारण आत्मा में अपने व्यापार के लिए थोड़ी मात्रा में कर्त्तृत्व-भाव का विकास होता है। मल यद्यपि आत्मा को पराभूत नहीं करता, फिर भी उसकी शक्ति का रोध जरूर करता है। शक्ति ही करण है। इसलिए, कलातत्त्व आत्मशक्ति के मलरूप आवरण को थोड़ा हटाकर और आत्मा के कर्त्तृत्व को थोड़ा उद्बुद्ध करके आत्मा को अपने पिछले कर्मों के फलभोग करने में सहायता करता है। विषय के द्वारा बुद्धितत्त्व का उपरंजन ही आत्मा का भोग है। यह एक प्रकार का संवेदन है, जिसका स्वरूप प्रवृत्ति में अभिन्न रूप से भासित होता है।

अनन्त नामक विद्येश्वर के द्वारा माया का क्षोभ होता है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। तान्त्रिक आचार्यगण माया के क्षोभ से परमेश्वर के साक्षात् कर्त्तृत्व को स्वीकार नहीं करते, पर उनके प्रयोजकत्व को स्वीकार करते हैं। क्योंकि, उनके अधिष्ठान के विना अनन्त आदि का कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है। किरणागम में लिखा है—

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्त्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः ।'

माया, जो इस प्रकार से विचित्र भुवन आदि रूप में और नाना प्रकार की देहादि इन्द्रिय-रूप में अर्थात् कर्मफल-भोग के साधन-रूप में परिणत होती है, वह नाना बन्धनयुक्त 'सकल' पशु के लिए ही होती है। इन सब पशुओं में, अनात्मा में आत्माभिमान-रूप मायामय बन्धन, सुख, दुःख, मोह का हेतुभूत विपर्यय और अशक्ति आदि भावप्रत्ययात्मक कर्ममय बन्धन और पशुत्व-प्राप्ति का मूल हेतु अनादि आवरण-मय आणव बन्धन रहता है। इसलिए, परमेश्वर की अपनी शक्ति द्वारा क्रियमाण बिन्दु या महामाया का क्षोभ और अपनी शक्ति द्वारा प्रेरित 'अनन्त' के द्वारा क्रियमाण माया का विक्षोभ—ये दोनों व्यापार सर्वथा एक प्रकार के नहीं हैं। शिव की निज शक्ति शुद्ध संवित् अथवा विशुद्ध निर्विकल्प ज्ञान है, पर अनन्त की निजशक्ति सविकल्प ज्ञान अथवा विकल्प विज्ञान है।

शरीर और इन्द्रिय—इन सबसे सम्बन्ध न हो, तो कर्त्तृत्व नहीं हो सकता, ऐसी कोई बात नहीं। क्योंकि, ऐसा देखा जाता है कि अशरीर आत्मा को भी अपनी देह के स्पन्दन आदि पर कर्त्तृत्व है। आत्मा में मल आदि का सम्बन्ध रहने से ही कर्त्तृत्व के प्रकाश के लिए शरीर आदि का प्रयोजन होता है। शिव मलहीन हैं, अतएव उनके कर्त्तृत्व में शरीर आदि की अपेक्षा नहीं रहती। माया-अधिष्ठाता अनन्त सर्वथा निर्मल नहीं हैं; क्योंकि उनमें अन्य मल न भी हो, अधिकार-मल रहता है। उनका शरीर बिन्दु या महामाया के उपादान से गठित है, यह पहले ही कहा जा चुका है।

अनन्त आदि में सविकल्प ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, यह जानने का विषय है। तन्त्र का मत है—'यह घट है', इस प्रकार का परामर्शस्वरूप शब्दोल्लेख होकर आत्मा में सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है—

'सविकल्पकविज्ञानं चितेः शब्दानुवेधतः ।'[1]

अर्थात् चेतन में शब्दानुवेध से ही सविकल्प ज्ञान होता है। इसलिए, अनन्त के विकल्प विज्ञान में भी शब्दोल्लेख जरूर रहता है, इसे स्वीकार करना होगा। मगर यह किस प्रकार हो सकता है? हमलोग जिस समय की चर्चा कर रहे हैं, उस समय

---

१. चिन्ता या thinking से भाषा अथवा language के सम्बन्ध को सभी स्वीकार करते हैं। शब्दोल्लेख का अतिक्रम किये बिना चिन्ताराज्य या विकल्पभूमि का भेद नहीं किया जा सकता। इसीलिए, योगी स्मृति परिशुद्धि का अनुशीलन करते हैं। बौद्धगण भी शब्दात्मक ज्ञान को कल्पना कहते हैं, प्रत्यक्ष नहीं।

अशुद्ध जगत् की उत्पत्ति ही नहीं हुई। क्योंकि, माया के क्षुब्ध होने के बाद उसके परिणाम से अशुद्ध जगत् उत्पन्न होता है। इसलिए, तान्त्रिकगण स्थूल आकाश को इस शब्द के अभिव्यंजक रूप में नहीं मानते। वे कहते हैं, परमेश्वर द्वारा महामाया अथवा बिन्दु का क्षोभ होने पर ही शब्द की उत्पत्ति होती है। महामाया ही कुण्डलिनी या परव्योम-स्वरूप है। शब्द उसी का परिणाम-स्वरूप है। पञ्चभूतों में आदिभूत आकाश जैसे अवकाशदान तथा स्थूल शब्द के अभिव्यंजन द्वारा चन्द्र-सूर्य आदि ज्योतिर्मण्डल में भोग और अधिकार सम्पन्न करता है, वैसे ही बिन्दु नामक परमाकाश भी अवकाश-दान और शब्दव्यंजन द्वारा शुद्ध जगत्-निवासी शिव अर्थात् सर्वज्ञत्व और कर्त्तृत्व-सम्पन्न विद्येश्वरों के भोग और अधिकार का कारण होता है।

बिन्दु, परा, पश्यन्ती आदि अपनी शब्दात्मिका वृत्ति के सम्बन्ध से, 'यह घट लाल है' ऐसे परामर्शरूप विकल्प के उल्लेख से सविकल्प ज्ञान-उत्पादन करते हैं। जाति आदि विशेषण-विशिष्ट सविकल्पक ज्ञान शब्दानुबिद्ध होकर उत्पन्न होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव है। इसे पूर्वानुभूत वासनात्मक संस्कार या भावना-रूप में ग्रहण करने का कोई भी कारण नहीं। अध्यवसाय बुद्धि का कार्य है। इसीलिए, कोई-कोई इस सविकल्पक अनुभव को बुद्धि का कार्य ही समझते हैं। परन्तु, तान्त्रिक दृष्टि से अध्यवसाय बुद्धि का ही परिणाम माने जाने के बावजूद विकल्पज्ञान का उद्भव बिन्दु के कार्य शब्द की सहकारिता से ही माना जाता है। माया से ऊपर बुद्धि का स्थान नहीं है, यह सत्य है। किन्तु, विद्येश्वर आदि शुद्ध जगत्वासी का विकल्प-अनुभव बुद्धि-जनित नहीं है, उसका एकमात्र निमित्त वाक्शक्ति का प्रभाव है। अनन्त किस प्रकार से विकल्पज्ञान के द्वारा माया को विक्षुब्ध करके जगत् की सृष्टि करते हैं, यह ऊपर के विवरण से समझ में आता है। इस सविकल्पक ज्ञान से अनन्त के कर्त्तृत्व का उपपादन दूसरी प्रक्रिया से भी हो सकता है। पर यहाँ उसका विवरण आवश्यक नहीं लगता।

बिन्दु की शब्दात्मिका वृत्ति चार प्रकार की है—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा।[1] चिदणु या जीवमात्र में यह वृत्ति रहती है। इन्हीं वृत्तियों के भेद से

१. इन चार वृत्तियों का वर्णन पृथक् रूप से किया जा रहा है—१. वैखरी—यह श्रोत्र-ग्राह्य अर्थवाचक स्थूल शब्द है। कण्ठ आदि स्थानों पर आहत होने से वायु वर्ण का आकार लेती है। साधारणतया यह शब्द प्राण की वृत्ति को आश्रय करके प्रवृत्त होता है। इसलिए, इसका उद्भव आकाश और वायु मानी गई है। २. मध्यमा—यह प्राणवृत्ति से परे श्रोत्र का अविषय है। यह अन्तःसंजल्प-रूप में अथवा चिन्तन-रूप में

किसी का ज्ञान उत्कृष्ट, किसी का मध्यम और किसी का निकृष्ट समझा जाता है। इन सारी वृत्तियों को अतिक्रम कर सकने पर ही साधक शिवत्व-लाभ कर सकता है, उससे पहले नहीं।

[दो]

शैव अथवा शाक्त अद्वैत-सिद्धान्त में बहुत कुछ सादृश्य है। यहाँतक हमने द्वैत-दृष्टि की जो चर्चा की है, उससे अद्वैत-दृष्टि का मतभेद किसी-किसी अंश में है, पर उसका विशेष विवरण देना अनावश्यक है। प्रसंगत: सामान्य रूप से दो-चार बातें कह देता हूँ। इस मत के अनुसार आत्मा चित् अर्थात् प्रकाश का स्वरूप है। उसकी विमर्श-रूप शक्ति उससे अभिन्न है। यह शक्ति वाक्रूप है।[1] परा अवस्था में

अन्दर-ही-अन्दर चलता रहता है। इसी का दूसरा नाम है—परामर्श-ज्ञान। यह शुद्ध बुद्धि का परिणाम है और क्रमविशिष्ट होता है। यही स्थूल शब्द का कारण है। ३. पश्यन्ती—इसका दूसरा नाम अक्षरबिन्दु है। इसके सम्बन्ध में पहले कुछ कहा गया है। यह स्वयंप्रकाश, अविभक्त, वर्णमय और क्रमहीन है। ४. परा या सूक्ष्म—कहीं-कहीं इसे नाद भी कहा जाता है। यही अभिधेय बुद्धि का बीज है। इसका स्वरूप ज्योतिर्मय और प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न होता है। यह सुषुप्तावस्था में भी निवृत्त नहीं होता। परावाक् से पुरुष या आत्मा के स्वरूप को पृथक् रूप में साक्षात् करने से ही भोगाधिकार निवृत्त होता है। यह मुख्य विवेकज्ञान है। जबतक इसका उदय नहीं होता, तबतक शब्दानुविद्ध ज्ञान के अतीत विशुद्ध निर्विकल्प ज्ञान प्राप्त होने का कोई उपाय नहीं। सांख्यसम्मत सत्त्वपुरुष-अन्यता-ख्याति या विवेक-ख्याति से तन्त्र-प्रसिद्ध आत्मा की स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। इसलिए, सांख्य में आये कैवल्य को आगम में कहीं भी मोक्षरूप में नहीं ग्रहण किया गया है। वास्तव में, इस अवस्था में आत्मा का पशुत्व नहीं निवृत्त होता। शिवत्व की अभिव्यक्ति भी नहीं होती। इस प्रकार केवली आत्मा में परावाक् का सम्बन्ध रह जाता है। दीक्षा के प्रभाव से मल के निवृत्त होने के बाद आत्मा और रावाक् का स्वरूपगत अविवेक दूर हो जाता है।

१. द्वैत मत में परावाक् बिन्दु की वृत्ति-विशेष का नाम है। इसे अतिक्रम करने से मुक्ति होती है। शुद्ध होते हुए भी बिन्दु जड है। परन्तु, अद्वैत मत में परावाक् परमेश्वर की स्वतन्त्र शक्ति का ही दूसरा नाम है और यह चिद्रूप है। पूर्णावस्था में यह आत्मा और परमेश्वर में अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है।

उसे 'पूर्णाहन्ता' कहा जाता है। इसका स्वरूप प्रकाशमय महामन्त्रात्मक है, जिसके गर्भ में 'अ'कार से 'स'कार तक सारी शक्ति निहित है। परावाक् पश्यन्ती आदि क्रम से एक के बाद दूसरी भूमियों को प्रकाशित करता है। सच तो यह कि आत्मा अपनी ही शक्ति के द्वारा मोहित होकर अपने पञ्चकृत्यकारी स्वरूप को भूल जाती है।[1] इसकी जड़ में इसकी अपनी इच्छा या स्वातन्त्र्य है। फिर से जब स्वेच्छावश अर्थात् शक्तिपात के प्रभाव से ही उसका बल उन्मीलित होता है, तब वह सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वादि रूप अपने पारमेश्वरी स्वभाव में सदा के लिए स्थिति-लाभ करती है।

आणव मल आदि तीन प्रकार के मल वास्तव में संकुचित ज्ञान के सिवा और कुछ नहीं। इसके द्वारा जो परिच्छिन्न ज्ञेय पदार्थ का भान होता है, वह वास्तव में ज्ञान से अलग कुछ नहीं। 'अ' से 'क्ष' तक विस्तारशील मातृका-चक्र या वर्ण-समष्टि से सारा ज्ञान अधिष्ठित है। वर्णमाला से सारे विश्व की उत्पत्ति होती है। इसीलिए, तन्त्र में वर्ण विश्वजननी मातृका-रूप में वर्णित होता है। ये मातृकाएँ जबतक ज्ञान के विषयीभूत नहीं होतीं, तबतक ये बन्धन का कारण होती हैं। पर, सम्यक् रूप से ज्ञान का विषय होने से इससे परासिद्धि मिलती है। मलात्मक ज्ञानत्रय निर्विकल्प या सविकल्प, दोनों ही अवस्था में शब्दानुबिद्ध रहता है। मातृका-वर्ग के प्रभाव से तत्तत् ज्ञान तत्तत् शब्द के अनुवेध द्वारा शोक आदि विभिन्न भावों का आकार धारण करके अष्टवर्ग, निवृत्ति आदि पञ्चकला एवं कला आदि छह अध्वा की अधिष्ठात्री ब्राह्मी आदि शक्ति के रूप में भासमान होता है। इनपर अम्बिका आदि शक्तिमण्डल का प्रभाव भी पड़ता है। मातृकागण के अधिष्ठान से ही ज्ञान अर्थात् पूर्णाहन्ता में अभेद ज्ञान का अनुसन्धान लुप्त हो जाता है और ज्ञान-समूह प्रतिक्षण बहिर्मुख होकर बन्धन उत्पन्न करता है। अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री और वामा—ये चार शक्तियाँ सभी शक्तियों के मूल कारण हैं। अकारादि मातृका को कला, देवी, रश्मि नाम से अभिहित किया जाता है। ये सब स्थूल वर्ण के रूप में एवं पद, वाक्य प्रभृति की योजना से नाना प्रकार के लौकिक और अलौकिक शब्दों में परिणत होती हैं। इन कलाओं के प्रभाव से

---

१. वास्तव में, मायिक दशा में भी आत्मा का पञ्चकृत्यकारित्व पूर्ण रूप से आच्छन्न नहीं होता। जो पुरुष भक्ति से अपने पञ्चकृत्यकारित्व-स्वभाव का दृढ भावना से सदा परिशीलन कर सकता है, उसका परमेश्वर-भाव अभिव्यक्त होता है। वह जगत् को अपने स्वरूप का विकास जानकर जीवन्मुक्त पद पर आरोहण कर सकता है। उस समय वह सभी जागतिक पदार्थ को ही अपनी आत्मा से अभिन्न बोध करता रहता है। वैसे में उसके सब बन्धन कट जाते हैं।

पशुओं का ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है; इसलिए कहा जाता है कि पशु कलावर्ग के अधीन अथवा भोग्य है। इनके प्रभाव से जो ज्ञानाभास अथवा आणव, मायीय या कार्ममल उत्पन्न होता है, उससे पशु-आत्मा का अपना विभव या ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। 'मैं दुबला हूँ', 'मैं मोटा हूँ', ऐसे ज्ञानाभास को मायामल कहते हैं। इसी प्रकार, 'मैं यज्ञादि कर्म का कर्त्ता हूँ'—ऐसे ज्ञानाभास को कार्ममल कहते हैं।

कोई-कोई यह प्रश्न कर सकते हैं: जब अनावृत प्रकाश ही जगत् का स्वभाव है, तो बन्धन का आविर्भाव कहाँ से होता है? अद्वैत मत में चित् प्रकाश के अलावा किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। इस प्रश्न के हल के सम्बन्ध में आचार्यगण कहते हैं कि परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के द्वारा सबसे पहले अपने स्वरूप को ढँकनेवाली महामायाशक्ति को अभिव्यक्त करते हैं। उसके प्रभाव से आकाशवत् स्वच्छ आत्मा में संकोच आता है। यह संकोच अनाश्रित या शिवतत्त्व से लेकर माया प्रमाता तक सर्वत्र व्याप्त है। परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की हानि ही संकोच का स्वरूप है। वास्तव में, यह अभिन्न परमेश्वर-भाव का अस्फुरण-भर है। इसी का नाम अपूर्णस्मन्यता या आणव मल है। इसी का दूसरा नाम अज्ञान है। इस प्रसंग में पौरुष अज्ञान और बौद्ध अज्ञान की चर्चा आवश्यक है। अद्वैत आगम के अनुसार इसका नाम 'अख्याति' है, जो आत्मा में अनात्म भाव का अभिमान-मात्र है। यह अज्ञानात्मक ज्ञान बन्धन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु, अनात्मा में आत्माभिमान-रूप अज्ञान-मूलक ज्ञान भी बन्धन है। इसलिए, आणव मल दो प्रकार का कहा जाता है—

१. चिदात्मा में स्वातन्त्र्य का अप्रकाश अर्थात् अपूर्णस्मन्यता। यह मल विज्ञानाकल पशु में रहता है।

२. स्वातन्त्र्य के होते हुए भी देहादि अनात्मा में अवरोधात्मक आत्माभिमान।

विश्व का कारण माया है। इसी का दूसरा नाम योनि है। इससे कला आदि पृथ्वी तक तत्त्वसमूह आविर्भूत होता है। इन तत्त्वों से विभिन्न भुवन, देह, इन्द्रिय आदि रचित होते हैं। इन सबको मायामल कहते हैं। इसे आश्रय करके शुभ अशुभ जो कार्य होते हैं, वही कार्ममल है। कला आदि तत्त्व आणव मल की भित्ति से संलग्न होकर ही पुरुष को आच्छादित करता है। इसीलिए ये सब मल पदवाच्य हैं।

तीन मल और कलासमूह की अधिष्ठात्री है मातृकाशक्ति। इसमें अभेद-ज्ञान की अधिष्ठात्री अघोराशक्ति है, जिसके प्रभाव से बाहर-भीतर आत्मभाव की

स्फूर्त्ति होती है और भेदज्ञान की अधिष्ठात्री घोराशक्ति है, जिसके प्रभाव से वहिरोन्मुख भाव और स्वरूप का आवरण होता है।

प्रसरण के वाद परावाक् पहले इच्छारूप में, उसके बाद मातृकारूप में परिणति-लाभ करता है। यही सब मातृका ही वर्णमाला है। स्वर वर्ण में बीज अथवा शिव का अंश और व्यंजन वर्ण में योनि अथवा शक्ति का अंश प्रबल रहता है। ये सब वर्ण उन-उन प्रमाताओं में सविकल्प एवं निर्विकल्प—दोनों ही अवस्थाओं में आन्तर परामर्श द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म शब्द का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार वर्णादि देवताओं के अधिष्ठान से राग, द्वेष, दु:ख, सुख, भय आदि स्फूर्त्त होते हैं। और, संकोचहीन चिद्घन आत्मा का स्वरूप आच्छन्न होकर परिच्छिन्न होता है और परतन्त्र देहादिमय भाव का आविर्भाव होता है। महाघोरा, ये पशुमातृका शक्तियाँ भेद-ज्ञान पैदा करती हैं तथा ब्रह्म-ग्रन्थि के सहारे विद्यमान रहती हैं। ये पशुओं के अध:पतन के मूल कारण हैं। तत्त्वलाभ करने के वाद भी जवतक साधन सही, सम्यक् रूप से प्रमादहीन नहीं होता, तवतक इन शक्तियों के द्वारा शब्दानुवेध के माध्यम से मोहगर्त्त में गिरने की आशंका बनी रहती है।[1]

[तीन]

संक्षेप में, प्रकाश और विमर्श के वारे में दो-एक वात कही जा रही है। यह सभी जानते हैं कि सृष्टि आदि सभी व्यापारों के मूल में प्रकाश और विमर्श—दोनों ही की सत्ता मौजूद रहती है। स्वातन्त्र्य के उन्मेष से पराशक्ति जब अन्तर्लीन अवस्था को त्याग करके अभिव्यक्त होती है, उसी समय विश्वरूप चक्र का आवर्त्तन होता रहता है। वास्तव में, शक्ति अथवा विमर्श की ही अभिव्यक्ति होती है, प्रकाश से उसका उपचार-मात्र होता है। इस दृष्टि से देखने से यह प्रतीत होगा कि तत्त्वमात्र ही शक्ति के स्वातन्त्र्य-उल्लास की एक अवस्था है—इसमें सन्देह नहीं। इसीलिए, शिवतत्त्व को तत्त्व कहकर शक्तिश्रेणी में गिना जाता है। अतएव, यह कहा जा सकता है, प्रकाश-विमर्श एक हिसाब से परम विमर्श का ही उपभेद है। इसलिए तत्त्व के विचार के प्रसंग में प्रकाश और विमर्श—दोनों ही विमर्शात्मक या शक्त्यात्मक हैं। इसलिए दोनों में अंश की कल्पना की जाती है।

वामकेश्वर तन्त्र के अनुसार प्रकाश के चार अंश हैं और उसके साथ अविनाभूत विमर्श के भी चार अंश हैं। प्रकाश के चार अंश के नाम हैं—अम्बिका, वामा,

---

१. "ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥"

अर्थात्—देवी भगवती महामाया ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक आकर्षित कर मोह में डाल देती हैं।

ज्येष्ठा और रौद्री। विमर्श के चार अंश के नाम हैं—शान्ता, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। अम्बिका और शान्ता की समरस अवस्था में शान्ता भावापन्न पराशक्ति परावाक् नाम से प्रसिद्ध होती है। यह अवस्था आत्मस्फुरण की अवस्था है।

"आत्मनः स्फुरणं पश्येत् यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता ॥"[1]

आत्मस्फुरण की इस अवस्था में समग्र विश्व बीजरूप में अर्थात् अस्फुट रूप में आत्मसत्ता में मौजूद रहता है। इसके बाद शान्ता से इच्छा के उदय होने पर वह अव्यक्त विश्वशक्ति के गर्भ से निकलता है। और, तब इच्छाशक्ति वामाशक्ति से तादात्म्य-लाभ करती हैं और पश्यन्ती वाक् के नाम से परिचित होती हैं। इसके बाद ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है। ज्ञानशक्ति ज्येष्ठा से अभिन्न है। इसका दूसरा नाम मध्यमा वाक् है। यह शक्ति सृष्ट विश्व की स्थिति का कारण है। ज्ञान के बाद क्रियाशक्ति रौद्री के साथ एक होकर 'वैखरी' के नाम से प्रसिद्ध होती है। प्रपंचात्मक वाग्वैचित्र्य वैखरी का ही स्वरूप है।

ये चार प्रकार के वाक् परस्पर मिलकर मूल त्रिकोण अथवा महायोनि-रूप में परिणत होते हैं। शान्ता और अम्बिका के सामरस्य-रूप परावाक् ही इस त्रिकोण का मध्यविन्दु या केन्द्र है। यह नित्य स्पन्दमय है। पश्यन्ती इसकी वाम, वैखरी दक्षिण और मध्यमा सरल अग्ररेखा है। बीच का महाविन्दु ही अभिन्न शिवशक्ति का आसन है। चित्कला के प्रभाव से यह त्रिकोणमण्डल समुज्ज्वल है। इसके बाहर क्रमविन्यास में शान्त्यतीत, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति—इन पाँच कलाओं के आभामय स्तर हैं। इन्हीं स्तरों की समष्टि जगत् का रूप है। अतएव, भूपुर से महाबिन्दु तक फैला हुआ समग्र विश्वचक्र ही उस महाशक्ति का विकास है।[2]

---

१. पराशक्ति जिस समय अपना स्फुरण आप ही देखती हैं, उस समय वह अधिकार-रूप प्राप्त होकर परावाक् में वर्णित होती हैं।

२. तान्त्रिक दृष्टि से देवतामात्र का यान्त्रिक रूप वासना-भेद से जगत् का ही रूप है। प्रत्येक यन्त्र में सबसे बाहर जो चतुष्कोण यन्त्र अंकित होता है, उसका नाम भूपुर है। वही विश्वनगर का आकार-स्वरूप है। पूर्व आदि किसी मार्ग के सहारे उसमें प्रवेश करना होता है। उसके बाद क्रमशः भीतर की ओर बढ़ना ही साधनमार्ग का उत्कर्ष है। इन यन्त्रों में सर्वत्र ही बीच अर्थात् केन्द्र में जो विन्दु रहता है, वही अन्तिम भूमि का सूचक है। इस भूमि में सर्वशक्ति-समन्वित परमेश्वर का अपरोक्ष अनुभव अथवा साक्षात्कार होता है।

मध्य त्रिकोण बिन्दु-विसर्गमय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसकी प्रत्येक रेखा ही पञ्चस्वरमय है। पञ्चदश स्वरात्मक इस त्रिकोणमण्डल का बिन्दुस्थान विसर्ग ('अः') द्वारा आक्रान्त है। इस त्रिकोण के स्पन्दन से अष्टकोण कल्पित होता है। यह रौद्रीशक्ति के रूप और शान्त्यतीत कला द्वारा उज्ज्वल है। इसका प्रत्येक स्तर ही प्रकाश और विमर्शमय अर्थात् शब्द और अर्थमय है। उस-उस वर्ण और उस-उस तत्त्व (वाचक और वाच्य) का तादात्म्य उस-उस चक्रांश में प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। सभी चक्रों में 'अकार' से 'क्षकार' तक वर्णमाला और शिव से पृथ्वी तक तत्त्वसमूह अभिव्यक्त होता है। कुण्डलिनी-जागरण के बाद साधक जब उत्तरोत्तर ऊपर की ओर उठता है अथवा इष्टदेवता के स्वरूपभूत चक्र के भीतर प्रवेश करना शुरू करता है, तब वास्तव में इस विश्वचक्र में ही उसकी यात्रा चलती रहती है। अकुल से महाबिन्दु तक फैले महामार्ग में जो सब अवान्तर चक्र हैं, उनकी समष्टि ही विश्वचक्र है। इसमें अकुल से आज्ञाचक्र तक का अंश 'सकल' है, आज्ञाचक्र से ऊपर बिन्दु से उन्मना तक का अंश 'सकल-निष्कल' और उन्मना के बाद महाबिन्दु-अंश 'निष्कल' है।[1] वस्तुतः यह महाबिन्दु ही विश्व का हृदय है, यही विश्वातीत परमेश्वर अथवा शिवशक्ति के आविर्भाव का स्थान या आसन है।

वास्तव में महाबिन्दु सदाशिव है, जिस पर चित्कला अथवा चित्शक्ति स्वातन्त्र्यमय रूप में खेला करती हैं। यह खेला परावाक् या परामात्रा का विलास है। शुक्ल और रक्तबिन्दु-रूप प्रकाश-विमर्शमय कामकलाक्षर के परस्पर संघट्ट से चित्-

१. योगमार्ग के सकल अंश में सबसे पहले अकुल या विषुवत् स्थान है। इसके अष्टदल के बाद षड्दलविशिष्ट कुलपद्म अवस्थित है। इसके बाद के सारे ही पथ कुलमार्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। षड्दल कमल के ऊपर मूलाधार और उसपर शक्ति या हृल्लेखा का स्थान है। यह अनंग आदि देवता द्वारा परिवेष्टित है और आधार-कमल से ८½ अंगुल ऊपर नीले रंग की कणिका में प्रतिष्ठित है। हृल्लेखा से दो अंगुल ऊपर अधिष्ठान-कमल का स्थान है। इसके बाद क्रमशः मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, लम्बिकाग्र (अष्टदल कमल) और अन्त में आज्ञाचक्र हैं। अग्नि, सूर्य और चन्द्र का बिम्ब भी इन मार्गों में दिखाई देता है। मूलाधार में अग्निबिम्ब-अनाहत में सूर्यबिम्ब और विशुद्ध में चन्द्रबिम्ब का दर्शन होता है। आज्ञाचक्र से ऊपर बिन्दु से उन्मना तक भूमि के नाम ये हैं—बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका या व्यापिनी, समना और उन्मना। यहाँ तक जो मार्ग हैं, वे सकल-निष्कल हैं। बिन्दु का भेद करने के बाद ही अर्द्धचन्द्र आदि कलाएँ क्रमशः उपलब्धि-

कला की अभिव्यक्ति होती है।[1] महाबिन्दु के स्पन्दन से तीन विलीन विन्दु अलग-अलग होकर रेखारूप में परिणत होकर महात्रिकोण का रूप धारण करते हैं। इसी से शिव से पृथ्वी तक समस्त विश्व का आविर्भाव होता है।

गोचर होती हैं। उन्मना तक पहुँचने के बाद काल की कला, तत्त्व, देवता और मन बिलकुल निरुद्ध हो जाते हैं। तन्त्रशास्त्र में इसी को निर्वाणात्मक रुद्रवक्त्र नाम से वर्णित किया जाता है। यह अन्तिम भूमि सर्वथा निराकार है, उच्चारहीन, शून्यमय और विश्वातीत है। इसके बाद महाविन्दु ही निष्कल भूमि का स्वरूप है। इसका दूसरा नाम सादाख्य अथवा सदाशिवरूपी आसन है। इसी के ऊपर तत्त्वातीत शिव या शक्ति की लीला होती है। ये सब योगमार्ग चक्रवेध-क्रम से प्रदर्शित हुए हैं। उपासना-क्रम से भी इसका भेद प्रदर्शित हो सकता है। श्रीचक्र में प्रविष्ट होकर क्रमशः तत्त्वातीत अवस्था की ओर यात्रा के मार्ग में तीन विभाग देखने में आते हैं–(१) चतुष्कोण से त्रिकोण चक्र, (२) बिन्दु से उन्मना तक और (३) महाविन्दु। इनमें से दूसरा और तीसरा विभाग पूर्वोक्त सकल-निष्कल और निष्कल मार्ग से सर्वथा अभिन्न और पहला विभाग पूर्वोक्त सब मार्ग का ही नामान्तर है। परन्तु दोनों में वासना-भेद से उनके स्थान और उपाधि में भेद देखा जाता है। अतएव भूपुर, षोडशदल, अष्टदल, चतुर्दशकोण, बाह्य दशकोण, अष्टकोण और त्रिकोण—यह अंश सुषुम्णा-मार्ग में निम्नतम अकुल से आज्ञाचक्र तक अवस्थित हैं। इसके बाद बिन्दु में प्रतिष्ठित होने के बाद भिन्न वासना नहीं रहने के कारण अग्रवर्त्ती भूमि में कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

१. तत्त्वातीत अवस्था में शिव और शक्ति का सामरस्य रहता है। वैसे में विश्वशक्ति के गर्भ में अन्तःसंहृत भाव से यानी शक्ति से अभिन्न होकर विद्यमान रहता है। पर, पराशक्ति जब स्वेच्छा से अपना स्फुरण आप ही देखती हैं, तभी विश्व की सृष्टि होती है। इस अवस्था में दृष्टि ही सृष्टि है। अनुत्तर दशा में स्वरूप में अभिन्न रूप से रहते हुए भी विश्व दृष्ट नहीं होता। अतः वह अवस्था सृष्टि-व्यापार नहीं। इस दृष्टि या सृष्टि-व्यापार में शिव तटस्थ रहते हैं। उनकी स्वरूप-भूत स्वातन्त्र्य-शक्ति ही सब काम करती है। शिव अग्नि-स्वरूप, संवर्त्तानल या प्रलयानल-स्वरूप हैं। शक्ति सोमस्वरूप, विवर्त्त चन्द्रस्वरूप। दोनों का साम्य ही तान्त्रिक भाषा में 'बिन्दु' के नाम से अभिहित होता है। इसी बिन्दु का दूसरा नाम 'रवि' अथवा 'काम' है। इसका

इस महात्रिकोण में चार पीठ हैं। प्रत्येक पीठ में विश्व का रूप भासमान होता है। स्वरूप में उसका भान बीजरूप में होता है, बाहर सृष्टिरूप में। पीठ शब्द प्रकाश और विमर्श की मात्रा सकल की साम्यावस्था का द्योतन करता है। जैसे, अम्बिका और शान्ता शक्ति के सामरस्य का नाम कामरूप पीठ है, वैसा ही अन्यान्य पीठ भी समझना चाहिए। कामरूप पीठ पीतवर्ण चतुष्कोण आकार में आधार-स्थान में दिखाई देता है। इसका दूसरा नाम है मन। इसपर जब बिन्दु चैतन्य की परिछाइँ पड़ती है, तो इसे स्वयम्भूलिंग कहते हैं। वास्तव में, यह पीठ महात्रिकोण का अग्निकोण-स्वरूप है। इसी प्रकार, त्रिकोण के दूसरे दो कोण पूर्णगिरि और जालन्धर पीठ के नाम से प्रसिद्ध हैं। वहाँ प्रतिफलित चैतन्य इतरलिंग और वाणलिंग के नाम से प्रसिद्ध है। ये दोनों बुद्धि और अहंकार के दूसरे नाम हैं। देह में इनके नाम हृदय और भ्रूमध्य हैं। मध्यबिन्दु को उड्डीयान या श्रीपीठ कहते हैं। यह चित्तस्वरूप है। इसमें प्रतिबिम्बित ज्योति को परलिंग कहते हैं। इनमें से प्रत्येक लिंग निर्दिष्ट संख्यक वर्ण से वेष्टित रहता है। पर, परलिंग सभी वर्णों से वेष्टित रहता है। यह परलिंग ही परमपद से प्रथम स्पन्दरूप में उदित होता है।

शिवशक्ति-यामल का अहं-परामर्श पूर्ण और स्वाभाविक है—इसलिए इसे पूर्णाहन्ता कहते हैं। यह निर्विकल्पक ज्ञानस्वरूप है। स्वातन्त्र्य के कारण इसमें विभाग का आविर्भाव होता है। पूर्णाहन्ता या परावाक् विभाग-दशा में भी पश्यन्ती आदि तीन रूप धारण करता है। इनमें से प्रत्येक की स्थूल, सूक्ष्म और परभेद से तीन-तीन अवस्थाएँ हैं। परमतत्त्व के निरंश प्रकाशस्वरूप होने पर भी उसकी मुख्य तीन शक्ति के भेद से इस प्रकार का विभाग होता है। मुख्य तीन शक्तियाँ इस प्रकार हैं :

१. परा या अनुत्तरा—इसका नाम चित्‌शक्ति है।
२. परापरा—इसका नाम इच्छाशक्ति है।
३. अपरा—इसका नाम उन्मेषरूपा ज्ञानशक्ति है।

क्षोभ या साम्य-भंग होने के बाद सृष्टि का सूत्रपात होता है। साम्य अवस्था में अग्नि और चन्द्ररूपी रक्त और शुक्ल बिन्दु ('अ'—'ह') सूर्य से अभिन्न रहता है—क्षुब्ध होने पर चित्‌कला का आविर्भाव होता है। आग की आँच से घी जैसे पिघलकर बहता रहता है, वैसे ही प्रकाश-स्वरूप अग्नि के सम्पर्क से विमर्शरूपा शक्ति का स्राव होता है। इस प्रकार, श्वेत और रक्त बिन्दु के बीच से चित्‌कला का निःसरण होता है। चैतन्य की अभिव्यक्ति का यही रहस्य है।

इन तीनों का अभिन्न रूप ही परमेश्वर की पूर्णशक्ति है। इनमें अनुत्तर अथवा चित् ='अ', इच्छा='इ' और उन्मेष अथवा ज्ञान ='उ' है। यही तीन शक्ति 'अ' 'इ' 'उ' नामक त्रिकोण है। क्षोभ से शक्तिवर्ग की संख्या छह होती है। 'अ' क्षुब्ध होने से 'आ' होता है, 'इ' क्षुब्ध होने से 'ई' होता है, 'उ' क्षुब्ध होने से 'ऊ' होता है। 'आ' आनन्द का, 'ई' ईशान का और 'ऊ' ऊणत्व का वाचक है। आनन्द आदि शक्तियाँ क्षुब्ध होने पर भी अपने रूप से स्खलित नहीं होतीं। इसीलिए, ये मलिन नहीं होतीं। इसलिए आपसी संघट्ट के कारण ये शक्तियाँ दूसरी शक्तियों को प्रकट कर सकती हैं। यही छह स्वर वर्णसन्तति के मूल हैं। इन्हें षड्देवता कहते हैं—कहीं-कहीं सूर्य की मुख्य षड्रश्मि भी कहते हैं। इन छह शक्तियों के परस्पर संघट्ट को क्रियाशक्ति कहते हैं, जिससे द्वादश शक्ति का विकास होता है। ऋ, ॠ, ऌ, ॡ—ये चार नपुंसक हैं। इनमें सृष्टि की कारणता नहीं है। सम्पूर्ण शक्तिपुंज उन द्वादश शक्तियों के ही अन्तर्गत है। यही प्रधान शक्तिचक्र है, जिससे अधिष्ठातृ रूप में सम्बन्ध रहने के कारण शिव को पूर्णशक्ति कहा जाता है।[1] ये शक्तियाँ सभी प्रक्षीण-मल शुद्ध और उद्रिक्त चैतन्य हैं। इनके ज्ञानक्रियात्मक सामर्थ्य में किसी प्रकार का आवरण नहीं है। चौंसठ योगिनियाँ इन द्वादशशक्तियों से ही उत्पन्न होती हैं। इनकी समष्टि अघोराशक्ति है। घोरा और घोरतरा शक्ति इसी से आविर्भूत होती हैं। सृष्टि आदि क्रम से द्वादशशक्ति का पृथक्-पृथक् रूप है। अनाख्या-क्रम में भी इनके पृथक् रूपों का पता चलता है। जिस क्रम में सृष्टि आदि उपाधि नहीं है, उसका नाम अनाख्या है। इसका मतलब यह कि निरुपाधिक स्वरूप-सृष्टि में भी यह विभाग मौजूद है।

स्वरूपगत उपाधिहीनता की जो बात कही गई, वह दो प्रकार से सम्भव है: (१) उपाधि-वर्ग के अनुल्लासवशतः और (२) उपाधि के उपशम से। उपाधि का उपशम पाक से ही होता है। तान्त्रिक आचार्यगण दो प्रकार का पाक स्वीकार करते हैं—मधुर पाक और हठ पाक। जो गुरु आदि की आराधना करके समयी और पुत्रकादि दीक्षा-सम्पादन के बाद नित्य-नैमित्तिकादि कर्म में निष्ठा रखते हैं, वे देहान्त में सृष्टि आदि उपाधि से मुक्त हो सकते हैं। इन उपाधियों का प्रशमन स्वभावतः नहीं होता। उसके लिए शास्त्रीय उपदेश आदि जरूरी होता है। इस उपाय से धीरे-धीरे देहपात के बाद उपाधिनाश में समर्थ होते हैं। परमेश्वर का शक्तिपात तीव्र नहीं होने से ऐसा ही होता है। इसके विपरीत, जिनपर भगवत्-

---

१. इन बारह को कहीं-कहीं कालिका कहा गया है। 'श्रीसार' शास्त्र में इनका नाम 'द्वादश योगिनी' है।

कृपा की मात्रा अधिक पड़ती है, वे केवल एक बार उपदेश पाने से ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस क्रम में सृष्टि आदि तीनों उपाधियाँ चिदाग्नि में सदा भस्म हो जाती हैं। अर्थात् ये सब लोक अचिद्भाव त्यागकर आत्मशक्ति के स्फुरण-रूप में प्रतिभात होते रहते हैं। इनका क्रम इसी प्रकार है—ज्ञानाग्नि के उद्दीपन के बाद इस प्रकार के पाक से सृष्टि आदि पदार्थगत भेद कट जाता है। उस समय विश्व अमृतमय होता है, अर्थात् बोध से तादात्म्य-लाभ करता है। इस अमृतरूप विश्व को पूर्व-वर्णित (अ, आ आदि) द्वादशशक्ति या करणेश्वरी भोग करती है यानी वे परबोध या परमेश्वर के साथ अभिन्न रूप में परामर्शन करती हैं। क्योंकि, ये शक्तियाँ अघोरशक्ति की प्रकाशरूपा हैं। इस भोग के फलस्वरूप वे शक्तियाँ (करणेश्वरी) या देवियाँ तृप्ति पाती हैं। उस स्थिति में इनमें दूसरे के लिए अपेक्षा या आकांक्षा नहीं रह जाती। तब वे हृदयस्थ द्योतनमात्र स्वरूप पर प्रकाश या परमतत्त्व के साथ अभिन्न होकर स्फुरित होती रहती हैं। ये शक्तियाँ परमेश्वर के स्वरूप में विद्यमान और उनसे अभिन्न होती हैं। परन्तु, इस अभेद के बावजूद कृत्य, क्रियावेश, नाम और उपासना-भेद से ये भिन्न-भिन्न रूप में भासित होती हैं। इन शक्तियों में संकोच और प्रकाश, दोनों ही होता है। इसीलिए, संख्या में बारह होते हुए भी एक ओर ये जैसे सब मिलकर एक हो सकती हैं, वैसे ही दूसरी ओर, कोटि-कोटि भिन्न रूपों में भी आविर्भूत हो सकती हैं।

[चार]

स्वरूप-दृष्टि से आत्मा सब भावों से परे है, इसलिए यह सब भावों में सर्वात्मक होकर भी सर्वत्र अपने स्वभाव में स्वयं रूप में अवस्थित है। इसीलिए, यह निर्विकार, द्वन्द्वातीत, निर्दोष और समरस है। परन्तु, व्यवहार-भूमि में और प्रतिभास-क्षेत्र में इसमें अवस्थागत भेद दिखाई देता है। इन अवस्थाओं या दशाओं के अवान्तर विभाग असंख्य हैं, परन्तु इनके मुख्य विभाग जाग्रत् आदि भेद से तमाम पाँच ही प्रकार के माने जाते हैं। इन पाँच अवस्थाओं में से जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्न—ये तीन अवस्थाएँ सबकी सुपरिचित हैं। बाकी दो की धारणा ज्ञान के उदय और परिणति हुए बिना कोई भी स्पष्ट रूप से नहीं कर सकता। स्मरण रखना होगा कि कोई भी अवस्था वास्तव में विशुद्ध आत्मा की नहीं, देह आदि संसृष्ट आत्मा की है।

सवाल हो सकता है, ये परिदृष्ट अवस्थाएँ किस प्रकार से उदित होती हैं? साधारण दृष्टि से अत्यन्त स्थूल भाव से इस भेद के उपपादन के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और बाहरी विषय की सम्बन्धगत विशिष्टता

से ही इन दशाओं का उदय होता है। आत्मा से यहाँ देहविशिष्ट जीवात्मा की बात ही समझनी होगी, विदेही केवल-आत्मा की नहीं। आत्मा और मन का संसर्ग, मन और इन्द्रिय का संसर्ग तथा इन्द्रिय और विषय का संसर्ग जिस अवस्था में मौजूद रहता है, उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं। परन्तु, जिस अवस्था में इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध नहीं रहता, परन्तु बाकी दो सम्बन्ध पहले की भाँति बरकरार रहते हैं, उनका प्रचलित नाम स्वप्नावस्था है। जिस अवस्था में इन्द्रिय और विषय का सम्वन्ध नहीं रहता, इसके सिवा मन और इन्द्रिय का भी सम्वन्ध नहीं रहता, केवल आत्मा और मन का सम्बन्ध रहता है, उसे सुषुप्ति कहा जाता है। अज्ञान से आच्छन्न जीव इन तीन अवस्थाओं के आवर्त्तन का निरन्तर अनुभव करता है। इस आवर्त्तन से छुटकारा पाने के लिए अपरोक्ष ज्ञान की आवश्यकता है। जवतक वह नहीं होता, यानी जवतक आत्मा का सम्यक् ज्ञान उदित नहीं होता, तबतक यह आवर्त्तन अवश्यम्भावी है। व्यष्टिभाव से यह जैसा सत्य है, समष्टिभाव से भी वैसा ही सत्य है। मृत्यु के वाद लोकान्तर-गमन या जन्मान्तर-परिग्रह, यहाँ तक कि प्रलय आदि व्यापार—सब इसी नियम के अधीन हैं।

सुषुप्ति-अवस्था में भी आत्मा से मन का संयोग रहता है। यह अनादि संयोग और मूल अज्ञान से प्रसूत है। सुषुप्तिकाल में मन पुरीतत् नाड़ी में अर्थात् वेष्टन के भीतर हृदय-प्रदेश में रहता है। वह आकाश-स्थान है। वहाँ किसी प्रकार की नाड़ी नहीं होती और वायु का भी कोई स्पन्दन अनुभूत नहीं होता। सुषुप्ति-काल में मन चूँकि हृदय में निश्चल होकर रहता है, इसलिए उस समय किसी प्रकार के लौकिक ज्ञान की सम्भावना नहीं रहती। क्योंकि, मन के मनोवहा नाडी में संचरण किये विना लौकिक ज्ञान आविर्भूत नहीं होता। नाड़ी-मात्र ही वायुघटित संस्थान है—सम्पूर्ण मानव-शरीर नाड़ी-जाल से आच्छन्न है, पर शरीर में एकमात्र वही हृदयस्थ दहराकाश ही नाड़ी-रहित है, वायुशून्य और मन की क्रिया-शून्य स्थान है। मन का संचरण और वायु की क्रिया देह में सर्वत्र सम्भव है, परन्तु हृदय में वायु, मन आदि कुछ भी क्रिया नहीं करता। मन, जब हृदय में प्रविष्ट होता है, तो वहाँ स्तब्ध होकर रहता है। वह मन की लय-अवस्था होती है। मन की क्रिया नहीं रहने के कारण उस समय चूँकि विलक्षण आत्म-मनःसंयोग नहीं हो सकता, इसलिए ज्ञान, इच्छा आदि आत्मा के लौकिक विशेष गुणों का उद्भव नहीं होता।

परन्तु, जब गुरु की कृपा से और अपने पिछले शुभ अदृष्ट के परिपाक से अलौकिक ज्ञान का उदय होता है, तो अनादि आत्म-मनःसंयोग का वह हेतुभूत अज्ञान कट जाता है, तब वह आत्म-मनःसंयोग भी नहीं रहता। उस समय हृदय का

आकाश नये उगे ज्ञान-सविता की स्निग्ध किरणमाला से आलोकित होता है। इस अवस्था को स्थूल भाव से आत्मा की तुरीय दशा की पूर्वसूचना माना जाता है। इस अवस्था का उदय होने और इसके स्थायी होने से यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों ही अवस्थाओं में समान रूप से अनुस्यूत रहती है। पूर्णावस्था होते हुए भी इसका उन्मेष पहले ही साधारणतः पूर्ण रूप में नहीं पाया जाता। इसीलिए, ज्ञान के उदय के बाद भी जाग्रत् आदि अज्ञान-अवस्था कुछ समय तक मौजूद रहती है। लेकिन उसकी शक्ति क्रमशः हीन हो जाती है। देह रहने तक या प्रारब्ध का बल भोग द्वारा नहीं कट जाने तक साधारणतया इसी तरह से चलता रहता है। प्रारब्ध कट जाने पर देहाभिमान आभासरूप में नहीं रह जाता। जाग्रत् आदि अवस्था-भेद भी नहीं रहता। उस समय एक ही अविच्छिन्न स्थिति रहती है। उस समय तुरीय अवस्था तुरीयातीत नाम से प्रसिद्ध होती है। वह यद्यपि वास्तव में नित्यावस्था होती है, फिर भी तुरीय अवस्था का उदय और परिपाक नहीं होने से उसके स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत् आदि तीन पृथक् अवस्थाएँ जबतक रहती हैं, तबतक चतुर्थ या तुरीय नाम की सार्थकता है—जबतक अज्ञान है, तबतक ज्ञान का अर्थ है। परन्तु, जब जाग्रत् आदि पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ नहीं रहतीं, अज्ञान भी नहीं रहता, तब वह तुरीय ही तुरीयातीत या स्वरूपस्थिति के नाम से परिचित होती है।

जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियाँ बहिर्मुख रहती हैं और रूप, रस आदि विषय पंचक से संसृष्ट होकर उन्हें ग्रहण करती हैं। इस प्रकार से हमारे बाह्यजगत् के ज्ञान का उदय होता है। पर, स्वप्नावस्था में यह बाहरी ज्ञान नहीं रहता। क्लान्ति के कारण उस समय इन्द्रियों के बहिरोन्मुख भाव का उपशम हो जाता है—इन्द्रियाँ उस समय अन्तर्मुख हो जाती हैं। परन्तु, इन्द्रियों के अन्तर्मुख होते हुए भी मन उस समय तक भी बहिर्मुख ही रहता है : मतलब कि उस समय इन्द्रियों के विरूपाभिमुख नहीं रहने पर भी मन की इन्द्रियमुखी प्रवणता निवृत्त नहीं होती। इसी के परिणाम-स्वरूप स्वप्न-अनुभव का उदय होता है। यह संस्कारजन्य ज्ञान है। इसके सिवा मन उस समय देह में ही मनोवहा नाड़ी से अन्तःस्थित वायुमण्डल में संचरण करता है और नाना प्रकार के दर्शन, स्पर्शन आदि का अनुभव करता है। चूँकि पिण्ड और ब्रह्माण्ड अभिन्न हैं, इसलिए यह संचार एक ओर जैसे व्यष्टि में होता है, वैसे ही दूसरी ओर समष्टि में भी हो सकता है। सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। इसके बाद जब इन्द्रियों की तरह मन भी क्लान्त हो पड़ता है, तो मन की इन्द्रियमुखी गति निवृत्त होती है और मन उपरत होकर विश्राम करता है। स्वभावतः वह उस समय हृदय में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त करता है। मन के बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख होते ही हृदय का द्वार खुल जाता है; क्योंकि हृदय-

अविच्छिन्न आकाश परिमित प्रतीत होने पर भी वास्तव में वह सर्वव्यापक है। मन चाहे जब जहाँ रहे, वह नित्य ही उसका सन्निहित रहता है। फिर भी, मन सब समय उसमें प्रवेश नहीं कर सकता। बाह्य उन्मुख भाव से विरत होकर मन के अन्तर्मुख होते ही उस आकाश अर्थात् हृदय के भीतर प्रवेश करने का पथ पाता है। हृदय में एक बार प्रविष्ट कर जाने पर मन को फिर संचरण करने का सामर्थ्य नहीं रह जाता; क्योंकि उस आकाश में चलने का कोई पथ नहीं है। इसलिए मन वहाँ निश्चल होकर रहता है। मगर, आश्चर्य यह है कि मन के क्लान्त होकर निश्चल होने के साथ-साथ हृदय-गुहा में प्रविष्ट करने पर भी मन की ओर आत्मा का उन्मुख भाव नष्ट नहीं होता। इसलिए, दोनों में संयोग रहता है। अनादि अविद्या जबतक प्रकृत ज्ञान के उदय से निवृत्त नहीं होती, तबतक आत्मा यानी जीवात्मा की यह मन की अभिमुखता नहीं जाती। इसीलिए, मन के जरा देर के लिए सुषुप्ति में स्थिर होने पर भी यह स्थिति दीर्घकाल तक नहीं रहती। पूर्व-संस्कार के उद्बोधन के साथ-साथ वह बहिर्मुख होता है और पहले की भाँति नाड़ी-मार्ग में संचरण करना आरम्भ करता है। पूर्व-संस्कार के उद्बोधन का प्रकृत हेतु काल है। फिर भी समझना होगा कि सुषुप्ति-अवस्था में भी मन कालातीत नहीं हो सका है। इसीलिए, मन के स्थिर होने पर भी सुषुप्ति में ज्ञान का उदय नहीं होता। जागतिक ज्ञान मन का क्रिया-सापेक्ष है। इसीलिए, हृदय-आकाश में लौकिक ज्ञान का उदय सम्भव नहीं है। जिस समय मन स्थिर होता है और साथ-ही-साथ लोकोत्तर ज्ञान का प्रकाश जाग उठता है, जानना चाहिए कि उसी समय तुरीय अवस्था का उन्मेष होता है। सुषुप्ति में जो स्थिरता होती है, वह तामसिक है। उस समय सत्त्व होता भी है, तो विशुद्ध सत्त्व नहीं, इसलिए विशुद्ध सत्त्व के उदय और विकास नहीं होने तक मूल अज्ञान को काटा नहीं जा सकता और लोकोत्तर ज्ञान का भी आविर्भाव नहीं होता। गुरु की कृपा से यदि आत्मा की मनोमुखी दृष्टि निरुद्ध हो अथवा उससे अधिक गुरु की कृपा से यदि वह दृष्टि परमात्ममुखी दृष्टि में बदल जाय, तो पूर्ववर्णित अनादि अज्ञान मिट जाता है और आत्म-मनःसंयोग छिन्न हो जाता है। उस समय मन निष्क्रिय और चेतन भावापन्न होता है। इसी का नाम मन का जागरण है, यही मन का उद्धार या मन का त्राण यानी ज्ञान का उन्मेष है। हम जिस तुरीय अवस्था का उल्लेख कर आये हैं, वह इसी का दूसरा नाम है। इसके बाद यह चेतन और शुद्ध मन भी नहीं रह जाता। वही तुरीयातीत है। उस समय एकमात्र आत्मा ही अपने स्वरूप में विराजती हैं और अपने से आप ही क्रीड़ा करती हैं।

अबतक जो कुछ कहा गया, वह प्रचलित साधारण दृष्टि की बात है। परन्तु, विज्ञानदृष्टि से और भी अनेक रहस्यों का पता चलता है। विज्ञानविदों ने इस

सम्बन्ध में जो कुछ उपलब्धि की है, साधारण जिज्ञासुओं की उत्सुकता मिटाने के लिए तथा जानकारी बढ़ाने के लिए संक्षेप में उसका थोड़ा-बहुत बताने की चेष्टा कर रहा हूँ।

जो शरीर-विज्ञान के पण्डित हैं, वे कहते हैं कि हमारा यह मानव-शरीर सर्वमय है—इसमें सब-कुछ है। सिर्फ इतना ही नहीं, जो सब-कुछ से परे है, वह भी इसमें है। पिण्ड सिर्फ ब्रह्माण्ड से अभिन्न है, यही नहीं—ब्रह्माण्ड के अतीत या विश्वातीत सत्य भी पिण्ड के आश्रय से जाहिर होता है।

इस देहचक्र का विश्लेषण करके इसे सांकेतिक यन्त्ररूप में देखने से एक दृष्टि से इसे चतुरस्र या चतुष्कोण-रूप में और दूसरी दृष्टि से षट्कोण-रूप में वर्णित किया जा सकता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन दशाएँ जीवभाव से संसृष्ट हैं, इसलिए इन तीनों को जीव-दशा कहा जा सकता है। तुरीय अवस्था का नाम शिव-दशा है। इस देह को आश्रय करके तीन जीव-दशाएँ और एक शिव-दशा यानी कुल चार दशाएँ प्रकाशित होती हैं। इसलिए, इसकी कल्पना चतुरस्र रूप में की जाती है। परन्तु, तुरीय अवस्था के अवान्तर भेद की भी कल्पना की जा सकती है। क्योंकि, इस अवस्था में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का उपाधिगत सम्बन्ध रहना सम्भव है। इस औपाधिक सम्बन्ध के दृष्टिकोण से तुरीय को भी तीन प्रकार का माना जा सकता है। इस भाव से देखने पर जीव-दशा तीन होने के नाते जीव त्रिकोण-पदवाच्य है और शिव-दशा भी तीन हैं, इसलिए शिव भी त्रिकोण-पदवाच्य है। देहचक्र में इन दोनों ही दशाओं का मिलन है। इसलिए, देहचक्र को सांकेतिक रूप से षट्कोण कहा जा सकता है।

अतएव, तुरीय को एक दशा मानने से देह चतुरस्र नाम से अभिहित होती है। और जब जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन जीवावस्थाओं के साथ जाग्रत् आदि उपाधि-सम्पन्न शिव-अवस्था-रूप में तुरीय को तीन प्रकार का मानकर जोड़ा जाता है, तो इस देह को षट्कोण कहा जाता है। देहचक्र में एक नाभि या मध्यबिन्दु है। वही पूरे चक्र का धारण और नियन्त्रण करता है। हम जिसका निर्देश तुरीयातीत अवस्था कहकर करते हैं—वही उसका स्वरूप है—वही देहचक्र का केन्द्र है।

जाग्रत् एक सक्रिय अवस्था है—घट-पट आदि बाहरी पदार्थ का अनुसन्धान ही उसका स्वरूप है। सुप्ति-अवस्था के निवृत्त होने पर इस प्रकार के बाहरी अर्थ की जो जिज्ञासा जगती है, वही जाग्रत् है। इसमें क्रिया की प्रधानता होती है। परन्तु, सुप्ति अवस्था में क्रिया की प्रधानता नहीं रहती—वह जड़-प्रधान निष्क्रिय अवस्था है। इन दोनों अवस्थाओं के अन्तराल में एक और दशा है। उसका

नाम स्वप्न है। सुप्ति के मिटने से पहले नाना प्रकार के मानसिक भेदमय विकल्प ज्ञान का उदय होता है—यही स्वप्न के नाम से परिचित है। जीव की संसार-दशा का विश्लेषण करने से हम इन तीनों दशाओं से परिचित होते हैं। जिसका निर्देश सुप्ति कहकर किया गया, वही संसार की बीज-दशा है; जिसे स्वप्न कहा गया, वह संसार की उन्मेष-दशा है और जिस दशा को हमने जाग्रत् कहा है, वह संसार की गहरी और बढ़ी हुई दशा है। आत्मा के संस्कार के क्रमिक आधिक्य के अनुसार क्रम से इन तीन अवस्थाओं का निर्देश किया गया। परन्तु, तुरीय अवस्था इन तीनों अवस्थाओं से बिलकुल अलग है। इन तीनों अवस्थाओं में परस्पर भेद-सम्बन्ध रहने के कारण इनमें से कोई भी दो अवस्थाएँ एक साथ प्रकट नहीं हो सकतीं, एक-एक करके होती हैं। यानी जब जाग्रत् अवस्था रहती है, तब स्वप्न और सुषुप्ति नहीं रहतीं। जब स्वप्न-अवस्था रहती है, तो जाग्रत् या सुषुप्ति नहीं रहती और जब सुषुप्ति रहती है, तब जाग्रत् या स्वप्न-अवस्था नहीं रहती। किन्तु, तुरीय अवस्था ऐसी नहीं है। क्योंकि, वह इन तीनों अवस्थाओं में से प्रत्येक के साथ ओतप्रोत रूप में मौजूद रहती है। तुरीय जाग्रत् में रहती है, स्वप्न में रहती है और सुषुप्ति में भी रहती है। तुरीय अवस्था के प्रकाश के लिए दूसरी किसी अवस्था का निवृत्त होना आवश्यक नहीं। चित् का अनुसन्धान ही तुरीय की विशिष्टता है। ऊपर की तीनों अवस्थाओं में से प्रत्येक चित् से उद्भूत होती है, इसलिए चित् उनका कारण है और वे चित् से कार्य हैं। कार्य में कारण जैसे व्यापक रूप में रहता है, वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में तुरीय व्यापक रूप से विद्यमान रहती है। तुरीय अवस्था शुद्ध और निर्मल होते हुए भी उसमें जाग्रत् आदि भिन्न अवस्थाओं का कलंक-स्पर्श होता है। यह स्पर्शमात्र ही होता है, इसमें सन्देह नहीं। फिर भी, यह सत्य है। परन्तु, तूरीयातीत अवस्था में यह स्पर्श भी नहीं रहता।

परमशिव की प्राण-स्वरूपा पराशक्ति मातृका-महायन्त्र की वाच्य है। यह महाशक्ति पञ्च अवयव-विशिष्ट होती है—इसका स्वरूप जाग्रत् आदि पाँच अवस्थाओं से गठित होता है। मूर्त्ति के अवयव की ओर से विचार करने पर जाग्रत्-अवस्था को इसके शरीर के दक्षिण-पार्श्व के रूप में धारणा कर सकते हैं; क्योंकि दक्षिण-पार्श्व क्रिया-प्रधान है और जाग्रत् अवस्था भी क्रिया-प्रधान है। सुषुप्ति को वाम-पार्श्व माना जा सकता है; क्योंकि यह बहुत हद तक निष्क्रिय है। स्वप्न-अवस्था जाग्रत् और सुषुप्ति के बीच की अवस्था है—यह देवी के जघन या गुह्य-प्रदेश के रूप में कल्पित होती है। विकल्प-समूह का उद्भव इसी अंश से होता है। सुप्ति निवृत्त होने के बाद जो विषय-ज्ञान होता है, वह जाग्रत् है और सुप्ति के निवृत्त

न होने पर भी यदि अर्थज्ञान होता है, तो उसे स्वप्न जानना चाहिए। तुरीय अवस्था देवी के मुँह के रूप में कल्पित है। जाग्रत् आदि त्रिविध दशा में जो जड भाव प्रकट होता है, उसे ग्रास करने का सामर्थ्य एकमात्र तुरीय में ही होता है। मुँह जैसे चवाने और खाने का काम करता है, वैसे ही चित्-अनुसन्धान-प्रधान तुरीय अवस्था भी जडत्व को ग्रास करती है।

तुरीयातीत अवस्था देवी के हृदय-रूप में परिकल्पित है। यही सभी अवस्थाओं की प्राणभूत है। वास्तव में, तुरीयातीत अवस्था साक्षात् महाशक्ति को ही वताती है। इस दृष्टि से अवस्था के विचार के प्रसंग में तुरीयातीत अवस्था की ही प्रधानता स्वीकार करनी होगी। तुरीय और तुरीयातीत, यद्यपि दोनों ही अवस्थाओं में चिद्भाव का प्रकाश रहता है, फिर भी तुरीयावस्था में संसार के कलंक का हलका आभास रह जाता है, पर तुरीयातीत में वह भी नहीं रहता। परमशिव की अवस्था छठी दशा के रूप में परिगणित होने योग्य है—यह अखण्ड और व्यापक है। परन्तु, ऐसा होने पर भी परमशिव से पराशक्ति का उत्कर्ष ही कीर्त्तित होने योग्य है; क्योंकि परमशिव की सत्ता चित् सारभूत विमर्शरूप पराशक्ति के अधीन है। इसलिए विश्वशक्ति में, वास्तव में कोई भेद नहीं होते हुए भी शक्ति का ही प्राधान्य अंगीकृत होता है।

यह जो विभिन्न दशाओं का वर्णन किया गया, इनसे 'अ'कारादि वर्ण-समूह का एक निगूढ सम्वन्ध है। कालिदास ने रघुवंश के मंगलाचरणवाले श्लोक में शक्ति और शिव के अच्छेद्य सम्वन्ध को समझाने के लिए उपमा के छल से वाक् या शब्द और अर्थ के घनिष्ठ सम्वन्ध का उल्लेख किया है। सृष्टि के प्रसंग में शब्द ही अर्थ के रूप में विवर्त्तित होता है, यह भर्त्तृहरि ने कहा है। वैदिक और तान्त्रिक साधन-शास्त्र में तमाम इस शब्द और अर्थ के गहरे सम्पर्क की बात कही गई है। ईसाई योगी भी यह जानते थे और इस विषय के अनेक गुह्यतत्त्व उनके साधन-साहित्य में मिलता है।

शब्द-अध्वा या धारा का मूल वर्ण है। वर्ण से मन्त्र, पद आदि का आविर्भाव होता है। अर्थ-अध्वा का मूल कला है, जिससे तत्त्व, भुवन आदि कार्य-वर्ग का क्रमिक स्फुरण होता है। दोनों धाराओं का पारस्परिक सम्वन्ध प्रति स्तर में विद्यमान है।

वर्त्तमान प्रसंग में हम वर्ण को आत्मिक दशा के ज्ञापक या व्यंजक रूप में मान सकते हैं। अतएव, उसके अनुसार दशा और वर्ण में व्यंग्य-व्यंजक-सम्वन्ध है, ऐसा कहा जा सकता है। वर्ण से ही दशाओं की अभिव्यक्ति होती है, यही तात्पर्य है। जिस निमित्त के द्वारा दोनों में यह सम्वन्ध कल्पित हुआ है, वह दोनों का सादृश्य है। चर्चा के क्रम में यह बात स्पष्ट होगी।

'अ' से विसर्ग तक स्वर वर्ण सुषुप्ति-अवस्था का द्योतक है। 'क'कार से 'म'कार तक पच्चीस स्पर्शवर्ण जाग्रत् अवस्था के द्योतक हैं। 'य', 'र', 'ल' और 'व'—ये चार अन्तःस्थ वर्ण स्वप्नावस्था के परिचायक हैं। 'श', 'ष' और 'स'—ये तीन ऊष्म वर्ण तुरीय अवस्था के वाचक तथा कूटाक्षर 'क्ष' तुरीयातीत के रूप में कल्पित हैं। तत्काल इसका विचार तुरीय के साथ ही करना होगा। जिसे तुरीय कहा गया, वह जाग्रत् अवस्था में आविर्भूत सुषुप्ति का ही दूसरा नाम है। इसी की पारिभाषिक संज्ञा योगनिद्रा है।

वर्णों का उच्चारण करने में जिस प्रयत्न की आवश्यकता होती है, उसका वैशिष्ट्य ठीक अवस्थाओं के वैशिष्ट्य जैसा है। उच्चारणगत संकोच और विकास को देखकर ही यह बात कही गई। स्पर्शवर्ण के उच्चारण में स्पृष्ट प्रयत्न की आवश्यकता होती है—यह जाग्रत् अवस्था का द्योतक है। इस प्रयत्न में संकोच-भाव प्रधान रहता है। परन्तु, विवृत प्रयत्न में संकोच-भाव मिट जाता है—उसमें प्रसार की प्रधानता होती है। स्वरवर्णों का उच्चारण विवृत प्रयत्न से ही होता है। स्वरवर्ण सुषुप्ति-अवस्था का ज्ञापक है, यह पहले ही कहा गया है। स्वरवर्ण नाद-कल्प है। इसलिए उसे नादरूप में ही ग्रहण किया जाता है। स्पर्शवर्ण सृष्टि और प्रलय-विषयक है। स्पृष्टता-प्रयत्न कहने से कण्ठ, तालु आदि उच्चारण-स्थान के निम्न और ऊर्ध्व भाग का संघट्टन समझना होगा। इसी का नाम है संकोच-ग्रहण। विवृतता-प्रयत्न का उद्देश्य यह है कि इससे उपर्युक्त संघट्टित कण्ठ आदि भागद्वय का फिर से विघटन किया जाता है। इसका दूसरा नाम है संकोच-त्याग। जाग्रत् अवस्था में घटपटादि अर्थ का ग्रहण होता है। इस अवस्था में आत्मा में संकोचभाव आता है। सुषुप्ति-अवस्था विश्राम की अवस्था है—उस समय आत्मा में पूर्णभाव प्रकाशित होता है।

वर्ण ही यद्यपि दशा का अभिव्यंजक है, फिर भी संकोच-ग्रहण और संकोच-त्यागमूलक अवस्था का सादृश्य वर्ण के प्रयत्न-सापेक्ष्य है। इसलिए प्रयत्न को उपचारवशतः अवस्था-व्यंजक माना जाता है। स्वप्न-अवस्था का ज्ञापक अन्तःस्थ वर्णगत ईषत्स्पृष्टता-प्रयत्न है। इस उच्चारण-प्रयत्न में स्पृष्टता ही प्रधान है, पर गौणरूप से विवृतता भी इसमें है। इसीलिए, इसे मिश्र प्रयत्न या ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न कहा जाता है। तुर्यदशा का ज्ञापक ऊष्मवर्णगत ईसत् विवृतता-प्रयत्न है। यह विवृतता-प्रयत्न स्पृष्टता से मिश्रित है, फलतः यह समग्र नहीं, संकीर्ण या ईषत् है।

अतएव, सुषुप्ति की पूर्णता समग्र या पूर्ण है; क्योंकि यह निर्विकल्प पद है—यह बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रिय-वर्ग का विश्राम-स्वरूप है। विकल्प का अभाव ही पूर्णत्व का बोधक है। जाग्रत् की अपूर्णता ठीक इसी प्रकार सम्यक् या पूर्ण है।

क्योंकि, यह संसारपद और गाढ़े विकल्प का उदय-स्थान है। यह घट-पटादि का अनुसन्धानात्मक है—इसमें विश्रान्ति का स्पर्श तक नहीं है। इस विकल्पद्वय ने ही जाग्रत् अवस्था को महासंकोचमय रूप में परिणत किया है। तुरीय अवस्था को जाग्रत् और सुषुप्ति का मिश्रण समझना चाहिए। यद्यपि तुरीय अवस्था में चिद्-विश्रान्ति व्यापक रूप में है और चिद्-विश्रान्ति ही सुषुप्ति है, फिर भी उस व्याप्ति का पता चैत्यवर्ग या जड़ वस्तु में चलता है। फलस्वरूप, विकल्प-स्पृष्टता भी जाग्रत् की अनुवर्त्ती होती है। स्वप्न भी मिश्र रूप है—यह जाग्रत् और सुषुप्ति का समवाय-रूप है। तुरीय में पूर्णता असमग्र होती है, परन्तु स्वप्न में संकोच असमग्र होता है।

[पाँच]

अद्वैत सूफी-साहित्य में परमात्मा की तीन यात्राओं का विवरण मिलता है। उनमें से पहली यात्रा है—परमात्मा से बहिर्मुख गति से अविद्या को आश्रय करके और जीवभाव धारण करके मनुष्य-भाव की प्राप्ति तक। दूसरी यात्रा है—मनुष्य-भाव से ज्ञान-प्राप्ति के बाद अविद्या की निवृत्ति करके फिर सचेतन भाव से अपने भाव या परमात्म भाव की प्राप्ति और सोहं रूप में सम्यक् प्रकार से बोध-स्वरूप अपने परिचय तक। इन दो यात्राओं की बात अध्यात्म-साहित्य में सर्वत्र प्रचलित है। पहली यात्रा अज्ञान की यात्रा है; दूसरी ज्ञान की यात्रा। परमात्मा अज्ञान को ग्रहण करते हैं, जीवभाव धारण करते हैं और चरम में मनुष्य-देह लेते हैं—इसका एकमात्र उद्देश्य है चैतन्य का विकास, जिसके लिए देह-धारण और चौरासी लाख योनियों से देह का क्रमविकास आवश्यक होता है। इस क्रमविकास के फलस्वरूप देह और चैतन्य का विकास पूर्ण होकर मानवीय सत्ता की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। उस समय मनुष्य अपने-आपको पूर्णरूप से सचेतन रूप में जानने का अवसर प्राप्त करता है; क्योंकि तब अहंभाव का विकास होता है। परन्तु, अवसर प्राप्त होने के बावजूद आप अपने को अहंरूप में नहीं जान सकते। उसका कारण है कि क्रमविकास के परिणाम-स्वरूप विकसित ज्ञान पर संस्कार का घनीभूत आवरण पड़ा रहता है। इस आवरण के नहीं हट जाने तक आत्मज्ञान की परिपूर्ण स्फूर्त्ति होना सम्भव नहीं है। आवरण के हटने के साथ-साथ क्रमशः देह, मन, बुद्धि आदि प्रकृत सत्ता से अहंबोध मुक्त हो जाता है और चरम स्थिति में वह 'मैं' वर्जित होकर अपने को आप ही प्रकाशित करता है।

इन दो यात्राओं के फलस्वरूप आत्मा अपना सर्वज्ञत्व, सर्वकर्त्तृत्व और दूसरे सारे भागवद् गुणों के प्रकाश का अनुभव करती है तथा भगवत् सत्ता में ज्ञान-पूर्वक प्रतिष्ठा पाती है। परमात्मा के सम्बन्ध में वस्तुतः बोध और अबोध अलग गृहीत नहीं होता। परन्तु, विश्लेषण के कारण बुद्धि के सौकर्य के लिए कहा जाता है

कि उसमें जैसे एक ओर बोध और अबोध का कोई भेद नहीं है, दूसरी ओर वैसे ही दो भिन्न-भिन्न दिक् भी स्पष्ट रूप से नित्य विद्यमान हैं। उनमें से जो अबोध का दिक् है, वह नित्य सुषुप्ति या जडभाव के के रूप में वर्णित होने योग्य है। इस सुषुप्ति-भंग के साथ-ही-साथ जडभाव खण्डित होकर जडरूप धारण करता है और चिद्भाव का उन्मेष जीवरूप धारण करके क्रमविकास की ओर अग्रसर होता है। इस पथ में चित् के साथ अर्थात् जीवभाव से जड का सम्बन्ध—अर्थात् अचेतन देह के संयोग से जीव की अग्रगति से मनुष्य-देह-धारण तक आवश्यक हो जाता है। चैतन्य का क्रमविकास या क्रम-जागरण ही इसका एकमात्र उद्देश्य और नियामक है। इसके विपरीत जो बोध की दिशा है––वह नित्य जाग्रत् स्थितिरूप में वर्णित होती है। यह नित्य सिद्ध स्वप्रकाश चैतन्य की अवस्था है—महासुषुप्ति से यह भिन्न है। इस अवस्था में आत्मा स्वभावत: अपने को अनावृत चेतन परमात्मा और अनन्त शक्ति-सम्पन्न रूप में बोध करती है। पहली अवस्था प्रकृति की परमावस्था है—यह अवस्था पुरुष की परमावस्था है। लेकिन, याद रखना है कि मूल में प्रकृति और पुरुष अभिन्न हैं। पहली अवस्था में अहं का उदय नहीं होता, सच पूछिए तो किसी बोध का ही उदय नहीं होता—महासुषुप्ति के भंग के बाद उस बोध का उदय और पुष्टि होती है। द्वितीय अवस्था में अहंबोध पूर्णाहं-रूप में नित्य प्रतिष्ठित होता है।

सुधी-गण कहते हैं, इस दूसरी यात्रा के बाद किसी-किसी क्षेत्र में एक तीसरी यात्रा का भी पता चलता है। एक, भगवत् सत्ता अपने स्वरूप से बाहर निकल आती है। दूसरी, बाहर से यह सत्ता अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूप में प्रवेश करती है। अपने स्वरूप में प्रवेश करने के बाद उस स्वरूप में ही भीतर-ही-भीतर परम अव्यक्त स्वरूप की ओर जो यात्रा है, उसको तीसरी यात्रा समझना होगा।

परमशिव की पृष्ठभूमि के रूप में जिसका उल्लेख किया गया है, उसका पता इस तीसरी यात्रा के ही पथ में मिलता है। कहना नहीं होगा, इस यात्रा की एक सीमा है। यह यात्रा यद्यपि अनन्त है, तथापि मनुष्य-देह में अवस्थित होकर इस यात्रा के अनुसरण में प्रवृत्त होने से एक परम अव्यक्त के द्वार पर पहुँचकर स्तम्भित हो जाना अपरिहार्य है। अत्यन्त ही सूक्ष्मदर्शी खीष्टीय अध्यात्मविद् योगी ने—कोई-कोई—इसीलिए God से Godhead का अलग से विश्लेषण करने की कोशिश की है। ज्ञान और विज्ञान-दृष्टि की निर्मलता के तारतम्य के अनुसार कोई जरा ही दूर जाकर मौन हो जाने को विवश हुए हैं, कोई उससे कुछ दूर आगे तक जा सके हैं। क्योंकि, अव्यक्त सदा अव्यक्त ही रहता है। उसे व्यक्त करने की जितनी भी चेष्टा क्यों न की जाय, चरम स्थिति में अव्यक्त अव्यक्त ही रह जाता है। "यतो वाचोनिवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"

हमारे अध्यात्मशास्त्र, अत्यन्त गुह्य होते हुए भी, इस तीसरी यात्रा का पता देने से बाज नहीं आये हैं। खास करके, तान्त्रिकशास्त्र चूंकि गुह्य तत्त्व के प्रतिपादक हैं, इसलिए इस मार्ग में ज्यादा दूर तक बढ़ने में समर्थ हुए हैं, ऐसा लगता है। दूसरे शास्त्रों में भी स्थान-विशेष में इसका परिचय जो नहीं मिलता है, ऐसी बात नहीं है।

साधारण दृष्टि से परम शिव-अवस्था ही पूर्णत्व की प्रतिपादक चरम अवस्था है, ऐसा आगमशास्त्र में माना गया है। क्योंकि, इस अवस्था में शिव और शक्तिभाव का सामरस्य या साम्य प्रकट होता हैं। शिवभाव अभिव्यक्त प्रकाश का भाव है--यही परम प्रकाश है, जिसके सहारे सब कुछ प्रकाशित होता है और सब कुछ न होने पर भी जो स्वप्रकाश है, इस नाते अपने में ही निरन्तर प्रकाशमान रहता है। इस प्रकाश की जो आत्मविश्रान्ति यानी अहंरूप में विमर्शन है, वही शक्ति है। शक्ति के स्फुरण से ही विश्व का उदय होता है—इतना ही नहीं, विश्व की स्थिति और लय भी शक्ति का स्फुरण-सापेक्ष्य है। इसलिए शक्ति के उन्मेष की अवस्था में इस समग्र प्रकाश में विश्व का आभास दिखाई देता है। यह आभास अहंरूप में लिया जाय या इदंरूप में, यह अलग बात है—परन्तु, इस आभास की सत्ता ही महाप्रकाश को साभास-रूप में निर्देश करती है। आभास नहीं रहने से वह प्रकाश निराभास-रूप में प्रकाशमान होता है। लोकदृष्टि में जिसे सृष्टि कहा जाता है, वह इस महाप्रकाशरूपी पूर्ण अहं की स्वातन्त्र्य-कल्पित इदंरूपी बाह्य सत्ता-मात्र है। यह बाह्य सत्ता सबसे पहले शून्य-रूप में अर्थात् शून्यातिशून्य-रूप में प्रकाशित होकर क्रमशः स्तर-स्तर में अनन्तभाव से आत्मप्रकाश करती है।

इस विश्वातीत और विश्वमयपूर्ण परम शिवसत्ता के अन्तराल में या पृष्ठभूमि में क्या है, हम शास्त्र और गुरुशक्ति की सहायता से उसी की कुछ धारणा करने की चेष्टा करेंगे। आपाततः यह गुह्य तत्त्व का आवरण-उन्मोचन जैसा लग सकता है, परन्तु वास्तव में जो प्रकृत गुह्य तत्त्व है, उसके आवरण का उन्मोचन नहीं किया जा सकता। यह केवल परमशिव-अवस्था के अन्तर्गत कुछ अत्यन्त सूक्ष्म स्तर का विश्लेषण-मात्र है। इस विश्लेषण में जो क्रम उपलब्धि में आता है, वह क्रम कालगत नहीं, बोध का क्रममात्र है। इस क्रम को नहीं लेने से देहबद्ध चैतन्य अपने अन्तर के अनन्त वैचित्र्य के कुछ अंश को सचेतन भाव से धारणा नहीं कर सकता।

ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है, यह शास्त्र में प्रसिद्ध है। वास्तव में सत्, चित् और आनन्द—ये तीन भाव अभिन्न हैं, पर प्रत्येक एक विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। सत्भाव असद्भाव से अलग होकर सन्मात्र रूप में मौजूद रह सकता है, और फिर चिद्भाव के साथ अभिन्न रूप में भी आत्म-प्रकाश कर सकता है। इसी प्रकार, चिद्-

भाव आनन्द के अतीत परमसत्ता में विराज कर सकता है और इसके विपरीत वह आनन्द से अभिन्न होकर भी आत्म-प्रकाश कर सकता है। पूर्णतत्त्व की जो गम्भीरतम स्थिति है, वहाँ सत्, चित् और आनन्द कल्पित नहीं हो सकता। इस गम्भीरतम सन्मात्र-स्थिति से इसी के आत्मप्रकाश-स्वरूप एक कला या शक्ति निकलती है, जिसे तान्त्रिकगण चित् कहते हैं। एक हिसाब से देखने पर यह चिद्भाव पूर्ण सत्य के बहिरंग भाव का आदि-प्रकाश है। तान्त्रिक साहित्य में इस चिद्भाव को 'अनुत्तर' कहकर अभिहित किया गया है। सत् से निज सत्ता चित्रूप में निकलने से चित् प्रतिष्ठा-लाभ करता है। लेकिन, जो बहिर्मुख स्पन्दन चिद्भाव का प्रकाशक है, वही स्पन्दन चिद्भाव में भी पहले की तरह काम करता रहता है। उसके फलस्वरूप चित् अपनी सत्ता से आंशिक रूप से निकलकर आनन्दरूप में स्थिति-लाभ करता है। परन्तु, यहाँ यह स्मरण रखना है कि जो शुद्ध सन्मात्र है, वह एक ओर निस्पन्द होते हुए भी दूसरी ओर स्पन्दन-रहित नहीं है। यह स्पन्दन बाहरी स्पन्दन है, जिसके प्रभाव से सत् चित्रूप में प्रकाशित होता है। मगर इसके अन्तःस्पन्दन को हम पकड़ नहीं पाते। अन्तःस्पन्दन को स्वीकार करने पर भी वह आलोचना के योग्य नहीं। चित् आदि प्रत्येक स्थिति में अन्तःस्पन्दन और बहिःस्पन्दन–दोनों ही समान रूप से मौजूद हैं। इसलिए, स्पन्दनवशतः चित् जैसे आनन्द के अभिमुख है, वैसे ही दूसरी ओर वह सत् के भी अभिमुख है। अन्तर्मुख और बहिर्मुख—इन दो वृत्तियों का हम मानव-चित्त में प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार परम सत्य के भीतर भी चित् और आनन्द—इन दोनों अंशों का यह द्विविध स्पन्दन गृहीत होता है। चित् से बाहरी स्पन्दन के फलस्वरूप जब दूसरा चित् आविर्भूत होता है, तो बहिर्मुख पहला चित् उसके दूसरे चित् में अपने को, यानी अपने प्रतिबिम्ब को, देख पाता है और देखकर उसे अपनी सत्ता के रूप में पहचान सकता है। उसीका शास्त्रीय नाम आनन्द है। दर्पण में जैसे अपना स्वरूप देखा जाता है और अलग-सा लगते हुए भी अपनी सत्ता-सा समझा जाता है—वैसे ही चित् से विश्लिष्ट चित् सत्ता में चित् जब अपने को देख पाता है, तो उसे आनन्द के रूप में अनुभव करता है। वास्तव में, वह अलग कुछ नहीं, अपनी ही सत्ता है। चित् जैसे सत् से पृथक् नहीं, मगर फिर भी पृथक् है, वैसे ही आनन्द चित् से पृथक् नहीं है, परन्तु फिर भी उसे पृथक् जैसा समझना पड़ता है।

पहले ही कह चुके हैं, चित् का शास्त्रीय नाम अनुत्तर है। वर्णमाला का प्रतीक है 'अ'। सभी वर्णों के अग्रभूत 'अ' के द्वारा अनुत्तर को ही लक्ष्य किया जाता है। वैसे ही 'आ'—यह वर्ण आनन्द का प्रतीक है। यह सत्, चित् और आनन्द अखण्ड रूप से गृहीत होने पर एक अद्वैत ब्रह्मरूप में अपने निकट आप प्रकाशित होता है।

यह ब्रह्मसत्ता निरंश है, फिर भी समझने के सौकर्य के लिए इसमें कल्पित दो अंश हैं। एक है—सन्मात्र, जो सदा अव्यक्त और अव्याकृत है—वह चिरनिगूढ और सत्य की गम्भीरतम स्थिति है। उसीको आश्रय करके उसका प्रकाश चित्‌रूप में विराजमान है—यह चित् वास्तव में चित्‌शक्ति का स्वरूप है और यह जब अपने अभिमुख होता है तथा अनुकूल संवेदन-रूप में प्रकाशमान होता है, तो यह आनन्द-रूप में परिचित होता है। यह आनन्द ह्लादिनी शक्ति-स्वरूप है। चित् अवस्था अनुकूल और प्रतिकूल भाव से वर्जित है, पर आनन्द-अवस्था नित्य अनुकूल भावमय है, इसमें प्रतिकूल भाव नहीं। चित् सत्ता में एक-ही-एक है, दूसरा कोई नहीं। लेकिन, आनन्द-सत्ता में एक ही दूसरा होकर अपने साथ आप ही खेल करता है। जिस अवस्था की कही जा रही है, वह सृष्टि के पहले की अवस्था है, सृष्टि की सारी सामग्री की अभिव्यक्ति की पूर्वावस्था है। हम जिसे सृष्टि कहते हैं, उसकी अभिव्यक्ति इसी आनन्द से होती है। इसीलिए, 'श्रुति' का कहना है—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।' युगल भाव के बिना आनन्द नहीं होता और आनन्द के बिना सृष्टि नहीं होती। बृहदारण्यक उपनिषद् में है—'स एकाकी न अरमत। तदात्मानं द्विधा अकरोत्' आदि। 'अ' से 'आ' का अभिव्यक्त होना और एक से दो का अभिव्यक्त होना—एक ही बात है। यही आत्मरमण है—आत्माराम अवस्था है, जिसका आस्वादन ब्रह्मविद्‌गण किया करते हैं।

फुहारे से जैसे जलकण निरन्तर उच्छ्वसित होकर निकलते रहते हैं, आनन्द-रूप झरने से वैसे ही निरन्तर आनन्द के कण उच्छ्वसित होकर बाहर की ओर निकलते हैं। सच तो यह कि बाह्य नाम की कोई चीज नहीं, मगर एक कल्पित बाह्य सत्ता को प्रतिभास-रूप में मान लिया जाता है। वास्तव में वह आनन्द-सत्ता का अभाव-मात्र है, और कुछ नहीं। आनन्द के सूक्ष्मकण के आनन्द के मूल झरने से निकलते ही वे एक आवरण से आच्छन्न हो जाते हैं, अपने अन्तर की आनन्द-सत्ता का फिर अनुभव नहीं कर सकते। शास्त्रीय परिभाषा में यही इच्छा का विकास है। इसका प्रतीक है 'इ'। आनन्द जहाँ पूर्ण है और अभाव जहाँ शून्य है, वहाँ इच्छा नाम की कोई शक्ति काम नहीं कर सकती। इच्छा का जो विषय है, उसी को इष्ट कहते हैं—यह और कुछ नहीं, आनन्द ही है। क्योंकि, इच्छा-मात्र ही आनन्द को चाहती है और आनन्द पाने के बाद ही इच्छा अपने-आप में विलीन हो जाती है। यह वास्तव में आनन्द की खोज की या ढूँढकर उसे निकालने की शक्ति है। कहना फिजूल है, इच्छा से ही जगत् की सृष्टि होती है। इसीलिए, सारे जगत् के अन्तःस्थल में तमाम अन्वेषण का एक भाव मौजूद है। अणु-परमाणु से सूर्यमण्डल अथवा नक्षत्र-मण्डल तक, स्थूल से कारण जगत् तक, सर्वत्र, प्रकट रूप से हो, चाहे अप्रकट

रूप से, एक अदृश्य आकांक्षा का रूप मिलता है। यह और कुछ नहीं, किसी खोये हुए धन को पाने की आन्तरिक आकांक्षा है। यह खोया धन इच्छा का विषयीभूत आनन्द है, दूसरा कुछ नहीं। आनन्द प्राप्त नहीं होने तक अन्वेषण का विराम नहीं, इसीलिए इच्छा की पूर्त्ति भी नहीं, इसीलिए पूर्णत्व नहीं प्राप्त होता।

यह आनन्द-रूप इष्ट वस्तु अभी भी अमूर्त्त अवस्था में विद्यमान है। इच्छा-शक्ति जब घनीभूत होती है या संवेग से स्पन्दित होती है, तो ईशन-शक्ति का उदय होता है। इसका प्रतीक है 'ई'। यह ईशन-शक्ति ही उस शक्ति का प्राण है। वास्तव में यह इच्छा के सिवाय और कुछ नहीं। यह इष्ट वस्तु सभी एषणीय यानी इच्छा का विषयीभूत है। परमावस्था में जब इसका यह गुप्त धन प्रकट हो उठता है तो वह ज्ञेयरूप में आत्मप्रकाश करती है। वैसे में, इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति का रूप धारण करती है। इस ज्ञानशक्ति का दूसरा नाम उन्मेष है, जिसका प्रतीक है 'उ'।

उन्मेषरूपा ज्ञानशक्ति अपने विषय ज्ञेय सत्ता को प्रकाश करती है। इच्छा और एषणीय जैसे अलग न होते हुए भी अलग लगते हैं, वैसे ही ज्ञान से ज्ञेय पृथक् नहीं होते हुए भी पृथक् प्रतीत होते हैं। ज्ञानशक्ति 'उ'कार से वर्णित होती है और उसका विषय ज्ञेय 'ऊ'कार के द्वारा वर्णमाला में गुँथा रहता है। यह 'ऊ' वास्तव में 'उ' की ही घनीभूत अवस्था है। शास्त्रीय परिभाषा में इसे 'ऊनता' या 'ऊनि' कहते हैं।

पानी से बर्फ स्वरूपतः जैसे अभिन्न है, वैसे ही 'उकार' से 'ऊकार' अभिन्न है और पानी जैसे घनीभूत होकर बर्फ का आकार लेता है, वैसे ही ज्ञानशक्ति भी घनीभूत होकर ज्ञेयरूप धारण करती है। पर, बर्फ घनीभूत होने के कारण जल से अलग लगते हुए भी वास्तव में जल ही है और जल से पैदा होकर जल को आश्रय करके ही रहती है। ठीक इसी तरह से, जिसे हम ज्ञेय कहते हैं यानी जो ज्ञान का विषय है, वास्तव में वह ज्ञान से पृथक् नहीं है। वह ज्ञान की ही मूर्त्त अवस्था है और ज्ञान से ही उद्भूत होकर ज्ञान को ही आश्रय करके आत्मप्रकाश करता है।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञेय पदार्थ ज्ञान से पृथक् नहीं है—अविद्या के कारण पृथक् लगता है। पर अविद्या के निवृत्त होने पर वह ज्ञान से पृथक् नहीं लगता। किन्तु, जिस अविद्या के बारे में यहाँ कहा गया, जिसके प्रभाव से ज्ञान से ज्ञेय के पृथक् होने की प्रतीति पैदा होती है, शास्त्र के अनुसार वह क्रियाशक्ति का दूसरा नाम है। इस क्रियाशक्ति से ज्ञान से ज्ञेय पृथक् हो जाता है। हमने बर्फ का जो उदाहरण दिया, पानी से उत्पन्न बर्फ का टुकड़ा जबतक पानी में तैरता रहता है, समझना होगा कि तबतक ज्ञानशक्ति का व्यापार प्रारम्भ नहीं हुआ है। परन्तु, जब वह टुकड़ा

पानी से अलग होता है, जब पानी से बर्फ पृथक् रूप में प्रतीतिगम्य होती है, तो समझना होगा कि अविद्या-रूपी क्रियाशक्ति का खेल आरम्भ हुआ। वर्णमाला में इस क्रियाशक्ति के प्रकाशक वर्ण चार हैं—ए-ऐ-ओ-औ। अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर, स्फुटतम—क्रियाशक्ति की ये चार अवस्थाएँ इन चार स्वरवर्णों द्वारा द्योतित होती हैं, क्रियाशक्ति का खेल जब सम्पूर्ण बल से सम्पन्न होता है, तो क्रिया की निवृत्ति होती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि स्पन्दन के बहिर्मुख संवेगवश एक के बाद एक, विभिन्न शक्ति या कला की अभिव्यक्ति होती है। स्थूल रूप में यह शक्ति या कलाएँ पाँच हिस्सों में बाँटी जाती हैं—चित्, आनन्द, ज्ञान, इच्छा और क्रिया। प्राचीन महाजनों ने शिव या परमेश्वर के पञ्चमुख की कल्पना करके इसी पञ्चशक्ति का ही संकेत किया है। इस पञ्चशक्ति में चित् और आनन्द स्वरूप-शक्ति के अन्तर्गत हैं। ये सच्चिदानन्द-स्वरूप के अन्तर्गत हैं और आपेक्षिक दृष्टि से इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन तीन बहिरंगी शक्ति के रूप में कल्पित होते हैं। यह बहिरंगी शक्ति त्रिकोणरूपी विश्वयोनि या महामाया है। मूल में लेकिन पञ्चशक्ति ही शक्ति है। जिसे स्वरूप कहते हैं, वह भी शक्ति है। शक्ति सिर्फ वही सत्ता नहीं है, जो निगूढतम रूप में इस अन्तरंगी शक्ति के भी अन्तःस्थल में है। इसलिए श्रुति का कहना है—'अस्ति इति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तदुपलभ्यते' यही कहकर उस परमशक्ति का स्तव किया है। यह जो शक्ति का प्रवाह है, वह स्पन्दन का बहिःप्रवाह है। कहना नहीं होगा कि हर स्थिति में ही एक अन्तःप्रवाह है—जैसे, सृष्टिमुखी गति बहिर्मुख और प्रलय की गति अन्तर्मुख है, जैसे बहु की ओर ईक्षण बहिर्मुख, पर स्वरूप के प्रति ईक्षण अन्तर्मुख है। सर्वत्र ऐसा ही समझना होगा। मगर ऐसी भी स्थिति है, जहाँ अन्तर्मुख नहीं, बहिर्मुख नहीं है। यहाँ उसका जिक्र नहीं किया जायगा। वह वाणी के अगोचर है। अतएव, 'अ' से 'उ' तक जो धारा है, जिसे प्रवृत्ति-धारा कहा गया है, वह शक्ति की बहिर्मुख धारा है; किन्तु क्रियाशक्ति की पूर्णता के साथ-साथ बहिर्मुख धारा का अवसान होता है, और तब स्वभावतः ही बहिर्मुख धारा की अभिव्यक्ति होती है। प्रवृत्ति की धारा अब निवृत्ति की धारा में बदल गई। फिर वह सब पृथक्-पृथक् अवभासमान शक्ति या कलाएँ अन्तर्मुख स्पन्दन के फलस्वरूप एकीभूत होकर समष्टिभावापन्न होती हैं, जिसका नाम दिया जाता है—बिन्दु। यह बिन्दु सारी कला या शक्ति की एकीभूत अवस्था का दूसरा नाम है। बिन्दु की अभिव्यक्ति होने से यह स्वभावतया ही 'अनुत्तर' अथवा 'अ'कार को आश्रय करके प्रकाशित होता है। क्योंकि, 'अ'कार ही चित्शक्ति या अनुत्तर है। उसी को आश्रय करके अर्थात् उसके प्रकाश से प्रकाशित होकर सब कुछ प्रकाशित होता है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'।

इसी का नाम अंकार अर्थात् विन्दु-संयुक्त अनुत्तर है। वहिःस्पन्दन के वेग से पहले जो आविर्भाव होता है, वह सन्मात्र या अव्यक्त से होता है। इसके बाद जो बहिर्मुख धारा निकलती है, वह चित् या 'अ'कार से निकलती है। उसका अवसान 'औ'कार में है, अर्थात् चित्शक्ति से क्रियाशक्ति तक पञ्चशक्ति का आविर्भाव पूरा हुआ। अब अनुत्तर पञ्चशक्ति से समन्वित हो गया यानी विन्दु से युक्त हो गया। अब जो सृष्टि होगी, वह 'अं' से होगी, 'अ' से नहीं। पहली सृष्टि वैन्दव सृष्टि थी। अब वह एक विन्दु ही बँटकर अपने को दो विन्दुओं में परिणत करता है। इसी का दूसरा नाम विसर्ग है—अब जो सृष्टि होगी, वैसर्गिक सृष्टि होगी। यह वैसर्गिक सृष्टि वस्तुतः व्यंजनवर्ण की सृष्टि है—तान्त्रिक परिभाषा में यही तत्त्व-सृष्टि है। 'क' से 'ह' तक व्यंजनवर्ण विभिन्न तत्त्व के द्योतक हैं। कहना बाहुल्य है, ये भी प्रतीक-मात्र हैं। इन तत्त्वों के अभिव्यक्त होने से जब तत्त्व-सृष्टि का अवसान होता है, तो समझना होगा कि 'ह'कार तक सृष्टि हो चुकी।

वैन्दव सृष्टि के समय कला या शक्तियाँ जैसे बहिर्मुख वृत्ति के बाद अन्तर्मुख गति से विन्दुरूप धारण करके 'अ'कार से संयुक्त हुई हैं, यहाँ भी वैसे ही 'अ'कार से 'ह'कार तक सृष्टि-प्रत्यावर्त्तन-क्रम से अहंभाव में पर्यवसित होती हैं। अब कला-सृष्टि और तत्त्व-सृष्टि के अवसान से अहंभाव की अभिव्यक्ति हुई। कहना नहीं होगा, यही पूर्ण अहं है; क्योंकि इसका प्रतियोगी दूसरा अहं नहीं है। यह भी कहना बाहुल्य है, सन्मात्र अवस्था में अहं नहीं है। चिदानन्द अर्थात् सच्चिदानन्द अवस्था में भी अहं नहीं है और शक्ति या कला-सृष्टि जहाँ समाप्त हुई है, वहाँ भी अहं नहीं है। तत्त्व-सृष्टि के सम्पूर्ण होने से अहं की पहले अभिव्यक्ति होती है, इस पूर्णाहं के अन्तराल में सभी तत्त्व हैं, सभी शक्ति-वर्ग हैं—अर्थात् बहिरंग और अन्तरंग शक्ति-वर्ग तथा परम गूढ़ सत्ता भी है। वास्तव में, यह पूर्णाहं परम शिवावस्था है, जिसके साथ अभिन्न रूप में परमाशक्ति विराजती है। हम जिसे सृष्टि कहते हैं, वह इस परमशिव से ही होती है।

लेकिन इसकी एक सूक्ष्म अवस्था है—एक स्थूल अवस्था भी है। हम अनन्त भुवनराजि को या समग्र विश्व को सृष्टि मानते हैं—अहंभाव से इदंभाव के उदय नहीं होने तक वह नहीं पाई जाती। तब इस पूर्णाहं से आत्मस्वातन्त्र्यवश पहले इदंभाव का विकास होता है, तभी विश्वसृष्टि की सूचना समझनी चाहिए। परन्तु, इस इदंभाव के आविर्भाव के पहले एक अहं ही अनन्त अहंरूप में आत्म-प्रकाश करता है। तब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इस श्रुति-वाक्य की सार्थकता होती है। इसके बाद इदंभाव का स्फुरण होने से सर्वप्रथम सर्वशून्यरूप परम-आकाश का आविर्भाव होता है और उसे आश्रय करके यह अनन्त अहं द्वितीय रूप में प्रकाशित

होता है। यह इदंसृष्टि है। पर यह महासमष्टि-रूप है। अभी भी काल का आविर्भाव नहीं हुआ होता है। काल का पूर्वाभास महाकाल में ही पाया जाता है। अतः इस सृष्टि में भी वास्तविक क्रम नहीं है। एक आन्तर क्रम है जरूर—वह वास्तव में क्रम नहीं, इसलिए उस समय अतीत, अनागत और वर्त्तमान—इन तीन कालों की क्रिया नहीं रहती, प्रचलित कार्यकारण-भाव भी नहीं रहता। अनन्त वैचित्र्य रहता जरूर है, पर सभी सत्ता में सभी सत्ता अनुस्यूत रहती है। देशगत भेद भी नहीं रहता, पर भेद की एक प्रतीति-मात्र भासमान होती है। इसके बाद इस महासृष्टि से खण्ड-सृष्टि का आविर्भाव होता है। वह सब ऐश्वरिक सृष्टि है—उनमें कालगत, देशगत, स्वरूपगत अनन्त वैचित्र्य है। समष्टि-सृष्टि और व्यष्टि-सृष्टि इसी के अन्तर्गत हैं। महासमष्टि-सृष्टि इससे कुछ भिन्न है। महासमष्टि-सृष्टि में समष्टि-सृष्टि की नाईं कर्म-जन्म-मृत्यु-सृष्टि-प्रलय आदि व्यापार नहीं हैं।

अबतक जो कहा गया, उससे यह समझना चाहिए कि प्रचलित धारणा के अनुसार विश्वसृष्टि परमशिव से ही होती है। यह युक्तिसंगत धारणा है, इसमें सन्देह नहीं। पर, वास्तविक रूप में परमशिव-तत्त्व को समझने के लिए उसकी अन्तरालवर्त्ती अवस्था को भी समझना जरूरी है। यह निगूढ रहस्य मानवीय भाषा से प्रकाश पाने को नहीं, फिर भी भगवदुपदिष्ट तन्त्रशास्त्र की दृष्टि के अनुसार बहुत ही संक्षेप में उस अन्तराल-अवस्था का एक आभास देने की कोशिश की गई।

शक्ति का जागरण

[एक]

हमने अबतक विस्तार से तान्त्रिक साधना की दृष्टिभंगी या पटभूमिका की चर्चा की। इससे कम-से-कम इतना स्पष्ट हो आया कि तान्त्रिक साधना का मूल लक्ष्य है पूर्णत्वलाभ और पूर्णत्वलाभ के लिए अपरिच्छिन्न शक्ति के साथ सदा संयोग रहना जरूरी है। शक्ति के संकोच से ही जीव की अपूर्णता या बन्धन होता है और शक्ति के विकास में ही उसकी पूर्णता या मुक्ति है। दीक्षा के द्वारा सद्गुरु जीव की इस प्रसुप्त शक्ति को जगा देते हैं—सद्गुरु-रहस्य और दीक्षा-रहस्य में यह बात भी दिखाई जा चुकी है। अब, इस बात की एक सुस्पष्ट धारणा जरूरी है कि शक्ति के जागरण का क्या मतलब है। इसलिए, यहाँ उसी की चर्चा की जा रही है।

मनुष्य के जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है, मनुष्य के जीवन में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से जगता है। मनुष्य का प्रकृत स्वरूप क्या है, यह जानकर उसके उस स्वरूप की उपलब्धि की चेष्टा करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। बहुतों का यह खयाल है कि प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर चित्स्वरूप आत्मा के अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने से ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य सफल हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। विवेक-ज्ञान के प्रभाव से मनुष्य जड से अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अपने को पृथक् पहचान सकता है। यह स्वरूप द्रष्टा का स्वरूप है। अपने स्वरूप का इस प्रकार साक्षात्कार होने से कर्म-बीज जल जाता है। इस अवस्था में देह नहीं रहती यानी देह का बोध स्पष्ट नहीं रहता। सिर्फ निष्क्रिय आत्मस्वरूप केवल स्वप्रकाश-रूप में मौजूद रहता है। देह-बीज के जल जाने से फिर अभिनव देह धारण करने की जरूरत नहीं रहती। इस अवस्था को साधारणतः विदेह-कैवल्य के नाम से अभिहित किया जाता है। इस स्थिति के मिलने पर जन्म-मृत्यु के स्रोत से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है।

इस प्रकार का विदेह-कैवल्य-लाभ मनुष्य-जीवन का परम उद्देश्य नहीं हो सकता, ऐसा दूसरे पक्ष का कहना है। इस पक्ष के समर्थक मनीषियों का कहना है कि मनुष्य परमेश्वर के स्वभाव का है। जीव वास्तव में शिव के सिवाय दूसरा कुछ नहीं। इस मत से मनुष्य जबतक अन्तर्निहित भगवत्ता को नहीं जगा सकता, तबतक उसके जीवन का असम्पूर्ण रहना निश्चित है। भगवत्ता कहने से अनन्त शक्ति-सम्पन्न शिवभाव को समझना होगा। शिव अथवा परमेश्वर ने लीला-प्रसंग में अपने स्वातन्त्र्य-बल से अपने को संकुचित करके पशुभाव यानी जीवभाव

धारण किया है। इस संकोच के कारण पशु-अवस्था में उनका स्वभाव बहुत ही संकुचित हो पड़ा है। इसलिए, उनकी स्वभावसिद्ध षड्गुणता परिच्छिन्न हो पड़ी है। स्वभाव से सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, विभु, नित्य और आप्तकाम होते हुए भी वह इस संकोच के कारण अल्पज्ञ, अल्पकर्त्ता, परिच्छिन्न देह द्वारा परिमित और आयुविशिष्ट होने से निर्दिष्ट काल के अधीन तथा नाना प्रकार की वासनाओं से कलंकित होते हैं। जीव-अवस्था में यही स्वाभाविक है। विदेह-कैवल्य में यद्यपि यह सीमित संकीर्ण भाव नहीं रहता, फिर भी अपरिच्छिन्न ज्ञानक्रिया-शक्ति का उन्मेष नहीं हो सकता। फलस्वरूप, इन सारे दिव्यगुणों का पूर्ण विकास नहीं होने से सिर्फ कैवल्य-लाभ करने से ही मनुष्य को पूर्णत्व प्राप्त हो गया, यह नहीं कहा जा सकता। पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए अपरिच्छिन्न शक्ति का नित्य संयोग रहना आवश्यक है। मूल में भगवत्-शक्ति के चित्शक्ति और आनन्दशक्ति-रूप होने पर भी वास्तव में इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति उस मूल अव्यक्त शक्ति का ही प्रकाश-मात्र है। भगवान् की अनन्त शक्ति प्रधानतः चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप में विभक्त है। इनमें से चित् और आनन्द उनके स्वरूप के अन्तर्गत हैं और इच्छा, ज्ञान और क्रिया उनके स्वरूप से अभिन्न होते हुए भी प्रमाता-प्रमेय के सम्वन्ध-निबन्धन इच्छादि रूप में नित्य समवेत होकर विराजा करती हैं। कहना वाहुल्य है कि मूलशक्ति चित्शक्ति ही है।

यह चित्शक्ति मनुष्य-देह में सबसे अन्तरतम शक्ति-रूप में विराजमान है। आनन्द इसी चित् का ही स्वाभिमुख विश्राम-मात्र है। स्वातन्त्र्यवश चित् जैसे आनन्दरूप में परिणत होता है, वैसे ही आनन्द के वहिर्मुख उच्छलित होने से क्रमशः इच्छा, ज्ञान और सबसे अन्त में क्रियारूप में परिणत होता है। पहले हम देख चुके हैं, जिसे हम वर्णमातृका (letters of alphabet) कहते हैं, वह इन सब अलग-अलग भावों की ही शाब्दिक द्योतना है। उसके अनुसार 'अ' है अनुत्तर या चित्-शक्ति, आ—आनन्दशक्ति, इ—इच्छाशक्ति, उ—उन्मेष या ज्ञानशक्ति और ए, ऐ, ओ, औ—अस्फुट, स्फुट आदि विभिन्न क्रियाशक्ति। क्रियाशक्ति के वाद शक्ति का और विस्तार नहीं होता। फिर वह प्रत्याहृत होकर अन्तरालवर्त्ती सभी शक्तियों को समेटकर समष्टिभाव से विन्दु-अवस्था प्राप्त करती है और वह विन्दु अनुत्तर चित्शक्ति से संयुक्त होता है। यह वास्तव में शिव-विन्दु है, इसमें सन्देह नहीं। इसके वाद वह विन्दु अपने को विभक्त-सा करके दो विन्दुओं में आत्मप्रकाश करता है। यही विन्दु की विसर्गलीला है। इस विसर्गलीला के प्रसंग में तत्त्व और भुवन की सृष्टि होती है और शिव विन्दु विसर्ग के प्रभाव से 'ह'कार तक प्रसृत होकर अहंभाव का विकास करता है। यही पूर्ण अहंता है। इस अहं के प्रतियोगी रूप में इदंभाव का विकास

अभी भी नहीं होता। इदंभाव ही विश्व का प्रतीक है। शुरू में स्वातन्त्र्य के प्रभाव से अहं से पृथक् न होकर भी पृथक् रूप में इदं का प्रकाश होता है। यही महासमष्टि-सृष्टि का पूर्वाभास है। इदं के इस प्रथम रूप को--महाशून्य के भी अतीत परमशून्य माना जा सकता है। महासमष्टि-सृष्टि से समष्टि और समष्टि से क्रमशः व्यष्टि का उदय होता है। विभिन्न स्तरों में विभक्त शून्य के वाद बुद्धि, प्राण, मन, इन्द्रिय और विषय क्रमशः सज्ञान हैं। इसीके भीतर से ही सृष्टि की वहिर्मुखी धारा वह रही है। विषय-सृष्टि के मूल में प्रकृति के सदृश-परिणाम से विसदृश-परिणाम का उद्भव जानना होगा। इसका विस्तृत विवरण यहाँ अनावश्यक है।

[दो]

चित्शक्ति या अनुत्तर की जो वात पहले कही गई, अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यही अकुल-स्वरूप की आदिभूत कौलिकी शक्ति है। इसी कुलशक्ति ने कुण्डलिनी नाम से प्रसिद्धि पाई है। यही विसर्ग-शक्ति का सूक्ष्मतम रूप है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी शक्ति से निखिल विश्व का स्फुरण होता है। सृष्टि तीन प्रकार की है--भेद, भेदाभेद और अभेद। भेद-सृष्टि स्थूल है, इसका नाम आणव विसर्ग है। भेदाभेद-सृष्टि सूक्ष्म है, इसका नाम शाक्त विसर्ग है। और, अभेद-सृष्टि परम या सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, इसका नाम शाम्भव विसर्ग है। इन तीन में से स्थूल विसर्ग संकुचित ज्ञानात्मक चित् का विसर्ग-मात्र है। जिस स्फुरण में भेदोन्मुख अवस्था जाग्रत् रहती है, उसमें प्रमाता-प्रमेय आदि सारा विश्व ही सृष्टि के विषयरूप में प्रकट होता है। सूक्ष्म विसर्ग को चित्त का सम्वोध कहते हैं। इस अवस्था में चित्त अपने निष्कल रूप में आत्मसमर्पण करने को उद्यत हुआ होता है। इस अवस्था में अखण्ड प्रकाश में समस्त चराचर की आहुति हो रही है, ऐसा प्रतीत होता है। यही शक्ति की अवस्था है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विसर्ग में चित्त नहीं रहता। यह आनन्दात्मक अभेद-अवस्था है। इस अवस्था में चित्त प्रलीन हो जाता है और मात्र संवित् या चैतन्य ही रहता है।

यह विसर्ग-शक्ति अखण्ड प्रकाश की पराशक्ति के नाम से परिचित है। यह प्रमाता के साथ अभिन्न रूप में मौजूद रहती है। अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से यह इच्छारूप में वर्णित होने योग्य है। कामकला-विज्ञान में इसी को कामकला के रूप में ग्रहण किया जाता है। कामकला का स्वरूप तत्त्वसृष्टि की पूर्वावस्था की वात है। यह इच्छा जव बाहर की ओर उन्मुख होती है, तो इसे विसर्ग कहते हैं। इसका कारण क्षोभ है। क्षोभ की पूर्वावस्था है 'अ'; परावस्था है 'आ'। 'अ' चित्शक्ति है और 'आ' आनन्दशक्ति, जो धीरे-धीरे क्रिया तक विस्तार पाकर इस वाहरी उल्लास से खेलती रहती है।

[तीन]

यह जो पराशक्ति 'अ' की बात बताई गई, इसी का नाम सप्तदशी कला अमा है। यह नित्य उदित है; क्योंकि इसका तिरोधान कभी नहीं होता, यही अमृत कला है। यही अन्तःकरण आदि षोडश कलाओं का आप्यायन करती है। विसर्ग दो हैं। जो पर विसर्ग है—वही आनन्द या 'आ' और जो अपर विसर्ग है—वही 'ह' है। इन दोनों विसर्गों के स्व-स्वरूपस्थ या आत्मभूत दो बिन्दु हैं। इन दो बिन्दुओं की गति से अर्थात् दो बिन्दु अवभासनपूर्वक प्रसृत होकर अमाकला उल्लसित होती है। यानी 'अ' उन-उन अवभासनपूर्वक इच्छा से बाहर की ओर प्रवाहित होता रहता है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इस अमाकला से अभिन्न हैं। फिर भी, अमाकला उन्हें उस-उस रूप में, भिन्न-भिन्न नियत प्रकाशरूप में प्रकाशित करती है।

यह अमाकला जब विसर्गात्मक होती है यानी जब यह बहिर्मुख नहीं रहती, तो इसे शक्ति-कुण्डलिनी कहते हैं। यह प्रसुप्त भुजंगाकार स्वात्म-मात्र विश्रान्त परासंवित् है। विसर्ग के दोनों ओर दो कुण्डलिनी हैं। आदि कोटि में जो कुण्डलिनी है, उसका नाम प्राणकुण्डलिनी है। क्योंकि, बहिर्मुख में संवित् यहाँ प्राणरूप में ही प्रकाशित होता है। अन्तिम कोटि में जो कुण्डलिनी है, उसका नाम है परा कुण्डलिनी। यही आत्मविश्रान्त परा संवित् है। यह अन्तर-उन्मुख है। यह सप्तदशी कला शिवव्योम, परब्रह्म अथवा शुद्धात्म स्थान के रूप में वर्णित होती है।

यदि संवित् के सिवाय और कुछ न हो, तो पराशक्ति किसकी सृष्टि या संहार करती है, यह सोच देखने की बात है। हम जिस अवस्था की बात कह रहे हैं, वहाँ माया, प्रकृति आदि भिन्न उपादान की जगह ही नहीं। क्योंकि, आत्मा अपने से सृष्टि करती है, अपने में ही करती है (क्योंकि देश-काल आदि उससे भिन्न नहीं) और अपने को ही स्रष्टव्य विषय-रूप में बाहर निक्षिप्त करती हैं। जो कोई भी प्रमाता-प्रमेय सृष्ट क्यों न हो, सभी अपने स्वरूप से अभिन्न हैं। यह स्वतन्त्र पूर्ण चैतन्य शक्ति क्रमशः 'अ' से 'ह' तक स्फुरित होती है।

[चार]

मनुष्य-देह में सुषुप्त रूप में यह कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान है। यह सुप्त शक्ति जाग्रत् होकर क्रमशः ऊपर की ओर उठती रहती है। इस क्रमिक उत्थान के काल में मनुष्य के विकास का परिपन्थी सारा विकल्पज्ञान उपशमित होता है। चक्र के बाद चक्र के भेद का यही उद्देश्य है। कुछ चक्रों के भेद के बाद आत्मा का तृतीय नेत्र मलशून्य होकर स्वच्छ और प्रसन्न रूप धारण करता है। विकल्प-समूह की

निवृत्ति के कारण निर्विकल्प स्वरूप का दर्शन आप ही होता है। यानी उस समय ज्ञाननेत्र का उन्मीलन होता है और शिवोहं रूप में आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है।

शिवरूपी आत्मा सृष्टि के आदि में जब पशु बनी थी, तो मातृका की सहायता से ही वह अपना स्वरूप गोपन करने में समर्थ हुई थी। मातृकाएँ स्वाभाविक स्वरूप में 'अ' से 'ह' तक उल्लसित होती हैं। इस उल्लास में कोई विषमता नहीं होती, क्रम नहीं होता, और बोध की मन्दता और तीव्रता भी नहीं रहती। यही अहन्तारूपी महाशक्ति का प्रकाश है, जिसमें सभी शक्तियों का समावेश है। पशु बनने के समय यह उल्लास खण्ड और विषम भाव से होता है। इसलिए पशुगत अनन्त प्रकार की प्रकृति का विकास होता है। यही सब प्रकृति पशु-प्रकृति है। पशु की जगह शिवभाव आच्छन्न हो जाता है और स्वातन्त्र्य के बदले पारतन्त्र्य आ जाता है। वास्तव में शिव अपनी शक्ति द्वारा व्यामोहित होकर ही पशु बनते हैं और पशुभाव के त्याग के साथ-ही-साथ शिवभाव का उन्मेष देदीप्यमान होता है। तन्त्र में है—'शब्दराशि समुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्। कला-विलुप्त-विभवो गतः सन् सः पशुः स्मृतः।' तात्पर्य यह कि भिन्न-भिन्न रूप में स्फुरणशील अकरादि अपने अवयव-समूह में ही कलापदवाच्य हैं। आत्मा का जो ऐश्वर्य है, उसका तात्पर्य यह है कि उसमें सारे ही वर्ण अन्तर्निहित हैं। पूर्वोक्त कला के प्रभाव से, विषम स्फुरण से, आत्मा का यह स्वाभाविक ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। वैसे में यह आत्मा दीनता प्राप्त करती है, अपने स्वरूप से सम्भूत शक्तिवर्ग के अधीन हो जाती है। पशु-अवस्था में यही स्वाभाविक है।

कुण्डलिनी के प्रबुद्ध होने से चित्शक्ति अपना संवित् रूपमात्र प्रकाश करती है। यह बहुत ही प्रबल अग्नि-स्वरूप है। इसी को चिदग्नि कहते हैं। यह शक्ति गुरुकृपा, ईश्वर-कृपा, काल का परिपाक, पुरुषकार अथवा और किसी कारण से जाग्रत् होती है। इस जागरण के मूल में प्राण और अपान शक्तियों का साम्य-स्थापन समझना होगा। और, प्राण तथा अपान से यहाँ सारी विरुद्ध शक्तियों को समझना होगा। विरुद्ध शक्तियों के साम्यभाव का नाम ही समान वायु की क्रिया की फल-प्राप्ति है। इस समय सोई कुल-कुण्डलिनी जाग उठती है तथा साधक का मन और प्राण इस जाग्रत् कुण्डलिनी-रूप अग्निशक्ति से एकीभूत होता है। इस एकीभूत शक्ति के द्वारा देहस्थित छह चक्रों में से प्रत्येक को आयत्त करना होता है। ये छह चक्र पञ्चभूत और चित्त के प्रतीक हैं। इन छह चक्रों की क्रिया होने का तात्पर्य ही पञ्चभूत का शोधन और उसके साथ चित्त का शोधन है। पञ्चभूत के शुद्ध होने से चित्त शुद्ध होता है और चित्त के शुद्ध होने से उसके फलस्वरूप पञ्चभूत की शुद्धि

होती है। वास्तविक रूप में ये छह चक्र भौतिक चैत्त्य संस्कार के विकल्प-जाल का प्रसार-क्षेत्र हैं। इन चक्रों को जाग्रत् कुण्डलिनी-रूप चैतन्य शक्ति के द्वारा आपूरित करना होगा। सृष्टि-क्रम में विन्दु, नाद, कला यानी मातृका—इन तीन स्तरों का परिचय मिलता है। क्योंकि, बहिर्मुख से देखने पर प्रत्येक दैहिक चक्र एक-एक कमल के आकार का है। इससे कमल की पंखुड़ी के रूप में मातृका-वर्ण रश्मि के रूप में छिटकते हैं। इसके वाद एक व्यापक प्रकाश ने ऊर्ध्ववाक्-रूप में नाद का स्थान-अधिकार किया है। सबसे अन्त में कमल की कर्णिका से विन्दु-रूप में चक्रेश्वर और चक्रेश्वरी का आसन है।

जाग्रत् चित्शक्ति देह से उठकर प्रत्येक चक्र को आक्रमण करती है। यह आक्रमण पहले मूलाधार-चक्र में होता है। फलस्वरूप चक्रस्थित चार वर्ण उक्त चिदग्नि के प्रभाव से पिघलकर प्रदक्षिणा के क्रम में बहते रहते हैं। यह धारा अपने प्रभाव से एक-एक करके चारों वर्णों को जगाकर और अपने से मिलाकर महाविन्दु की ओर तेज या मन्द वेग से अग्रसर होती रहती है। मध्यविन्दु में प्रविष्ट होने पर नाद उपसंहृत होकर विन्दुरूप में परिणत होता है। प्रत्येक चक्र का बिन्दु अधः-ऊर्ध्ववाही मध्यमार्ग या शून्य-पथ में विराजता है। वर्णनाद और विन्दु, प्रत्येक कमल में विद्यमान हैं। प्रथम कमल का विन्दु सारे कमल को ग्रास करने के वाद ब्रह्म-नाड़ी के ऊपर के आकर्षण के कारण चक्र में प्रविष्ट होकर पहले की तरह उसके वर्ण, नाद और विन्दु को गलाकर तथा अपने साथ मिलाकर पूर्ववत् मध्यनाड़ी के एकीभूत विन्दु-पथ में ब्रह्मनाडी के ऊर्ध्व आकर्षण से ऊपर की ओर खिचता रहता है। अलग-अलग विन्दु तब एक ही बिन्दु में पर्यवसित होता है। इसी तरह वह बिन्दु भी अन्य बिन्दु के साथ अभिन्न होकर जीव-कल्याण के लिए क्रमशः मध्यनाड़ी की ओर दौड़ता है। पञ्चभूतात्मक पञ्चचक्र और मनोमय षष्ठचक्र विध्वस्त हो जाते हैं। पञ्चभूत और योगी का चित्त शुद्ध होकर निर्विकल्प स्वच्छ प्रज्ञा में डूब जाता है। उसके वाद आज्ञाचक्र के ऊपर दिव्यज्ञान का केन्द्र खुलता है। यह वास्तव में कुण्डलिनी-शक्ति की ही उन्मेषित अवस्था है।

षट्चक्र-भेद के वाद भ्रू-मध्य में नीचे से सारे विकल्प तिरोहित होते रहते हैं। तब ललाट-प्रदेश में देहाभिमान वर्जित हो परम ज्योति के अनुभव की शक्ति पैदा होती है और प्रतिदिन उस महाज्योति के आकर्षण से खिंचकर क्रमशः अन्तरतम भाव से महाशून्य में सहस्रदल कमल का आभास देखने में आता है। भ्रू-मध्य बिन्दु से सहस्रार के मध्यविन्दु तक बहुत-सारे स्तर हैं। इन सारे स्तरों को क्रम से पार करके महाशक्ति महाबिन्दु के परमशिव का आलिंगन करती हैं। सुदीर्घ-

काल के विरह के वाद शिवशक्ति का यह महामिलन होता है। तव कुण्डलिनी-शक्ति कुण्डल-भाव को छोड़कर दण्डरूप धारण करती है और अन्त में महाविन्दु में परमशिव से सामरस्य प्राप्त करती है। इस मिलन के फलस्वरूप जो अमृतधारा फूटती है, उस शीतल धारा में मन और प्राण अभिषिक्त होता है और वह ऊपर की ओर मुँह करके उस धारा को पीती रहती है। समान वायु की क्रिया के वाद उदान वायु का क्रियानिवन्धन कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति निष्पन्न होती है। यह ऊर्ध्व-गति वास्तव में सहस्रार में परिसमाप्त न होकर ब्रह्मरन्ध्र तक बढ़ती है। इसके बाद और ऊर्ध्वगति नहीं रहती। तव व्यानशक्ति के प्रभाव से अपनी सत्ता अनन्त व्यापक रूप धारण करती है। संक्षिप्त रूप से आत्मा का अपने स्वरूप में लौट जाने का यही इतिहास है। और, तब विश्वपिता, विश्वमाता, सन्तान एक ही महासत्ता-रूप में आत्मप्रकाश करती हैं।

कुण्डलिनी के नहीं जगने से परम लक्ष्य की प्राप्ति की वात तो दूर, महापथ पर भी चलना सम्भव नहीं होता। मनुष्य-जीवन का यही प्रकृत उद्देश्य है। सिर्फ खण्ड कैवल्य प्राप्त करके जन्म-मृत्यु के भँवर से ऊपर स्थान पाना—मनुष्य के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं है। अपनी सोई भगवत्ता जवतक पूरी तरह जग नहीं जाती, तवतक मनुष्य-जीवन की वास्तविक सफलता कहाँ? कुण्डलिनी के जगे विना चित् और अचित् का द्वन्द्व नहीं मिट सकता। विवेक ज्ञान के पथ पर आरूढ होने का एक सोपान-मात्र है। शक्ति की साधना के विना शिवभाव की प्राप्ति असम्भव है और कुण्डलिनी के जागरण के विना शक्ति-साधना का कोई अंग ही वश में नहीं आता। अगले अध्याय में हम कुण्डलिनी-तत्त्व के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करेंगे।

कुण्डलिनी-तत्त्व

बहुत दिनों से विद्वत्-समाज में, विशेषतः भारतीय दर्शन की तुलनामूलक समालोचनाप्रिय पण्डित-मण्डली में एक संशय जागरूक है। विभिन्न ग्रन्थों में तरह-तरह की आलोचना भी हुई है, लेकिन दुःख की बात है कि उन आलोचनाओं से समस्या का समाधान नहीं हुआ। ऐसा कि लगता है, बहुत स्थानों में समस्या और भी जटिल हो गई है। इस अध्याय में उस संशय के समाधान के लिए हम बड़ी सावधानी से अपनी क्षुद्र शक्ति का यथासम्भव प्रयोग करेंगे। विषय साधना-जगत् का एक गम्भीर रहस्य है। भाषा के माध्यम से ऐसे विषयों की सम्यक् आलोचना नहीं हो सकती है। फिर भी, जरा भी आलोचना नहीं करने से एक भ्रान्त धारणा के स्थायित्व को मौका दिया जाता है। इसलिए यथाशक्ति स्पष्ट रूप से अपनी अनुभूति और श्रीगुरुदेव के 'मौन व्याख्यान' का अनुसरण करके शास्त्र के तात्पर्य को ग्रहण करते हुए इस निगूढ तत्त्व की आलोचना में प्रवृत्त होऊँगा। हजार साल पहले कश्मीर की उपत्यका-भूमि में बोधचक्षुः श्रीतात्पर्याचार्य देव ने 'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्' कहकर जिनकी जय-घोषणा की थी, यहाँ भी वही भगवती संविद्देवी ही वस्तु-निर्देश की पथ-प्रदर्शिका हैं। जो अनुभव-रसिक हैं, वे शब्द के मोह को छोड़कर तत्त्वांश की ओर लक्ष्य करें, यही प्रार्थना है।

हमारे सभी प्राचीन दार्शनिकों ने एक स्वर और मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ तो है, पर अपर अथवा निकृष्ट है, वह परम पुरुषार्थ कहलाने योग्य नहीं है। फिलहाल, हम प्रेम का स्वरूप-निर्वचन या उसके पुरुषार्थत्व-निर्णय के बारे में कोई आलोचना नहीं करेंगे। पञ्चम पुरुषार्थवादी सम्प्रदाय बहुत प्राचीन काल से ही है—इसकी आलोचना विशेष रूप से अन्यत्र की है। ज्ञान के विना मुक्ति नहीं हो सकती—जो भक्तिवादी हैं, उन्हें भी किसी-न-किसी प्रकार से यह स्वीकार करना पड़ा है। जो भी हो, ज्ञान या भक्ति, जिसे भी साक्षात् रूप से मुक्ति का कारण स्वीकार किया जाय, प्रश्न यह है कि वह प्राप्त कैसे हो सकती है। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि हठमार्ग-प्रवर्तक नामाचार्यगण तथा आगमविद्गण कहते हैं कि मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी-शक्ति को उद्बुद्ध किये विना कर्म, ज्ञान या भक्ति, कोई भी मुक्ति या अनर्थ-निवृत्ति के उपाय-रूप में नहीं परिणत हो सकती। जो कर्म, ज्ञान या भक्ति कुण्डलिनी-शक्ति के जागरण में सहायता करती है, वही यथार्थ कर्म, ज्ञान या भक्ति है—

वही कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग है। इसके विना कर्म आदि व्यर्थ का प्रयास है। कुण्डलिनी के निद्राभंग के विना आत्मा या परमात्मा में स्थिति पाना सम्भव नहीं।

यहाँ प्रश्न यह है: यह कुण्डलिनीवाद नवीन वाद-विशेष है या नित्य सत्य है? सम्प्रति ऐसा लगता है, इस तत्त्व ने भारतीय दर्शनशास्त्र में किसी खास समय में कारणवश स्थान पाया है। पर, मूलतः यह वैदिक सिद्धान्त नहीं है और वेदानुकूल दर्शनशास्त्र में यह नहीं अपनाया गया है। यहाँ तक कि पातञ्जल योगशास्त्र में कुण्डलिनी या षट्चक्र आदि का कोई उल्लेख तक देखने को नहीं मिलता। बौद्ध और जैन-ग्रन्थों में भी कुण्डलिनी की कोई आलोचना नहीं है। कोई-कोई कहते हैं, यह तन्त्र का निजस्व है, कोई कहते हैं, यह और इस सम्वन्ध की वर्णोपासना-प्रणाली भारत में बाहर से (सम्भवतः मग देश से) आई है। हठयोग और अक्षर-उपासना के लिए भारत में जब एक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, तभी इसकी प्रधानता कायम हुई। और, फिर कोई यह कहते हैं कि कुण्डलिनी-योग एक उपाय-विशेष है—इसका सहारा लिए विना, दूसरे उपाय से भी मोक्ष प्राप्त करना सम्भव है।

इस प्रकार तरह-तरह के संशयों का जन्म होता है। कहना नहीं होगा, ये सभी संशय कुण्डलिनी-तत्त्व के सम्बन्ध में जानकारी नहीं होने के परिणाम हैं।[१] केवल 'वाग् वैखरी शब्द झरी' की ओर लक्ष्य करके उसके प्रतिपाद्य अर्थ की ओर से उदासीन रहने से इस प्रकार के व्यर्थ सन्देह पैदा होते हैं। सच-झूठ की नहीं जानता, पर मेरा अपना विश्वास है कि ये इस प्रकार के ग्रन्थमूलक वैकल्पिक ज्ञान हैं, जिनसे हममें सारे मत-वैषम्यों का जन्म हुआ है।

कुण्डलिनी-चैतन्य कुछ नई चीज नहीं। कुण्डलिनी क्या है? उसका चैतन्य-सम्पादन क्या है?—यह समझे विना उसके सम्बन्ध की कोई आलोचना ही फलप्रद नहीं होगी। कुण्डलिनी का दूसरा नाम आधारशक्ति है—जो शक्ति सभी पदार्थों को आश्रय देकर सभी पदार्थों की मूलसत्ता के रूप में मौजूद है। इसका चैतन्य-

---

१. 'The Six Centres and the Serpent Power' नामक ग्रन्थ में Arthur Avalon ने कहा है—"But whereas the Jnan Yogi attains Svarupa Jnan by his mental efforts without rousing Kundalini, the Hatha Yogi gets this to Jnan through Kundalini Herself" (p. 201). ज्ञानयोगी श्रवण-मननादि जिस किसी उपाय का भी अवलम्बन क्यों न करे, कुण्डलिनी चैतन्य नहीं करने से स्वरूप का ज्ञान नहीं पा सकते। यह ध्रुव सत्य है।

सम्पादन करने से यह निराधार हो जाती है। जब कुण्डलिनी निराधार है, तो जगत् की सारी वस्तु ही निराधार है। कुण्डलिनी जब चैतन्यमय हो जाती है, तो विश्व-ब्रह्माण्ड ही चैतन्य-रूप धारण करता है। अतः जिसे कुण्डलिनी का जागरण कहते हैं, वह, और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह श्रुति-निर्दिष्ट सर्वत्र ब्रह्म-साक्षात्कार या ब्रह्ममयता-अनुभव की साधना, एक ही चीज है। यह जागरण क्रमशः होता है। कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि इस जागरण की ही अवस्था-मात्र हैं। जब जागरण पूर्ण होता है, जब निद्रा लेशमात्र भी वाकी नहीं रहती, तभी परिपूर्ण अद्वैत सिद्धि-लाभ होता है, उसके पहले द्वैतस्फूर्त्ति अवश्यम्भावी है। तन्त्रशास्त्र में इसी को पूर्णाहन्ता कहा गया है।

[दो]

मूल वस्तु परम साम्यावस्था-स्वरूप है। उपनिषद् ने इसके स्वरूप-निर्देश के सम्बन्ध में 'परमं साम्यं'—इसी पद का प्रयोग किया है। इसमें नामरूप की कल्पना नहीं चल सकती, इसका चिन्तन नहीं है, वर्णन नहीं है—यह अवाङ्मनसगोचर है। और फिर सभी नामरूप, चिन्तन और वर्णन का—संक्षेप में समग्र विश्व का—यही मूल है। इसे तत्त्व और तत्त्वातीत दोनों ही कहा गया है। विश्वात्मक (immanent) होते हुए भी यह विश्वातीत (transcendent) है। यही उपनिषद् का 'पूर्ण' (The Absolute) है। कोई यह मत खयाल करे कि यह विश्वात्मक पक्ष मिथ्या है, विश्वातीत ही सत्य है। लक्ष्यभेदवशतः जीव परम पदार्थ के जिस किसी भी ओर स्थिति ले सकता है। वस्तु जब अभिन्न, अथच स्वप्रकाश होती है, तब जिस किसी ओर स्थिति लेने से दोनों ही तरफ वह समान रूप से खुलेगी, इसमें सन्देह क्या है?

यह जो विश्व का दिक् है—यही 'अपर' साम्य है। यही बिन्दु है—महाबिन्दु। यहाँ शिव और शक्ति, ब्रह्म और माया, पुरुष और प्रकृति समरस हैं—एकाकार हैं। यह नित्य अवस्था है। यहाँ अनन्त वैचित्र्य है, पर सब एकाकार।

जब यह साम्यभंग होता है अर्थात् स्तर के अनुसार विश्व का आविर्भाव होता है, तब यह बिन्दु ही शक्ति-अंश में परिणाम-लाभ करता है और शिवांश में साक्षी रहता है। साक्षी अपरिणामी और एक ही, किन्तु शक्ति क्रमशः स्तर-स्तर में फैलती रहती है। साक्षी केन्द्रस्थ है, मूल शक्ति भी वही—दोनों ही एक भावापन्न। पर, शक्ति में प्रसारण और संकोच—दो अवस्थाएँ हैं। साक्षी के वह नहीं—साक्षी प्रत्येक दशा का निरपेक्ष द्रष्टा-भर है—अर्थात् यह जैसे केन्द्रस्थ आत्म-भावापन्न मूल या साम्यमयी शक्ति का द्रष्टा है, वैसे ही प्रसारण और संकोच नामक अवस्थाद्वय का

भी द्रष्टा है। साक्षी विश्वातीत है, अतएव नित्य ही कालचक्र के ऊपर अवस्थित है, अथच यह कालचक्र का नाभिस्वरूप है। शक्ति के प्रसार को सृष्टि कहते हैं, संकोचन को संहार। प्रसार और संकोच दोनों का ही आदि और अन्त साम्यावस्था है। वीच में वैषम्य या कालचक्र का आवर्त्तन। पर, वैषम्य के भी अन्तस्तल में साम्यावस्था निहित है।

सृष्टि और संहार अर्थात् प्रसार और संकोच, शक्ति का स्वभाव है, स्वधर्म है, इसलिए अनपायी है। यह प्रतिनियत हो ही रहा है। यह बहिर्गति और अन्तर्गति, अधोगति और ऊर्ध्वगति, प्रवृत्ति और निवृत्ति सम्मिलित रूप से वृत्त-रूप में कल्पित तथा कालचक्र के नाम से अभिहित होती है।

दीये से जैसे ज्योति निकलती है, जलाशय में ढेला फेंकने से वहाँ से जैसे चारों ओर मण्डल बनता है, बिन्दु भी वैसे ही फैलता है। वह क्रम वर्द्धमान होता है, पर बढ़ने की सीमा है। क्योंकि, सृष्टि की प्रसृति अनन्त नहीं हो सकती—वह प्रेरणा की तीव्रता-सापेक्ष है। संकोच और प्रसार—इन दो धर्मों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। प्रसार-शक्ति जितनी ही क्षीण होती जाती है, संकोच-शक्ति उतनी ही पुष्ट होती रहती है। ठीक इसी तरह संकोच-शक्ति की क्षीणता से प्रसार की पुष्टि को समझना चाहिए। संकोच और प्रसार-शक्ति क्रम से एक के बाद दूसरी प्रकट होती है—यही कालचक्र का आवर्त्तन है—ऊर्ध्वतम स्तर से सबसे निम्न भूमि तक समग्र विश्व इस चक्र में आवर्त्तित होता है। इस चक्र का आवर्त्तन विन्दु को केन्द्र बनाकर होता है। इस प्रकार सारा व्यक्त जगत् वीच के विन्दु की प्रदक्षिणा करता है।[१] विन्दु अपरिवर्त्तनशील, साक्षी, उदासीन है।

विन्दुरूप साम्यशक्ति जब विभक्त होकर व्याकृत रूप धारण करती है, तो वह तीन स्वतन्त्र विन्दुरूपों में परिणत होती है। कहना नहीं होगा कि साक्षी के साथ अभेद भावापन्न तुरीय विन्दु तब भी अविकृत ही रहता है। साम्य अवस्था में उस तुरीय बिन्दु से अपर तीनों विन्दुओं का कोई भेद नहीं होता, पर विषमता-काल में

---

१. इसे सांख्यदर्शन में परिणाम (सदृश और विसदृश; अनुलोम और विलोम) कहते हैं। वैदिक साहित्य में इसी का नाम संवत्सर-चक्र—अथवा उत्तरायण और दक्षिणायन-गति है। उत्तरायण या ऊर्ध्वगति को देवयान और दक्षिणायन या अधोगति को पितृयान कहते हैं। जिन्होंने तन्त्र के षोडशनित्या की आलोचना की है, वे जानते हैं कि यह सृष्टि-संहार ही शुक्ल और कृष्णपक्ष के रूप में मासचक्र हैं। चन्द्र की षोडशीकला अमृतस्वरूप और बिन्दुस्वरूप है।

मूल विन्दु से वे तीनों ही बिन्दु पृथक् रूप में प्रकट होते हैं। विन्दु के प्रकट होने से रेखा की सृष्टि होती है, यह रेखागणित का सिद्धान्त है। विन्दु के कम्पित या स्पन्दित होने से ही रेखा की उत्पत्ति होती है। संकल्प ही कम्पन का हेतु है, इसलिए संकल्प जहाँ विकल्प-रहित अर्थात् द्वितीय संकल्प-रहित है, जिसे शास्त्रीय भाषा में सत्यसंकल्प कहते हैं—वहाँ रेखा भी अखण्ड, अनवच्छिन्न, अबाधित होती है। रेखा चारों ओर समभाव से बनती है, इसलिए मण्डलाकार में प्रकाशित होती है। यही प्रथम मण्डल सहस्रार नाम से परिचित है। वह विन्दु ब्रह्मविन्दु या आदिसूर्य है, सहस्र रेखा ही सहस्र अंशु या चारों ओर फैली हुई सहस्ररश्मि है। यह ज्योतिर्मय लोक भावभेदवशतः ब्रह्मलोक आदि नाम से विभिन्न रूपों में सभी शास्त्रों में वर्णित है। यह सत्त्वमय राज्य है।

इस ज्योतिर्मण्डल के बाहर द्वितीय विन्दु का मण्डल है, जिसे हम तटस्थ, मध्यस्थ या उदासीन मण्डल कहेंगे। इसका केन्द्र रजः नाम का दूसरा विन्दु है। 'रजः' शब्द का अर्थ कण या अणु है। प्रथम स्तर अखण्ड ज्योतिर्मय धाम है। प्रसार-शक्ति जब जिस स्तर की चरमसीमा—ज्योतिरेखा के अन्त्य विन्दु को पार करके बाहर होती है, तो उसी की प्रेरणा से उस ज्योतिराशि से कण विक्षिप्त होते रहते हैं। ये कण अग्नि-स्फुल्लिंग जैसे अखण्ड सत्त्व के अंश हैं। ये सारे खण्ड सत्त्व भी, जो अखण्ड सत्य की नाईं ज्योतिर्मय, चैतन्यमय हैं—यह कहना नहीं होगा। पाञ्चरात्रगण और भागवत सम्प्रदाय ने इन कणों का नाम 'चित्कण' दिया है।[1] शैवाचार्यगण की परिभाषा के अनुसार इनका नाम 'विज्ञानाकल' है। यही विशुद्ध जीवभाव है। इससे ऊपर, सहस्रार की प्रान्तभूमि से, शिवभाव या ईश्वर-भाव आरब्ध हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस तटस्थ मण्डल को ही 'सनातन जीवलोक' कहा गया है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'। ये सब नित्य जीव अनन्त शून्यगर्भ में निशाकाशविहारी चमकते नक्षत्र-मण्डल की नाईं विराजमान हैं। कोई-कोई अपनी उपाधि निरुद्ध करके कैवल्य-पद पर प्रतिष्ठित है। उनका स्वरूप मूल साक्षी से अभिन्न, उपाधिनित्य होते हुए भी अव्यक्त है—फलतः इन केवली को दिव्य दृष्टि से भी नहीं देखा जाता। पहले जो कहा गया है, उससे यह स्पष्ट होगा कि प्रथम मण्डल के बाद ही महाशून्य है, उसी में विशुद्ध जीव-बिन्दु की स्थिति है।

यहाँ एक बात और कह रखने की आवश्यकता का अनुभव कर रहा हूँ। साक्षी का जो दृष्टिक्षेत्र है, वही आकाश है। साम्यावस्था या महाप्रलय की बात की

---

१. 'त्रसरेणु प्रमाणांस्ते रश्मिकोटि विभूषिता'—पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के ग्रन्थ आदि में मुक्त पुरुष का ऐसा वर्णन देखने में आता है।

चर्चा नहीं करूँगा। पर प्रथम बिन्दु का प्रसार-क्षेत्र चिदाकाश है। इसे कहीं-कहीं 'परव्योम' शब्द से भी निर्दिष्ट किया गया है। दूसरे बिन्दु का प्रसार-क्षेत्र ही चित्ताकाश है—जिसमें खद्योतमाला की भाँति कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड-पंक्ति भासमान है।

इस द्वितीय मण्डल के बाहर गहरा अन्धकारमय तृतीय मण्डल है। यह अखण्ड तमोमय तथा विभक्त तृतीय बिन्दु के प्रसारण से उद्भूत है। इसे भूताकाश कह सकते हैं। यही माया या आवरण है। वैष्णवगण ने इस स्तर का नाम बहिरंग दिया है। जिस प्रसारण-शक्ति ने विशुद्ध जीवभाव तक की अभिव्यंजना की है, वह चूँकि तबतक भी क्रियाशील है, इसलिए जीवरूप बिन्दु प्रसृत होते-होते रश्मि-रूप में अन्धकार के राज्य में प्रवेश करता है। यह भूतावरण पाँच भागों में विभक्त होने से तटस्थ बिन्दु व्याकृत अवस्था में पञ्चबिन्दु-रूप में बँटकर प्रसारण के कारण पञ्चमण्डल-रूप में परिणाम-लाभ करता है। इसी का पारिभाषिक नाम है—विशुद्धादि पञ्चचक्र। तटस्थ बिन्दु से जिस मण्डल का विकास होता है, उसका नाम है आज्ञा-चक्र। उसी के ऊपर सहस्रार-चक्र है। मूलाधार या सबसे नीचे का चक्र ही घोर अन्धकार का केन्द्र-स्थल है।

मूलाधार-बिन्दु से बाहर होते ही जीव-कण या सुषुम्णावाही जीवरश्मि स्थूल पञ्चीकृत भूतमय आवरण से वेष्टित हो पड़ती है। इसी स्तर में भूतजगत् के जीव गठित होकर अवस्थित रहते हैं। समग्र ब्रह्माण्ड में जितने प्रकार की स्थूल वस्तुएँ थीं, हैं और होंगी, उन सबके बीज इस स्तर में सदा वर्त्तमान हैं। महाप्रलय के समय यह पञ्चीकृत स्तर स्वभाव के नियम से अपञ्चीकृत होकर पाँच भागों में विभक्त होता है और विशुद्धादि चक्र में विलीन हो जाता है। कहना बाहुल्य है, यह अवस्था प्रसार-शक्ति के अवसान से संकोच-शक्ति के उन्मेष से होती है। संकोच-शक्ति की क्रिया जितनी ही बढ़ती है, पञ्चचक्र क्रमशः उतना ही उपसंहृत होकर पञ्चबिन्दु का रूप धारण करता है और बाद में पञ्चबिन्दु मिलकर एक हो जाते हैं। आज्ञामण्डल या तटस्थ चित् परमाणुपुंज भी इसी प्रकार उपसंहृत होता है। सहस्रार-मण्डल भी मूल सत्त्व-बिन्दु में आकुंचित हो जाता है। उसके बाद सत्त्व, रजः, तमः—यह तीन बिन्दु या मूल त्रिकोण-रूप महाशक्ति के तीन कोण—जो त्रिवृत्करण-प्रणाली से अभिव्यक्त हुए थे—वैषम्य छोड़कर अन्तःस्थ महाबिन्दु में साम्यभाव से रहते हैं। यह महाबिन्दु ही वैष्णवगण का महाविष्णु है, त्रिक मतावलम्बी शैवाचार्य एवं शाक्त आगमविदों का सदाशिव है। वेदान्त में इसे तुरीय कहते हैं—यह सामरस्य-अवस्था है। यहाँ साक्षी और साम्यशक्ति एकाकार—अद्वैत भावापन्न है। यहाँ देश नहीं, काल नहीं, कला नहीं, मन नहीं—यहाँ तक कि उन्मनी शक्ति भी यहाँ निष्क्रिय हो गई है। इसके

ऊपर भी अवस्था है। किन्हीं-किन्हीं ने उसका नाम तुर्यातीत दिया है। शैव और शाक्तों की शिव-शक्ति या कामेश्वर-कामेश्वरी और गौड़ीय वैष्णवों के राधाकृष्ण इस महाबिन्दु के ऊपर अवस्थित हैं।[1]

पञ्चीकरण या स्थूल जगत् या बीज-सृष्टि के सम्बन्ध में एक बात कहना जरूरी लगता है। विशुद्धादि पञ्चविन्दु से रश्मि विकीर्ण होती है—यहीं पञ्चतन्मात्रा-चक्र है। रश्मि के विकीर्ण होने से ही परस्पर मिश्रण हो जाता है, यानी, पहले विन्दु से निकला रश्मिजाल द्वितीयादि चार विन्दुओं से निकली रश्मियों से मिलता है, मिश्रित होता है। इस प्रकार से शब्द तन्मात्रा स्पर्श आदि चतुर्विध तन्मात्रा-सहित मिश्रित होकर प्रथम चक्र को आकाशमण्डल के रूप में परिणत करता है। यह आकाश स्थूलाकाश है, जिसमें शब्दांश की प्रधानता रहते हुए भी स्पर्श आदि तन्मात्रा का मिश्रण है। इस तरह दूसरे बिन्दु से रश्मि निकलकर अन्यान्य स्तर से मिलने से स्थूल वायुमण्डल रचित होता है। यह द्वितीय अधस्तन विन्दु का चक्र है, इसलिए आकाश-मण्डल के बीच स्थित है। इस प्रणाली से स्थूल तैजस मण्डल और भूमण्डल रचित होकर क्रमशः अभ्यन्तर में स्थिति-लाभ करता है। स्थूलतम भूमण्डल-मध्य में—अर्थात् निम्नभूमि में—अवस्थित होता है, यह सहज ही समझ में आयगा। भूमण्डल कहने से कोई इस पृथ्वीमात्र को न समझ लें। यह पृथ्वी एवं अनन्त पृथ्वी—सिर्फ इतना ही नहीं, जो कुछ भी पार्थिव या पृथ्वीबहुल पञ्चीकृत वस्तु है—सभी इस भूमण्डल या भूलोक के अन्तर्गत हैं। अन्यान्य

---

१. द्वारका, मथुरा, वृन्दावन—यह श्रीधामत्रय महाबिन्दु के पर पार में है। इसकी विस्तार से चर्चा हम 'नित्यलीला-तत्त्व' की समालोचना के प्रसंग में यथास्थान करेंगे। चिद्घन सदाशिव-तत्त्व को भेद किये विना अर्थात् शंकर-प्रदर्शित अद्वैत तत्त्व में प्रतिष्ठित हुए विना लीला में प्रवेश नहीं होता। श्रीसम्प्रदाय के वैष्णवगण सत्त्वमण्डल में—ईश्वरतत्त्व-भेद करने—नहीं जा सके। उन्होंने यद्यपि विशुद्ध सत्त्व को स्वीकार किया है, फिर भी उसका वर्णन जडरूप में ही किया है। किन्हीं-किन्हीं ने अजड कहा भी है, तो भी रामानुज-सम्प्रदाय के बहुतेरे आचार्यों ने इसके जडत्व और अचित्त्व को ही अंगीकार किया है। महायानी बौद्धगण इसे वज्रधातु कहते थे। उनका सुखावती तथा अन्यान्य नित्यधाम इसी उपादान से गठित हैं। जो भी हो, वैष्णव आचार्यों ने वर्त्तमान युग में एकमात्र गौड़ीय वैष्णवगणों ने इस सत्त्व-मण्डल को भी अतिक्रम किया है।

मण्डलों के वारे में भी इस बात को याद रखना है। पञ्चीकरण-काल में पञ्चतन्मात्रा के मिश्रण के तारतम्य-निवन्धन से अनन्त प्रकार के स्थूल कण या अणु (जिसका उल्लेख पहले 'बीज' कहकर किया है) उत्पन्न हुए हैं। एक-एक मण्डल में एक-एक भाव की प्रधानता रहती है, इसलिए इस परमाणु को पाँच भागों में विभक्त किया जाता है।[1] परन्तु, स्मरण रखना है, भूलोक में यद्यपि सब परमाणु ही पार्थिव हैं, फिर भी एक पृथ्वी-परमाणु से दूसरे पृथ्वी-परमाणु में विलक्षणता है। योगी-गण विवेक-ज्ञान के द्वारा उस वैषम्य को ग्रहण कर सकते हैं।[2] पार्थिव परमाणु में जैसे परस्पर भेद है, वैसे ही अन्यान्य परमाणुओं में भी है।

---

१. नैयायिक और वैशेषिकगण आकाश के परमाणु को स्वीकार नहीं करते। अन्यान्य दार्शनिकों में कोई करते हैं, कोई नहीं करते। मूलतः, भूत ४ प्रकार या ५ प्रकार के हैं और ५ प्रकार के होने पर भी आकाश आणविक संघात-विशेष अथवा विभु पदार्थ है, यहाँ उसकी विस्तृत आलोचना सम्भव नहीं है। सिर्फ तत्त्व की ओर लक्ष्य करने से समझ में आयगा—आपात प्रतीयमान मतवैषम्य में साम्यभाव मौजूद है। 'योगवार्त्तिक' (३।४०) में विज्ञानभिक्षु ने इसीलिए कारण और कार्यभेद से आकाश के द्विविधित्व को अंगीकार किया है। उनका कारणाकाश और हमारा पूर्ववर्णित तमोमण्डल या आवरण-शक्ति एक ही चीज है। उन्होंने जिसे 'महाभूताकाश' कहा है, वह अण्वात्मक है, यह उन्होंने स्वीकार किया है। जो स्वर-शोधन-प्रक्रिया से अवगत हैं, वे इस आकाश-अणु को देख पाते हैं। सर्वास्तिवादी बौद्धगण आकाश की असंस्कृत धर्म में गणना करते हैं और आवरणाभाव अथवा अवकाशात्मक कहकर इसकी व्याख्या करते हैं। यह नित्य और विभु है, यह अन्य पदार्थ का बाधक नहीं और अन्य पदार्थ से बाधित भी नहीं होता। इसकी ह्रास-वृद्धि नहीं। यह नीरूप स्वप्रकाश वस्तु है। वसुबन्धु कहते हैं—यदि आवरणाभाव इसका स्वभाव नहीं होता, तो किसी वस्तु की क्रिया ही सम्भव नहीं होती। कहना बाहुल्य है, यह हमारा पूर्वोक्त साम्यशक्ति-स्वरूप है। स्थविरवादी बौद्धगण ने आकाश को संस्कृतधर्मजन्य पदार्थों में गिना है। विज्ञानभिक्षु का कार्याकाश और हमारे विशुद्ध चक्र से उसका कुछ सादृश्य है।

२. वैशेषिक आचार्यों ने प्रति पार्थिव परमाणु में द्विविध विशेष को स्वीकार किया है—एक 'पाकज विशेष' और दूसरा 'अन्त्यविशेष'। अन्त्यविशेष

स्थूल स्तर पर आकर प्रसार-शक्ति प्रतिहत होती है। स्थूल जगत् ही बाह्य जगत् है। बाह्य जगत् में, स्थूल देह में, कालचक्र आवर्त्तित होता रहता है। इस आवर्त्तन-मार्ग का एक अंश इडा (वाम) और दूसरा अंश पिंगला (दक्षिण) है। इन दोनों मार्गों में से प्रत्येक असंख्य शाखा-प्रशाखावाला है और मत्स्य-जाल की भाँति समस्त देह को व्याप्त किये हुए है। प्रसार-शक्ति स्थूल में आकर प्रतिहत होती है, यह कह चुके हैं। वैसे में जीव भी स्थूल कोष में आवद्ध हो जाता है, पहली स्मृति को भूल जाता है, वैष्णवी माया से विमोहित होकर इडा-पिंगला-मार्ग से श्वास-प्रश्वास-रूप में संचरण करता रहता है। इस संचार को संसारगति अथवा काल-चक्र में परिभ्रमण कहते हैं। जो शक्ति-प्रवाह पहले ज्योतिरूप में और फिर नादरूप में प्रकटित हुआ था, वह स्थूल रूप में प्राणरूप[1] में प्रकाशित होता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राणादि, वायु प्रभृति इसी प्राणशक्ति के विकास हैं, प्रसार-शक्ति में जब रुकावट आती है, तो संकोच-शक्ति की क्रिया शुरू होती है। समग्र ब्रह्माण्ड में सर्वत्र यही व्यवस्था है। इस संकोच-शक्ति के प्रभाव से ब्रह्माण्ड क्रमशः वैषम्य त्यागकर साम्यावस्था की ओर अग्रसर होता है। अलग से कोशिश नहीं करने से प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्माण्ड की मुक्ति के साथ महाप्रलय के समय मुक्ति प्राप्त करेगा। परन्तु, पुरुषकार प्रयोग करने से ब्राह्माण्ड की मुक्ति के समय की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती।

स्थूल आवरण से वेष्टित होकर जीव सूक्ष्म सुषुम्णा-मार्ग में प्रवेश का पथ नहीं पाता। पूर्वसंस्कार या वासना, अभिमान या कर्त्तृत्व-बोध, फल की आकांक्षा

अन्यान्य परमाणुओं में भी रहता है। यह पाकज़ विशेष तबतक है, जबतक परमाणु हैं—अन्त्यविशेष भी ऐसा ही है। अवान्तर प्रलय में भी पाकज विशेष वर्त्तमान रहता हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में इस विशेषवशतः द्वयणुकादि क्रम से सभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वैशेषिकगण परमाणु को विश्लिष्ट नहीं कर सके, इसलिए विशेष के मूल कारण को नहीं पकड़ सके। योगभाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि परमाणु भी क्षुद्रतर अवयवों की समष्टि है—'अयुतसिद्धावयवसंघातः परमाणुः'। इस अवयव-सन्निवेश या पञ्चीकरण का तारतम्य-निबन्धन ही परमाणु के वैलक्षण्य की उत्पत्ति है।

१. कहना नहीं होगा, जहाँ तक सम्भव है, हमने पारिभाषिक शब्दों को छोड़ने की चेष्टा की है। प्राणशब्द नाद एवं ज्योति के पर्यायरूप में भी व्यवहृत होता हैं। स्पन्दन या कम्पन ही प्राणतत्त्व हैं। ज्योतिः, नाद और तथाकथित प्राण एक ही शक्ति का क्रमिक विकास हैं, इसे स्मरण रखना है।

या भोगाभिलाष (जिसे कामना कहते हैं)—इन तीन आवरणों से जीव का स्थूलत्व हुआ है। विषय, इन्द्रिय आदि रूप में यह स्थूल आवरण जीव को अपने धाम में प्रत्यावृत्त होने नहीं देता। जीवमात्र ही ज्ञान चाहता है, आनन्द चाहता है, अमृत चाहता है—एक शब्द में ब्राह्मी स्थिति चाहता है और उसी की आशा में विषय के राज्य में घूमता है। वास्तव में, विषय आदि उसका प्रार्थनीय नहीं है—आनन्द ही प्रार्थनीय है। आनन्द के साधन-रूप में गौणभाव से वह विषय आदि की कामना करता है। परन्तु, युग-युगान्तर, यहाँ तक कि कल्प-कल्पान्तर, लोक-लोकान्तर में संचरण करके भी उसकी आकांक्षा तृप्त नहीं होती। इसका एकमात्र कारण यह है कि वह समस्त वासना और कर्तृत्व आदि से परिभ्रमण करता है। जबतक वासना का उच्छेद, कम-से-कम एक निमेष के लिए भी नहीं होता, तबतक सुषुम्णा का प्रवेश-पथ नहीं मिलता। क्योंकि, स्थूलवस्तु सूक्ष्म मार्ग में प्रवेश नहीं कर सकती। भूत-शुद्धि, चित्तशुद्धि आदि का भी मतलब इस स्थूलता-विसर्जन के सिवाय और कुछ नहीं। पञ्चभूत जब शुद्ध होता है, तो पञ्चीकरण नहीं रहता, यहाँ तक कि पञ्चबिन्दु भी एक बिन्दु में परिणत होता है। उसके बाद चित्त की शुद्धि होने से वही एक बिन्दु निर्मल होकर ज्ञानचक्षु अथवा तीसरे नेत्र को खोलता है। यही विशुद्ध जीवावस्था है। इसके बाद ईश्वर-तत्त्व के सम्मुखीन होकर क्रमशः बढ़ना ही उपासना है। उपासना में आज्ञास्थ बिन्दु और सहस्रारस्थ महाबिन्दु में भेद रहता है, अभेद भी रहता है। धीरे-धीरे इस भेदाभेद के बीच भेदांश के विगलित होने से अभेद की प्रतिष्ठा होना ही ब्रह्मज्ञान-लाभ है। इसके बाद त्रिगुणातीत परम साम्यावस्था या ब्रह्मत्व।

[तीन]

हमने ऊपर जो कुछ कहा, उससे स्पष्ट प्रतीत होगा कि कुण्डलिनी-शक्ति के उद्‌बोधन बिना जीव की ऊर्ध्वगति सम्भव नहीं। अरणि-मन्थन करके जैसे आग जलाई जाती है, अर्थात् अरणि की सुप्त अग्नि जैसे संघर्षण से उद्दीपित होती है, वैसे ही साधन-प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी-शक्ति को जगाना होता है। जलकर आग जैसे ईंधन को जलाती है, कुण्डलिनी के चैतन्य से वैसे ही साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधनामात्र ही विचार, भक्ति अथवा हठ या मन्त्रयोग आदि—पुरुषकार सापेक्ष, कर्तृत्वबोध-मूलक है। यह कर्तृत्वबोध क्रमशः कुण्डलिनी-चैतन्य के साथ लुप्त होता जाता है, और फिर कर्तृत्वबोध के लुप्त होते-होते कुण्डलिनी अधिकतर जाग्रत् हो आती है। कुण्डलिनी जब एक बार चेतन होना शुरू करती है, तो स्वभाव के नियम से ही सब कार्य होता रहता है। अनुकूल स्रोत में नौका को बहा देने से उसे जैसे समुद्र में जाने की कोशिश नहीं करनी पड़ती, वैसे ही कुण्डलिनी को जगाकर उसके प्रवाह में प्राण-मन को ढाल देने से जीव को फिर ब्रह्मावस्था के

लिए अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता।[1] संकोच-शक्ति अथवा ऊर्ध्व-बिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव से अन्तर्मुख गति क्रमशः बढ़ती है तथा अन्त में साम्यावस्था में जाकर स्थिति-लाभ करती है।

कुण्डलिनी-चैतन्य के साथ-साथ इडा-पिंगला में प्रवहमाण स्रोत सूक्ष्मता प्राप्त करके सुषुम्णा के पथ से प्रवेश करता है और सुषुम्णा के पथ से उठते-उठते क्रमशः और भी सूक्ष्मता प्राप्त करता है। इस प्रकार, जीवशक्ति वज्रा और चित्रिणी नाडी को भेदकर अन्त में ब्रह्मनाडी या आनन्दमय कोष में जाती है। यही ऐश्वर्य-अवस्था है। जब आनन्दमय कोष पर भी लक्ष्य नहीं रह जाता, तब गुणातीत परम साम्य अवस्था प्राप्त होती है।

ऊर्ध्वस्थ सत्त्व-बिन्दु और अधःस्थ तमोबिन्दु तक रेखा को मेरु (axis) कह सकते हैं। इस रेखा का ऊर्ध्वबिन्दु उत्तर-मेरु और अधोबिन्दु दक्षिण-मेरु (North and South Poles) है। दोनों ही बिन्दु आकर्षण शक्तिवाले हैं। अधोबिन्दु के आकर्षण का नाम मध्याकर्षण है—यह भूमध्य से प्रसृत है। ऊर्ध्वबिन्दु का आकर्षण संकर्षण के नाम से परिचित है। इसका दूसरा नाम कृपा है। यह ऊर्ध्वबिन्दु या आदिसूर्य या ईश्वरोपाधि के केन्द्र से चारों ओर फैला हुआ है। आज्ञास्थ विशुद्ध जीव या कैवल्यप्राप्त पुरुष दोनों आकर्षणों के ठीक बीच में तटस्थ भाव से वर्त्तमान है। उनकी उपाधि चूंकि निर्मल है, इसलिए उनके प्रति मध्याकर्षण की क्रिया नहीं होती। इसलिए ब्रह्माण्ड के भीतर उनकी स्थिति नहीं। ऊर्ध्वदृष्टि नहीं होने तक उनके प्रति भगवत्कृपा की शक्ति भी क्रिया नहीं करती। शास्त्र में इन्हें सांख्यज्ञानी कहा गया है—ये ईश्वर के शुद्ध सत्तात्मक धाम में स्थान नहीं पाते। मायातीत होते हुए भी ये महामाया के अधीन हैं। आगम में इनका नाम विज्ञानाकल दिया गया है।

इसका अवश्य क्रम है। किसी अनिर्वचनीय कारण से जब यह तटस्थ बिन्दु ऊर्ध्वमुख होता है, तो अखण्ड सत्त्व बिन्दु से उसकी सम्मुखीनता होती है। इसे ईश्वर-

---

१. प्राचीन बौद्धों ने इसका नाम दिया है 'स्रोत-आपन्न'। बुद्धदेव शक्ति-संचार द्वारा शिष्य को ऊर्ध्वस्रोत में स्थापित करते थे। यह सुषुम्णा-वाही ऊर्ध्वस्रोत के अलावा दूसरा कुछ नहीं। इस स्रोत में पड़ने से जीव को फिर 'अपाय' में नहीं पड़ना पड़ता; क्योंकि तब उसकी सत्कार-दृष्टि, विचिकित्सा एवं शीलव्रत-परामर्श नामक त्रिविध बन्धन या 'संयोजन' छिन्न हो जाता है। अवश्य संचारित शक्ति की कमी-बेशी और संचित कर्म-वासना आदि की गाढता का तारतम्य-निबन्धन 'स्रोत-आपन्न' अवस्था बहुत प्रकार की है।

साक्षात्कार कहते हैं। उस समय वह तटस्थ नहीं रह जाता, उस समय वह सहस्रार में प्रवेश करके अपनी रेखा के सहारे केन्द्र की ओर अग्रसर होता रहता है। यह भाव की साधना है, यह भी स्वभावतः ही होता है। तमोबिन्दु जैसे पाँच भागों में विभक्त है, वैसे ही यह शुद्ध सत्त्व स्तर भी पाँच भागों में विभक्त है। एक-एक स्तर में एक-एक भाव का प्राधान्य है। शान्त से माधुर्य तक ये पाँच स्तर फैले हुए हैं। माधुर्य ही शुद्ध सत्त्व बिन्दु का अन्तरतम या ऊर्ध्वतम भाव है। जब यह अतिक्रान्त होता है, तभी पूर्णावस्था प्राप्त होती है, उससे पहले नहीं। तमः, रजः और सत्त्व—यह त्रिविध मण्डल अतिक्रान्त होने से कुण्डलिनी का चैतन्य पूर्ण हुआ समझना चाहिए।

कुण्डलिनी के पूर्ण जागरण से एकमात्र अद्वितीय और पूर्ण वस्तु में ही स्थिति होती है, समग्र जगत् निराधार होकर ब्रह्मरूप में परिणत होता है, आत्यन्तिक और ऐकान्तिक ब्राह्मी स्थिति, शाश्वत पद में अवस्थान सुसिद्ध होता है।

[चार]

हम पहले जो कह आये हैं, उससे यह समझ में आयगा कि कुण्डलिनी-तत्त्व से देह-तत्त्व का, सिर्फ देह ही क्यों, जगत् के सारे ही तत्त्वों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो मुक्ति-पथ के पथिक हैं, उन्हें जड तत्त्व, चित् तत्त्व और ईश्वर-तत्त्व—सभी तत्त्वों को पार करके आगे बढ़ना होगा। तत्त्व-मात्र ही वैषम्य अवस्था के अन्तर्गत हैं। साम्यावस्था तत्त्व के अतीत है। फिर भी, कभी-कभी जो उसे तत्त्व कहकर वर्णित किया जाता है, वह महज व्यवहार-सौकर्य के अनुरोध से।

कुण्डलिनी के कुछ प्रबुद्ध होते ही जीव की ऊर्ध्वगति अथवा क्रम-मुक्ति का अनुयायी आरोहण आरब्ध होता है। समाधि का क्रम-विकास या कुण्डलिनी की क्रमोन्नति अभिन्न पदार्थ है। जबतक चित्त एकाग्र भूमि में रहता है, तबतक उसके अवलम्बन रहता है। हाँ, यह अवलम्बन क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म भाव प्राप्त करता है और अन्त में बिन्दुरूप में परिणत हो जाता है। प्रचलित पातञ्जल मतानुसार अस्मिता ही यह बिन्दु है, इसलिए सास्मित समाधि ही सम्प्रज्ञात समाधि की चरम अवस्था है। इस भूमि में प्रज्ञा के उदय होने से चित्त अवलम्ब-रहित होकर पूर्ण शुद्धि प्राप्त करता है। तब, उपाय-प्रत्ययात्मक असंप्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इस अवस्था में क्लेश नहीं रहता, कर्माशय नहीं रहता, पूर्व संस्कार, कर्त्तृत्वबोध—कुछ भी नहीं रहता—चित्त सभी प्रकार के आवरण से मुक्त होकर पूर्णचन्द्र जैसा विमल और स्निग्ध ज्योति से समुद्भासित होता है। यह शुद्ध सत्त्व ही निर्माण-चित्त और निर्माण-कायादि की प्रसूति है। इसका दो प्रकार का

अवस्थान सम्भव है। संकोच-काल में इसके निरुद्ध होने से पुरुष की कैवल्य-सिद्धि होती है और विकासकाल में इसकी अवस्थिति-निबन्धन-जीवन्मुक्ति होती है।[1]

सांख्य का कैवल्य पूर्ण अवस्था नहीं है, यह कहना ही बाहुल्य है। वास्तव में, चैतन्य पुरुष एक या बहु नहीं हो सकता। उपाधिविहीन शुद्ध चैतन्य में भेद-प्रतीति या अभेद-प्रतीति—किसी की भी सम्भावना नहीं। उपाधि एक होने से तदुपहित चैतन्य को एक कहना सम्भव है, उसी प्रकार उपाधि का बाहुल्य-निबन्धन तदुपहित चैतन्य के भी बहुत्व को अंगीकार किया जा सकता है। सांख्य का बहुपुरुष वास्तव में बहुसत्त्व में परिच्छिन्न चैतन्य-स्वरूप है। सत्त्व का बहुत्व जो खण्डता-निबन्धन है, यह अवश्य स्वीकार्य है। एक अखण्ड सत्त्व ही खण्डित (अथवा खण्डितवत्) होकर बहुरूप में प्रतिभात होता है। एक ही बहु की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण है। अतएव, बहुपुरुष जबतक एक उत्तमपुरुष को प्राप्त नहीं करेगा, तबतक यथार्थ साम्यभाव पाने की आशा दुराशा है। एकाग्र भूमि के अवलम्बन के बिना निरोधभूमि में पदार्पण नहीं किया जा सकता। द्वैत-अद्वैत दोनों प्रकार के भावों के अतीत होने के लिए पहले द्वैत से अद्वैत में उपस्थित होना होगा, उसके बाद स्वभाव के नियम से अद्वैतभूमि भी अतिक्रान्त होने पर विकल्प-उपशम साम्य-अवस्था की आप ही प्राप्ति होगी। द्वैतभाव को अद्वैत में नहीं बदलकर निवृत्त करने से व्युत्थान अवश्यम्भावी है। जिस कारण से प्रकृतिलीन का मग्न-उत्थानवत् पुनरुत्थान होता है, ठीक उसी प्रकार उसी कारण से सांख्य के केवली को भी पुनः उत्थित होना होता है।

अतएव वैशेषिक की मुक्ति तो दूर की बात रही, सांख्य की मुक्ति भी वास्तविक मुक्ति नहीं। कहना नहीं होगा कि तब भी कुण्डलिनी सम्पूर्ण चैतन्य नहीं होती। सांख्य में ईश्वर अंगीकृत नहीं है। जो नित्यमुक्त, किन्तु नित्य ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं, योगभाष्यकार ने जिनकी उपाधि की 'प्रकृष्ट सत्त्व' कहकर व्याख्या की है और जिन्हें क्लेश आदि विहीन परम गुरुरूप में वर्णित किया है, वह 'कारण ईश्वर' सांख्यदर्शन में स्वीकृत नहीं हुआ है। सांख्यसम्मत ईश्वर हिरण्यगर्भादि 'कार्येश्वर' हैं। साधना के परिपाक से साधक के चित्त में अणिमादि अष्टैश्वर्य का विकास होने से ही ईश्वरत्व-लाभ हुआ, यह सांख्यदृष्टि है। परन्तु, यह ऐश्वर्य अनित्य,

१. जहाँ शक्ति है, वहीं संकोच और विकास का खेल है। सत्त्वादि गुणत्रय, जो शक्ति का ही स्फुरण है, यह सांख्ययोग में साफ-साफ उल्लिखित नहीं होने पर भी सर्वोच्च भूमि से लक्ष्य करने पर सहज ही समझा जा सकेगा। मुक्ति का आदर्श विभिन्न होने के कारण जीवन्मुक्ति भी नाना प्रकार की है। जिस मत से जो अवस्था मुक्ति गिनी जाती है, उस मत से उस अवस्था का आभास जीवित दशा में प्राप्त करने से ही जीवन्मुक्ति प्राप्त हुई।

कारण है, द्वैतबोध से उत्पन्न होने के नाते यह कैवल्य का परिपन्थी है। मतलब कि सांख्यनिर्दिष्ट साधन से जीव तटस्थ भाव से ऊपर नहीं उठ सकता। तटस्थविन्दु ऊर्ध्वबिन्दु के आकर्षण की बाहरी सीमा में है, इसलिए सहस्रार में प्रवेश नहीं पाता। उस समय तक आवरण पूर्णतया तिरोहित नहीं हुआ होता, इसलिए कुण्डलिनी आंशिक भाव से प्रसुप्त रहती है। शैवागम के मत से यह एक प्रकार से 'विज्ञानाकल' अवस्था है। भक्ति (वैधी) एवं उपासना के बल से खण्ड-सत्त्व अखण्ड सत्त्व की धारा में अर्थात् आदि सूर्य की एक रश्मि में संयोग-लाभ करता है और क्रमशः उसी रश्मि के अवलम्बन से केन्द्र के निकट होता रहता है। खण्ड सत्त्व में भाव का विकास होने से ही सहस्रदल कमल की नित्य विभूति प्रत्यक्ष अनुभव में आती है। भाव धीरे-धीरे गाढतर होकर विधिकोटि को पार करता है और राग-रूप में परिणत होता है। राग का भी क्रम-विकास है। दास्यभाव तक ऐश्वर्य-अवस्था का अनुभव होता है। उसके बाद दास्यभाव के अतीत होने से ही माधुर्य-अवस्था का विकास होता है। माधुर्य-अवस्था सख्य, वात्सल्य और कान्त—मूलतः त्रिविध है। उनमें से कान्त भाव में ही माधुर्य की पराकाष्ठा है। भाव क्रमशः महाभाव में परिणति-लाभ करता है। यह महाभाव—विभाव और अनुभाव आदि कारण से शृंगार-रस में बदल जाता है। यही आदिरस है।[1]

इस प्रकार, कुण्डलिनी के क्रमिक चैतन्य से ऊर्ध्वविन्दु तक जीव उठता है। केन्द्र में प्रवेश होते ही लीलाभूमि का दूसरा पार आयत्त हो जाता है। उस समय साम्यभाव में स्थिति होती है। वही उपशम या शान्त अवस्था है। किन्हीं-किन्हीं की परिभाषा के अनुसार वही निर्वाणपद है। अतएव, शुद्ध सत्त्व के प्राकट्य में शृंगार-रस ही सभी रसों का सारभूत आदिरस है और गुणातीत अवस्था में वह आस्वाद भी नहीं रहता।

हमने पहले जो कहा है, कुण्डलिनी का पूर्णचैतन्य-सम्पादन और परम ऐश्वर्य-लाभ एक ही बात है, वह अब समझ में आया।

---

१. शान्त और शृंगार—इन दोनों में कौन आदिरस है, इसपर साधक-सम्प्रदाय में मतभेद हैं। लेकिन, जो लीला-रस के अनुरागी हैं, वे शृंगार-रस को ही आदिरस मानते हैं। गौड़ीय वैष्णवगण शान्त रस को सबसे निम्न स्थान देते हैं। बात दर-असल यह है कि शान्त और शृंगार—ये दोनों रसास्वादन की प्रान्त-अवस्था हैं। कश्मीरी शैवाचार्यों ने यद्यपि शान्त रस को प्रधान कहा है, फिर भी उन्होंने शिव-शक्ति के सामरस्य-स्वरूप शृंगार का शान्त के साथ समन्वय किया है। कहना न होगा, श्रीमन्महाप्रभु की रसतत्त्व की शिक्षा शृंगार-अंश प्राधान्य-ख्यापक है।

नाद, बिन्दु और कला

कुण्डलिनी-जागरण का एक विशिष्ट लक्षण है—नाद का स्फुरण। नाद के अंगागिभाव से जुड़ा हुआ है विन्दु और कला-तत्त्व। इसलिए, इन तीन तत्त्वों को ठीक से समझना जरूरी है। तान्त्रिक साहित्य की चर्चा के प्रसंग में नाद, विन्दु और कला—इन तीन शब्दों से परिचय होता है। परन्तु, इन तीन शब्दों का पारिभाषिक अर्थ क्या है, स्पष्ट रूप से यह बहुतों को नहीं मालूम है। बहुत ही प्रसिद्ध होने के कारण यद्यपि इन तीन शब्दों का व्यवहार तन्त्रशास्त्र के अलावा और-और शास्त्रों में भी कहीं-कहीं देखने को मिलता है, फिर भी भाव के मूल स्वरूप और उसकी विश्लेषण-प्रणाली को ठीक से समझने के लिए तन्त्रशास्त्र के दिखाये मार्ग का ही अवलम्बन उपयुक्त है।

जगत् की सृष्टि-प्रणाली के विवरण-प्रसंग में 'शारदातिलक' में आया है:

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीत् शक्तिस्ततो नादस्ततो बिन्दुसमुद्भवः॥ इत्यादि।

इस विवरण से आदिसृष्टि का जो क्रम मिलता है, उससे यह जाना जाता है कि आदि में स-कल परमेश्वर से ही सृष्टि का विकास होता है। 'स-कल' का अर्थ 'कला-सहित'—यही समझना होगा। 'कला' शब्द का अर्थ है शक्ति। परन्तु, पारिभाषिक शक्ति कला से भिन्न है। क्योंकि, तान्त्रिक परिभाषा के अनुसार, अपेक्षाकृत घनीभूत अवस्था ही शक्ति है। परमेश्वर एक ओर निष्कल, यानी कला-रहित और दूसरी ओर सकल, अर्थात् अखण्ड कला-सम्पन्न हैं। उनकी इस 'सकल' अवस्था से ही सृष्टि की धारा प्रवर्त्तित होती है। 'सकल' परमेश्वर शक्ति-सम्पन्न हैं, इसलिए शक्ति की न्यूनता को अपने स्वातन्त्र्य के बल से अवभासित करने में समर्थ होते हैं। इस अवस्था में जिस भाव की स्फूर्त्ति होती है, वह शक्तिपदवाच्य है। महाशक्ति-रूप होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं कि यह शक्ति परिच्छिन्न है। अनन्त ऐश्वर्य-सम्पन्न ईश्वर का यही प्रथम आविर्भाव है। शक्ति जब कलारूप में शिव-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है, तब यह पृथग्भूत न रहकर अखण्ड शिवस्वरूप में ही एकात्मभाव से मग्न रहती है।

इस सकल परमेश्वर से अवतरण-क्रम से शक्तितत्त्व का विकास होता है। सकल परमेश्वर की जो सारी शक्तियाँ एकात्मभाव से कलारूप में उनके अंगीभूत थीं, परमतत्त्व के क्षुब्ध होने के साथ-साथ वे अतिरिक्त-सी भासमान होती हैं।

इन्हीं शक्तियों की समष्टि का नाम शक्तितत्त्व है। शक्ति (पर) से नाद का आविर्भाव होता है, और नाद (पर) से बिन्दु, घनीभूत होने के साथ ही प्रकटित होता है। स्थूलत्व प्राप्त करके नाद बिन्दु का आकार धारण करता है। भाप जैसे घनीभूत होकर जलबिन्द में परिणत होती है, वैसे ही घनीभूत होकर नाद आदिसृष्टि या बिन्दुरूप में परिणत होता है। नाद वर्णात्मक नहीं है। वर्ण की अभिव्यक्ति और भी बाद की है।

ऊपर के विवरण से ज्ञात होगा कि शक्ति, नाद और बिन्दु—यही क्रम है। शक्ति की विश्रान्ति-दशा में यह स्वरूप का अंगीभूत होता है, इसलिए इसे कला के रूप में निर्देश करते हैं। कला-अवस्था में स्वरूप से शक्ति का पृथक् भाव नहीं सम्पन्न होता। पर, जब कला में किञ्चित् स्वयंसिद्ध न्यूनता का आविर्भाव होता है, तब वही कलाशक्ति के नाम से अभिहित होती है। यह शक्तितत्त्व तत्त्वरूप है, इसलिए जबतक यह स्वरूप में नहीं परिणत होता, तबतक अलग तत्त्वरूप में गिना जाता है। शक्ति की क्रिया-अवस्था ही नाद है और निष्क्रिय अवस्था कला। इसी प्रकार कला की बहिर्मुख अवस्था शक्ति और अन्तर्मुख अवस्था शिव है।

स्वरूपनिष्ठ क्रिया द्वारा कार्योन्मुख होकर शक्ति नादरूप में आत्मप्रकाश करती है। यह जिस नाद के बारे में कहा गया, वह व्यापक नाद है। यह व्यापक नादसत्ता प्राकृतिक एकाग्रता के प्रभाव से जब एक निर्दिष्ट बिन्दु-रूप में स्थूल भाव ग्रहण करती है, तब सृष्टि का प्राथमिक क्रम परिसमाप्त होता है। सृष्टि का, बाद का क्रम क्षुब्ध बिन्दु से प्रकट होता है।

शिवपुराण (वायवीय संहिता) में है कि सृष्टि के आदि में शक्ति का आविर्भाव तिल से तेल की अभिव्यक्ति के समान है। उस समय पराशक्ति अव्यक्त अवस्था में शिवतत्त्व के साथ अभिन्न रूप में मौजूद रहती है। पर, जब शिव की इच्छा का उन्मेष होता है, तब उसके प्रभाव से शक्ति शिव से पृथग्वत् स्फुरित होती है।

शिवेच्छया पराशक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता।
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव ॥

परमेश्वर के स्वरूप में जो अनन्त कलाएँ विद्यमान हैं, उन सबके चिदात्मक होने से वे परमेश्वर-तत्त्व से अभिन्न हैं। फलस्वरूप, वह कला चित्कला का ही नामान्तर है। इसलिए, परमेश्वर की स-कल अवस्था चैतन्यशक्ति-विशिष्ट चित्-स्वरूप का ही बोध कराती है। वास्तव में, यह अवस्था शिव की ही अवस्था है—यही पूर्णत्व है। किन्तु, पूर्णत्व होने पर भी उन सब शक्तियों या कलाओं को परमा कला या आद्या कला नहीं कहा जा सकता। नई सृष्टि के आरम्भ में भगवान् की ईक्षण-शक्ति जब अपने कार्य-साधन के लिए जाग्रत् हो उठती है, तब वह चित्कला

'शक्ति' नाम धारण कर स्वरूप से अलग नहीं होते हुए भी पृथक् जैसी अवस्था प्राप्त करती है। पूर्ववर्णित सृष्टिक्रम में शक्ति के आविर्भाव का एक निर्दिष्ट स्थान है। शक्ति इच्छारूपा है। इच्छा के जगने के साथ-ही-साथ तमाम एक तीखा अभाव-बोध जाग उठता है। अभाव के बिना इच्छा का उदय नहीं होता। जो नहीं है, उसे पाने की जो इच्छा है, वही अभाव-बोध का दूसरा नाम है। यही अभाव ही वास्तव में महाशून्य है, जो आविर्भूत होकर महासत्ता में एक द्विधा-भाव की सृष्टि करता है। जिसके लिए अभाव-बोध है, अर्थात् जो इच्छा का वास्तविक विषय है, उसके लिए एक तीव्र आकांक्षा जाग पड़ती है। इच्छा का विषय पूर्व सृष्टि की विलीन सत्तावाले विश्व की पुनः प्राप्ति है। प्रलय की महासुषुप्ति के बाद जाग उठने के साथ-ही-साथ एक अस्फुट आकांक्षा अस्फुट रूप से ही जाग पड़ती है। और तब, उस इच्छा के प्रभाव से महाशून्य का आविर्भाव होता है। महाशून्य आकाश का ही दूसरा नाम है। पूर्णावस्था में आत्मा परिपूर्ण अहं-भाव में विश्रान्त रहती है। इसलिए, वही सम्यक् आत्मचैतन्य की अवस्था है। सुषुप्ति के बाद पुरानी स्मृति के जाग जाने से एक अनिर्दिष्ट वस्तु के लिए अनिर्दिष्ट रोदन के भाव से हृदय भर जाता है। इस समय पूर्ण अहं-भाव नहीं रहता। खण्डित होकर वह एक ओर परिच्छिन्न 'अहं' और दूसरी ओर उसका प्रतियोगी 'इदं' तैर आता है। अहं द्रष्टा है, इदं दृश्य। द्रष्टा के सामने दृश्य रूप में महाशून्य का आविर्भाव होना ही इच्छाशक्ति का विकास है। इच्छा के उद्‌बुद्ध होने के साथ-साथ इच्छा का विषय-रूपी विश्व भी जाग्रत् होने का उपक्रम करता है। विश्व का आधार महाशून्य है। अतएव, विश्व के आविर्भूत होने के पहले उसका आधार-रूपी महाशून्य आविर्भूत होता है। द्रष्टा का लक्ष्य दृश्यरूपी शून्य पर पड़ने से लगता है, उस शून्य से एक अव्यक्त नादध्वनि झंकृत हो रही है। यह नाद आदि-नाद या परनाद के रूप में प्रसिद्ध है। इसका विकास और चैतन्य का आत्मस्फुरण एक ही बात है। नाद की स्फूर्त्ति के साथ-ही-साथ ज्योति का भी विकास होता है। वास्तव में, नाद और ज्योति एक ही महासत्य की दो अवतरणशील अवस्था-मात्र हैं।

अपनी इच्छा से जगत् को प्रकाशित करके परमेश्वर उससे खण्डरूप में अपनी उपलब्धि में समर्थ होते हैं। उस समय महाशून्य नाद के झंकार से अविश्रान्त झंकृत होता रहता है। इसके आकर्षण से जब यह भाप-जैसी व्यापक सत्ता घनीभूत होकर एक केन्द्र को आश्रय करके फूट उठती है, तभी वास्तव में कोलहाट-चक्र का भेद होता रहता है। अभिव्यक्त नाद से महाशून्य क्रमशः आच्छन्न होता रहता है। नाद की अभिव्यक्ति के तारतम्य के अनुसार आच्छन्नता का कमोवेश भाव सिद्ध होता है। ज्योति और नाद एक ही वस्तु के दो विभिन्न पहलू हैं। इसलिए जबतक ज्योति और

नाद प्रकट होकर विश्व को अवभासित नहीं करता है, तबतक यह प्रक्रिया शनैः-शनैः बढ़ती रहती है। जो व्यापक रश्मिमाला नादज्योति-स्वरूप में शून्य में प्रकाशित होती है, उसीकी घनीभूत अवस्था ही विन्दु है। नाद घनीभूत होकर साम्य-अवस्था में परमविन्दु के रूप में प्रकाशित होता है। वैसे में काल या श्रीभगवान् की क्रिया-शक्ति आघात करके विन्दु को क्षुब्ध करते हुए उसे विभक्त करती है। उस समय क्षोभ के परिणामस्वरूप विन्दु, बीज और नाद—इन तीन अवस्थाओं का उद्रेक होता है। यही विन्दु अपर बिन्दु और यही नाद अपर नाद है।

शक्ति अथवा इच्छाशक्ति से शून्य के आविर्भाव की बात कही जा चुकी है। किन्हीं-किन्हीं दार्शनिक की दृष्टि में यह शून्य ही मायापदवाच्य है। माया, शिव और शक्ति के पारस्परिक संघर्षण से आविर्भूत होती है। शिव-स्वरूप में जीव का और जीव-स्वरूप में शिव का प्रतिबिम्ब समान रूप से दोनों आधारों में पूर्णतया प्रकाशमान है। इस बिम्ब-प्रतिविम्ब-भाव से ही माया का आविर्भाव होता है। सृष्टि-रचना के आरम्भिक काल में मूल सामग्री को आविर्भूत होते देखा जाता है।

शिव-शक्तिमय विशुद्ध चैतन्य से विश्व-रचना होती है। विश्व के चार स्तर हैं—स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण। सृष्टि के समय ये एक-के-बाद-एक आविर्भूत होते हैं। यानी सबसे पहले महाकारण-स्तर प्रकट होता है, फिर उस महाकारण-सत्ता से कारण-सत्ता प्रकट होती है। उत्तरोत्तर स्थूलता की ओर गति बढ़ती है और चरम अवस्था तक अभिव्यक्त हो जाने से सृष्टि की धारा निवृत्त होती है। यही स्वाभाविक नियम है। महाकारण आदि जिन कारणों के बारे में कहा गया, ये एक प्रकार से देहरूप में कल्पित होने के योग्य हैं। जीव की व्यष्टि-धारा में जैसे महाकारण, कारण आदि विभिन्न शरीर की सत्ता और क्रिया उपलब्धि-गोचर होती है, समष्टि-धारा में भी ठीक उसी प्रकार होती है। महासुषुप्ति के बाद इच्छाशक्ति का जब प्रथम उन्मेष होता है, तब साथ-ही-साथ महाशून्य भी आविर्भूत होता है—यह बात कही जा चुकी है और यह भी कहा गया है कि यह महाशून्य ही भविष्य की सृष्टि की भित्ति है। दीवार पर जैसे चित्र अंकित होता है, वैसे ही महाशून्य को अवलम्बन करके जगत् का विराट् चित्र अंकित होता है। इसलिए महाकारण-शरीर के आविर्भाव के पहले महाशून्य का आविर्भाव होना अपरिहार्य है। यह महाशून्य ही मायास्वरूप शिव और शक्ति के परस्पर एक-दूसरे में प्रतिफलन से अविविक्त रूप में महाशून्य का आविर्भाव होता है। महाशून्य का भेद जबतक नहीं होता, तबतक यथार्थ विवेकज्ञान नहीं होता। महाशून्य का भेद होना और चैतन्यमय शिवशक्ति के चरणों में पहुँचना, एक ही बात है।

शून्य के आविर्भूत होने के बाद जब द्रष्टा दृक्शक्ति के द्वारा उसे अनुविद्ध करता रहता है, तब नाद और ज्योति के रूप में स्पन्दन तरंग-शून्य सागर में आन्दोलित होता रहता है। यह ज्योतिर्मय नाद या नादात्मक ज्योति जिस गुह्य-भूमि से स्फुरित होकर दृष्टि के गोचरीभूत होती है, वही विसर्गमण्डल के नाम से प्रसिद्ध है। नरदेह में यह ब्रह्मरन्ध्र से भी ऊपर अवस्थित है। समष्टि-ब्रह्माण्ड-देह में भी यही है। इच्छाशक्ति चूँकि विसर्गरूप है, इसलिए उसके मण्डल को विसर्ग-मण्डल कहते हैं। सृष्टि-रचना के मूलसूत्र यहीं से उपलब्ध होते हैं। (पर) नाद और (पर) विन्दुरूप क्रमवद्ध जिन दो अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है, वे विश्वसृष्टि के शुरू की वस्तु हैं। इसे जगत्-रूपी वृक्ष का अंकुर कहें, तो अत्युक्ति नहीं होगी। वास्तव में यह वृक्ष की एक अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं। इसी को महाकारण-अवस्था कहते हैं। इसके मूल उपादान बहुत ही सूक्ष्म रूप में विसर्ग-मण्डल में ही मौजूद रहते हैं। विसर्ग-मण्डल के अतीत चैतन्य-स्वरूप में ढूँढ़ने से कुछ भी पाने की आशा नहीं; क्योंकि वह विशुद्ध और निर्बीज है। अनन्त सृष्टि विसर्ग से ही स्फुरित होती है। विसर्ग अन्तर्मुख हो, तो सारी सृष्टि लुप्त हो जायगी।

परनाद और परविन्दु को महाकारण-शरीर माना जा सकता है। इसका जो वहिरंग प्रकाश है, वही जगत् की कारण-सत्ता है। क्रिया-शक्तिरूपी काल द्वारा परविन्दु के क्षुब्ध होने से एक अस्पष्ट महाध्वनि सुनाई पड़ती है। यह शब्दब्रह्म नाम से परिचित है। यही अव्यक्त ध्वनि या शब्दब्रह्म बाद की सारी सृष्टि का मूल कारण है। परनाद और परविन्दु को महाकारण-रूप में ग्रहण करने पर परविन्दु के क्षोभ से उत्पन्न विन्दु, बीज और नाद—इन तीनों को कारण मानना आवश्यक है। शब्दब्रह्म-रूपी महानाद महाकारण-देह और कारण-देह के अन्तराल में मौजूद है। महा-कारण-देह का मूल जिस प्रकार विसर्ग-मण्डल में निहित रहता है, कारण-देह का मूल उसी प्रकार शब्दब्रह्म में निहित रहता है। इसलिए, शब्दब्रह्म का भेद नहीं होने तक कारण-देह अस्तमित नहीं होता। सृष्टि के मूल में शिवशक्ति के रहने के कारण सृष्टि की हर स्थिति में शिव-शक्ति के स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है। परबिन्दु में जैसे गुणत्रय साम्य अवस्था में विद्यमान रहता है, इसके विपरीत वैसे ही वह शिव-शक्ति की भी साम्य अवस्था है। सिर्फ यही नहीं, इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन तीन आदिशक्तियों की भी साम्य अवस्था वही है। पर, जब काल की दृष्टि से क्षोभ पाने के कारण विन्दु वैषम्य अवस्था में पहुँचा, तो अपर बिन्दुरूप जो कार्य उत्पन्न हुआ, उसमें शक्ति-अंश की प्रधानता रह गई, कारण, अपरबिन्दु प्रधानतः शिव-भावमय और बीज प्रधानतः शक्तिभावमय है। इस बिन्दु और बीज के परस्पर सम्मिलित होने से जिस नाद की अभिव्यक्ति होती है,

उसमें शिव और शक्ति—दोनों का मिश्रभाव रहता है। परनाद और महानाद में जैसे भेद है, वैसे ही महानाद और नाद में भी भेद है। विन्दु, वीज और नाद—इन तीनों से कुण्डलयन्त्र आविर्भूत होता है। समष्टि-रूप में ये तीनों ही कुलकुण्डलिनी के स्वरूप हैं। ये तीनों सम्मिलित भाव से त्रिकोणात्मक योनिरूप में आत्मप्रकाश करते हैं। इसीसे सारे जगत् के सूक्ष्म उपादान आवश्यकता के अनुसार निकलते हैं। यह त्रिकोण ही वास्तव में कारण-देह का नामान्तर है। विन्दु और वीज आपस में संश्लिष्ट होकर ही कार्य करते हैं। परविन्दु के महानाद में से अपरबिन्दु में अवतीर्ण होने पर यह विन्दु जब वीज को स्पर्श करता है, तब सारे वीज बिन्दुयुक्त होकर गुंजन करते रहते हैं। यही नाद है। इस वीज का शास्त्रसम्मत पारिभाषिक नाम 'अ-क-थ' त्रिकोण है, जो तीन अलग-अलग रेखाओं से वनता है। यह 'अ-क-थ' चक्र समष्टि-वर्णमाला का द्योतक है। इसका विशेष विवरण यथास्थान दिया जायगा। यह त्रिकोण गुरु के आसन-रूप में कल्पित होता है।

वास्तव में, परविन्दु ही गुरु का आसन है। उसमें प्रकाशमान गुरुमूर्त्ति अर्द्धनारीश्वर-रूप में अपने को प्रकट करती हैं। वह शिव और शक्ति—उभयात्मक हैं। परविन्दु के क्षुब्ध होने से जो महानाद उत्पन्न होता है, उसके दो प्रवाह हैं—एक ऊर्ध्वमुख और दूसरा अधोमुख। ऊर्ध्वमुख-प्रवाह आदिनाद-स्वरूप में जाकर लय प्राप्त करता है। यह आदिनाद जगत्-सृष्टि की ओर इच्छा-शक्ति का प्रथम आत्म-प्रकाश है। और, जिसे अधःप्रवाह कहा गया, वह वीज को गर्भ में धारण करके बीज के कार्यस्वरूप नाद तक विकसित करके कुण्डली-यन्त्र के रूप में परिणत होता है। परविन्दु में क्षोभ लानेवाला काल महाकाल के नाम से प्रसिद्ध है। 'अ-क-थ' रेखावाला त्रिकोण पूरी वर्णावली का द्योतक है। इन सभी वर्णों में से प्रत्येक से ही स्वभावसिद्ध ध्वनि निकलती है। यह सूक्ष्म ध्वनि समष्टिभाव से नादरूप में परिचित है। साधक जव मानसिक जप के द्वारा इष्ट मन्त्र को सूक्ष्म रूप में वदलकर सुषुम्णा-स्थित शून्य में छोड़ देते हैं, तव वह ध्वनि नाद तक उठकर उससे मिल जाती है। वह नाद से महानाद तक बढ़ने में समर्थ नहीं होती। अवश्य विशेष परिस्थिति में ऐसा भी नहीं होता है, ऐसी बात नहीं है। लेकिन वैसे में वह नाद नाम से प्रसिद्ध नहीं होकर नादान्त नाम से प्रसिद्ध होता है। मनुष्य के हृदय में अस्फुट भाव से जो चिन्ताएँ क्रीड़ा करती रहती हैं, वह नाद का ही खेल है। ज्ञानरूप में अथवा भावरूप में या इनके सिवा और किसी वृत्तिरूप में अन्तःकरण का जो परिणाम होता है, वह नाद से व्याप्त होता है। इसलिए, वह वर्णावली के अतीत नहीं होता। परन्तु, महानाद-रूप में चैतन्य-शक्ति के जिस खेल की उपलब्धि की जाती है, वह सभी प्रकार के विकल्पों से परे है।

भर्त्तृहरि ने कहा है : "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं। विवर्त्ततेहर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥" अर्थात् अनादि और अनन्त अक्षरब्रह्म, अर्थात् शब्दब्रह्म अर्थरूप में विवर्त्तित होते हैं। उससे जगत् की प्रक्रिया आरब्ध होती है। इससे यह समझ में आता है कि सब प्रकार की जागतिक प्रक्रिया के मूल में अर्थरूप में शब्द का विवर्त्त है, यानी शब्द से अर्थ का आविर्भाव होता है और उससे जगत् का खेल निष्पन्न होता है।

दृष्टिभेद से शब्दब्रह्म की धारणा कुछ-कुछ अलग होना अवश्यम्भावी है। यहाँ हम जिस धारा के अनुसार विश्लेषण कर रहे हैं, उसके हिसाब से परबिन्दु और अपरबिन्दु की मध्य अवस्था में शब्दब्रह्म की स्थिति समझी जा सकती है। काल के द्वारा परबिन्दु का भेद होने से जो अस्फुट महानाद अभिव्यक्त होता है, वही शब्दब्रह्म है। परविन्दु क्रियाशक्ति-प्रधान है। अतः क्रियाशक्ति के उन्मेष से ही शब्दब्रह्म का स्फुरण मानना होगा। शब्दब्रह्म से सृष्टितत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, यह सत्य है, परन्तु शब्दब्रह्म या महानाद किस प्रणाली से इन तत्त्वरूपों में परिणत होता है, यह सोच देखने की बात है; क्योंकि जो सारे तत्त्व-जगत् सृष्टि के मूलभूत उपादान हैं, वे बीजशक्ति से स्फुरित होते हैं। अतएव, महानाद बीजरूप में और बीज तत्त्वरूप में क्रमशः स्फुरित होते हैं। क्रियाशक्ति के विकास का यही क्रम है। परविन्दु के फट जाने पर उससे जो दो अंश प्रकाशित होते हैं, उनमें शक्तिप्रधान अंश का नाम बीज है और शिवप्रधान अंश का नाम बिन्दु है। शिव-शक्ति के परस्पर संश्लिष्ट रहने के कारण शिव-अंश में शक्ति और शक्ति-अंश में शिव विद्यमान रहता है।

इसीलिए, ये बीज बिन्दु से नित्य जड़ित होकर प्रकाशित होते हैं। वास्तव में ये बीज वर्णसमष्टि के ही नामान्तर हैं। परन्तु फिर भी, इनकी स्थिति का तारतम्य निबन्धन-अवस्था का तारतम्य द्योतित होता है। सबसे पहले अ-क-थ आदि त्रिरेखासमन्वित त्रिकोण की तीन रेखाओं में नित्य वर्त्तमान वर्ण प्रकट होते हैं। यह त्रिरेखा वास्तव में कुण्डलिनी का ही दूसरा नाम है। यह कुण्डलिनी की कारण-अवस्था है। वर्णराशि जबतक कुण्डलिनी में रहती है, तबतक वर्ण ज्योतिकण के रूप में प्रकाशित होते हैं। यह त्रिरेखा 'वाग्भव त्रिकोण' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ब्रह्मरन्ध्र के नीचे अवस्थित है। लेकिन, चूँकि मेरुपथ के दोनों छोर पर सहस्रदल-कमल है, इसलिए एक ओर जैसे इस वर्णगर्भ त्रिकोण की सत्ता मस्तिष्क में उपलब्ध होती है, वैसे ही दूसरी ओर वह मूलाधार के पास भी उपलब्ध होती है। यही परावाणी की अवस्था है।

महानाद से एक धारा ऊर्ध्वमुख और दूसरी एक धारा अधोमुख फैली हुई है। ऊर्ध्वमुखवाली धारा जिस शक्ति के द्वारा विधृत है, उसका नाम है ऊर्ध्वशक्ति, और जो धारा अधोमुखी है, उसकी धारिका शक्ति का नाम है अधःशक्ति। जिस अ-क-थ त्रिकोण के बारे में कहा गया, वह इस अधःशक्ति के अन्तर्गत है। पर, जब वह शक्ति उतरकर आज्ञाचक्र को भेदकर नीचे की ओर प्रसारित होती है और मेरुदण्ड के बीच के शून्यपथ में संचरण करती है, तो विभिन्न चक्र और यन्त्र आदि के अवलम्बन से वह शक्ति आत्मप्रकाश करती है। जो सब वर्ण भ्रू-मध्य के ऊर्ध्वप्रदेश में परम अव्यक्त पद में विराजते हैं, वही सब शक्ति के अवतरण के साथ-साथ भ्रू-मध्य को भेदकर मेरुपथ में, षट्चक्र में फैल जाते हैं। उसके बाद सबसे नीचे जाकर फिर से पहले की तरह अव्यक्त अवस्था धारण करते हैं। षट्चक्र के विभिन्न दलों में विभिन्न प्रकार के वर्ण हैं। ये सब उस मूल त्रिरेखा के ही वर्ण हैं। सच पूछिए, तो ये सब वर्ण ठीक-ठीक वर्ण नहीं हैं। ये सूक्ष्म सृष्टितत्त्व के मूर्त्त प्रकाश हैं। महानाद या शब्दब्रह्म में जो विशाल नाद और ज्योति प्रकाशमान हैं, आंशिक रूप से वे इन वर्णों में भी प्रकाशमान हैं। अतएव, हरेक वर्ण सिर्फ वर्ण नहीं, उसमें नाद और ज्योति भी हैं। ये सब कारण, सूक्ष्म और स्थूल रूप में विन्यस्त सृष्टितत्त्व के सिवा और कुछ नहीं। त्रिरेखा में स्थित तत्त्व कारण हैं, चक्र में स्थित तत्त्व सूक्ष्म और इन्द्रियगोचर तत्त्व स्थूल हैं। कुण्डलिनी-चक्र को आश्रय किये बिना जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती। प्रकृत रूप में कुण्डलिनी-शक्ति ही भाव-विकास की जड़ है, इसलिए वही जगत्-सृष्टि का मूल उपादान है।

वर्ण का प्रथम आविर्भाव ब्रह्मरन्ध्र के नीचे अ-क-थ त्रिरेखा में होता है। यही वर्णमाला के कारण-रूप में नित्यसिद्ध स्वरूपस्थिति है। इस अवस्था में वर्ण ज्योति-कण के रूप में कुण्डलिनी में विद्यमान रहते हैं। कहना नहीं होगा, वर्ण इस अवस्था में सुषुप्त-से रहते हैं। इसके बाद सुषुम्णा-पथ से नाभिपद्म में उदित होकर वर्ण वहाँ के तेज-तत्त्व से प्रकाशित होते हैं। इस अवस्था में वाणी पश्यन्ती नाम से अभिहित होती है। यह भी ज्योतिप्रधान अवस्था है। योगी के सिवा और कोई इस अथवा इसके पहले की अवस्था का पता नहीं पा सकता। इसके बाद की अवस्था में हृत्पद्म में वर्ण का उदय होता है। इस समय वर्ण में आन्तर नाद की प्रचुरता अनुभूत होती है। इसके बाद प्राण-वृत्तियों से वर्णों का सम्बन्ध होता है। यह दशा अन्तः-संकल्प के नाम से परिचित है। इसके सिवा बहिर्मुख अवस्था में वर्ण कण्ठ आदि स्थानों में वायु के आघात से उच्चरित होकर स्थूल रूप धारण करते हैं एवं इन्द्रिय के विषय-रूप में बाहरी शब्द का आकार धारण करते हैं।

हमने पहले जिस महानाद की चर्चा की है, वह परप्रणव का दूसरा नाम है। काल के प्रभाव से परविन्दु जब विभक्त हो जाता है, तब यह महानाद उस विभाग के प्रत्येक अंश में अनुस्यूत होता है। महानाद की मुख्यतया दो वृत्ति या शक्ति देखी जाती है। उनमें एक महानाद से परनाद तक फैली हुई है और दूसरी नीचे की ओर फैली हुई है। जिस अ-क-थ त्रिकोण की बात पहले कही गई है, वह इस अधःशक्ति के अन्तर्गत है। अ-क-थ त्रिकोण में नित्य सिद्ध वर्णमाला प्रकाशमान है। इसकी भी तीन स्थितियाँ देखी जाती हैं, या चार भी कही जा सकती हैं। पहली है परा, जिसमें वर्णमाला का प्रथम आविर्भाव होता है, परन्तु वह अभिव्यक्त नहीं होती। तदनन्तर, उत्तरोत्तर अभिव्यक्त वर्णराशि का उदय होता है। सारी सृष्टि के मूल में वर्णमाला विद्यमान है। वास्तव में, यह वर्णमाला ही सृष्टि का वीजस्वरूप है। परस्पर के भेद को विगलित करके वर्ण जहाँ ऊर्ध्वगामी होते हैं, वही महानाद की ऊर्ध्वशक्ति का व्यापार है। अतएव, यह समझा जा सकता है कि महानाद ही सृष्टि का मूल कारण है। क्योंकि, महानाद से ही बीजों को आश्रय करके सृष्टि-व्यापार प्रवर्त्तित होता है। दूसरी ओर, महानाद ही मुक्ति का भी कारण है। इसलिए कि वे बीज आपस में मिलकर और आपस के भेद को छोड़कर जब ऊर्ध्वगामी अखण्ड ध्वनिरूप में परिणत होते हैं, तभी वे ऊर्ध्वगति प्राप्त करते हैं, जिसके प्रभाव से बीज विशुद्ध चिन्मय सत्ता में प्रतिष्ठित हो सकते हैं।

परविन्दु विभक्त होकर विन्दु और विसर्ग की सृष्टि करते हैं। उनमें से विन्दु एक और अभिन्न है। इसका दूसरा नाम ब्रह्मविन्दु है। विसर्ग दो विन्दु हैं, जिनमें से एक को विष्णुविन्दु और दूसरे को रुद्रविन्दु कहा जाता है। ब्रह्मविन्दु से जो रेखा निकली है और जो षोडश स्वर का आश्रयस्थल है, उसे वामा रेखा कहते हैं। उसी प्रकार विसर्ग के पहले विन्दु, अर्थात् विष्णुविन्दु से जो रेखा निकलती है, वही विष्णुरेखा है। यह ब्रह्मरेखा की नाईं सृष्टि के अनुकूल है। रुद्रविन्दु से जो रेखा बनती है, उसका नाम रुद्ररेखा है। यह सृष्टि के प्रतिकूल संहाररेखा है। विन्दु से विसर्गमण्डल तक जो प्रवाह है, वह 'हंस' प्रवाह के नाम से परिचित है। 'हं' शब्द में ब्रह्मविन्दु है, इसमें शिव-अंश प्रधान है और 'सः' शब्द में विष्णु और रुद्रविन्दु। उनमें विष्णुरेखा सृष्टि के अनुकूल और सृष्ट जीवों की रक्षा करनेवाली है। रुद्ररेखा सृष्टि के प्रतिकूल है। विन्दु से जब धारा विसर्ग की ओर चलती है, तब रुद्ररेखा तिरोहित रहती है। इस धारा का नाम 'हंस'-धारा है। ब्रह्मरेखा जब तिरोहित रहती है, तब रुद्ररेखा की प्रधानता होती है और जीव 'सोऽहं' धारा में पड़ता है। 'हं' आकाश-बीज तथा शिवमय और 'सः' प्रकृतिबीज या धराबीज तथा शक्तिमय है। विन्दु से विसर्ग तक हंसधारा महानाद की अधःशक्ति के अन्तर्गत है। उसके बाद विसर्ग से बिन्दु तक सोऽहं-धारा है।

नाद-रहस्य

[एक]

अब उपसंहार में नाद के तत्त्व की विशेष रूप से आलोचना की जा रही है। शास्त्र में आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए जो उपाय निर्दिष्ट हुए हैं, उनमें नाद-साधना या नादानुसन्धान ही उत्कृष्ट उपाय गिना जाता है। महाजनों ने मुक्तकण्ठ से नाद का गुण-कीर्त्तन किया है। प्राचीन काल में वाग्योग को मुमुक्षुओं का आश्रय-योग्य सबसे सरल राजमार्ग माना जाता था। आगे चलकर सन्तों ने 'सुरत-शब्दयोग' आख्या देकर एवं वैष्णव-सम्प्रदाय के भक्तों ने नाम-कीर्त्तन के माहात्म्य की घोषणा करके प्रकारान्तर से मन की स्थिरता-साधन के लिए तथा मूढ चित्त के बोधन के लिए नाद की परम उपयोगिता को स्वीकार किया। योग तथा तान्त्रिक साधना में मन्त्रजप में भी नाद का ही सबसे ज्यादा महत्त्व प्रकाशित हुआ है।

आत्मा निर्विकल्प, प्रकाशात्मक, स्वातन्त्र्यमय, शिवस्वरूप है—यह नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। परन्तु, जीव परम स्वरूप में शिवमय होते हुए भी पतित दशा में परस्वरूप और केवल-चित्-रूप अपर स्वरूप—दोनों को ही भूले हुए हैं। इतना ही नहीं, वह अनात्म वस्तु को आत्मा समझकर उसमें अहं-भाव का आरोप कर रहा है और उसी के अनुसार कर्म करके दुःख-सुख-रूप उसके फल का भोग करता है। यही उसका मायाधीन सांसारिक जीवन है।

अशुद्ध विकल्प के शोधन के विना आत्मा अपने स्वरूप में स्थिति-लाभ नहीं कर सकती और उसका स्वाभाविक ऐश्वर्य भी नहीं निखरता। पर, अशुद्ध विकल्प-युक्त इस आत्मा की स्थिति सबके लिए एक प्रकार की नहीं है। ऐसी भी आत्माएँ हैं, जो विकल्पयुक्त होते हुए भी अत्यन्त ऊँचा अधिकार पाये हुए हैं। इन्हें नियमों का सहारा लेकर किसी खास साधन-पद्धति का अनुसरण नहीं करना पड़ता—ये मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्चा–किसी नियन्त्रण के अधीन नहीं। ये भगवान् के बहुत ही तीव्र अनुग्रह पाये हुए महापुरुष हैं। आत्मस्वरूप में समावेश के लिए इन्हें किसी उपाय की अपेक्षा नहीं। यथासमय इनमें अपने अन्दर से ही विवेकज्ञान उत्पन्न होने के कारण ये समझ सकते हैं कि स्वप्रकाश शिवरूपी आत्मा को प्रकाशित करने का सामर्थ्य किसी भी साधन या उपाय में नहीं है। ऐसे विवेक के उत्पन्न होने के कारण ये एक ही क्षण में क्रमरहित रूप से शिव का आवेश प्राप्त करते हैं। इनके विवेचन-प्रकार बहुत कुछ इस तरह के हैं—एक ही चिदात्मक अपरिच्छिन्न तत्त्व है; देश,

काल, उपाधि, आकार, शब्द और प्रमाण उसे जरा भी नहीं छू सकते। अन्य-निरपेक्ष होने के नाते यह तत्त्व स्वतन्त्र और आनन्दघन है। केवल इतना ही नहीं, ये अन्दर से ही यह अनुभव कर सकते हैं, यही तत्त्व ही इनका अपना स्वरूप है। ये सभी 'मैं' रूप में इस तत्त्व की उपलब्धि करते हैं और यह देख पाते हैं कि समग्र विश्व इस 'मैं' में प्रतिबिम्ब की भाँति भासमान है।

इन पुरुषों से कुछ निम्न स्तर में ऐसी आत्माएँ हैं, जो पूर्वोक्त आत्मवर्ग की भाँति अखण्ड मण्डलरूप महाप्रकाश में स्वयं अवश्य ही प्रवेश नहीं कर पाती हैं, किन्तु आत्मस्वरूप से अभिन्न स्वातन्त्र्यशक्ति को उपाय के रूप में लेकर विना आयास के उसमें प्रवेश कर जाती हैं, दूसरे किसी उपाय का सहारा लेना आवश्यक नहीं होता। ये भी विधि-निषेध से परे तथा मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्या आदि के नियन्त्रण से मुक्त हैं। यहाँ जिस स्वातन्त्र्य-शक्ति की वात कही गई, वही दर्पण के समान बोध के आकाश में प्रतिविम्वात्मक भावों को निखारती है। भाव-समूह प्रकाश से अलग भासमान नहीं हो सकता। इसलिए स्वरूपतः सभी भाव प्रतिविम्वात्मक हैं। परमेश्वर को जो विश्वरूप कहा जाता है, उसका कारण यही है—वह चूँकि अजड या चिदात्मक हैं, इसलिए अपने स्वरूप का आमर्शन उनमें सदा ही रहता है। जैसे अपना मुँह आप देखना—यह भी वहुत कुछ वैसा ही है। यही स्वयंप्रकाश तत्त्व की महिमा है। इस आमर्शन का जो मूल है, उसी का नाम परनाद है। आगमशास्त्र में इसका स्वरूप 'परावाक'-रूप में कीर्त्तित हुआ है। स्वर-रूपी परामर्श वीज हैं और उनसे निकले व्यंजनरूपी परामर्श योनि हैं। ये परामर्श ही शक्ति का अपना स्वरूप हैं। ये मायिक भूमि में और मायातीत विद्या के स्तर में काम करते हैं। विशुद्ध शिवमय आत्मस्वरूप में ये समष्टि-रूप से 'पूर्ण-अहन्ता' रूप ग्रहण करके परा-वाणी रूप में रहते हैं, पर विशुद्ध विद्या के स्तर में इनमें माया के उन्मेष-मात्र के कारण कुछ संकोच आता है। यहाँ मन्त्र और मन्त्र-अधिष्ठाता गुरु का स्वरूप प्रतिष्ठित होता है। परन्तु, मायिक भूमि में ये सारे परामर्श मायिक वर्ण का रूप लेकर आत्मप्रकाश करते हैं। ऐसे में भेद और विभाग—दोनों ही परिस्फुट होकर प्रकाशित होते हैं। ये सब वर्ण पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी दशा में व्यवहार के योग्य होते हैं और धीरे-धीरे बाहरी रूप में प्रकट होकर तत्त्व-रूप में निखर आते हैं। ये सारे मायीय वर्ण जीवनीशक्ति-शून्य शव जैसे हैं—इनका अपना कोई सामर्थ्य नहीं, पर पूर्वोक्त परामर्शों के उज्जीवित करने से ये कार्य में सक्षम होते हैं। वैसे में ये वर्ण वीर्य-सम्पन्न होकर भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं। जो पुरुष अपनी आत्मा के साक्षात्कार के समय यह देख पाते हैं कि वही सभी परामर्श अथवा शक्ति का एकमात्र विश्रान्ति-स्थल है, उसी में सारे तत्त्व तथा भुवन आदि प्रतिबिम्बित हैं, वह विना

परिश्रम के निर्विकल्प भगवत्-स्वरूप में समावेश पा जाता है, इसके लिए दूसरी किसी साधना की जरूरत नहीं होती। यहाँ तक कि विकल्प-संस्कार के लिए भावना भी आवश्यक नहीं होती।

जो आत्माएँ और भी निम्न स्तर में हैं, उनका अधिकार और भी संकुचित है। पहले के स्तर में, विकल्प के संस्कार में क्रम नहीं रहता—वह एक ही क्षण में सम्पन्न होता है, लेकिन निम्न स्तर में क्रम रहता है और उसका नाम भावना है। किन्तु भावना के पहले सत्-तर्क, सद्-आगम, सद्गुरु के उपदेश की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में शुद्ध विकल्प द्वारा अशुद्ध विकल्प का संस्कार करना होता है। अनादि-काल से प्रत्येक जीव-हृदय में 'मैं बद्ध हूँ'—यह जो एक धारणा निरूढ रहती है, वही अशुद्ध विकल्प है—उसी से संसार उत्पन्न होता है।

भगवान् की अनुग्रह-शक्ति तीव्र मात्रा में संचारित होने से सद्-आगम आदि क्रम का सहारा लेने से विकल्प शोधित होता है और परतत्त्व में प्रवेश होता है। परतत्त्व शुद्ध विकल्प का भी विषय नहीं है। शुद्ध विकल्प के द्वारा अशुद्ध द्वैतवासना निवृत्त होती है, परतत्त्व के प्रकाशन में इसकी कोई कारणता नहीं है। सर्वत्र सर्वरूप होने से परतत्त्व स्वप्रकाश है, उसपर विकल्प का किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। वहुत अधिक शक्तिपात होने से अपने-आप हृदय के भीतर सत्तर्क का उदय होता है। साधारणतः इसे 'दैवी दीक्षा' कहा गया है। शक्तिपात की मात्रा अपेक्षाकृत कम होने से सत्तर्क का उदय साक्षात् रूप में जरूर नहीं होता है, पर आगम के सहारे होता है। जो आगम का निरूपण करते हैं, वह गुरु हैं। आगम शंकाहीन सजातीय विकल्पात्मक है, उससे समुचित विकल्प उत्पन्न होता है। ये विकल्प विशुद्ध विकल्प हैं, इनका अविच्छिन्न प्रवाह ही सत्तर्क का स्वरूप है। प्रचलित भाषा में जिसे भावना कहा जाता है, वह सत्तर्क की ही धारा-मात्र है। जो भूतार्थ अस्फुट होने के कारण अभूतवत् विद्यमान रहता है, वह भी इसके द्वारा परिस्फुट होता है। यही वास्तव में शुद्ध विद्या का प्रकाश और योग का एकमात्र अंग है। यही साक्षात् योगांग है—दूसरे योगांग कमोवेश परिमाण में व्यवधान-विशिष्ट हैं।

परन्तु, जिन साधकों की आधारगत योग्यता और भी कम है, उनके मलिन विकल्प के शोधन के लिए शुद्ध विकल्प पर्याप्त नहीं। उसकी सहायता के लिए जीव-सत्ता की ओर से किसी-न-किसी उपाय का सहारा लेना जरूरी है। इन्हीं उपायों को जीवन में साधारणतया साधन कहा जाता है। ये साधन विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। उनमें से तीन प्रधान हैं:

१. ध्यानात्मक—यह बुद्धि का काम है। बुद्धि का असाधारण धर्म अनुसन्धान है।

२. स्थूल में उच्चारणात्मक और सूक्ष्म में वर्णात्मक। यह प्राण का कार्य है। यही प्राण का असाधारण धर्म है।

३. कारण, मुद्रा आदि क्रियात्मक। यह देह, इन्द्रिय आदि का व्यापार है। इन्द्रिय, विषय, प्राण आदि का पिण्डरूप में एकीभाव से संस्थान ही देह का विशिष्ट धर्म है।

जो उपाय देह से भी वाह्य है, वह वहुत ही स्थूल उपाय है। यहाँ उसकी चर्चा नहीं की जा रही है।

बुद्धि के स्तर में जो अभिमान-सम्पन्न हैं, उनके लिए ध्यान ही श्रेष्ठ उपाय है। जो प्राणमय भूमि में अधिष्ठित हैं, उनके लिए उच्चारण ही प्रधान उपाय है। जिस साधक का देहात्म-भाव वहुत प्रवल है, उनके लिए करण, मुद्रा, आसन आदि उपाय विकल्प उपशम के लिए समधिक उपयोगी हैं। लेकिन, इन सवके पृष्ठदेश में शून्यभूमि में साधना का कोई उपयोग सम्भव नहीं।

इसे और भी स्पष्ट करके कहें—यह विश्व प्रमातृ-प्रमेयात्मक है। यह आत्मा के साथ अभिन्न होकर अवस्थित है, इसलिए सारे वैचित्र्यों के वावजूद वास्तव में प्रकाशात्मक है। शुद्ध संवित्-स्वरूप आत्मा पूर्ण होते हुए भी लीला के छल से अपने में अपूर्णत्व अवभासन करने की इच्छा करके अपने से अविभक्त समग्र विश्व को अपने से विभक्तवत् करती हैं। और, अपने को तव विश्वोत्तीर्ण रूप में आमर्शन करके विविक्त आकाश का रूप धारण करती हैं यानी सभी प्रकार के भावों से मुक्त होकर अनावृत रूप में स्फुरित होती हैं। यही चैतन्य की शून्यरूपता है। जो प्रमाता इस दशा के अधिष्ठाता हैं, उन्हीं को शून्यप्रमाता कहते हैं। याद रखना होगा कि यह शून्य वास्तव में शून्य नहीं है, यह अभाव का ही नामान्तर है। अर्थात् सभी अवलम्बन-धर्म, सत्त्ववर्ग और क्लेश नहीं रहने से उस अभाव को ही शून्य गिना जाता है। इस अवस्था में भावात्मक अनुभूति नहीं होती।

कुछ वहिर्मुख होने से ही शून्यप्रमाता प्राणप्रमाता के रूप में परिणत होता है। अपने को अपूर्ण मानने के कारण शून्यप्रमाता के हृदय में आकांक्षा जगती है और इस आकांक्षा के विषय को ग्रहण करने के लिए वह अपनी सत्ता से पृथक् किये आन्तर और वाह्य पदार्थ की ओर आकृष्ट होता है, यानी उसमें वहिर्मुख भाव आता है। इस समय वह प्राणप्रमाता के नाम से अभिहित होता है।

प्राण क्या है? किञ्चित् चलन और स्पन्दन का प्रथम प्रसर। संवित् या चैतन्य-शक्ति शून्यता को खिलाकर उसके बाद प्राणरूप धारण करती है। सच तो यह कि बुद्धि के आविर्भाव के पहले ही प्राण का उल्लास होता है; क्योंकि अन्तःकरण तत्त्व की सारभूत बुद्धि प्राण का सहारा लेकर ही प्रकट होने में समर्थ होती है। जीव की अपनी अधिष्ठित भूमि के तारतम्य के अनुसार उसके साधन के प्रकार का तारतम्य होता है। निम्न स्तर की आत्मा में जीवभाव प्रवल होने के कारण जीव की आधारनिष्ठ विचित्रता के अनुसार उसके साधन की विशिष्टता स्वाभाविक है।

अतएव, प्राणभूमि में उच्चार, बुद्धिभूमि में ध्यान तथा देहभूमि में करण आदि उपाय के रूप में गिने जाते हैं। इनमें से उच्चार आदि सबसे अन्तरंग उपाय हैं; ध्यान आदि को उसकी तुलना में वहिरंग समझना चाहिए। प्राण आदि जड तथा अपारमार्थिक होते हुए भी उनके उच्चार आदि पारमार्थिक स्वरूप प्राप्त करने में सहायक होने में वाधा नहीं है। इसका एकमात्र कारण यह है कि प्राण आदि प्रमाता में अहन्ता है, इसलिए ज्ञातृत्व और कर्त्तृत्वरूप परम ऐश्वर्य विकल्परूप में उपस्थित हो सकता है। क्योंकि विभिन्न प्रकार के अवच्छेद में से परिस्फुटरूप में अवधारण सम्भव है। फलस्वरूप तद्गत उच्चार या ध्यान पारमार्थिक स्वरूप-प्राप्ति का निमित्त हो सकता है। शून्य प्रमाता में भी अवश्य उस प्रकार का ऐश्वर्य सम्भव है, परन्तु प्राण आदि प्रमाता में जैसा नियत अवच्छेद है, शून्य प्रमाता में वैसा कोई अवच्छेद नहीं। इसलिए वह विकल्पित नहीं हो सकता और इसीलिए परमार्थ के प्रकाश का निमित्त भी नहीं हो सकता।

प्रश्न हो सकता है—प्राण आदि जड होने के वावजूद अगर उनका व्यापार पारमार्थिक स्वरूप-प्राप्ति का निमित्त हो सकता है, तव घट-पट आदि वाह्य जड पदार्थ का व्यापार भी वैसा निमित्त क्यों नहीं हो सकता? इसका उत्तर यह है कि प्राण आदि जंड और चित् दोनों ही धर्म-विशिष्ट हैं। मायिक सृष्टि-विकास के समय परमेश्वर स्वेच्छा से वाहर अवभासित भावों में प्राणादि किसी-किसी जड-पदार्थ में स्व-गत अहन्तात्मक कर्त्तृत्व अभिषिक्त करके उसकी ग्राहक-रूप में रचना करते हैं, परन्तु घट-पटादि जड पदार्थ को इदन्ता का विषयीभूत करके चित्-रूपता का लंघन करके ग्राह्य रूप में प्रकट करते हैं। इसीलिए प्राण आदि जड होते हुए भी एक हिसाव से परमेश्वर के स्वातन्त्र्यवश चित् हैं। जीव जव चित्-रूप जड, प्राण आदि के जडात्मक भाव को आच्छादित करके अर्थात् उसमें अहन्ता अभिमान अभिभूत करके स्वातन्त्र्य के उल्लास से चित्-रूप आकार में पारमार्थिक स्वरूप में, अर्थात् अकृत्रिम पूर्णाहन्ता के आस्पदरूप में अपने को अनुभव करता है, तव वह जीव, जीव नहीं रह जाता—वह अद्वय होता है, संवित्-मात्र रूप में स्फुरित होता है।

[दो]

नाद-तत्त्व को समझना हो तो हमें पूर्ववर्णित त्रिविध साधन में प्राणगत उच्चार के रहस्य को ठीक से समझना होगा। प्राण का स्वाभाविक धर्म ही उच्चार है। इसकी दो प्रकार की वृत्ति है—एक, सामान्य या स्पन्दात्मक तथा भेदहीन और दूसरी विशिष्ट जो प्राण आदि भेद से पाँच प्रकार की है। सामान्य वृत्ति विशिष्ट वृत्तियों की नींव है। यह देह को आत्मसात् किये हुए है, इसलिए अचेतन होते हुए भी देह चेतन-सी प्रतीत होती है।

इस प्राणात्मक उच्चार से एक अव्यक्त ध्वनि निरन्तर स्फुरित होती है। इसे अनाहत नाद कहते हैं। यह प्राणिमात्र के हृदय में स्वाभाविक रूप से सदा ही चलता है—इसका कोई कर्त्ता नहीं और कोई प्रतिरोधक भी नहीं। अविभक्त रूप में सारे ही वर्ण इसमें मौजूद हैं—यही वर्णों की उत्पत्ति का निमित्त है। इसीलिए यह भी वर्णपदवाच्य है।

अनाहत नाद का मुख्य अभिव्यक्ति-स्थान दो वीज हैं—एक सृष्टि-बीज 'स'कार और दूसरा संहार-वीज 'ह'कार। इन्हीं दो वीजों को आश्रय करके नाद अभिव्यक्त होता है। योगियों को पता है कि प्राण के आदिमूल का अनुसन्धान करने से चिदाकाश का प्रथम स्पन्दन ही दृष्टि में पड़ता है। चिदाकाश का स्पन्दन भी वास्तव में स्वतः सिद्ध नहीं है—यह परम पुरुष और परमा प्रकृति की योगावस्था से उद्भूत होता है। विन्दुयुक्त 'ह'कार (हं) परम पुरुष और विसर्गयुक्त 'स'कार (सः) परमा प्रकृति का वाचक है। दोनों की युक्तावस्था ही आदिहंस का रूप है, जिसे निस्पन्द और स्पन्द-तत्त्व का सन्धिस्थान माना जा सकता है। इस आदि प्राण को ही संवित् का प्रथम परिणाम कहते हैं—यही सृष्टि के सारे तत्त्वों की धारिका शक्ति है। हमारे शरीर में श्वास-प्रश्वास का खेल इस हंसरूपी प्राण का ही व्यापार है। 'हं'कार में वहिर्मुख या अनन्त की ओर गति होती है और 'सः'-कार से अन्तःप्रवेश या देह में लौटना सूचित होता है। इस गतागति का नियामक आपाततः त्रिगुणस्थ ईश्वर मूल में कुलाकुल में अवस्थित परमहंस है। यही अजपा मन्त्र है, जिसका जप हर आदमी रात-दिन में २१,६०० वार करता है।

[तीन]

सृष्टि-क्रम में शब्द की गति परावाक् से वैखरी वाक् की ओर होती है। पर साधन-क्रम में संहार या प्रत्याहार की धारा अवलम्बित होती है। तब शब्द की गति क्रम से वैखरी से मध्यमा और पश्यन्ती होते हुए परावाक् की ओर होती है। वाक्-इन्द्रिय से जो शब्द का उच्चारण होता है और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जो सुना

जाता है, वह शब्द की वैखरी अवस्था है। यही शब्द का स्थूल रूप है। जप और कीर्त्तन आदि में वैखरी वाक् को आश्रय करके ही साधन-कार्य होता है। इस काम के मूल में कर्त्ता की इच्छा और कर्त्तृत्व का अभिमान मौजूद रहता है। दूसरे-दूसरे कर्म जैसे संकल्पमूलक होते हैं, यह भी वैसा ही है। पर गुरु का दिया मन्त्र और भगवान् का नाम निष्ठा से जपते-जपते धीरे-धीरे ऐसी एक अवस्था आती है, जब कोशिश करके उच्चारण की जरूरत नहीं पड़ती। मन्त्र या नाम उस समय अपने-आप कण्ठ से स्फुरित होता रहता है या कण्ठ के रुद्ध हो जाने से हृदय से चलता रहता है। फलस्वरूप स्थूलरूप से उच्चारण का सामर्थ्य भी उस समय नहीं रह जाता, मगर भीतर से स्वतः स्फूर्त्त रूप में उच्चारण होता रहता है—यह साफ सुनने में आता है। इस अवस्था को साधकगण साधारणतः जप करना या नाम लेना नहीं कहते, यह जप और नाम के अपने-आप होने की अवस्था है। क्योंकि यह किसी की इच्छा या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती। साधक सिर्फ अवहित चित्त से भीतर के नाम के इस खेल से आनन्द प्राप्त करते हैं।

देखा जाता है कि सद्गुरु का दिया हुआ नाम चैतन्य-सम्पन्न होने के नाते साधक का हृदय परिष्कृत होने से अपने-आप चलता रहता है। उसे चेष्टा करके चलाना नहीं पड़ता है, एकाग्रभाव से सिर्फ उसे सुनना पड़ता है। साधक के बहुत दिनों के अभ्यास से, खास करके श्रद्धा-भक्ति के प्रभाव से साधारण तौर से होनेवाला जप भी वैसी अवस्था में बदल जाता है। यही मन्त्र चैतन्य का पूर्वाभास है। इस अवस्था के आने से स्वभाव की धारा उन्मुक्त होने के कारण पुरुषकार की आवश्यकता क्रमशः कम हो जाती है। तत्त्व-विश्लेषण से समझ में आता है कि मनुष्य जिस परिमाण में कर्तृत्व के अभिमान से आवद्ध है और पूर्व-संसकार तथा फल की आकांक्षा से संकुचित है, ठीक उसी परिमाण में उसके प्राण की क्रिया भी चैतन्य की गति से वंचित होती है। उस समय उसका प्राण वक्र गतिवाला होता है, इसलिए इडा और पिंगला नाड़ी का अवलम्बन करके क्रिया करता है। विधिपूर्वक साधन होने से प्राण और अपान का विरुद्ध प्रवाह क्रमशः साम्य प्राप्त करता है तथा वह सम-शक्ति सुप्त कुण्डलिनी के जागरण से मध्य नाड़ी सुषुम्णा में प्रवेश करके सरल गति से ऊपर की ओर संचालित होती रहती है। ऊपर की ओर यह चलन या चरण ही 'उच्चरण' के नाम से अभिहित होता है। प्राण के साथ मन भी क्रमशः सूक्ष्म और निर्मल होकर ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है। कुण्डलिनी के प्रबोधन से प्राण और मन एक साथ ही संस्कार-लाभ करते हैं। इसका दूसरा नाम कुण्डलिनी शब्द-मातृका, बिन्दु या विशुद्ध सत्त्व है। मन और वायु के ऊर्ध्वमुख-संचार के साथ-ही-साथ यह भी क्षुब्ध होकर नादरूप धारण करके ऊपर की ओर बहता रहता है।

नाद का अधिष्ठान है सुषुम्णा। यह अधःशक्ति से उठकर—मूलाधार से जग उठकर—प्राणात्मिका ऊर्ध्वशक्ति द्वारा समग्र जगत् और तत्तत् भूमि के अधिष्ठातृरूप कारणवर्ग को भेदकर उस सुषुम्ना नाड़ी के ही ऊपरी भाग में निकलता है और ब्रह्मरन्ध्र में विश्रान्त होकर सर्वभूत में चैतन्य रूप में प्रकट होता है। नादान्त स्थान वास्तव में ब्रह्मरन्ध्र से कुछ ऊपर है—नाद वहीं लीन होकर सभी प्राणियों के हृदय में स्फुरित होता है। यह नाद अव्यक्त ध्वनि या अचल अक्षर-मात्र है।

वास्तविक अनाहत नाद के अभिव्यक्त होने से पहले इडा-पिंगला की क्रिया मन्द होने के साथ-साथ नाना प्रकार का, सुनने में मधुर स्थूल नाद सुनाई पड़ता है। मन, प्राण और कुण्डलिनी के सम्मिलित रूप से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर नाड़ी-मार्ग से संचरण करने के फलस्वरूप वह सब आनन्द देनेवाली ध्वनि सुनाई पड़ती है। वह सब विभिन्न स्तरों से उदित होती हैं और उनकी संख्या वास्तव में अनगिनत होने पर भी मामूली तौर पर वे नौ श्रेणियों में विभक्त हैं। गुरु का उपदेश यह है कि यद्यपि उन ध्वनियों में कुछ अनाहत प्रापक हैं, फिर भी वास्तव में वे अनाहत नहीं हैं। इसलिए उन्हें छोड़कर जो वास्तव में अनाहत ध्वनि या परम नाद है, उसी को ग्रहण करना चाहिए। इसके विपरीत ऐसा भी हो सकता है कि उन मधुर ध्वनियों को सुनते-सुनते अचानक गुरु की कृपा से अनाहत नाद कानों में आ जाय। वैसे में फिर वे अवान्तर ध्वनियाँ नहीं सुनाई पड़तीं; क्योंकि उस समय मन अनाहत में लीन होता है। इसके साथ ही विशुद्ध चैतन्य का प्रकाश-द्वार खुल जाता है।

परन्तु, इसमें भी क्रम है। अविच्छिन्न नाद का उदय मध्यमा वाक् के आविर्भाव को सूचित करता है। वैखरी वाक् में साधक की अभिमान-मूलक कण्ठ-क्रिया रहती है, परन्तु मध्यमा के उदय से बहुत बार कण्ठ रुँध जाता है या रोध होना शुरू हो जाता है। एक ओर जैसे कण्ठ-द्वार रुद्ध होता है, दूसरी ओर वैसे ही मध्य नाड़ी का अधोद्वार क्रमशः अधिक खुलने लग जाता है और क्रमशः अधिक मात्रा में प्राण, मन तथा कुण्डलिनी सूक्ष्म रूप होकर मध्यमार्ग में प्रवेश करते हैं। दृष्टि की अन्तर्मुखता क्रमशः बढ़ती जाती है। परिणाम-स्वरूप, अविद्या से ढँका हृदयाकाश निर्मल होने के साथ-ही-साथ आलोकित हो उठता है। वासना की कालिमा या कुहासा चित्त से हट जाता है। अन्तर के आकाश के स्वच्छ हो जाने के साथ-साथ हृदय-सरोवर का भाव-कमल खिलकर ऊर्ध्वमुख हो जाता है। अनाहत के सूचक सब अवान्तर नाद भी नाड़ी-शोधन, भूत-शोधन और चित्त-शोधन का कार्य करते हैं। परन्तु, इस अवस्था में भी साधारणतः स्थिर भाव से ज्योति का दर्शन नहीं होता, परन्तु तमोहारी ज्योति का काम निर्बाध चलता रहता है। तम के दूर होने के साथ-साथ वे अवान्तर ध्वनियाँ क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होती रहती हैं। फिर एक ऐसी स्थिति आती है, जब

निर्मल वाह्य आकाश में सूर्यमण्डल के उदय की नाईं विशुद्ध अन्तर-आकाश में ज्योति का मण्डल स्पष्ट रूप से तैरने लगता है। यह व्यापार क्रमिक हो सकता है या क्रमहीन एक क्षण में भी हो सकता है। यह मध्यमा पार करके वाक् की पश्यन्ती-अवस्था के संचार का लक्षण है। पूर्ण पश्यन्ती अवस्था के आने से पूर्वोक्त नाद-ध्वनियों के रहते हुए भी जैसे वह नहीं रहतीं यानी तब वे सुनाई नहीं पड़तीं; क्योंकि उस समय मन उपरम प्राप्त करता है। यही मन्त्रात्मक इष्ट देवता के साक्षात्कार की अवस्था है, यही षोडश कलाविशिष्ट आत्मा की षोडशी या अमृत कला की अभिव्यक्ति की सूचना है। इस अवस्था में आत्मा का अधिकार जाता रहता है; क्योंकि भोग और अपवर्ग—ये दो पुरुषार्थ तब पूरे हो चुके होते हैं। यह जानना चाहिए कि त्रयीवाक् का यहीं उपशम होता है। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति जैसे चरम में अस्मिता में उत्कर्ष-लाभ करती है, वैसे ही यह ज्योति-दर्शन भी क्रमशः अपनी सत्ता के साक्षात्कार में पर्यवसित होता है। वैखरी में शब्द और अर्थ में परस्पर भेद रहता है; मध्यमा में दोनों में भेद भी रहता है और उसके साथ-साथ अभेद भी रहता है, परन्तु पश्यन्ती में भेद बिलकुल नहीं रहता। उस समय सिर्फ अभेद ही रहता है यानी पश्यन्ती-अवस्था में शब्द और अर्थ अभिन्न होते हैं—इसी का नाम है मन्त्र-साक्षात्कार। इसके बाद सभी विकल्पों का उपशम हो जाने पर जब पूर्ण अहन्ता का विकास होता है, तभी समझना चाहिए कि परावाक् प्रकट हुआ। यह परावाक् ही परमेश्वर की परमशक्ति है और यह उनसे अभिन्न है। इसका स्वरूप नित्य उदित है और इसीलिए इसी स्थान में जीव अपने शिवभाव को फिर से प्राप्त करता है। पश्यन्ती में अखण्ड ज्योतिर्मण्डल का दर्शन होता है—चिदाकाश में इस ज्योतिर्मण्डल को भेद सकने से स्वयंप्रकाश अपने स्वरूप में निखर आता है। तब आकाश नहीं रह जाता, बल्कि चिदाकाश भी नहीं रहता, अपने में ही अपना स्वरूप फूट उठता है। इसीलिए, उपनिषद् ने कहा है—**'स्वे महिम्नि'**। **'ज्योतिरभ्यन्तरे रूपम् चिन्तय श्यामसुन्दरम्'**—इसी को कहते हैं, ज्योति के भेद द्वारा स्वरूप की प्राप्ति। पश्यन्ती की जो पृष्ठभूमि है, वही परा है। दृष्टि की विलक्षणतावश उस परा को विशुद्ध आत्मस्वरूप की शक्ति के रूप में जैसे कोई-कोई समझते हैं, वैसे ही कोई-कोई उसके भेद करने को ही मानव-जीवन की चरम सार्थकता मानते हैं। इस दूसरे मत से परावाक् ही शब्दब्रह्म-रूप सूर्यमण्डल है और इसको भेदकर आत्मस्वरूप में स्थित होना ही महाज्ञान का वास्तविक फल है।

चित्शक्ति आत्मस्वरूप की अन्तरंग शक्ति है। आनन्द-शक्ति भी वही है। परन्तु, ऐसी एक स्थिति है, जहाँ चित्शक्ति आत्मस्वरूप में समरस भाव में विराज करती है, इसलिए उसका प्राधान्य लक्षित नहीं होता। किन्तु, सृष्टि से पहले यह

चित्शक्ति क्रियात्मक रूप धारण करती है यानी चित्स्वरूप में अक्षुण्ण साम्य रहते हुए भी चित्शक्ति मानों उद्रिक्त होकर महामाया को क्षुब्ध करती है। महामाया कुण्डलिनी या विन्दुरूप में विश्व के मूल उपादान-स्वरूप अव्यक्त है। वह है या नहीं, इसका कोई निदर्शन नहीं है; क्योंकि वह अव्यक्त है। परन्तु, परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-रूप चित्शक्ति के क्रियारूप में प्रवलता अपनाने पर विन्दु क्षुब्ध होता है। तब उस क्षुब्ध विन्दु से नाद और ज्योति का स्फुरण होता है। वास्तव में, नाद और ज्योति चूँकि नित्य हैं, इसलिए एक हिसाव से विन्दु-क्षोभ के पहले से ही विद्यमान रहते हैं। उस समय की वह ज्योति परम प्रकाश-रूप में और नाद परनाद-रूप में कहीं-कहीं वर्णित हुआ है। विश्व की दृष्टि के अनुसार उस परिस्थिति में नाद या ज्योति, कुछ की भी कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि वह अव्यक्त पद है। परन्तु, चित्शक्ति के क्रियात्मक होने के साथ-साथ नाद और ज्योति समसूत्र-रूप से सृष्टि के मूल से ही क्रमशः अधिकतर वहिर्मुख प्रकट होती रहती है। इसलिए, चित्शक्ति की जो दिशा परविन्दु की ओर है, उसे नादमय कहा जा सकता है और जो चित्स्वरूप परमेश्वराभिमुख है, उसे नादातीत कहा जा सकता है। चित्शक्ति में वस्तुतः ऐसा विभाग नहीं है और हो भी नहीं सकता है। यानी, शक्ति की वहिर्मुख अवस्था को ही नाद और ज्योति स्वीकार करना पड़ता है, किन्तु अन्तर्मुख अवस्था में विन्दु अक्षुण्ण रहता है या क्रियाशक्ति का उन्मेष नहीं होता, इसलिए सभी एक परम अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं। वैसे में नाद नहीं, विन्दु नहीं और शिवशक्ति भी जैसे नहीं है, पर सभी एक अव्यक्त महासत्ता के रूप में हैं।

इसीलिए, प्राचीन आगम में किन्हीं-किन्हीं ने परविन्दु और परनाद में अभेद की कल्पना की है और किन्हीं-किन्हीं ने भेद की। द्वैतदृष्टि से परविन्दु से परनाद भिन्न है—यह नाद सृष्टि के हृदय में निहित वीजरूप नाद नहीं है; क्योंकि वह विन्दु से आविर्भूत होता है। पर यह विन्दु के अतीत है। इसे किसी तत्त्व में नहीं रखा जा सकता और रखना हो, तो विश्वातीत शक्ति में अन्तर्भूत किया जा सकता है। ऐसे में परनाद और विशुद्ध संवित् या चित् सत्ता एक प्रकार से अभिन्न है। अद्वैत दृष्टि से परावाक् आत्मा की स्वरूप-शक्ति एवं स्वरूप से अनतिरिक्त है, इसलिए चित्रूप है। पराशक्ति और परावाक् अभिन्न हैं—इसीलिए इस शक्ति को बोध की नित्यसिद्ध वाक्-रूप शक्ति कहा गया है, जिसके अभाव में प्रकाश प्रकाशमान होते हुए भी स्वयंप्रकाश पदवाच्य नहीं हो सकता। यह परावाक् ही आत्मा की अपनी विमर्शरूपा स्वरूपानुवन्धी शक्ति है।

विन्दु के क्षुब्ध होने पर जिस नाद और ज्योति के प्रकट होने की बात कही गई, वही सृष्टि का मूल है। लेकिन, यह स्मरण रखना होगा कि सृष्टि के

मूल में सर्वत्र दो व्यापार विद्यमान हैं। एक के मूल में एकमात्र स्वभाव ही कार्य करता है, पुरुष की इच्छा या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती—केवल सान्निध्य ही काफी है। लेकिन, दूसरे व्यापार में इच्छाशक्ति या वैसी ही कोई शक्ति होती है। पहले व्यापार के नहीं रहने से दूसरे की कोई सम्भावना नहीं रहती। वायुमण्डल में वायु निरन्तर संचरण कर रही है। सूर्य आदि ज्योतिष्कमण्डल से निरन्तर किरणें छिटक रही हैं। इसी प्रकार, स्वभाव की शक्ति स्वभाववश अपने कार्य-साधन में तत्पर है। यह नित्य एवं अपने-आप स्फूर्त्तिशील है। परन्तु, इस क्रियाशक्ति को किसी कार्य-साधन में लगाने के लिए, इसे नियन्त्रित करने के लिए, इच्छाशक्ति की आवश्यकता होती है। इच्छाशक्ति के प्रभाव तथा निर्देश से स्वभाव की वह शक्ति जैसी इच्छा वैसा आकार धारण करती है। इच्छा की प्रेरणा के विना वह कोई काम ही नहीं कर सकती। मगर यह तय है कि शक्ति का स्पन्दन होता रहता है। सांख्य में सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम की चर्चा है। सदृश परिणाम से सृष्टि आदि कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उस समय गुण की विषमता नहीं होती, प्रकृति में साम्यभाव का खेल चलता रहता है। परन्तु, इच्छा के संसर्ग से अथवा भोग के निमित्त कर्म-बीज की परिपक्वता के फलस्वरूप अर्थसृष्टि-सम्पादन के लिए धर्म-परिणाम साधक तत्त्वान्तर-परिणाम की जगह गुणगत विषमता अपने-आप फूट उठती है। यह विसदृश परिणाम है। स्वरूप-परिणाम अपने-आप होता है, किन्तु धर्म-परिणाम के मूल में इच्छा या कर्म मौजूद रहता है और तत्त्वान्तर परिणाम में वही विप्रकृष्ट रूप में रहता है। तान्त्रिक योगी के सृष्टिक्षेत्र में भी ऐसा दृष्टान्त देखने में आता है। सृष्टि की ओर कला का प्रसार अपने-आप होता है, पर तत्त्व का प्रसार ठीक उस प्रकार का नहीं होता। उसके बाद तत्त्व से भुवन का आविर्भाव एक प्रकार से अर्थ-सृष्टि के अन्तर्गत है, इसलिए स्फुटभाव से ही प्रयोजन की अपेक्षा रखता है। इसलिए, भुवन-सृष्टि के पीछे इच्छा, कर्म या अधिकार रहेगा ही।

[चार]

यहाँ भी नाद के सम्बन्ध में इस रहस्य को याद रखना होगा। प्राण के चलन से वर्ण आदि का उदय होता है। प्राण का चलन दो प्रकार का है—एक, स्पन्दात्मक और स्वाभाविक, दूसरा क्रियात्मक और प्रयत्नजनित। जो चलन स्पन्दन-रूप स्वाभाविक है, उससे स्वभावतः ही वर्ण का उदय होता है। वर्ण के उदय में किसी की इच्छा या प्रयत्न आवश्यक नहीं होता,—वर्ण नियतरूप और सर्वत्र अविशिष्ट होते हैं। परन्तु, मन्त्रनाद आदि का उदय योगी की इच्छा के विना नहीं हो सकता वे अनगिनत और अनियत हैं, वर्ण की तरह परिगणित और नियत नहीं। प्रयोजन-विशेष के अनुरोध से योगी विशिष्ट मन्त्र आदि को अभिव्यक्त

करने की इच्छा करने पर वैसा प्रयत्न करते हैं और उसके फलस्वरूप अभिप्रेत मन्त्र आदि का उदय होता है। यह उदय प्राण के चलन से ही होता है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु उसके लिए इच्छा और प्रयत्न की जरूरत होती है। दीक्षा के समय भावी शिष्य का मन्त्रोद्धार भी इसी तरीके से होता है। परन्तु, वर्ण की अभिव्यक्ति के लिए इच्छा या कृति की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वभावतः ही अभिव्यक्त होता है—वास्तव में तो वह निरन्तर ही अभिव्यक्त होता रहता है। चित्शक्ति या संवित् स्पन्दरूप है। सृष्टि की ओर जब वह प्राणरूप में परिणत होती है, तो उस प्राण की ही भित्ति पर विराट् देश तथा विराट् काल का महल खड़ा हो जाता है। मूर्त्ति-वैचित्र्य की आभासन-शक्ति से ही देश और क्रम की कल्पना से काल उद्भूत होता है। सारा विश्व ही प्राण में प्रतिष्ठित है। जहाँ प्राण है या स्पन्दशक्ति का खेल है, वहाँ प्रवाह रहेगा ही—मूल में यह प्रवाह सरल रहता है, बाद में क्रमशः वक्र रूप में बदलता है। नाद का जो परम रूप है, वह उस सरल प्रवाह से ही परिस्फुरित होता है। वह सदा ही प्रकाशमान होता है—उसका तिरोभाव कभी नहीं होता। किन्तु, नाद के दूसरे रूप का निरन्तर उदय और अस्त होता है। दोनों ही वर्ण के उदय के अन्तर्गत हैं और प्रयत्न-निरपेक्ष तथा स्वारसिक हैं। नाद के पर-अपर रूप में सूक्ष्मतम तारतम्य है। वर्ण का जो परम स्वरूप है, उसकी सूक्ष्मतर अवस्था में वर्णगत भेद या विभाग नहीं रहता; क्योंकि वही सभी वर्णों का अविभक्त सामान्य रूप है। जिस अनाहत ध्वनि के बारे में पहले कहा गया है, वही उसका स्वरूप है। यह ध्वनि प्राणिमात्र के हृदय में सदा ही अपने-आप ध्वनित होती रहती है—

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान् ।
सोऽनस्तमित रूपत्वात् अनाहत इवोदितः ॥

इसका उदय ही है, अस्त नहीं। पर, वर्ण की जो अपेक्षाकृत कम सूक्ष्म अवस्था है, वहाँ उदय है, अस्त भी है। मगर यह अस्त अस्त नहीं; क्योंकि इस अस्त में भी पुनः उदय का पता चलता है। सूक्ष्म वर्ण के तीन स्तर हैं—सूक्ष्मता का तारतम्य तीनों में है। स्थूल वर्ण का उदय वर्ग के क्रम से होता है। एक अहोरात्र में अष्टवर्ग का उदय होता है। इस उदय के सम्बन्ध में विविध मत हैं—एक मत से यह बाह्य अहोरात्र के अधीन है, दूसरे मत से यह कुछ के अधीन नहीं। पहले मत से जो उदय होता है, वह विषम है, पर दूसरे मत से यह उदय विषम के बजाय समभाव का होता है। दूसरे मत से प्राण-संचार का परिमाण छत्तीस अंगुल होने के कारण एक-एक वर्ग का उदय ४½ अंगुल होता है। पूर्व मत से एक-एक संक्रांति में ९०० प्राणों का संचार यानी श्वास-प्रश्वास की संख्या होती है। दिन में तेरह संक्रान्ति और रात में बारह संक्रान्ति निर्दिष्ट हैं। दिवा भाग में प्राण का जो 'चार'

होता है, उसकी संख्या १०,८०० है। रात में भी यही समझना चाहिए। चार यानी श्वास-प्रश्वास की कुल संख्या २१,६००। यही अहोरात्र में मनुष्य के श्वास-प्रश्वास की संख्या विशिष्ट अजपा है।

वर्ण के अविभक्त सामान्य रूप या नाद की जो बात कही गई, यह ब्रह्म-प्रणव-संलग्न नाद या ज्योति है। मन के यहाँ लय प्राप्त करते ही परमपद का साक्षात्कार होता है। मन के नहीं रहने से नाद नहीं रहता और फिर नाद के नहीं रहने से मन भी नहीं रहता। किन्हीं-किन्हीं ने इस अवस्था को परब्रह्म-अवस्था बताया है। जब (आवरणवशतः) नाद सुनाई नहीं पड़ता, वह विक्षिप्त, क्षिप्त या मूढ दशा है, पर जब नाद सुनाई पड़ता है, वह एकाग्र अवस्था या ज्ञान की अवस्था है। और, जब नाद-श्रवण स्थगित हो जाता है, तो वह चित्त की निरोध-अवस्था है। उस समय मन की वृत्ति नहीं रहती, संस्कार-मात्र रूप में मन विद्यमान रहता है। पर यह संस्कार भी जब नहीं रहता, तब चिन्मात्र या शुद्ध आत्मा की रूपस्थिति है, यह समझना होगा।

यह अविभक्त वर्ण या (पर) नाद या (पर) ज्योति वस्तुतः चिदात्मिका शक्ति है। यही 'परावाक्' पदवाच्य है। पूर्ण अहन्ता इसका स्वरूप है, यह पहले कहा जा चुका है। जो परावाक् को और ज्योति को विन्दु-क्षोभ-जनित मानते हैं, वे कारण-अवस्था के इस कार्यभाव की ओर लक्ष्य करते हैं। इसलिए उस मत से परावाक् को भेद किये विना आत्मा अपने शिवस्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकती। इस दृष्टि से परावाक् ही शब्दब्रह्म-रूप रवि है, जिसको बोध-रूपी खड्ग से भेदकर स्वरूप प्राप्त करना होता है। यह मात्रातीत चिन्मय तथा असीम नाद-प्रवाह विश्व-कल्याण के लिए ऊपर से भ्रू-मध्य में गिरता है। गंगा जैसे विष्णु-चरण से शिव के मस्तक पर अवतीर्ण हुई, वैसे ही यह नाद-गंगा भी विश्व की सृष्टि और जीव के परम कल्याण के लिए अवतीर्ण हुई हैं। भ्रू-मध्य स्थान ही चित्त का केन्द्र-विन्दु है। इस स्थान से प्रकृति ह, क्ष, और उनमें लं वीज की रक्षा करके नीचे उतरती है। इसके वाद चित्-सूत्र के अवलम्बन से अधःप्रदेश में क्रमशः तीन मण्डल रचित होते हैं— पहले सोममण्डल, उसके वाद सूर्यमण्डल और अन्त में अग्निमण्डल। तीनों मण्डलों को ही वर्णमय जानना चाहिए। उनमें सोममण्डल स्वरवर्णमय, सूर्यमण्डल क-कारादि २५ व्यंजन वर्णमय और अग्निमण्डल य-कारादि वाकी व्यंजनवर्णमय। इन तीन मण्डलों में क्रम से कारणदेह, सूक्ष्मदेह और स्थूलदेह उद्भूत होती हैं। इच्छा, मन और प्राण की अभिव्यक्ति का यही क्रम है। यहाँतक वर्णमालात्मक रचना सम्पूर्ण होने पर वर्ण-समष्टि और भी नीचे उतरती है और अज्ञानमय कारण-समुद्र में जाकर डूब जाती है। तब उसका नाम होता है कुण्डलिनी। यह चिन्मय वर्णमाला की सुप्त अवस्था है। यह व्यष्टि और समष्टि में समान भाव से होती है।

अवतक जो कुछ कहा गया, उससे प्रतीत होगा कि नाद से ही समग्र विश्व की सृष्टि होती है और सृष्ट विश्व के अन्तर में नाद ही प्राण या जीवनी-शक्ति के रूप में निहित रहता है। अनन्त विश्व को गर्भ में धारण किये यही प्रसुप्त भुजंग के आकार में रहता है। आगमविद्गण इसे स्वयं-उच्चरणशील अनच्क ह्कार या परम वीज कहते हैं। इस अवस्था में इसका नाद-भाव अभिभूत और प्राणात्मक भाव उन्मुक्त रहता है। जव यह विश्व को गर्भ में धारण किये रहता है, तव इसका नाम होता है पराकुण्डली; जव यह नादात्मक रूप में स्फुरित होता है, तव इसका नाम होता है वर्णकुण्डली और जव यह नादरूप भी डूवकर गहरी सुषुप्ति में अवस्थान होता है, तव इसका नाम होता है प्राणकुण्डली।

यही प्राण हंस है। अपने स्वभाव से यह अधः-ऊर्ध्व संचरण करता है—'ह्'कार विमर्श-रूप में हान (त्याग) करता है और 'स'कार विमर्श-रूप में समादान (ग्रहण) करता है—त्याग और ग्रहण इसका स्वभाव है। यही नादात्मक हंस का नित्य उच्चार है। अनच्क (ह्)-अभिव्यंजक 'अ'कार। यह नाद के शिरोरूप में कल्पित होता है। इस आकार से जुड़ने पर उकार अधः-ऊर्ध्व संचारक होने के नाते चरण-रूप में कल्पित होता है। उकार का योग होने से विन्दु आदि प्रमेय के प्रकट होने का सूत्रपात होता है। यह अनुस्वार या 'म'कार मात्रा में ही होता है। इस प्रकार, अ-उ-म या प्रणव-रूप में इस उच्चरण की उपलब्धि सम्भव होती है।

वर्ण-उच्चार का जो विवरण दिया गया, इसकी अनुभूति किंचित् अन्तर्मुख होने से साधारण व्यक्तिमात्र को ही हो सकती है। यह नाद की स्थूल अनुभूति है। कुण्डलिनी-शक्ति के प्रवुद्ध होने से यह न्यूनाधिक परिमाण में सभी पा सकते हैं। यह पहले ही कहा गया है कि मन और प्राण सम्मिलित होकर जाग्रत् कुण्डलिनी से मिलकर मध्यनाड़ी में प्रवेश करते ही अनन्त प्रकार की विचित्रतावाले स्थूल नाद का अनुभव होना आरम्भ होता है। साधारण तौर पर दस प्रकार की ध्वनि का वर्णन मिलता है—इसके भी अनेक भेद हैं। नौ ध्वनियों को छोड़कर दसवीं को पकड़े रहने का विधान है। ये सव क्रमशः अधिकतर सूक्ष्म हैं। सुषुम्णा नाड़ी ही ब्रह्मनाड़ी है, पर जवतक इससे जुड़ी अन्य नाड़ियों का योग-सूत्र टूट नहीं जाता, यह प्रकृत ब्रह्मनाड़ी नहीं होती। वज्रा, चित्रिणी आदि नाड़ियाँ ब्रह्मनाड़ी का ही पूर्वाभास हैं। इस नाड़ी-संघट्ट के कारण मन, वायु और कुण्डलिनी का संचार विभिन्न मार्गों से होता है। व्यक्तिगत आन्तर प्रकृति के भेद से ऐसा होता है। इसीलिए, स्थूल नाद में वैचित्र्य होता है। नाद से ज्योति का सम्वन्ध है। नाद की भिन्नता के अनुरूप ज्योति की भिन्नता होती है। विशुद्ध ज्योति वही है, जिसमें कोई रंग नहीं, जो शुभ्र प्रकाश

या अवर्ण प्रकाश है। विशुद्ध नाद भी वही है, जिसमें स्वरगत, मात्रागत और गुणगत कोई विभाग नहीं।

हठयोग में नाद-साधना का उपदेश है। आदिनाथ शंकर के कहे सवा करोड़ लययोग में नादानुसन्धान की ही श्रेष्ठता मानी जाती है। हठयोगियों ने आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति—इन चार नाद-भूमियों का वर्णन किया है। निष्पत्ति-अवस्था ही सिद्ध अवस्था है। इसकी एक-एक अवस्था में एक-एक ग्रन्थि का भेद होता है और एक-एक प्रकार के शून्य के उदय से एक-एक प्रकार की ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है। इस सम्बन्ध में अधिक विवरण यहाँ अनावश्यक है।

अ-उ-म रूप में जिस नाद-क्रिया के बारे में कहा गया है, वह योग के अभ्यास से क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्मता प्राप्त करती है। 'म'कार मात्रा के बाद वह उच्चार भ्रू-मध्य में विन्दु का रूप लेता है। अकारादि तीन मात्राओं में स्थूल, सूक्ष्म, कारण-रूप में विदित निःशेष भेद हैं—ये सारे भेद पिण्डीभूत होकर अविभक्त रूप में जहाँ विदित होते हैं, वही विन्दु है। यहाँ वेद्य या ज्ञेय ही प्रधान है। योगियों की नौ योगभूमियों या चिन्मय अनुभूति-भूमि में विन्दु ही प्रथम है। इसकी नौ भूमियाँ भी 'नवनाद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्थूल में भी नाद के जैसे नौ विभाग कल्पित होते हैं, वैसे ही सूक्ष्म में भी नौ ही विभाग कल्पित होते हैं। विन्दु का उच्चारण-काल आधी मात्रा में नहीं पहुँचने तक वे योग-भूमियाँ नहीं पाई जातीं। एक मात्रा से आधी मात्रा में प्रवेश बहुत ही दुरूह है। मन की लौकिक स्थिति में अर्धमात्रा में प्रवेश कतई नहीं होता; क्योंकि अर्धमात्रा एकाग्रता और निरोध के सन्धिस्थान में अवस्थित है। प्रज्ञा का उत्कर्ष यदि विभूति की ओर होता है, तो सर्वज्ञत्व का आविर्भाव होता है, पर वह अगर चित्-प्रकाश की ओर होता है, तब सर्वज्ञत्व का निरोध और विवेक का उदय—यही उस उत्कर्ष का लक्षण है। अस्मिता ही ग्रन्थि है—इसके मुक्त होने पर पूर्ण मुक्ति नहीं होने तक जो विवेक-प्रवाह चलता रहता है, वही पूर्ण निरोध की ओर ले जाता है। इसी का नाम उन्मनी है। मात्रा के ह्रास के अनुसार काल का सम्बन्ध जितना कम होता है, जड़ का सम्बन्ध भी उतना ही कम होता है और उसी अनुपात में चित्-प्रकाश की उज्ज्वलता भी बढ़ती है। इसीलिए, निरोध या उन्मनी अवस्था में काल नहीं रहता।

देहतत्त्व बड़ा जटिल है। इसे भेद करने के लिए देह के सकल, सकल-निष्कल और निष्कल—इन तीन स्तरों को भेद करना पड़ता है। अकुल सहस्रार से मूलाधार आदि सभी कुलपद्मों को भेद करके ऊपर की ओर उठना होता है। आमतौर से हम जिस सहस्रदल-कमल को सुना करते हैं, वह देह के ऊर्ध्वदेश में है। अकुल से

आज्ञाचक्र तक प्रदेश की भावना स-कल, विन्दु से उन्मनी तक सकल-निष्कल और महाविन्दु निष्कल है।

भ्रू-मध्य में ललाट की ओर कुछ ऊपर बिन्दु का स्थान है। यह वर्त्तुलाकार और देखने में दीप-जैसा है। विन्दु-आवरण में मूल पाँचों ही कलाओं की स्थिति है। चार ओर निवृत्ति आदि चार कलाएँ और शान्त्यतीता नाम की पञ्चम कला विन्दु में है। 'मतंग परमेश्वर' नामक आगम के अनुसार जिस पारम तत्त्व को लय-अवस्था में शिव कहा जाता है—व्यक्त अवस्था में उसी को विन्दु भी कहा जाता है। सृष्टि की उन्मुख अवस्था ही विन्दु है। फिर दूसरी ओर से देखने से अनन्त में प्रवेश करने का पहला द्वार ही विन्दु है। स-कल अवस्था में साधक सीमा में वर्त्तमान रहता है, पर इस अवस्था में एक के वाद दूसरी भूमि भेद करने के फलस्वरूप चित्त क्रमश: अधिक एकाग्रता प्राप्त करता है। आज्ञाचक्र में एकाग्रता का पूर्ण विकास होता है। पातञ्जल मत से सम्प्रज्ञात समाधि का पूर्ण विकास अस्मिता कहा जाता है। उसमें प्रज्ञा का पूर्ण विकास होने पर भी वह स्थूल का ही व्यापार है; क्योंकि सर्वज्ञत्व भी स्थूल के धर्म के अलावा और कुछ नहीं। इस भूमि में विशुद्ध चिदनुभूति नहीं होती। ग्रन्थि-भेद के वाद निरोध का द्वार खुल जाने से सूक्ष्म चिदनुभूति का सूत्रपात होता है। निरोध के क्रमविकास का इतिहास और पूर्ववर्णित नवनाद का क्रमिक विकास एक ही बात है। निरोध की चरम अवस्था में चित्तवृत्ति शून्य होती है। अतएव, नवनाद का यह व्यापार निरुद्ध चित्त का गुप्त रहस्य है।

विन्दु की वात पहले ही कही गई है। इस भूमि में ज्योतिर्मय ज्ञान-रूप में ईश्वर-वोध की सूचना होती है। यहाँ प्रवेश किये विना जागतिक ज्ञान विलुप्त नहीं हो सकता। यह समाधिजनित प्रज्ञा से वहुत ऊपर की अवस्था है; क्योंकि समाधिजनित ज्ञान उत्कृष्ट होने पर भी जागतिक ज्ञानमात्र है। परन्तु, अर्धमात्रा का ज्ञान चिन्मय अनुभव है, इसीलिए वह श्रेष्ठ है। लौकिक ज्ञान से त्रिपुटी का लोप नहीं होता—विराट् अभेदज्ञान का उदय होने पर भी भेद-वोध की क्रमश: निवृत्ति होती है। स्तर-भेद करते-करते वह भेद-वोध धीरे-धीरे मिट जाता है। उस समय प्रथम देश-काल का ज्ञान रहता तो है, लेकिन वह जरा और प्रकार का होता है। योगी लोग जिस पञ्चशून्य का परिचय पाते हैं, बिन्दु ही उसमें प्रथम शून्य है। विन्दु-स्तर में वीज नहीं रहता यानी प्रकृति का स्फुरण नहीं रहता, इसलिए इसे पुरुष का अभिन्न स्वरूप भी कहा जा सकता है।

विन्दु के वाद है अर्धचन्द्र। यह द्वितीय भूमि है। इसकी मात्रा १/४ है। विन्दु को पूर्णचन्द्र या चन्द्रविन्दु कल्पना करके अर्धचन्द्र की उसी के अर्धांश-रूप में

कल्पना की गई हैं। यह विन्दु के ऊपर अवस्थित है। इसके चार ओर चार और वीच में एक-- कुल पाँच कलाएँ हैं। यह लेकिन शून्य नहीं है। ललाट-स्थित अर्धचन्द्र विन्दु का ज्ञान-प्रधान भाव कट जाता है।

इसके वाद तृतीय भूमि का नाम निरोधिका या बोधिनी है। इसकी मात्रा और भी सूक्ष्म है—१/८। इस निरोधिका भूमि का लंघन करना बड़ा कठिन है। सारे विश्व के शासन का भार ब्रह्मा आदि जिन पञ्च कारणों पर अर्पित है, उनकी भी ऊर्ध्वगति इस निरोधिका भूमि में रुद्ध हो जाती है; क्योंकि इस भूमि को भेद करने से विश्व-शासन का काम करना उनके लिए फिर सम्भव नहीं होता। एकमात्र योगी ही इसे भेदकर नाद-पथ में प्रवेश कर सकता है। वास्तव में, यह बिन्दु-आवरण का ही आखिरी छोर है।

निरोधिका के बाद नाद और नाद के बाद नादान्त—क्रम से ये दो भूमियाँ हैं। नाद की मात्रा १/१६ और नादान्त की मात्रा १/३२ है। इस नाद को घेरकर असंख्य मन्त्र-महेश्वर विराजते हैं। नाद का स्थान ब्रह्मरन्ध्र में मुँह में है—विशुद्ध, त्रिगुणातीत और चित् का आभासयुक्त शब्द यहीं अनुभूत होता है। विशुद्ध चित् की धारा यहीं से आरम्भ हुई है, कहा जा सकता है। नादान्त शून्य है—यही तृतीय शून्य है। किसी-किसी आचार्य के मत से नाद और नादान्त ईश्वर-पद-रूप में गृहीत होता है। इसमें गुणीभूत वेद्य का भेद ही प्रधान है। इस भूमि में समस्त वाचक शब्द अभिन्न रूप में विमर्शन का विषयीभूत होता है। इसके बाद अनाहत ध्वनि या हंस ललाट में ध्वनित होता रहता है। नादान्त नाड़ी के आधार और ब्रह्मविल में लीन है—यह मोक्ष का द्वार रुद्ध किये हुए है। यह अधःशक्ति के द्वारा सकल जगत् को भेद करके ऊर्ध्व-शक्ति में समाप्त होता है।

इसके बाद शक्ति-स्थान है- यही छठी चिद्भूमि है। यह स्थान ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर है। ऊर्ध्वकुण्डली इसी शक्ति का नामान्तर है—यह विश्वाधार है, कारण इसीके गर्भ में अनुन्मिषित विश्व निहित है। यह चार कलाओं से घिरी है, इसके केन्द्र की कला का नाम व्यापिनी है। शक्ति की मात्रा १/६४ है। शक्ति में ही आनन्द-सत्ता का अनुभव होता है। इसके बाद ब्रह्म की शक्ति के आनन्द का आभास है। शक्ति से उन्मनी तक प्रत्येक भूमि ही दीप्त द्वादश सूर्य की तरह उज्ज्वल है। शक्ति शून्यात्मक नहीं है, पर व्यापिनी शून्यस्वरूप है। पञ्चशून्य में यही चतुर्थ शून्य है।* शक्ति से व्यापिनी पृथक् है। पृथ्वी तक सभी तत्त्व और भुवन वास्तव में

* अधिकांश योगी उपासक का यही मत है। स्वच्छन्दागम भी इसी मत का समर्थक है। इस मत से (क) ऊर्ध्वशून्य=शक्तिपद, जहाँ नादान्त तक निःशेष पाश प्रशान्त। (ख) अधःशून्य=हृदयक्षेत्र, जहाँ अभीतक

शक्ति के ही प्रपंच हैं। शक्तितत्त्व ही अनाश्रित भुवन या योगियों की वास्तविक निरालम्ब पुरी है। शिवतत्त्व प्रकृत प्रस्ताव शक्तितत्त्व में ही व्यापिनी में अवस्थित है। इस अनाश्रित भुवन के चारों ओर चार अनुरूप शक्ति है—बीच में अनाश्रिता शक्ति है। शिवरूपी अनाश्रित देव के उत्संग में अनाश्रिता शक्ति विराजमान है।

व्यापिनी के बाद समना का स्थान है। यही पराशक्ति है। यह व्यापिनी पद-अवस्थित अनाश्रित भुवन के भी ऊपर है। यही सभी कारणों की कर्तृभूता एवं सभी अण्डों की आधारभूता है। इसी शक्ति पर आरूढ होकर ही शिव समग्र विश्व की सृष्टि, रक्षा, संहार, निग्रह और अनुग्रह-रूप पाँच कार्य करते हैं। तन्त्र के मत से महेश्वर हेतुकर्त्ता हैं और शक्ति उनका कारण है।

व्यापिनी की मात्रा १/१२८ है। और, समना की मात्रा १/२५६ है।

इसके बाद है उन्मना। किसी मत से इसकी मात्रा १/५१२ है। अन्य मत से इसके उच्चारण का काल नहीं है। क्योंकि, यह मन के अतीत है। यहीं नादरूपी शब्दब्रह्म का अन्त है। यही पञ्चम शून्य है और नवनाद में यहीं नौवीं भूमि है।

शक्ति में आनन्दमय स्पर्श का अनुभव होता है—उसके बाद ऊर्ध्व में प्रवेश होता है। व्यापिनी में—त्वक् और केश-स्थान में—व्याप्ति होती है। उसके बाद शिखा-केश-स्थान में या समना-पद में सिर्फ मनन ही रहता है, परन्तु मनन का कोई

प्रपंच का उल्लास नहीं हुआ है। (ग) मध्यशून्य=कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट और ब्रह्मरन्ध्र ही शक्ति-स्थान हैं। वही। व्यापिनी चतुर्थ शून्य। तीन शून्य चल और हेय हैं, इसलिए कि ये आपेक्षिक हैं। वास्तव में, चतुर्थ शून्य भी वही है। इस मत से समना में पञ्चम शून्य और उन्मना में षष्ठ शून्य है। ये भी चल और हेय हैं। परतत्त्व की तुलना में उन्मना में भी कुछ चलत्व है। मगर यह सब शून्य तत्त्व और परमशिव द्वारा अधिष्ठित है—इसलिए सिद्धि देनेवाले हैं। इसीलिए, स्वच्छन्द शास्त्र की परिभाषा में छह शून्य त्याग करके सातवें में प्रवेश करना आवश्यक है। वही वस्तुतः परम पद है। छहो शून्य अवस्थाएँ हैं—पथ के अन्तर्गत। सातवां ही योगियों का महालक्ष्य है। वह

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टः यत्र भावाः परं गताः॥

अतएव यह सप्तम शून्य ही अखण्ड महासत्ता है।

विषय नहीं रहता। आगे चलकर मनन भी नहीं रहता, उस समय हंस शुद्ध आत्मा का रूप धारण करता है। उस स्थिति में युगपत् अशेष विश्व का अभेद में प्रकाश होता है। यह उन्मना-शक्ति के आश्रय में होता है। तब शिवत्व प्राप्त होता है—चिदानन्दघन परमेश्वर-स्वरूप में समावेश होता है और हंस संकोचहीन होकर प्रसृत होता है यानी व्यापक होकर ३६ तत्त्वरूप में तथा उससे भी उत्तीर्ण होकर स्फुरित होता है।

स्थूल वर्ण के उच्चारण-काल को मात्रा कहते हैं। विश्व से समना तक सूक्ष्म वर्ण का उच्चारण-काल अर्धमात्रा से पहले बताये गये अनुसार एक मात्रा का १/५१२ भाग है। काल-अंश क्रमशः अधिकतर सूक्ष्म होता है। प्राचीन आचार्यों ने सूक्ष्मतम काल के अवयव का नाम दिया है 'लव'। कमल के एक दल के भेद में जो समय लगता है, उसका नाम 'लव' है। उनके मतानुसार इससे सूक्ष्मतर और काल नहीं है। पर, वास्तव में यह ठीक नहीं।

मन्त्र या नाम चैतन्य-सम्पन्न होने से क्रमशः सूक्ष्मता प्राप्त करता है। उस समय कालमात्रा अर्धमात्रा से क्रमशः अधिकाधिक कम होती आती है। फोटोग्राफ के instantancous cxposurc से इस कालगत क्रमिक सूक्ष्मता की तुलना की जा सकती है। सूक्ष्मता क्रमशः अर्धमात्रा की धारा पकड़कर बढ़ती रहती है। मात्रा चाहे जितनी कम हो, एकबारगी शून्य नहीं होती और हो भी नहीं सकती। परन्तु, शून्य न होते हुए भी व्यवहार में वह शून्यवत् होती है। १/२५६ मात्रा को मन की सूक्ष्मतम मात्रा का उच्चारण समझा जाता है। मात्रा के और भी शून्य होने पर मन की क्रिया को रखा नहीं जा सकता, इसलिए उसे उन्मना कहा जाता है। उस समय मन को पकड़ा नहीं जा सकता। मन ही तो चन्द्र है—बिन्दु पूर्णचन्द्र, अवश्य विशुद्ध और चिन्मय। इसीलिए, बिन्दु से ही चिदनुभव आरम्भ होता है। स्वच्छ दर्पण में जैसे ज्योति प्रतिफलित होती है, वैसे ही चिदालोक प्रतिफलित होता है। मात्रा-विभाग के फलस्वरूप मन का उपादान क्रमशः क्षीण होता रहता है। मन के रहने से ही काल का भय रहता है। क्योंकि, मन चन्द्र है और काल राहु। यह काल अवश्य सूक्ष्म काल है, जो जरा और क्षय का हेतु है। मन जितना ही क्षीण होता है, काल का स्पर्श उतना ही कम होता है। परन्तु, कम होने पर भी रहता है। इसके विपरीत प्रतिफलित चित् की उज्ज्वलता उतनी ही अधिक होती है। यह क्षीयमान मन समना तक रहता है। बिन्दु पूर्णिमा है- उसके बाद से ही कृष्ण पक्ष शुरू हो जाता है। समना को कृष्णा चतुर्दशी कहते हैं। उसके बाद ही उन्मना है यही अमावास्या है।

परन्तु, समना से उन्मना कैसे होता है, यह समझना कठिन है। योगी उसका स्वयं अनुभव करते हैं, वह स्व-संवेद्य है। एक हिसाव से उन्मना में कला नहीं रहती—परन्तु नहीं रहते हुए भी रहती है। जैसे, असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त वृत्ति-रूप में नहीं रहता, फिर भी रहता है, अर्थात् संस्कार-रूप में रहता है। समना में सूक्ष्म मन है। उन्मना में सूक्ष्म मन नहीं है, संस्कार है।

और भी एक रहस्य है। विन्दु को हमने पूर्णिमा कहा, पर वह ठीक पूर्णिमा नहीं है। प्रकृत पूर्णिमा षोडशी है, पञ्चदशी नहीं। ठीक पूर्णिमा होने से पूर्णता अक्षुण्ण रहती—कृष्णपक्ष नहीं आता। कृष्णपक्ष ही काल-ग्रास है। विन्दु में १५ कलाएँ हैं, एक कला नहीं है। यानी अमृतकला या षोडशी की कमी है। इसी प्रकार उन्मना में १५ कलाओं का अवसान है, पर गुप्त कला है। उसमें षोडशी का आभास है। पञ्चदश कलाएँ वहाँ अस्तमित हैं। यदि वास्तव में षोडशी होती तो अमावास्या के वाद शुक्लपक्ष नहीं होता। कालचक्र का आवर्त्तन षोडशी की व्यक्तता के अभाव में होता है। षोडशकला-पुरुष में अमृतकला एक है, वही वास्तविक अमाकला है, वाकी १५ कलाएँ कालपृष्ठ और काल-राज्य में संक्रमण करती हैं।

[पाँच]

नाम-साधना की दो दिशाएँ हैं—एक में नाम-साधना नाद में पर्यवसित होती है, दूसरी में यह रूप-अभिव्यक्ति से भाव-साधना के मार्ग में रस में पर्यवसित होती है। रस का पथ ही नित्यलीला का पथ है। दोनों पथों में परस्पर सम्वन्ध या योग है। और, फिर पृथक् रूप से भी प्रस्थान सम्भव है। वर्त्तमान सन्दर्भ में हमने नाद की दिशा से ही संक्षेप में दो-चार वातें कहीं।

नाम से भाव-साधना के पथ में पहले सद्गुरु-प्राप्ति और मन्त्र-साधना का अधिकार पैदा होता है। मन्त्र-साधना से दैहिक उपादान विशुद्ध होता है और मन्त्र की सिद्धि के साथ-साथ भावदेह का विकास होता है। इससे स्वभाव का पथ खुल जाता है और विधि-निषेध का घेरा हट जाता है, इसलिए राग-मार्ग में भजन का अधिकार आता है। यही वास्तविक साधना है। साधना की शुरुआत में आश्रय-तत्त्व व्यक्त होता है, इसीलिए राग-साधना सम्भव होती है— यह भावराज्य का व्यापार है। भाव-सुमन के खिलने से प्रेम का विकास होता है। तव विषय-तत्त्व पर अधिकार होता है। भाव-साधना एक प्रकार का विरह का क्रन्दन है, पर प्रेम-साधना मिलन का उल्लास है। आगे चलकर आश्रय और विषय आपस में मिलकर एक हो जाते हैं। यही एक सत्ता ही रस है—यही समरसता सिद्धावस्था या रस-अद्वैत है। इस महास्थिति में अनन्त लीला का स्फुरण सम्भव होता है। तव

एक सत्ता अनन्त रूप में निखर आती है और अपना आनन्द अनन्तकाल, अनन्त भाव से अपने में ही आस्वादित होता रहता है, पर स्थिति उसी एक में ही रहती है।

सिर्फ नाम के माहात्म्य से इतनी दूर तक भी हो सकता है। सार बात कि नाम की शक्ति अनन्त और अचिन्त्य है।

द्वितीय भाग

प्राचीन बौद्ध-साधना की भित्ति

(क) शील, समाधि और प्रज्ञालाभ-निर्वाण या तृष्णा की निवृत्ति, लौकिक और लोकोत्तर चित्त :

प्राचीन बौद्ध-साधना की भित्ति शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा सम्यक् आचार, ध्यान और ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित है। ये निर्वाण की ओर जानेवाले सोपान की तीन धाराएँ हैं। प्राचीन बौद्धों का लक्ष्य था निर्वाण और तृष्णा की निवृत्ति। तृष्णा या वासना व्यष्टिगत और समष्टिगत दु:खों की जड़ है। इसलिए तृष्णा का नाश ही दु:ख-निरोध का अवश्यम्भावी कारण माना जाता था। तृष्णा स्वरूपत: सारे विश्व में ही व्याप्त है—निम्नतम कामधातु या जड़ जगत् से लेकर बीच के रूपधातु नामक ज्योतिर्मय साकार लोक में और ऊपर के अरूपधातु नामक निराकार लोक में भी तृष्णा है। सर्वोच्च भूमि की तृष्णा को भवतृष्णा कहते हैं। काम आदि त्रिधातु में तृष्णा का आश्रयस्वरूप एक चित्त रहता है, उसे लौकिक चित्त कहते हैं। लौकिक और लोकोत्तर चित्त में अन्तर है। लोकचित्त की उत्पत्ति बाहरी वस्तु अथवा उसके संस्कार-प्रभावित आलम्बन से होती है। परन्तु विवेक-ज्ञान या संन्यासवश चित्त उस बाहरी आलम्बन को छोड़ देता है या उसके बदले निर्वाण को आलम्बन-रूप में ग्रहण करता है, तो उस चित्त का स्रोत निरन्तर नित्य शान्ति की ओर प्रवाहित होता है।

(ख) ध्यान के अयोग्य और योग्य चित्त :

पुरानी सांधन-प्रणाली में ध्यान और चित्त की एकाग्रता की प्रक्रिया ही मुख्य सहायक के रूप में गिनी जाती थी। लेकिन हाँ, स्मरण रखना होगा कि ध्यान नाना प्रकार का है। कामधातु-सम्बद्ध निम्नतम चित्त ध्यान के अनुकूल नहीं। परन्तु सारे ही उतर चित्त लौकिक या लोकोत्तर ध्यानचित्त के अन्तर्गत हैं। लौकिक और लोकोत्तर चेतना के स्रोत का मुख्य भेद यही है कि पहला यदि कुशल चित्त हो तो जन्म-मृत्यु की परम्परा बेरोक चलती है। परन्तु लोकोत्तर चित्त में यह स्रोत क्रमश: दुर्बल होते-होते अन्त में निर्वाण में परिसमाप्त होता है।

कामधातु का निम्नतर चित्त उपदेश के प्रभाव तथा उत्साह और परिश्रम के फल से एवं उपचार-समाधि के माध्यम से उच्चतर ध्यानचित्त में बदल सकता है। उपचार-ध्यान स्थिर और अचंचल प्रतिभा से होता है, परिकर्म या उद्ग्रह-निमित्त से

नहीं होता। प्रत्यक्ष और स्थूल दृष्टि के विषयीभूत आलम्बन को परिकर्म कहा जाता है। और, अभ्यास की परिपक्व अवस्था को उद्ग्रह कहते हैं। वह मानस-दृष्टि का विषय है। दूसरे निमित्त पर एकाग्रता के फलस्वरूप यथासमय उसमें एक शुभ्र प्रकाश पैदा होता है। यही प्रतिभाग निमित्त का स्वरूप है। इस प्रकाश के प्रकट होने के बाद चित्त के पाँच प्रकार का नीवरण या आवरण क्षीण होता रहता है। इसके बाद समाधि की अवस्था आती है। इसका नाम उपचार-समाधि है। एक ध्यानचित्त होने के बावजूद साथ-ही-साथ कामधातु की सीमा को यह पार नहीं कर सकता।

(ग) ध्यानचित्त का उदय और विकास—प्राचीन साधना का उद्देश्य श्रेष्ठ श्रावक या शिष्यजीवन-गठन—बाद की साधना का उद्देश्य विश्वगुरुपद-लाभ—लौकिक कामचित्त से लोकोत्तर चित्त में परिणति का क्रम—पृथग्जन से आर्यत्व-लाभ का क्रम :

लौकिक कामचित्त से निर्वाण और शान्ति पाने के उपयोगी लोकोत्तर चित्त में परिणति का क्रम ऊपर बताये क्रम जैसा ही है। यहाँ भी उपचार-समाधि के माध्यम से ही आगे की ओर गति होती है। भवांग स्रोत का सूत्र छिन्न हो जाने पर कामधातु का विशिष्ट चित्त—कुशल चित्त—कई क्षणों के लिए (यानी अयोग्य के लिए चार और योग्य के लिए तीन क्षणों के लिए) क्षणिक परिणाम (जवन) का अनुभव करता है। इस श्रेणी में गोत्रभू जवन नामक अन्तिम क्षण निर्वाण का आलम्बन किये रहता है। यही चतुर्थ क्षण है। इसके पहले परिकर्म, उपचार और अनुरूप क्षण रहता है। लौकिक चेतना से लोकोत्तर चेतना में परिणाम-विश्लेषण ही इन क्षणों का विचार-विषय है। पृथग्जन तबतक आर्य नहीं हो सकता, जबतक उसका चेतना-स्रोत क्षण के बीच के सोपान को अतिक्रम नहीं करता। इसका मतलब यही है कि पृथग्-जन इस मनोवैज्ञानिक क्रम का अवलम्बन करके ही आर्य हो सकता है। गोत्रभू के बाद के क्षण का नाम है अर्पणा क्षण। यह चेतना की परिणति का सूचक है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि इस रूपान्तर के कारण पृथग्जन आध्यात्मिक दृष्टि से एक नये क्षेत्र में प्रवेश करता है। इसके बाद एक लोकोत्तर गोत्र का आविर्भाव होता है, जो पूर्व-जीवन के सारे ही सम्बन्धों को विच्छिन्न कर देता है। इसके बाद भी उस क्षण का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है, जो मार्गक्षण के नाम से वर्णित होता है। इस महाक्षण में चार आर्य-सत्य का साक्षात्कार होता है। इससे समझा जा सकता है कि उस महाक्षण में सभी धातुओं और सभी प्रकार के प्राणियों के सभी प्रकार के दुःखों का स्वरूप दिखाई देता है और साथ-ही-साथ दुःख का हेतु जो अज्ञान है, आनुषंगिक उपसर्ग के साथ वह भी दीखता है। उस समय एक ही साथ सभी प्रकार के दुःखों का निवृत्तिरूप निर्वाण और दुःख-निरोध नामक मार्ग अर्थात् अष्टांग मार्ग दिखाई

देता है। एक ही साथ इन चारों आर्य-सत्य का साक्षात्कार होता है। विजली की कौंध से जैसे एक ही साथ विभिन्न दृश्य दिखाई दे जाते हैं, वहुत-कुछ वैसा ही। चित्त जब वलपूर्वक निर्वाणगामी स्रोत में पड़ जाता है, तो किसी प्रकार के अपाय या भविष्य के पतन की आशंका नहीं रहती। इस प्रकार स्रोत-आपन्न की पहली अवस्था उत्पन्न होती है। मार्ग के परिशीलन से क्लेश-समूह उन्मूलित होता है। योगसूत्र के व्यास-भाष्य में है कि चित्त-नदी दोनों ओर वहनेवाली है। इस वाक्य में यही सत्य ध्वनित होता है कि जो उस निर्वाणगामी स्रोत में पतित हुआ है, वह स्रोत उसे कल्याण की ओर ले जाता है, संसार की ओर नहीं। पतञ्जलिदेव के उपदिष्ट श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा—ये सब धर्म जो उपाय के अन्तर्गत हैं, प्राचीन बौद्ध परिभाषा में वे वोधिपक्षीय धर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं। मार्गचित्त के वाद फलचित्त का उदय होता है। उस समय मार्ग में विघ्न पैदा हो सकता है। पर, जब लक्ष्य-प्राप्ति के विषय में संशय नहीं रहता, और फिर से अकुशल चित्त के आविर्भाव की आशंका नहीं रहती, तभी कहा जा सकता है कि यथार्थ निश्चिन्त चित्त की अवस्था आ गई। ऊपर के विवरण से प्रतीत होता है कि प्राचीन साधन निर्वाण-मार्ग के आविष्कार और अनुसरण को ही लक्ष्य मानता था। यह निर्वाण अपने व्यक्तिगत दुःख और अनर्थ से मुक्ति के रूप में परिगणित होता था। यह उपनिषद् और सांख्य-सिद्धान्त के अनुरूप था। तदनुसार यह देह के रहते हुए भी आंशिक भाव से अनुभव किया जाता था और देहान्त में इसकी पूर्ण प्राप्ति होती थी।

बौद्ध-सम्प्रदाय में अध्यात्म-जीवन का आदर्श

[भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में]

(क) साधन-जीवन के विषय में दो प्राचीन मत—आदर्शगत भेद—निर्वाण और बुद्धत्व :

हिन्दू-संस्कृति की नाईं बौद्ध-संस्कृति में भी प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक जीवन की धारा के सम्बन्ध में साधारणतः दो आदर्श परिलक्षित होते थे। दोनों हा थे जीव की आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति—एक व्यक्तिगत दुःख की निवृत्ति का आदर्श और दूसरा था सामूहिक दुःख की निवृत्ति का आदर्श। दोनों आदर्शों के अन्तराल में योगसूत्र भी बहुत थे। और, उसके अनुसार अवान्तर भेद भी बहुत थे। दुःख का मूल कारण अज्ञान है और अज्ञान का निवर्त्तक ज्ञान है, इस विषय में खास मतभेद नहीं था। परन्तु इस अज्ञान और ज्ञान के स्वरूप तथा प्रकार के सम्बन्ध में दृष्टिभेद दिखाई देता था। जो लोग अपने व्यक्तिगत दुःख की निवृत्ति के लक्ष्य से जीवन के पथ पर बढ़ते, उनका एकमात्र उद्देश्य था व्यष्टि-निर्वाण, परन्तु दूसरी धारा का आदर्श था, स्वयं सब प्रकार के दुःखों को अंगीकार करते हुए भी दूसरों के दुःख को दूर करने की आप्राण चेष्टा। वे यथासम्भव सामूहिक या समष्टिगत दुःख-निवृत्ति को आध्यात्मिक जीवन का वास्तविक उद्देश्य मानते थे। पहला आदर्श था हीनयानी बौद्ध श्रावक का, पर दूसरा था महायानी बोधिसत्त्व का। अर्थात् हीनयानी अपना और महायानी सबका निर्वाण चाहते थे और उसके अनुषंग से बोधिसत्त्व-जीवन के जरिये बुद्धत्व की प्राप्ति। पहले पथ में ऐकान्तिक वासना की निवृत्ति आवश्यक है, परन्तु दूसरे पथ में वासना का शोधन करके शुद्ध वासना का अनुसरण आवश्यक होता है, जिसके प्रभाव से देह-शुद्धि और विश्व-कल्याण करना सम्भव हो सकता है।

पहली दृष्टि से अज्ञानमात्र ही क्लिष्ट और हेय है, पर दूसरी दृष्टि से अक्लिष्ट अज्ञान भी माना जाता है, जो क्लिष्ट अज्ञान की नाईं हेय नहीं है। हाँ, चरम स्थिति में यह रहता नहीं, यह सत्य है, लेकिन साधारण मध्यावस्था में अर्थात् बोधिसत्त्व-जीवन में इसकी सार्थकता है। इस अज्ञान को सेवाधर्म की प्रेरणा का उत्स माना जाता है। करुणातत्त्व से इसका गहरा सम्बन्ध है, यह हम क्रमशः समझेंगे। इस प्रसंग में यह भी कह देना आवश्यक है कि हीनयान से

महायान के आदर्श में पार्थक्य होते हुए भी हीनयान में भी महायान का सूक्ष्मबीज बिलकुल दिखाई ही नहीं देता, ऐसी बात नहीं।

अपने निजी दुःख का विनाश जिसमें हो, श्रावकगण उसी के लिए व्याकुल रहते थे। पर, बोधिसत्त्वगण सभी जीवों के दुःख का नाश करके बुद्धत्व प्राप्त करने को जीवन का आदर्श मानते थे। उनकी यही आकांक्षा थी कि सभी लोग चरम अवस्था में बुद्धत्व-लाभ करके जीवन में पूर्णता-साधन करने में समर्थ हों। दोनों के बीच में प्रत्येकबुद्ध नाम के एक प्रकार के साधक थे—उनका लक्ष्य था दुःख का नाश और साथ-साथ व्यक्तिगत बुद्धत्व-लाभ अर्थात् स्वयं बुद्धत्व-लाभ करके विश्व के दुःख-निवारण में सहायता करना।

प्राचीन समय में दस संयोजन या पाश को छिन्न करके अर्हत्-भाव प्राप्त करना ही आध्यात्मिक जीवन का काम्य था। यह एक प्रकार से जीवन्मुक्ति का आदर्श है। इसे भी एक प्रकार से निर्वाण ही कहा जाता है। इस अवस्था में यद्यपि स्कन्ध या देह रहती है, फिर भी सोपाधिक निर्वाण के नाम से अभिहित होता है। स्कन्ध-निवृत्ति होने से, यानी देहपात होने से जो निर्वाण होता है, वह निरुपाधिक निर्वाण है। वह सांख्य के विदेह-कैवल्य की अनुरूप अवस्था है। पातञ्जल योगदर्शन में जैसे अविद्या को मूल क्लेश के रूप में अंगीकार किया जाता है, प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदाय में भी वैसे ही अविद्यारूप क्लेश की निवृत्ति को ही मनुष्य के परम पुरुषार्थ के रूप में गिना जाता था। लेकिन यह खयाल रखना है कि मलिन वासनारूप क्लेश की निवृत्ति होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हर क्षेत्र में सम्यक् क्लेश की निवृत्ति हुई। क्योंकि मलिन वासना की तरह शुद्ध वासना का भी अस्तित्व है। क्षेत्रभेद से शुद्ध वासना ही जीवन की धारा का नियामक होती है। जिसके शुद्ध वासना नहीं है, उसके लिए क्लेश-निवृत्ति चरम लक्ष्य है। किन्तु प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से पूर्णत्व या बुद्धत्व का आदर्श इससे कहीं ऊँचा है। पहले बोधिसत्त्व हुए बिना चरम में कोई बुद्धत्व नहीं प्राप्त कर सकता। परार्थ वासना को शुद्धवासना कहा जाता है। बोधिसत्त्व शुद्ध या परार्थ वासना के द्वारा अनुप्राणित होकर क्रमशः बुद्धत्व पाने का अधिकारी होता है। बोधिसत्त्व-अवस्था भी एक प्रकार से अज्ञान ही की अवस्था है। पर वह क्लिष्ट अज्ञान नहीं, अक्लिष्ट अज्ञान है; बस, इतना ही भेद है। बोधिसत्त्व को एक के बाद दूसरी भूमि को भेद करते हुए बुद्धत्व की ओर बढ़ना पड़ता है। इस प्रकार धीरे-धीरे शुद्ध वासना की निवृत्ति होने से बोधिसत्त्व की अन्तिम अवस्था में बुद्धत्व की अभिव्यक्ति होती है। आगम-सिद्धान्त के अनुसार परमेश्वर की पराशक्ति के पात के प्रभाव से जब पशु-आत्मा का आणव मल विगलित होता है, तो वह आत्मा शुद्ध अध्वा में संचरण

करने की अधिकारिणी होती है। यह अध्वा माया से परे है। इस विशुद्ध राज्य में शुद्ध वासना के प्रभाव से भोग और लय-अवस्था का अनुभव होता है। उसके बाद यथासमय आत्मा शिवभाव प्राप्त करती है। बौद्धों का विवरण भी कुछ अंशों में ऐसा ही है। आगम के मुताबिक चित्‌रूप शक्ति का उन्मेष नहीं होने तक शिवत्व का आभास होने पर भी सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं होती। यहाँ तक कि विशुद्ध विज्ञान-कैवल्य-लाभ होने पर भी शिवत्व की प्राप्ति नहीं होती। बौद्धों की परिकल्पना बहुत-कुछ ऐसी ही है। वे कहते हैं कि बोधिसत्त्व की आध्यात्मिक प्रगति दस या उससे भी अधिक भूमियों में विभक्त होती है, भूमि-प्रविष्ट प्रज्ञा के विकास से ही अक्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति होती है, उसके बाद अन्तिम दशा में पूर्णाभिषेक प्राप्त होने पर बोधिसत्त्व बुद्ध पद पर अधिरूढ़ होते हैं। बुद्धत्व अद्वय स्थिति का वाचक है। पुद्‌गल-नैरात्म्य सिद्ध हो तो समझना चाहिए कि क्लेश-निवृत्ति सिद्ध हुई, पर द्वैतभाव अभी तक निवृत्त नहीं हुआ। उसके लिए धर्म-नैरात्म्य-ज्ञान आवश्यक होता है। शुद्ध वासना की निवृत्ति होने से वास्तव में धर्म-नैरात्म्य भी सिद्ध होता है। वैसी स्थिति में नैरात्म्य-दृष्टि के कारण ज्ञाता और ज्ञेय समरस हो जाता है। यही पूर्ण नैरात्म्य है।

बौद्धिक और आगमिक आदर्श में बाहरी दृष्टि से कुछ भेद देखने में आता है। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट'(Old Testament) और 'न्यू टेस्टामेण्ट' (New Testament) में जैसा भेद है, विधि और रागमार्ग में जो भेद है, यह भी बहुत-कुछ वैसा ही है।

बुद्धत्व का आदर्श प्राचीन समय में भी था, परन्तु साधारण लोगों के लिए वह आपाततः अशक्य था, पर अर्हत्-पद पर आरूढ़ होकर परिनिर्वाण प्राप्त करना अथवा व्यक्तिगत दुःख का उपशम, सबके लिए ही सम्भव था। किन्तु संवेग की तीव्रता के कारण जब अपनी आभ्यन्तरीण स्थिति ऐसी अवस्था में बदल जाती है कि दूसरे के दुःख की प्रतीति भी उस समय अपनी प्रतीति के समान लगने लगती है और जब अपनी सत्ता का बोध पूर्ण रूप से विकसित होकर विश्वव्यापी सत्ता-बोध में परिणत होता है, तो सारे विश्व में निजभाव प्रस्फुटित होता है और तब सबकी दुःख-निवृत्ति अपनी दुःख-निवृत्ति का भाव लेती है। क्लिष्ट वासना की निवृत्ति से जो निर्वाण मिलता है, वह यथार्थ नहीं है। महानिर्वाण पाने के पहले साधक को बोधिसत्त्व-अवस्था में पहुँचकर क्रम से सभी भूमियों को पार करना होता है। क्रम-विकास के इस मार्ग में किसी-किसी का शत-शत जन्म भी कट जाता है।

सांख्य योग में विवेक-ख्याति से विवेकज ज्ञान जैसे भिन्न है, वैसे ही बौद्ध मत में भी हीनयान-सम्मत श्रुतचिन्ता भावनामयी प्रज्ञा से महायान-सम्मत भूमि-प्रविष्ट

ज्ञान भिन्न है। विवेक-ख्याति कैवल्य का हेतु है। परन्तु विवेकज ज्ञान कैवल्य का अविरोधी ईश्वरत्व-साधक है। साधारण मनुष्य ईश्वर की कोटि तक उठ नहीं सकता, पर विवेकज ज्ञान प्राप्त करके कैवल्य का अधिकारी हो सकता है। विवेकज ज्ञान तारक ज्ञान-सा है—यह सर्वविषयक सर्वभाव का प्रकाश करनेवाला अनौपदेशिक अक्रम-ज्ञान है। प्रातिभ ज्ञान और स्वयंसिद्ध महाज्ञान इसी का हल्का आभास-मात्र है। यह सर्वज्ञत्व होते हुए भी कैवल्य का समानार्थक नहीं है। योगभाष्य में है कि सत्त्व और पुरुष पूर्णरूप से शुद्ध होने से कैवल्य प्राप्त होता है, पर विवेकज ज्ञान की प्राप्ति या ईश्वरत्व-प्राप्ति के साथ उसका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं। जैनमत में भी केवल-ज्ञान-प्राप्ति का अधिकार सबको है, पर तीर्थंकरत्व पाने की योग्यता सबको नहीं होती। तीर्थंकर, गुरु और देशिक—इन पदों पर व्यक्ति-विशेष आरूढ़ हो सकता है, हर कोई नहीं। तीर्थंकर त्रयोदश गुणस्थान में प्रकट होता है, पर सिद्धावस्था की प्राप्ति चतुर्दश भूमि पर होती है। द्वैत शैवागम में भी शुद्ध अध्वा में प्रवेश करने पर शुद्ध अधिकार-वासना और शुद्ध भोग-वासना क्रम से निवृत्त होती है। ये दोनों ही शुद्ध अवस्था के सूचक हैं। इसके बाद लयावस्था में शुद्ध भाव भी लीन हो जाते हैं। अतीत अवस्था में शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। अधिकार-वासना और भोग-वासना के अशुद्ध न होने पर भी उसकी निवृत्ति जरूरी है। अधिकार-अवस्था शास्ता का पद—शुद्ध विद्या के अधिष्ठाता होकर पाप-पंक में डूबे हुए जगत् को ज्ञान-दान करना और जीव-समूह को शुद्ध अध्वा में खींचना, यही विद्येश्वरों का काम है। यही विशुद्ध परोपकार है। इस अवस्था में शुद्ध भोग सम्भव है, लेकिन उसके लिए वासना होनी चाहिए। इस प्रणाली से ईश्वर-तत्त्व से सदाशिव-तत्त्व तक उठना होता है। जब शुद्ध आनन्द के प्रति भी वैराग्य पैदा होता है, तो अन्तर्लीन अवस्थाभूत शिवत्व का स्फुरण होता है। यह स्थिति सोपाधिक है। इसके बाद निरुपाधिक निर्मल स्थिति आती है। निरुपाधिक शिवत्व में व्यक्तित्व नहीं रहता; क्योंकि शुद्ध वासना के क्षय होने के बाद व्यक्तित्व का रहना सम्भव नहीं। उसी समय महामाया से पूर्ण मुक्ति-लाभ सम्पन्न होता है। अद्वैत शैवागम के मत से भी भगवत्-अनुग्रह के प्रभाव से पहले शुद्धमार्ग में प्रवेश होता है, उसके बाद क्रमशः बढ़ते-बढ़ते परम शिवत्व तक स्थिति का विकास होता है। दीक्षा का तात्पर्य यही है कि इससे पाशक्षय और शिवत्व-योजन—दोनों ही संघटित होते हैं। प्राचीन काल में बुद्धत्व का आदर्श प्रत्येक जीव का नहीं था, अवश्य किसी-किसी उच्चाधिकारी के जीवन का एकमात्र यही उद्देश्य था। इसके लिए उसे एक के बाद दूसरी देह के माध्यम से जीवन का उत्कर्ष-साधन करना होता था। इसका नाम था पारमिता-साधन। पुण्यसम्भार और ज्ञानसम्भार—इन दो सम्भारों से बुद्धत्व निष्पन्न

होता है। पहला कर्मात्मक है, दूसरा प्रज्ञात्मक। कहना नहीं होगा, दोनों ही की उपयोगिता है। अद्वैत भाव के विस्तार के साथ-साथ बुद्धत्व के आदर्श का विकास हुआ था। आरम्भ में गोत्रभेद स्वीकार किया जाता था। परन्तु वाद के युग में ऐसी चिन्तनधारा आई थी, जिसमें गोत्रभेद अलीक हुआ; क्योंकि हर आदमी को बुद्धत्व-लाभ की योग्यता है।

इसलिए गोत्रभेद-सम्वन्धी मत सत्य होते हुए भी किसी-किसी दृष्टि से उपेक्षित होने लगा। अभिनव दृष्टि के अनुसार प्रत्येक जीव में बुद्ध-वीज निहित है, मगर एक-मात्र मनुष्य-देह की ही यह विशिष्टता है कि वह वीज उसी में अंकुरित होकर विकसित हो सकता है। विकसित होने से ही बुद्धत्व की प्राप्ति स्वाभाविक क्रम से होती है। बुद्धत्व के आदर्श का जिस समय प्रसार हुआ, उसी समय से वोधिसत्त्व की चर्या आवश्यक हो पड़ी। इस अवस्था में निर्वाण का प्रचलित आदर्श मलिन हो पड़ा। उसकी जगह महानिर्वाण या महापरिनिर्वाण का आदर्श निखर पड़ा।

(ख) साधन-जीवन में करुणा और जीव-सेवा :

साधक और योगी के जीवन में अन्य धर्मों के विकास के साथ-साथ करुणा का विकास भी आवश्यक है। संसार के विभिन्न आध्यात्मिक प्रस्थान में करुणा का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। करुणा ही सेवाधर्म का प्राण है। प्रसिद्धि है— **'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'**। जिनका हृदय करुणा से प्रभावित नहीं होता और जिनके चित्त में सेवाधर्म का उन्मेष नहीं होता, वे वड़े ही सँकरे प्राण के होते हैं; क्योंकि उनका केवल यही उद्देश्य होता है, जैसे भी हो, व्यक्तिगत स्वार्थ साधा जाय। जो निम्न अधिकारी होते हैं, वे सिर्फ अपने लिए ऐहिक या पारत्रिक अभ्युदय की कामना करते हैं। वह चाहे भौतिक ऐश्वर्य ही हो, चाहे पार-लौकिक स्वर्ग आदि का भोग ही हो, उससे कुछ आता-जाता नहीं। जो इससे कुछ उच्च अधिकारी हैं, उनका लक्ष्य व्यक्तिगत जीवन की दुःख-निवृत्ति या मुक्ति होता है।

किसी-किसी क्षेत्र में आनन्द की अभिव्यक्ति भी लक्ष्य के अन्तर्गत परिगणित होती है, लेकिन वह भी व्यक्तिगत जीवन की सीमा में ही सीमित होती है। विश्व-कल्याण या परार्थ-सम्पादन ऐसों के ध्येय में नहीं गिना जाता। कभी कहीं थोड़ी-सी परार्थपरता का आभास नजर आने पर भी वह भी स्वार्थ साधने के उपाय के रूप में होता है। उदाहरण के तौर पर दया नाम की सात्त्विक वृत्ति की वात कही जा सकती है। वह जव किसी के जीवन में कार्यरूप में परिणत होती है या भावना-रूप में अपनाई जाती है तो वह कार्यकर्त्ता और भावुक की चित्तशुद्धि के कारणरूप में ली जाती है। यह चित्तशुद्धि वेशक ज्ञान-प्राप्ति और मुक्ति की सहायक है,

इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु यह भी अपने ही कल्याण के साधन-रूप में आत्म-प्रकाश करती है, दया का पात्र दूसरा व्यक्ति होने के बावजूद दया का फल दया दिखानेवाले के प्राप्य रूप में परिणत होता है।

भक्ति और प्रेम की साधना के क्षेत्र में जैसे साधनभक्ति और साध्य या प्रेमभक्ति में पार्थक्य है, ठीक वैसे ही करुणा के अनुशीलन के क्षेत्र में भी साधनरूपी करुणा तथा साध्य करुणा में स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है।

योगदर्शन में चित्त के परिकर्म-रूप में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के नियमित परिशीलन की उपयोगिता दिखाई गई है। प्राचीन पालि-साहित्य में भी ब्रह्मविहार नाम से इन सब वृत्तियों का निर्देश देखने को मिलता है। योगदर्शन में करुणा का जो परिचय मिलता है, उससे बिलकुल भिन्न करुणा का रूप भी साधक-विशेष के जीवन में देखने को नहीं मिलता, ऐसी बात नहीं। उसका अवलम्बन करके अर्थात् जीवन के साध्यरूप में उसका ग्रहण करके महायानी बौद्धों की अध्यात्म-साधना प्रवर्त्तित हुई थी। व्यक्तिगत मुक्ति इस करुणा की प्रतिबन्धक है, इसलिए सभी साधक के लिए इस कोटि की मुक्ति उपादेय नहीं है। उपनिषद्-कालीन प्राचीन साधना में जीवन्मुक्ति दशा ही करुणा-प्रकाश के क्षेत्र-रूप में स्वीकृत हुई है। ज्ञानी और योगी का परार्थ-साधन इसी महान् क्षेत्र के अन्तर्भुक्त है। जीवन्मुक्त ज्ञानी के जीवन का उद्देश्य है—संसार-दुःख की निवृत्ति के लिए उसके उपाय-स्वरूप यथाशक्ति सम्यक् ज्ञान का वितरण। करुणा-प्रकाश की यही मुख्य प्रणाली थी। और-और प्रणालियाँ इसकी तुलना में गौण मानी जाती थीं। जीवन्मुक्त महापुरुष ही संसार में दाहक्लिष्ट जीववर्ग के उद्धार के एकमात्र अधिकारी हैं। वर्त्तमान जगत् में करुणा के जितने भी रूप चलते हों, ये मुख्य करुणा के निदर्शन नहीं हैं। ये भी अवश्य सेवाधर्म के ही अन्तर्गत हैं, इसमें सन्देह नहीं। भोग द्वारा प्रारब्ध कर्म जबतक नष्ट नहीं होता, तबतक देह रहती है, इसलिए देह के रहते हुए जीवन्मुक्त पुरुष ही वास्तविक जीव-सेवा के मुख्य अधिकारी हैं। किन्तु यह सेवाकाल अर्थात् देह का अवस्थानकाल परिमित है; क्योंकि देह का अवसान होने से सेवा करने का अवसर नहीं रहता। इसलिए जीवन्मुक्ति-विवेक में विद्यारण्य स्वामी ने ज्ञानतन्तु-संरक्षण को जीवन्मुक्ति का मुख्य प्रयोजन माना है।

जीवन्मुक्ति में अज्ञान को ढँकने की शक्ति नहीं रहती, इसलिए आत्मा का स्वरूपज्ञान अनावृत होता है, परन्तु विक्षेप-शक्ति के रहने के कारण उपाधि मौजूद रहती है। इसलिए इस समय जीव और जगत् की सेवा हो सकती है। जीवन्मुक्त ही यथार्थ गुरु हैं। केवल यही गुरु तारक ज्ञान का संचार करके वास्तव में जीवों के दुःख का मोचन करने में समर्थ हैं। इसलिए गुरु ही सेवाव्रती हैं।

परन्तु सेवा का यह क्षेत्र देशदृष्टि से सीमित और कालदृष्टि से संकुचित होता है। सीमित कहने का मतलब यह कि किसी व्यक्ति का कर्मक्षेत्र विशाल होने पर भी सीमाबद्ध होता है। सेवक को सेवा करने का अवसर तभीतक है, जबतक उसका देह-सम्बन्ध रहता है। देह त्यागने के बाद या कैवल्य-प्राप्ति के अनन्तर सेवा की सम्भावना नहीं रहती। जरूरत भी नहीं रहती; क्योंकि व्यष्टिचित्त की शुद्धि ही अगर प्रयोजन है, तो उसके लिए सेवा का व्रत सर्वथा अनावश्यक है। उस समय आप ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। जीवन्मुक्त गुरु परम्परा-क्रम से सेवाव्रत का भार योग्य शिष्य को सौंपकर परमधाम जाते हैं, यही स्वाभाविक है।

(ग) सेवानुकूल देह-सिद्धि—प्रज्ञा और करुणा का सम्मेलन :

जिनके चित्त में पराये दुःख के निवारण की इच्छा बड़ी प्रबल होती है, वह इस प्रकार से चेष्टा करते हैं कि उनकी स्कन्ध-निवृत्ति या देहपात न हो। उनकी यह कोशिश अपने भोग-विलास के लिए नहीं, बल्कि जीवों की सेवा का अवसर बढ़ाने के लिए होती है। जिनके चित्त में संकोच नहीं होता, उनमें ऐसी इच्छा का उदय होना स्वाभाविक है। सबके मन में ऐसी इच्छा नहीं पैदा होती, पर किसी-किसी के मन में होती है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। यही उस व्यक्ति के महत्त्व का निदर्शन है। गोत्रभेदवादियों की यही मूल युक्ति है। भक्ति-साधनमार्ग में भी इस प्रकार का विचार देखा जाता है। इसीलिए किसी-किसी का यह कहना है कि आवश्यक होते हुए भी भक्ति स्थायी नहीं होती; क्योंकि अभेदज्ञान या मोक्ष पाने के बाद उसका अवकाश नहीं रहता। यह भक्ति-साधन या उपाय-भक्ति है; यहाँ उपेय है ज्ञान या मुक्ति, पर जिसके चित्त में संकोच कम है, उसमें नित्य भक्ति की आकांक्षा जगती है। यह फलरूपा भक्ति है, जो कि मुक्ति से अभिन्न या उससे भी ऊपर की है। इस प्रकार की भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ में गिनी जाती है। बहुतेरे मुक्तपुरुष इस कोटि की भक्ति के लिए लालायित रहते हैं। यह बहुत ही दुर्लभ है।

परन्तु नश्वर परिणामी और मलिन देह में ऐसा महान् आदर्श पाना असम्भव है। इसलिए मर्त्य देह को स्थिर और निर्मल बनाने के लिए प्रयत्न जरूरी है। वैष्णव-सम्मत भावदेह, प्रेमदेह, और रसदेह ऐसी सिद्ध देह हैं। यह जरा-मृत्यु द्वारा स्पृष्ट नहीं होती। इसे 'पार्षद् तनु' कहते हैं, जिसके द्वारा नित्यधाम में नित्यभक्ति का याजन होता है।

ऐसा ही विचार ज्ञानी के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। साधारणतया ज्ञान अज्ञान के आवरण-अंश का नाश करता है, विक्षेप-अंश का नाश नहीं करता। इसलिए

ज्ञान का उन्मेष होने पर भी प्रारब्ध नष्ट नहीं होता। लेकिन हाँ, ज्ञान अगर बहुत ही तीव्र हो तो विक्षेप भी नष्ट हो सकता है। लेकिन वैसे में ज्ञान के उदय के साथ-साथ देहपात भी अवश्यम्भावी है। परन्तु ऐसा ज्ञान भी है, जिसके प्रभाव से कर्मजन्य देह नष्ट नहीं होती, उसका रूपान्तर होता है। यानी वह चिन्मयता प्राप्त करती है। पहले वह विशुद्ध सत्त्वमय होती है, उसकी जरा-मृत्यु निवृत्त हो जाती है। उसके बाद साक्षात् चिन्मयत्व प्राप्त होता है। पहली देह का नाम वैन्दव देह है, दूसरी का शाक्त देह। शाक्त देह चित् शक्तिमय होती है। उसमें विन्दु या महामाया का संस्पर्श भी नहीं रहता। वैन्दव देह ही सिद्ध देह है। बौद्ध, शैव और शाक्त सिद्धाचार्यगण ऐसी सिद्ध देह प्राप्त करके स्वेच्छानुसार विचरण करते हैं। यह देह प्राकृतिक नियम के बन्धन से बँधी नहीं होती। इस देह में रहकर वे जीव-सेवा किया करते हैं। इस देह में मृत्यु का भय नहीं रहता, इसलिए सुदीर्घ काल तक स्थित रहकर जगत् के कल्याण की चेष्टा की जा सकती है। पर सुदीर्घ काल के बाद इस देह का भी अवसान होता है। पर तब भी देहपात नहीं होता। उस देह को संकुचित करके योगी परम-धाम में प्रवेश करते हैं। कोई-कोई इसका वर्णन दिव्यतनु के नाम से करते हैं। नाथ-सम्प्रदाय, रसेश्वर योगी-सम्प्रदाय और महेश्वर-सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसकी विस्तार से आलोचना की है। St. John के Apocalypsc में भी इस विषय की चर्चा है। ख्रीष्टीय योगियों के पुनर्जीवन (resurrection) देह और आरुरुक्षु (ascension) देह में जो भेद है, इस प्रसंग में उसे स्मरण करना चाहिए।

वौद्ध योगियों के आध्यात्मिक जीवन में करुणा का स्थान कहाँ है, यह विवेच्य है। श्रावक और प्रत्येक बुद्धयान में बोधिसत्त्व का दुःख-दर्शन ही करुणा का मूल उत्स है। इसे सत्त्वावलम्बन करुणा कहते हैं। मृदु और मध्यकोटि महायान मत से अर्थात् सौत्रान्तिक और योगाचार सम्प्रदाय में जगत् की नश्वरता और क्षणिकता ही करुणा का मूल उत्स है। इसका नाम धर्मावलम्बन करुणा है। उत्तम महायान यानी माध्यमिक सम्प्रदाय के मत से करुणा का कोई मूल नहीं। उसकी पृथक् सत्ता नहीं है। इस मत से शून्यता से अभिन्न जो करुणा है, वही बोधि का अंग है। शून्यता जैसी लोकोत्तर है, करुणा भी वैसी ही लोकोत्तर है। यही अहेतुक करुणा है। अनंगवज्र कहते हैं: करुणावान् कभी किसी प्राणी को निराश नहीं करते—"सत्त्वानामस्ति नास्तीति न चैव सविकल्पकम्।" स्वरूप निष्प्रपञ्च होने के नाते चिन्तामणि की नाईं अखिल सत्त्व या जीव का अर्थक्रियाकारित्व है। इसी का दूसरा नाम कृपा है।

निरालम्बपदे प्रज्ञा निरालम्बा महाकृपा।
एकीभूता धिया सार्द्धं गगने गगनं यथा॥

मनोरथ नन्दी ने प्रमाणवार्त्तिक की वृत्ति में कहा है:

दुःखाद् दुःखहेतोश्च समुद्धरणकामना करुणा।

वार्त्तिककार धर्मकीर्त्ति कहते हैं—करुणा भगवान् बुद्ध का प्रामाण्य-साधन है। वह कहते हैं—यह अभ्यास से सम्पन्न होता है।

साधनं करुणाभ्यासात् सा बुद्धेर्देहसंश्रयात्।
असिद्धोऽभ्यास इति चेत् नाश्रयप्रतिषेधतः।

'अभ्यासात् सा' की व्याख्या में मनोरथनन्दी कहते हैं—"गोत्रविशेषात् कल्याणमित्रसंसर्गात् अनुशयदर्शनात् कश्चिन् महासत्त्वः कृपायां उपजातस्पृहः सादर-निरन्तरानेक-जन्मपरम्परा-प्रभावाभ्यासेन सात्मीभूतकृपया प्रेर्यमाणः सर्वसत्त्वानां समुदयहान्या दुःखहानाय मार्गभावनया निरोध-प्रापणाय च देशनां कर्त्तुकामः स्वयं-साक्षात्कृतस्य देशनायां विप्रलम्भसम्भावनात् चतुरार्यसत्यानि साक्षात्करोतीति, भवति साधनं कृत्वा प्रामाण्यस्य।।" (१।३६)

श्रावक और प्रत्येकबुद्ध से बुद्ध की यही विशिष्टता है। धर्मकीर्त्ति ने लिखा है—

परार्थवृत्तेः खड्गादेर्विशेषोऽयं महामुनेः।
उपायाभ्यास एवायं तादर्थ्यात् शासनं मतम्।।

प्रत्येकबुद्ध और श्रावक आदि का लक्षण वासना-हानि है। परन्तु सम्यक्-सम्बुद्ध परार्थवृत्ति होने के नाते सर्वोत्तम है।

यह दया सत्त्वदृष्टिमूलक नहीं, यह वस्तुधर्म है। इसलिए इसे दोषावह नहीं कहा जाता। वार्त्तिककार ने कहा है—

दुःखज्ञानेऽविरुद्धस्य पूर्वसंस्कारवाहिनी।
वस्तु धर्मादथोत्पत्तिर्न सा सत्त्वानुरोधिनी।। (१।१३७)

पूर्वज्ञान होने से पूर्वसंस्कार के प्रभाव से दया स्वभावतः उत्पन्न होती है। यह सर्वत्र अप्रतिहत है। पूर्वसंस्कार का मतलब वास्तव में पिछले अभ्यास की प्रवृत्ति के सिवा और कुछ नहीं। वस्तुधर्म का तात्पर्य वस्तु या कृपाविषयीभूत दुःख का धर्म है। यहाँ टीकाकार ने बिलकुल साफ शब्दों में कहा है कि जिनकी आत्मदृष्टि सर्वथा उन्मूलित हुई है, वैसे महापुरुषों की दुःखसम्मुखता होने से ही दया की उत्पत्ति होती है। क्योंकि वे दुःख को कृपा के विषयरूप में ग्रहण करने के आदी हैं। दुःख-मात्र का मूल कारण मोह है। बौद्धमत में मोह का मूल कारण सत्त्वग्राह या आत्मग्राह है। इसके उन्मूलित होने से किसी के प्रति द्वेष नहीं रहता। क्योंकि जिनके आत्म-दर्शन नहीं है, उनके लिए किसी के द्वारा व्यपकृत होने का भ्रम नहीं पैदा होता। इसलिए वह किसी से द्वेष नहीं करता। इस प्रकार कृपा दोष के मूलभूत आत्मग्राह के अभाव से उत्पन्न होती है। इसलिए यह दूषणीय नहीं। धर्मकीर्त्ति ने कहा है—

"दुःखसन्तानसंस्पर्शमात्रेणैवं दयोदयः ।" (१।१७८)

पूर्वकर्म का आवेश क्षीण होने से और अन्यान्य कारणों के सम्यक् रूप से नष्ट होने से अप्रतिसन्धिवश मुक्ति अवश्य ही रहती है, लेकिन जो महाकृपा-सम्पन्न हैं, उनका जन्म-आक्षेपक कर्म प्रणिधान द्वारा पुष्ट होता है, इसलिए उनके संस्कार की शक्ति क्षीण नहीं होती। इसलिए वह सम्यक् सम्बुद्ध हैं।

यह यावत्-आकाश चिरस्थायी है। परन्तु श्रावक का कर्म ऐसी देह को अभिव्यक्त करता है, जिसकी स्थिति का समय नियत है। उसकी करुणा बड़ी मृदु होती है, इसलिए देहस्थापन के लिए अपेक्षित महान् प्रयत्न उसमें नहीं रहता। इसलिए वह सभी काल में अवस्थान नहीं करता। लेकिन, इसके विपरीत वह महामुनि हैं, जो दूसरों के उपकार के लिए ही अवस्थान करते हैं और जो अकारण वात्सल्यमय हैं। वह वास्तव में कृपामय हैं। इस रूप में देखने से वह पराधीन हैं और विशिष्ट पराधीनता के नाते वह चिरस्थायी हैं। धर्मकीर्त्ति ने कहा है—

"तिष्ठत्येव पराधीना येषां तु महती कृपा।" (१।२०१)

अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावली में कहा है कि श्रावक और प्रत्येकबुद्ध कृपासत्त्वावलम्बनमूलक हैं। त्रिविध दुःखों में जिसे दुःखदुःख या परिणामदुःख कहा जाता है, उनलोगों की करुणा उसी को अवलम्बन करके आविर्भूत होती है। श्रावकों की देशना या उपदेश-प्रदान वाचिक है। परन्तु प्रत्येकबुद्ध का उपदेश कायिक है; क्योंकि सम्बुद्धों की अनुत्पत्ति तथा श्रावकों के परिक्षयवश प्रत्येकबुद्धों का ज्ञान असंसर्ग से उत्पन्न है। असंसर्ग से यही मतलब है कि अपने में एक ऐसी विशिष्ट योग्यता का सम्पादन आवश्यक है, जिसके प्रभाव से सूर्य-ज्योति की नाईं स्वभावकाय अथवा धर्मकाय की स्वतः फैलनेवाली रश्मियाँ स्वतः ही आहित हों। श्रावक और सम्यक्सम्बुद्ध से प्रत्येकबुद्ध का यही भेद हैं। बौद्ध-साधना का प्रत्येक अंश प्रज्ञा और करुणा की दृष्टि से विचार-योग्य है। देशना भी उसी के अनुरूप है।

(घ) महायान में दो नय—पारमिता और मन्त्र :

श्रावक और प्रत्येकबुद्ध तथा सम्यक् सम्बुद्ध—इन तीन तरह के साधकवर्ग में महायान ही योगपथ है। उसमें अवान्तर भेद है, यह सत्य है, फिर भी उसकी प्रधान धारा दो है—एक पारमितानय, दूसरी मन्त्रनय। सौत्रान्तिकगण सभी मृदु पारमितानय को स्वीकार करते हैं, परन्तु योगाचार और माध्यमिकों में कोई-कोई पारमितानय और कोई मन्त्रनय को ग्रहण करते हैं।

(ङ) योगाचार में साकार और निराकारवाद :

योगाचारमतावलम्बियों में कोई-कोई ज्ञान को साकार स्वीकार करते हैं और कोई-कोई ज्ञान को निराकार कहते हैं। इसलिए योगाचार मत दो प्रकार का है।

साकारवादियों के अनुसार परमाणु षडंश नहीं है। इस मत से सब कुछ चित्त-मात्र है। ग्राह्य और ग्राहक-भाव कल्पित है। इस मत के अनुसार कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु चित्तमात्र के रूप में लिया जाता है। चित्त निरपेक्ष और विचित्र प्रकाशमय है। जब वह चित्त विकल्पशून्य होता है, तो वही अद्वैत साक्षात्कार के नाम से परिचित होता है। निराकारवाद के अनुसार चित्त अनाकार संवेदन-मात्र स्वरूप है। वासनायुक्त चित्त अर्थाभास-रूप में प्रवृत्त होता है। आभास-मात्र ही माया है। तत्त्व निराभास है। वह शुद्ध और अनन्त आकाश जैसा निर्मल है। बुद्धकाय अथवा धर्मकाय निष्प्रपञ्च और निराभास है। उससे सम्भोगकाय और निर्माणकाय नाम के दो रूपकाय का आविर्भाव होता है।

(च) मायोपम समाधि और सर्वधर्माप्रतिष्ठान समाधि :

मतान्तर से किसी का लक्ष्य है मायोपम अद्वयवाद। कोई-कोई आचार्य इसे स्वीकार नहीं करते। उनकी राय में सर्वधर्माप्रतिष्ठानवाद ही युक्तिसिद्ध है। बुद्धगण मायोपम समाधि, महाकरुणा और अनाभोग-चर्या द्वारा बोधिसत्त्वों का दर्शन और ज्ञान-सम्पादन करते हैं। परन्तु इस दर्शन और ज्ञान, दोनों को मायावत् और छाया-वत् माना जाता है। चित्त के बाहर कोई जगत् नहीं है। जीवन-धारा वास्तव में किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं करके क्रमशः उच्च-उच्च भूमि प्राप्त करती है। सबके अन्त में समग्र त्रिधातु चित्तमात्र रूप में प्रतीत होता है। इसीका नाम मायोपम समाधि है। पर जो सभी धर्म को प्रतिष्ठानहीन मानते हैं, उनके सिद्धान्त से विश्व सत् नहीं है, असत् नहीं है, उभयात्मक नहीं है और अन-उभयात्मक भी नहीं है। इसलिए विश्व को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त माना जाता है।

(छ) साधन-जीवन के दो प्रकार—हेतुरूप और फलरूप :

आध्यात्मिक दृष्टि से साधन-जीवन की अवस्था दो प्रकार की है। एक हेतु-रूप या साधनरूप, दूसरी फलरूप या साध्यरूप। ज्ञान और भक्तिमार्ग में जैसे साधनरूप ज्ञानभक्ति और साध्यरूप ज्ञानभक्ति—दोनों का परिचय मिलता है, वैसे ही बौद्धों की चरमदृष्टि में भी साधनरूप करुणा और साध्यरूप करुणा का भेद मिलता है। साधन-अवस्था में भगवान् बुद्ध का चित्तोत्पाद से लेकर बोधिमण्ड उपक्रम, मारविध्वंसन और वज्रोपम समाधि तक मार्गस्वरूप है। इस मार्ग को पारमितानय कहते हैं। फलावस्था में एकादश भूमि का अन्तर्भाव समझना होगा। आशय और प्रयोग के भेद से हेतु दो प्रकार का है। सर्वसत्त्व का त्राण, यही है आशय और क्षय-अनुत्पाद ज्ञानरूप बोधि का अवलम्बन, इसका नाम है प्रयोग। प्रयोग दो प्रकार का है—एक का सम्बन्ध विमुक्ति-चर्या से है और दूसरे का भूमि से। पहला दान आदि विमुक्ति

में प्रायोगिक और पारमिता विमुक्ति में वैपाकिक है। दूसरे का भी दो अवान्तर भेद हैं—एक में अभिसंस्कार है, दूसरे में वह नहीं है। पहले में सात भूमियाँ अंगीकृत होती हैं; क्योंकि वहाँ आभोग और निमित्तरूपी कारणतत्त्व के प्रभाव से समाधि प्रवृत्त होती है। सप्तम भूमि में निमित्त नहीं रहता, लेकिन आभोग रहता है। अष्टम में आभोग भी नहीं रहता। इसलिए यह शुद्ध भूमि है। शुद्धभूमि की प्राप्ति होने से उद्‌वोधक-रूपी निमित्त और आभोग—दोनों का ही अभाव होता है। इसलिए इस भूमि में स्वभावसिद्ध समाधि का उदय होता है। इसी के प्रभाव से जगत् के सारे अर्थ अर्थात् विश्वकल्याण सम्पन्न होता है। उस समय परार्थ-सम्पादन होता है और सर्वसंवित् लाभ के लिए जगत्‌गुरु भाव का उदय होकर सर्वानुशासन हो सकता है। यह अवस्था दशम भूमि तक स्थायी होती है। इस ऊँची साधक-अवस्था का आरम्भ वुद्ध के मारविजय से माना जा सकता है और दस पारमिता की पूर्णता तथा सहज वज्रोपम समाधि की प्राप्ति तक स्थायी होती है।

किसी विशेष दृष्टि के अनुसार देखने से ऐसा लग सकता है कि यह साधक-अवस्था के अलावा और कुछ नहीं। इस अवस्था में जिन चार सम्पदों का उदय होता है, वे सब-के-सब अभ्यासात्मक हैं। जैसे—(१) अशेष पुण्य और ज्ञान-सम्भार का अभ्यास, (२) नैरन्तर्य का अभ्यास, (३) दीर्घकाल का अभ्यास, (४) संस्कार का अभ्यास। पातञ्जलयोगसूत्र में—"स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य सत्कार-सेवितः दृढभूमिः"—अन्तिम तीन का उल्लेख है।

(ज) सिद्धावस्था और सम्पत्-चतुष्टय :

सिद्धावस्था दस भूमियों के वाद। इस अवस्था में योगी के चार सम्पद् का उल्लेख देखने में आता है—(१) प्रहाण, (२) ज्ञान, (३) रूपकाय और (४) प्रभाव। प्रत्येक का अवान्तर भेद है। यहाँ उसका उल्लेख अनावश्यक है। रूपकाय में जो 'सम्पत्-चतुष्टय' के नाम से उल्लिखित होता है, वास्तव में वही मुख्य है—उसमें हैं महापुरुष के वत्तीस लक्षण, अस्सी अनुपव्यञ्जन, वल और वज्रांग या स्थिर देह। पतञ्जलि के योगसूत्र में कायसम्पद् के नाम से पञ्चरूप विशिष्ट पञ्चभूत जप का जो फल-निर्देश देखा जाता है, वौद्धग्रन्थ में वही सिद्धपुरुष के रूपकाय का स्वाभाविक सम्पद् कहकर वर्णित हुआ है। यहाँ जिस 'प्रभाव' शब्द का उल्लेख है, उसका मतलब है विशिष्ट ऐश्वर्य या ईश्वरत्व। किन्हीं-किन्ही वौद्ध आचार्य के मत से प्रभाव में वाह्य विषय का निर्माण, परिणाम-सम्पादन, वशित्वरूपी सम्पद् और भिन्न-भिन्न विभूतियाँ अन्तर्भूत हैं।

(झ) सत्त्वार्थ क्रिया :

वाद के किसी-किसी आचार्य ने पूर्वोक्त हेतु और फलावस्था से भिन्न

'सत्त्वार्थक्रिया' नाम की एक अलग अवस्था को स्वीकार किया है। इससे एक गहरे तत्त्व का संकेत मिलता है। वह यह कि आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य का मुख्य लक्ष्य केवल फल की प्राप्ति या सिद्ध अवस्था पाना नहीं, बल्कि यह चेष्टा है कि वह प्राप्ति सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो सके। यही सर्वोत्तम लक्ष्य है। इसी का नाम जीवसेवा है। बौद्ध दार्शनिक ने उसीका 'सत्त्वार्थक्रिया' के नाम से निर्देश किया है। इस मत से बोधि-चित्तोत्पाद से बोधमण्ड-निवेशन तक जितनी अवस्थाएँ हैं, वह सब साधन या हेतु के अन्तर्गत हैं। सम्यक् सम्बोधि की उत्पत्ति से सर्वक्लेश के प्रहाण तक फलावस्था है। उसके बाद प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्त्तन से शासन के अन्तर्धान तक तृतीय अवस्था। इससे समझ में आता है कि जीव अथवा जगत् की सत्त्वार्थक्रिया-रूप सेवा समग्र जीवन का लक्ष्य है। यह सृष्टि के अवसान तक स्थायी है। यदि सबकी मुक्ति हो जाय, तो शासन, शिष्य और शास्ता कोई नहीं रहेगा। जबतक सर्वमुक्ति नहीं होती, तबतक जीवसेवा रहेगी। इस मत के अनुसार हेतु-अवस्था, आशय, प्रयोग और वशिता—तीन प्रकार की है। सत्त्वानिर्मोक्ष प्रणिधान—यह आशय, प्रयोग—दो प्रकार का है। सप्त पारमितानय और दस पारमितानय। पहले में है दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा और उपाय। ये भूमिप्राप्त चार प्रकार के सम्पद्-सम्पन्न हैं। इन सम्पदों के नाम हैं—आशय, प्रयोग, प्रतिग्राहक और देहसम्पत्।

साधन-अवस्था में सब प्रकार का 'आदि कर्म' करना होता है। परन्तु सत्त्वार्थ-क्रियारूप फलावस्था में अनाभोग में ही प्रवृत्ति होती है यानी इस अवस्था में कर्म अपने ही आप सम्पन्न होता है, अभिमान करके कर्म-सम्पादन नहीं करना पड़ता है। दस पारमितावादी पूर्वोक्त सात पारमिता से अतिरिक्त प्रणिधान, बल और ज्ञान—ये तीन पारमिता को स्वीकार करते हैं।

आदर्श और नय

(क) मुमुक्षु के तीन आदर्श—श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और सम्यक् सम्बुद्ध :

बौद्धों के धार्मिक जीवन के उद्देश्य के बारे में कुछ चर्चा की गई। वही प्रकारान्तर से संक्षेप में और भी स्पष्ट रूप में कही जा रही है। प्राचीन बौद्धधर्म में मुमुक्षुओं में मुख्यतया तीन आदर्श प्रचलित थे—श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और सम्यक् सम्बुद्ध। पहले से दूसरा और दूसरे से तीसरा आदर्श श्रेष्ठ है। श्रावक का आदर्श क्षुद्र होने पर भी पृथग्जन से अच्छा था। श्रावक और पृथग्जन दोनों ही यद्यपि व्यक्तिगत दुःख-निवृत्ति का ही समान रूप से आदर करते थे, यह सत्य है, फिर भी पृथग्जन को उपायज्ञान नहीं था, पर श्रावक को वह था। दुःख-निवृत्ति के मार्ग से श्रावक का परिचय था। इस मार्ग का नाम है बोधि या ज्ञान। श्रावकों के स्वतः प्राप्ति नहीं थी। प्राप्ति के लिए इन्हें बुद्ध आदि शास्ता या गुरुवर्ग के उपदेश (देशना) ग्रहण करने पड़ते थे। यह ज्ञान औपदेशिक ज्ञान के नाम से परिचित है। पृथग्जन धर्म, अर्थ, काम—इन तीन वर्गों की साधना में लगा रहता था, पर श्रावक मुमुक्षु था। श्रावकों में से किसी-किसी का दुःख-निरोध पुद्गल नैरात्म्य-ज्ञान से सिद्ध होता था और किसी-किसी का प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान से होता था। धर्म-नैरात्म्य ज्ञान किसी भी श्रावक को नहीं होता था। इसलिए श्रावक कभी श्रेष्ठ निर्वाण नहीं पा सकता था। फिर भी यह अवश्य सत्य है कि श्रावकगण अधःपतन की आशंका से मुक्त होते थे; क्योंकि उनका क्लेश या अशुद्ध वासनारूप आवरण ज्ञान की अग्नि से दग्ध होता था। इसलिए त्रिधातु से उनके जन्म-ग्रहण की सम्भावना नहीं रहती थी—वे जन्म-मृत्यु के प्रवाहरूप प्रेत्यभाव से मुक्ति पाते थे।

प्रत्येकबुद्ध का आदर्श श्रावक से उन्नत था। यह सत्य है कि उनके साधन-जीवन की प्रेरणा वैयक्तिक स्वार्थ से आती थी, फिर भी उनका आधार अधिक शुद्ध था। चूँकि आधार शुद्ध था, इसलिए दुःख-निवृत्ति का उपाय या ज्ञान उन्हें दूसरे से प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी। वे पूर्वश्रुत आदि अभिसंस्कार से स्वयं ही बोधि प्राप्त कर सकते थे। बोधि-प्राप्ति का फल था बुद्धत्व-प्राप्ति। योगशास्त्र में जिसे अनौपदेशिक या प्रातिभ ज्ञान कहते हैं, प्रत्येकबुद्धों का ज्ञान प्रायः वैसा ही था। किसी-किसी अंश में इसे विवेकोत्थ या प्रातिभ ज्ञान का ही एक रूप कहा जा सकता है। यह लौकिक शास्त्र-ज्ञान नहीं। प्रत्येकबुद्ध अपने बुद्धत्व के प्रार्थी होते, बुद्धत्व प्राप्त भी करते, पर सबके बुद्धत्व के लिए प्रार्थना नहीं करते।

श्रावक और प्रत्येकबुद्ध के ज्ञान में भी भेद है। श्रावक का ज्ञान पुद्गल नैरात्म्य का अवबोध-रूप है। यह पुद्गलवादी के अगोचर है। प्रत्येकबुद्ध का ज्ञान मृदु इन्द्रिय है, इसलिए वह श्रावक के भी अगोचर है। श्रावकों के क्लेश-आवरण नहीं रहता, इसलिए उनका ज्ञान सूक्ष्म है। प्रत्येकबुद्ध के ज्ञेय आवरण का एकदेश यानी ग्राह्य आवरण भी नहीं रहता। इसलिए वह और भी अधिक सूक्ष्म है। श्रावक का ज्ञान पर-उपदेशहेतुक है, इसलिए वह षोडशाकार द्वारा प्रभावित होता है, इसलिए गम्भीर है। परन्तु प्रत्येकबुद्ध का ज्ञान स्वयं बोधरूप और तन्मयतारूप से उद्भूत है, इसीलिए वह और भी गम्भीर है। एक और बात है। प्रत्येकबुद्ध ग्राह्य विकल्प से मुक्त हैं। इसलिए शब्द का उच्चारण किये विना भी वह धर्मोपदेश देते हैं। अपने अधिगत ज्ञान आदि के प्रभाव से प्रत्येकबुद्ध औरों को कुशलादि में प्रवृत्त करते हैं, इसलिए उनकी साधना को अधिक गम्भीर कहा जाता है। उच्चार-रहित होने के कारण वह दूसरों के द्वारा प्रतिहत नहीं हो सकता।

तीसरा आदर्श है सम्यक् सम्बुद्ध का। यही श्रेष्ठ आदर्श है। इसके भी प्रकार-भेद हैं। सम्यक् सम्बुद्ध को ही भगवान् बुद्ध कहा जाता है। ये अनुत्तर सम्यक् सम्बोधिप्राप्त हैं। इनका लक्ष्य बहुत ही उदार है। कोटि-कोटि जन्मों की तपस्या और अशेष विश्व की कल्याण-भावना ही इसका मूल आधार है। क्लेश-आवरण और ज्ञेय आवरण के निवृत्त होते ही बुद्धत्व प्राप्त नहीं होता। प्रत्येकबुद्ध का भी द्वैतबोध पूर्णतया नष्ट नहीं होता। एकमात्र सम्यक् सम्बुद्ध ही अद्वयभूमि में प्रतिष्ठित और द्वैतभाव से मुक्त हैं। यह सही है कि ज्ञेय आवरण के निवृत्त हुए विना अद्वैत भाव का उदय नहीं हो सकता। पतञ्जलिदेव ने कहा है—'**ज्ञानस्य आनन्त्यात् ज्ञेयमल्पम्**'। ज्ञान अनन्त होने से ज्ञेय अल्प होता है। बुद्धावस्था अनन्त ज्ञान की अवस्था है। इसलिए आचार्यों ने इस ज्ञान को बोधि नहीं कहकर महाबोधि कहा है। इस अनन्त ज्ञान से अनन्त करुणा भी मिली होती है। सत्त्वार्थक्रिया या परार्थ-सम्पादन का भाव ही बुद्धों का बीज है—यही बुद्धत्व-लाभ का प्रधान कारण है। निर्वाण अथवा अपनी दुःख-निवृत्ति में लीन न होकर निरन्तर जीव-सेवा में लगे रहना, यही बोधिसत्त्व-जीवन का आदर्श है। यही आदर्श ग्रहण करके बोधिसत्त्व पूर्णत्व पाने में समर्थ होते हैं।

श्रावक सोपाधिक और निरुपाधिक बोधि प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु उनकी प्रज्ञा में तीव्र करुणा का समावेश नहीं रहता। इसलिए श्रावक संसार से डरते हैं, पर जो वास्तव में कारुणिक है, उस दुःख-भोग से नहीं डरते। क्योंकि वह समझ सकते हैं कि उनके दुःख-भोग से दूसरों का दुःख दूर होता है। ये सब महाश्रावक अपना-अपना आयुष्काल क्षीण होने के बाद निर्वाण-लाभ नहीं करने पर भी प्रदीप-

निर्वाण जैसा जन्मचक्र से मुक्त हो जाते हैं और मरण के बाद परिशुद्ध बुद्धक्षेत्र में अर्थात् अनास्रव धातु में समाहित होकर कमलपुट में जन्म-ग्रहण करते हैं। ये मातृगर्भ में फिर से प्रवेश नहीं करते। अमिताभ आदि सम्बुद्ध सूर्य इस कमलयोनि में समाधिस्थ सत्त्वगण को अपनी किरणों से अविलष्टतम के नाश के लिए प्रबोधित करते हैं। वैसे में ये गतिशील होते हैं और क्रमशः बोधिसम्भार (पुण्य और ज्ञान) संचय करते-करते जगद्गुरु का पद प्राप्त करते हैं। यह आगम का सिद्धान्त है।

सद्धर्मपुण्डरीक, लंकावतार-सूत्र, धर्ममेध-सूत्र, नागार्जुन के उपदेश आदि को देखने से लगता है कि श्रावकयान अवलम्बन करके कोई मुख्य मोक्ष-लाभ नहीं कर सकता—उस समय की यही धारणा थी। इसलिए उस समय बहुतेरे महायान की ही ओर आकृष्ट होते थे, ऐसा देखा जाता है। श्रावकगण अवश्य विश्वास करते थे कि इनके सम्प्रदाय में बोधिलाभ करने से निर्वाण की प्राप्ति निश्चित है, पर वास्तव में वह निर्वाण नहीं, त्रिलोक से निर्गम-मात्र है। कोई-कोई कहते हैं कि एकयान का उपदेश नियतगोत्र पुरुष के लिए है।

जो सचमुच में महायानी हैं, वह पहले प्रमुदिता भूमि प्राप्त करके क्रमशः अनुत्तर बोधि-लाभ करते हैं।

केवल शुद्ध बोधि से ही महाबोधि नहीं प्राप्त होती। उसके साथ भगवत्ता का योग जरूरी है। पारमिता का सम्भार जबतक पूर्ण नहीं होता, तबतक भगवत्ता का उदय नहीं हो सकता। बोधिसत्त्व चरम जन्म में पारमिता पूर्ण करके भगवत्ता प्राप्त करते हैं। परन्तु बुद्धत्व प्राप्त नहीं करते। कोई-कोई भगवत्ता के साथ बुद्धत्व भी प्राप्त करते हैं। यही भगवान् बुद्ध होते हैं। बोधि और भगवत्ता—ये दो धाराएँ पृथक् हैं। बोधि की धारा में बुद्धत्व है, पर वह सम्बुद्धत्व नहीं है। क्योंकि दूसरे के प्रति करुणा नहीं होने के कारण वह बोधि महाबोधि नहीं है। सारे विश्व को अपना मानकर करुणा-विगलित होकर उसकी सेवा नहीं कर पाने से महाबोधि का उदय नहीं होता। सेवाकर्म का नाम चर्या है, बोधिभाव का नाम प्रज्ञा। एक ही आधार में दोनों के युगपत् अवस्थित होने से बुद्धत्व और भगवत्ता अभिन्न भाव से प्रकाशित होते हैं। यही मानव-जीवन का चरम आदर्श है, यही बुद्ध की भगवत्ता है, यही भारतीय संस्कृति का रहस्य है। श्रीमद्भागवत में इसी को ब्रह्मत्व और भगवत्ता कहा गया है—

"वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यत् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।"

अर्थात् एक अद्वय ज्ञानात्मक तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् कहते हैं। योग कर्मात्मक है—'योगः कर्मसु कौशलम्'। ज्ञान, कर्म और भक्ति या

भाव—तीनों का महासमन्वय हो जाता है। ब्रह्म निर्गुण, निःशक्ति और निराकार है। परमात्मा सगुण, सशक्ति और ज्ञानाकार है। भगवान् सगुण, सशक्ति और साकार है। यही तीनों का लक्षणगत भेद है। लेकिन तीनों ही एकतत्त्व हैं। भागवत में जिस अद्वयज्ञान का उल्लेख है, उसका विवरण वज्रयान सम्प्रदाय के 'अद्वय वज्रसिद्धि' नामक ग्रन्थ में है—

"यस्य स्वभावेनोत्पत्तिर्विनाशो नैव दृश्यते।
तज्ज्ञानमद्वयं नाम सर्वसंकल्प वर्जितम्॥"

(चर्याचर्यविनिश्चय की संस्कृत-टीका से उद्धृत)

भागवत में भक्ति का जो स्थान है, बौद्धागम में करुणा का ठीक वही स्थान है। प्रज्ञापारमिता और करुणा का सामरस्य वास्तव में प्रज्ञा के प्रभाव से सास्रव धातुओं को अतिक्रम करना और करुणा के प्रभाव से निर्वाण में प्रवेश न करना तथा जगत् के कल्याण के लिए अनास्रव धातु में प्रवेश करना है।

"प्रज्ञया न भवे स्थानं कृपया न शमे स्थितिः।"

अर्थात् प्रज्ञावश संसार में स्थिति नहीं होती और कृपावश निर्वाण में भी स्थिति नहीं होती। सर्वार्थंकरणरूप पारतन्त्र्य के प्रभाव से बोधिसत्त्वगण भव और शम या निर्वाण, कहीं भी अवस्थान नहीं करते।

(ख) पारमितानय और मन्त्रनय :

पारमितानय और मन्त्रनय का उल्लेख पहले किया गया है। स्वयं बुद्ध ही दोनों नय के प्रवर्त्तक हैं। फिर भी विभिन्न दृष्टिकोणों से मन्त्रशास्त्र की प्रधानता स्वीकृत होती है। अद्वयवज्र ने लिखा है—

"एकार्थत्वेऽप्यसम्मोहात् बहूपायाददुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते॥"

मन्त्रनय बहुत ही गम्भीर और विशिष्ट है। उच्चाधिकार नहीं रहने से इसमें प्रवेश नहीं किया जा सकता। मन्त्रविज्ञान बहुत प्राचीन काल से ही भारत में प्रचलित था। चूँकि यह बहुत ही शक्ति-सम्पन्न था, इसलिए दुरुपयोग के डर से आचार्यगण मन्त्रमूलक साधना का जनसाधारण के निकट प्रकाश नहीं करते थे। इसका अनुष्ठान गुप्त रूप से ही करते थे। प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्त्तन की बात सभी जानते हैं। दूसरे और तीसरे धर्मचक्र-प्रवर्त्तन की प्रसिद्धि उतनी अधिक नहीं होते हुए भी वह अप्रामाणिक नहीं लगता। आगम के गम्भीर तत्त्वों का उपदेश जिस प्रकार कैलास आदि शिखर या मेरुशृंग आदि उच्च प्रदेश से शंकर आदि गुरु शिष्यरूपा पार्वती आदि को देते हैं, ठीक उसी प्रकार राजगृह के निकट गृध्रकूट नामक पर्वत से बुद्धदेव ने जिज्ञासु भक्तों के सामने पारमिता-मार्ग का प्रकाश किया था। गृध्रकूट में

भगवान् बुद्ध ने जिस समय समाधि ग्रहण की, उस समय उनकी देह से दसों दिशाओं में तेज छिटका और सभी ओर आलोकित हो उठा। मुँह खोलते ही उन्होंने देखा कि वहाँ अनगिनती सोने के सहस्रदल-कमल खिले हैं। उनके शरीर के प्रभाव से लोगों के नाना दुःखों का अन्त हुआ है। इस उपदेश का विवरण महाप्रज्ञापारमिता शास्त्र में है। प्रसिद्धि है कि नागार्जुन ने इस ग्रन्थ की टीका रची थी। इस ग्रन्थ के विभिन्न संस्करण विभिन्न समय में संकलित हुए। किसी-किसी संस्करण के किसी-किसी अंश का भाषान्तर भी हुआ है। बहुत पुराने समय से ही सभी देशों में इसका प्रचार हुआ था। महायान-साहित्य में शून्यता, करुणा, परार्थसेवा आदि विषयों और योग आदि का सविशेष वर्णन मिलता है। यह प्रज्ञापारमिता वास्तव में जगन्माता महाशक्तिरूपा महामाया हैं। महायान-धर्म के विकास में शाक्त आगम का पूरा प्रभाव देखने में आता है। यह महाशक्तिरूपा प्रज्ञा बोधिसत्त्वगणों की जननी तो हैं ही, बुद्धों की भी जननी हैं। शिव और शक्ति में जैसे चन्द्र और चन्द्रिका जैसा अभेद सम्बन्ध है, वैसा ही बुद्ध और प्रज्ञापारमिता के बारे में भी समझना चाहिए। विश्व के दुःख के निर्मोचन-कर्म में बोधिसत्त्वगण इसी जननी की प्रेरणा और सामर्थ्य से ही अग्रसर हो सकते हैं। यह पारमिता और मन्त्रनय सर्वत्र स्वीकृत है। महाशक्ति के अनुग्रह के बिना लोकार्थ-सम्पादन-कर्म असम्भव है।

पार .नय का लक्ष्य बुद्धत्व-लाभ है, मन्त्रनय का लक्ष्य भी ठीक वही है। पारमिता अवान्तर भेद भी है। उसकी आलोचना यहाँ अनावश्यक है। लेकिन यह कहा सकता है कि ध्यान, ध्यान का फल, दृष्टि, करुणा का स्वरूप त्रिकाय-विषयक विचार में दोनों धाराओं में कहीं-कहीं मतभेद है। मायोपम अद्वयवाद का लक्ष्य एक विशेष प्रकार का है, पर सर्वधर्मा प्रतिष्ठान का लक्ष्य उससे भिन्न है। दोनों ही जगह पारमिताओं की पूर्त्ति आवश्यक है, दोनों ही नय की साधना के क्षेत्र में योगाचार या योगचर्या का प्राधान्य है, परन्तु प्रत्येक नय में 'योग' शब्द का तात्पर्य अलग है। दोनों ही बोधिसत्त्व-यान हैं, यह भी सही है। पारमितानय में करुणा, मैत्री आदि चर्या-प्रधान हैं। माध्यमिक और योगाचार——दोनों सम्प्रदायों में पारमितानय का समादर था। नागार्जुन प्रवर्त्तित माध्यमिक मत समय की दृष्टि से कुछ प्राचीन है। इसका उद्भव-स्थान ठीक वही देश है जहाँ मन्त्रनय का उद्भव हुआ था। श्रीधान्यकटक नाम का यह स्थान अमरावती के पास है। तान्त्रिक साधना के इतिहास में श्रीशैल या श्रीपर्वत का नाम सुप्रसिद्ध है। यह द्वादश ज्योतिर्लिंगों में अन्यतम मल्लिकार्जुन का क्षेत्र है। बौद्ध-तान्त्रिक सम्प्रदाय का विश्वास यह है कि भगवान् बुद्ध ने धान्यकटक में ही मन्त्रनय का प्रचार किया था——यही तृतीय धर्मचक्र-प्रवर्त्तन है। नागार्जुन के कुछ दिनों के बाद आचार्य असंग प्रादुर्भूत हुए थे। ये

योगाचार-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध प्रवर्त्तक हैं। असंग वसुवन्धु के बड़े भाई थे। उस समय महायोगियों में उनकी गणना होती थी। इनके महायान-सूत्रालंकार ग्रन्थ में तान्त्रिक प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रसिद्धि है कि मैत्रेयनाथ के उपदेश के अनुसार इनका धार्मिक जीवन आमूल परिवर्त्तित हुआ था। आधुनिक अनुसन्धान से पता चलता है कि मैत्रेयनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। महायान-सूत्रालंकार की मूल कारिकाएँ वास्तव में इन्हीं की रची हुई हैं। मेरा विश्वास है, महायान-तन्त्र का प्रभाव असंग के पहले से ही आरम्भ हुआ था। मञ्जुश्रीमूलकल्प ग्रन्थ वहुतों का परिचित है, इसके सिवाय उस समय अष्टादश पटलात्मक 'गुह्य समाज' नाम के ग्रन्थ की बड़ी ही प्रसिद्धि थी। आगे की बौद्ध-तान्त्रिक साधना के विकास में गुह्य समाज का प्रभाव अतुलनीय है। उसपर नागार्जुन, कृष्णाचार्य, लीलावज्र, दीपंकर श्रीज्ञान, कुमारकलश, ज्ञानकीर्त्ति, आनन्दगर्भ, चन्द्रकीर्त्ति, मन्त्रकलश, ज्ञानगर्भ, दीपंकर भद्र आदि वहुतेरे सिद्ध और विद्वानों ने इस ग्रन्थ के तत्त्व पर विविध महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी। असंग के छोटे भाई वसुवन्धु पहले वैभाषिक धर्मावलम्वी थे। आगे चलकर असंग के प्रभाव से पक्के योगाचारी बन गये। असंग गुह्य समाज के रचयिता थे या नहीं, नहीं कहा जा सकता, मगर दोनों में घनिष्ठ सम्वन्ध था, इसमें कोई सन्देह नहीं। अच्छी तरह से प्राचीन शैव और शाक्त आगम की चर्चा करने से लगता है, असंग, नागार्जुन आदि उस आगम के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। कामाख्या, जालन्धर, पूर्णगिरि, उड्डीयान, श्रीपर्वत, व्याघ्रपुर आदि स्थान तान्त्रिक विद्या के साधन-केन्द्र थे। मातृका-साधन के उपयोगी केन्द्र भारतवर्ष के विस्तृत प्रदेश-समूह में फैले हुए थे। मन्त्रसाधन प्राचीन वाक्योग की ही एक विशिष्ट प्रक्रिया है।

पहले कह आये हैं कि बौद्धमत से पारमितानय के प्रवर्त्तक भी भगवान् बुद्ध ही थे। धीरे-धीरे मन्त्रमार्ग में वहुत-से अवान्तर भेद आ गये। उसके अनुसार वज्रयान, कालचक्रयान, सहजयान आदि का आविर्भाव हुआ।

इनमें कुछ भेद जरूर है, पर वहुत हद तक सादृश्य भी है। मन्त्रमार्ग में वास्तव में दो प्रकार का भेद देखा जाता है। लगता है, एक ही साधन-धारा वँटकर भाव की प्रधानता और गौणता से भिन्न हो गई। पारमितानय का सारा ही साहित्य संस्कृत में रचित है, परन्तु मन्त्रनय का मूल कुछ संस्कृत, कुछ प्राकृत, और कुछ अपभ्रंश है। शारदा आदि म्लेच्छ भाषा में भी मन्त्र-रहस्य की व्याख्या होती थी। यह वात लघुतन्त्रराजटीका विमलप्रभा में उल्लिखित है। मन्त्रनय की तीन धाराएँ परस्पर संश्लिष्ट थीं—वास्तव में यही बौद्ध-तान्त्रिक साधना है। यदि महाशक्ति की आराधना को ही तान्त्रिक साधना की विशिष्टता माना जाय, तो पारमितानय भी तान्त्रिक श्रेणी में परिगणित होगा, इसमें सन्देह नहीं।

वज्रयान की साधना में मन्त्र की प्रधानता है। इसीलिए कहीं-कहीं वज्रयान को मन्त्रयान भी कहा जाता है। सहजयान में मन्त्र पर खास जोर नहीं दिया गया है। किन्तु, वज्रयान और कालचक्रयान की साधना में मन्त्र की उपयोगिता को स्वीकार किया गया है। ऐसी किंवदन्ती है कि गौतमबुद्ध के पूर्ववर्त्ती दीपंकर बुद्ध इस मार्ग के आदि उपदेष्टा थे। वज्रमार्ग कालक्रम से लुप्त हो गया था। सुनने में आता है कि सांख्या 'कालार्कभक्षित' हुआ था और गीतोक्त योग दीर्घकाल तक लुप्त रहने के बाद ('योगो नष्टः परन्तप') श्रीकृष्ण के द्वारा पुनः प्रवर्त्तित हुआ था। ठीक इसी तरह वज्रयान का प्रवाह भी बिखर गया था। कहीं-कहीं यद्यपि उसका आभास था, तथापि यह सत्य है कि जन-मन पर उसका प्रभाव नहीं था। बाद में, वज्रयान वज्रयोग नाम धारण करके प्रकट हुआ था। राजा सुचन्द्र इसके प्रवर्त्तक थे।

तान्त्रिक साधना और मन्त्रनय

(क) वज्रयोग :

पारमिता-नय का विश्लेषण सौत्रान्तिक-नय के अनुसार किया जाता है। परन्तु मन्त्रनय की व्याख्या एकमात्र योगाचार और माध्यमिक दृष्टि से ही हो सकती है। सौत्रान्तिक मत से वाह्यार्थ अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं। माध्यमिक साधक विज्ञान भी स्वीकार नहीं करता। विशेष रूप से दृष्टि का प्रसार और उत्कर्ष-साधन हुए विना मन्त्र-साधना का अधिकार नहीं प्राप्त होता।

मन्त्रयान का लक्ष्य है वज्रयोग-सिद्धि। साधक का आधार योग्य नहीं होने तक मन्त्र-साधना सम्भव नहीं है। पूर्णता के पथ पर वढ़ने के लिए यही मार्ग श्रेष्ठ है। इस महामार्ग के चार स्तर हैं। एक-एक स्तर में पूर्ण योग का एक-एक रूप आवरण से उन्मुक्त होता है। चारों स्तर की साधना पूर्ण होने से योग पूर्णता-लाभ करता है। प्रत्येक स्तर के योगलाभ के पहले विमोक्ष-लाभ आवश्यक है।

कल्पना आदि और आवर्जना आदि से मुक्ति पाने को विमोक्ष कहते हैं। ऐसी मुक्ति पाने का उपाय ध्यान है। अतएव ध्यान, विमोक्ष, योग—यही स्वाभाविक क्रम है। चूँकि स्तर की संख्या चार है, इसलिए विमोक्ष भी चार प्रकार का है—शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित और अनभिसंस्कार। प्रत्येक योग के विमोक्ष के प्रभाव से एक-एक शक्ति का विकास होता है। अर्थात् एक-एक वज्रयोग में एक-एक शक्ति पूर्ण होती है। शक्ति के पूर्ण विकास के फलस्वरूप वज्रभाव का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से अपनी सत्ता को चार भागों में वाँटा जा सकता है—काय, वाक्, चित्त और ज्ञान। प्रथम वज्रयोग में काय-वज्रभाव पैदा होता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ के वारे में भी समझना होगा। जिसे काय-वज्र कहते हैं, वह स्थूल जगत् की पूर्णता है। वाकी तीन को भी इसी प्रकार से समझ लेना होगा।

पहले वज्रयोग का नाम विशुद्ध योग है। इसके लिए पहले शून्यता नामक विमोक्ष प्राप्त होना आवश्यक है। शून्यता से स्वभाव-शून्यता को ही लक्ष्य किया गया है। शून्यता सिद्ध होने से अतीत और अनागत नहीं रहता। शून्यता-दर्शन को योगिगण गम्भीर और उदार कहकर वर्णित करते हैं। अतीत और अनागत नहीं होने से वह गम्भीर है और न होते हुए भी उसका दर्शन होता है; इसलिए वह उदार है। जिस ज्ञान में शून्यता का ग्रहण होता है, उसी का पारिभाषिक नाम शून्यता-

विमोक्ष है। इससे तुरीय अवस्था का क्षय और अक्षय महासुख का उदय होता है। करुणा का लक्षण ज्ञानवज्र या सहजकाय है। वास्तव में यह प्रज्ञा और उपाय की साम्यावस्था है। यही विशुद्ध योग है।

दूसरे योग का नाम धर्मयोग है। इसके लिए आवश्यक है—अनिमित्त विमोक्ष। बुद्ध, बोधि आदि विकल्पमय चित्त को निमित्त कहते हैं। जिस ज्ञान में इस प्रकार का विकल्प नहीं रहता, उसका नाम अनिमित्त विकल्प है। इसके प्राप्त होने से सुषुप्तिदशा का क्षय होता है। उस स्थिति में मैत्रीरूप चित्त का उदय होता है, जो नित्य, अनित्य आदि द्वन्द्व से सदा विमुक्त है। इस प्रकार का चित्त वज्रधर्मकाय के नाम से प्रसिद्ध है। यह दो कायों का स्फुरण है। उस समय समझ में आता है कि यह जगत्-कल्याण-साधन निर्विकल्पक चित्त से भिन्न नहीं है। यह योग प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य-मात्र है।

तीसरे योग का नाम है मन्त्रयोग। इसके लिए अप्रणिहित नामक विमोक्ष की आवश्यकता है। निमित्त के अभाव से तर्क का अभाव होता है। वितर्क चित्त के अभाव से प्रणिधान का उदय नहीं होता। इसीलिए इसे अप्रणिहित कहते हैं। अप्रणिहित शब्द का तात्पर्य—'मैं सम्बुद्ध हूँ'—इस तरह के भाव का उदय है। इस विमोक्ष की प्राप्ति से स्वप्न का क्षय होता है और भीतर अनाहत ध्वनि सुनाई देती रहती है। यही वास्तविक मन्त्र है, या 'सर्वभूतरुत' है। इसका दूसरा नाम मुदिता है। इसके द्वारा सर्वसत्त्व का मोदन या आनन्द का संचार होता है। मन का त्राण होता है, इसलिए मन्त्र पद की सार्थकता समझनी चाहिए। इसका नाम वाक्वज्र या सम्भोगकाय है। प्रज्ञा और उपाय की समरसता ही मन्त्र योग है। यह सूर्य-स्वरूप है।

चतुर्थ योग का नाम संस्थान-योग है। इसके लिए अनभिसंस्कार नामक विमोक्ष की आवश्यकता है। श्वेत, रक्त आदि रंग, प्राणायाम और विज्ञान—इन सबका पारिभाषिक नाम अभिसंस्कार है। इस विमोक्ष के प्रभाव से जो विशुद्धि प्राप्त होती है, उसके फलस्वरूप जाग्रत् अवस्था का क्षय होता है और अनन्त निर्माणकाय का स्फुरण होता है। तब उपेक्षारूप कायवज्र की प्राप्ति होती है। रौद्र, शान्ता आदि रूप से इसका कोई सांकर्य नहीं है। निर्माणकाय या प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही संस्थान-योग है। तान्त्रिक बौद्धों ने 'कमलनय' कहकर इसका उल्लेख किया है।

ऊपर के विवरण से यह समझ में आयगा कि चार योगों से चार अवस्थाओं का अतिक्रम करना आवश्यक है। वज्रयोग का फल पूर्ण निर्मलता-लाभ करना है। तुरीय आदि चारों ही अवस्थाओं में किसी-न-किसी प्रकार का मल रह ही

तान्त्रिक साधना और मन्त्रनय

(क) वज्रयोग :

पारमिता-नय का विश्लेषण सौत्रान्तिक-नय के अनुसार किया जाता है। परन्तु मन्त्रनय की व्याख्या एकमात्र योगाचार और माध्यमिक दृष्टि से ही हो सकती है। सौत्रान्तिक मत से बाह्यार्थ अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं। माध्यमिक साधक विज्ञान भी स्वीकार नहीं करता। विशेष रूप से दृष्टि का प्रसार और उत्कर्ष-साधन हुए विना मन्त्र-साधना का अधिकार नहीं प्राप्त होता।

मन्त्रयान का लक्ष्य है वज्रयोग-सिद्धि। साधक का आधार योग्य नहीं होने तक मन्त्र-साधना सम्भव नहीं है। पूर्णता के पथ पर बढ़ने के लिए यही मार्ग श्रेष्ठ है। इस महामार्ग के चार स्तर हैं। एक-एक स्तर में पूर्ण योग का एक-एक रूप आवरण से उन्मुक्त होता है। चारों स्तर की साधना पूर्ण होने से योग पूर्णता-लाभ करता है। प्रत्येक स्तर के योगलाभ के पहले विमोक्ष-लाभ आवश्यक है।

कल्पना आदि और आवर्जना आदि से मुक्ति पाने को विमोक्ष कहते हैं। ऐसी मुक्ति पाने का उपाय ध्यान है। अतएव ध्यान, विमोक्ष, योग—यही स्वाभाविक क्रम है। चूँकि स्तर की संख्या चार है, इसलिए विमोक्ष भी चार प्रकार का है—शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित और अनभिसंस्कार। प्रत्येक योग के विमोक्ष के प्रभाव से एक-एक शक्ति का विकास होता है। अर्थात् एक-एक वज्रयोग में एक-एक शक्ति पूर्ण होती है। शक्ति के पूर्ण विकास के फलस्वरूप वज्रभाव का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से अपनी सत्ता को चार भागों में बाँटा जा सकता है—काय, वाक्, चित्त और ज्ञान। प्रथम वज्रयोग में काय-वज्रभाव पैदा होता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ के बारे में भी समझना होगा। जिसे काय-वज्र कहते हैं, वह स्थूल जगत् की पूर्णता है। बाकी तीन को भी इसी प्रकार से समझ लेना होगा।

पहले वज्रयोग का नाम विशुद्ध योग है। इसके लिए पहले शून्यता नामक विमोक्ष प्राप्त होना आवश्यक है। शून्यता से स्वभाव-शून्यता को ही लक्ष्य किया गया है। शून्यता सिद्ध होने से अतीत और अनागत नहीं रहता। शून्यता-दर्शन को योगिगण गम्भीर और उदार कहकर वर्णित करते हैं। अतीत और अनागत नहीं होने से वह गम्भीर है और न होते हुए भी उसका दर्शन होता है; इसलिए वह उदार है। जिस ज्ञान में शून्यता का ग्रहण होता है, उसी का पारिभाषिक नाम शून्यता-

विमोक्ष है। इससे तुरीय अवस्था का क्षय और अक्षय महासुख का उदय होता है। करुणा का लक्षण ज्ञानवज्र या सहजकाय है। वास्तव में यह प्रज्ञा और उपाय की साम्यावस्था है। यही विशुद्ध योग है।

दूसरे योग का नाम धर्मयोग है। इसके लिए आवश्यक है—अनिमित्त विमोक्ष। बुद्ध, बोधि आदि विकल्पमय चित्त को निमित्त कहते हैं। जिस ज्ञान में इस प्रकार का विकल्प नहीं रहता, उसका नाम अनिमित्त विकल्प है। इसके प्राप्त होने से सुषुप्तिदशा का क्षय होता है। उस स्थिति में मैत्रीरूप चित्त का उदय होता है, जो नित्य, अनित्य आदि द्वन्द्व से सदा विमुक्त है। इस प्रकार का चित्त वज्रधर्मकाय के नाम से प्रसिद्ध है। यह दो कायों का स्फुरण है। उस समय समझ में आता है कि यह जगत्-कल्याण-साधन निर्विकल्पक चित्त से भिन्न नहीं है। यह योग प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य-मात्र है।

तीसरे योग का नाम है मन्त्रयोग। इसके लिए अप्रणिहित नामक विमोक्ष की आवश्यकता है। निमित्त के अभाव से तर्क का अभाव होता है। वितर्क चित्त के अभाव से प्रणिधान का उदय नहीं होता। इसीलिए इसे अप्रणिहित कहते हैं। अप्रणिहित शब्द का तात्पर्य—'मैं सम्बुद्ध हूँ'—इस तरह के भाव का उदय है। इस विमोक्ष की प्राप्ति से स्वप्न का क्षय होता है और भीतर अनाहत ध्वनि सुनाई देती रहती है। यही वास्तविक मन्त्र है, या 'सर्वभूतरुत' है। इसका दूसरा नाम मुदिता है। इसके द्वारा सर्वसत्त्व का मोदन या आनन्द का संचार होता है। मन का त्राण होता है, इसलिए मन्त्र पद की सार्थकता समझनी चाहिए। इसका नाम वाक्वज्र या सम्भोगकाय है। प्रज्ञा और उपाय की समरसता ही मन्त्र योग है। यह सूर्य-स्वरूप है।

चतुर्थ योग का नाम संस्थान-योग है। इसके लिए अनभिसंस्कार नामक विमोक्ष की आवश्यकता है। श्वेत, रक्त आदि रंग, प्राणायाम और विज्ञान—इन सबका पारिभाषिक नाम अभिसंस्कार है। इस विमोक्ष के प्रभाव से जो विशुद्धि प्राप्त होती है, उसके फलस्वरूप जाग्रत् अवस्था का क्षय होता है और अनन्त निर्माणकाय का स्फुरण होता है। तब उपेक्षारूप कायवज्र की प्राप्ति होती है। रौद्र, शान्ता आदि रूप से इसका कोई सांकर्य नहीं है। निर्माणकाय या प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही संस्थान-योग है। तान्त्रिक बौद्धों ने 'कमलनय' कहकर इसका उल्लेख किया है।

ऊपर के विवरण से यह समझ में आयगा कि चार योगों से चार अवस्थाओं का अतिक्रम करना आवश्यक है। वज्रयोग का फल पूर्ण निर्मलता-लाभ करना है। तुरीय आदि चारों ही अवस्थाओं में किसी-न-किसी प्रकार का मल रह ही

जाता है। जबतक वे मल शुद्ध नहीं हो जाते, तबतक पूर्णता नहीं मिल सकती। तुरीय का मल है—राग-विशिष्ट इन्द्रियद्वय, सुषुप्ति का मल तम, स्वप्न का मल श्वास-प्रश्वास अर्थात् प्राणादि पञ्चक और सत्-असत् विकल्प तथा जाग्रत् का मल है संज्ञा या देहबोध।

तान्त्रिक योगिगण कहते हैं कि वैदिक योग से मलों की निवृत्ति नहीं होती, पर तान्त्रिक क्रिया के प्रभाव से मल रह नहीं सकता। इस मत से सब वस्तुएँ शून्य या स्वभावहीन हैं। अतीत नहीं, अनागत भी नहीं। यह जानकर ध्यान करने से मनोभाव शून्यात्मक होता है। यह बहुत ही गम्भीर विषय है और देशकाल आदि द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। जो ज्ञान इस आधार पर प्रतिष्ठित है, उसी को शून्यता-विमोक्ष कहते हैं। इसके प्रभाव से मोहनाशक निर्विकार आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। इसी का नाम सहजकाय और विशुद्ध योग है।

ऊपर जिन चार वज्रयोगों का संक्षिप्त विवरण दिया गया, वह गुह्य समाज, विमलप्रभा आदि ग्रन्थों का उपदेश भी तात्पर्यमूलक है। चैतन्य को आवरण से मुक्त करना ही योग का उद्देश्य है। एक-एक वज्रयोग के अनुष्ठान से चैतन्य से एक-एक आवरण हटता है, इसके फलस्वरूप समग्र विश्व-दर्शन का एक-एक अंग खुल जाता है। इसका नाम अभिसम्बोधि है। चार योगों से चार प्रकार की अभि-सम्बोधि का उदय होता है। वैसे में पूर्णता-लाभ का अन्तराय दूर हो जाता है।

साधारणतया इस सम्बोधि की आलोचना उत्पत्ति और उत्पन्न—इन दो क्रमों से की जाती है। बौद्धगण कहते हैं कि वैदिक धारा की साधना में भी इन दो क्रमों का परिचय मिलता है, पर प्रकार भिन्न है। सम्यक् प्रकार से विश्व-दर्शन करने के लिए सृष्टिक्रम और संहारक्रम अथवा आरोहक्रम और अवरोहक्रम—दोनों की आवश्यकता है। श्रीचक्र-लेखन की प्रणाली में केन्द्र से परिधि की ओर या परिधि से केन्द्र की ओर गति हो सकती है। परन्तु दोनों में तत्त्वदृष्टि से और कार्य की दृष्टि से भेद देखा जाता है। उसी तरह उत्पत्ति-क्रम और उत्पन्न क्रम में भी भेद है।

उत्पत्ति-क्रम में चार सम्बोधि-क्रम को समझने का उपाय यह है—सर्वप्रथम एक क्षण अभिसम्बोधि। यह स्वाभाविक या सहजकाय से संश्लिष्ट है। जिस क्षण में जन्म-उन्मुख आलय-विज्ञान, माता के गर्भ में माता और पिता के समरसीभूत विन्दुद्वय से एकत्व प्राप्त करता है, वह एक महाक्षण है। उस क्षण जिस सुखसंवृत्ति का उदय होता है, उसका नाम एकक्षण-सम्बोधि है। उस समय गर्भस्थ काया रोहू मछली की नाईं एकाकार रहती है। उसमें अंग-प्रत्यंग का विभाग नहीं रहता।

इसके वाद पञ्चाकार सम्वोधि का उदय होता है। प्रथम काया सहज काया से संश्लिष्ट थी, पर यह काया धर्मकाय से संश्लिष्ट होती है। माता के गर्भ में जब रूप आदि वासनात्मक पञ्चसंवृत्ति का उदय होता है, तब वह आकार कछुए जैसा स्फोटक-विशिष्ट दिखाई पड़ता है। यह पञ्चाकार, महासम्वोधि की अवस्था है।

इसके बाद उक्त पञ्चज्ञान से प्रत्येक ज्ञान पञ्चधातु, पञ्चइन्द्रिय और पञ्च-आयतन-भेद से वीस प्रकार का रूप धारण करता है। काय भी बीस अंगुल का होता है। यही विंशत्याकार सम्वोधि है। इसका सम्वन्ध सम्भोग-काया से है। यहाँ तक विकास मातृगर्भ में होता है।

इसके वाद गर्भ से निष्क्रान्ति होती है यानी प्रसव होता है। उस समय मायाजाल की तरह अनन्तभाव का संवेदन होता है। ज्ञान में फिर वीस प्रकार का भेद नहीं रहता, अनन्त भेद का स्फुरण होता है। इसका नाम मायाजाल-अभिसम्वोधि है, यह निर्माणकाय से संश्लिष्ट है।

मायाजाल का ज्ञान पैदा होने से समझना होगा कि उत्पत्ति-क्रम समाप्त हो गया। परम शुद्ध सत्ता से माया के राज्य में उतरने का यही इतिहास है। मातृगर्भ में ही रचना होती है। कामकला-तत्त्व का यही रहस्य है। शुक्ल विन्दु और रक्त विन्दु नाम के दो कारण-विन्दु कार्य-विन्दु के रूप में परिणत होते हैं। वाद की सृष्टि वास्तव में इस कार्य-विन्दु का ही क्रमविकास है। इसीका नाम केवल सुख-संवृत्ति है। उपनिषद् में भी है—

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'

यह वास्तव में महाक्षण की स्थिति है। सृष्टि में मायाजाल के अनन्त नागपाश विखरे हुए हैं। आनन्द टूट जाता है और नाना प्रकार के दुःखों का आविर्भाव होता है। लौटते हुए माया को छिन्न करके एक महाक्षण में लौटना पड़ता है अर्थात् निर्माणकाय से सहजकाय तक आरोहण करना पड़ता है। प्रत्यावर्त्तन की धारा में एकक्षण-संवृत्ति को अन्तिम विकास के रूप में स्वीकार किया जाता है। वास्तव में इसी क्षण में विश्वातीत महाशक्ति अवतीर्ण होती हैं और प्रत्यावर्त्तन करती हैं। योगी गर्भाधान के क्षण को ही उत्पत्ति-क्षण मानते हैं। परन्तु अयोगी की दृष्टि में गर्भ से निष्क्रमण-क्षण या नाड़ीच्छेद-क्षण ही उत्पत्ति-क्षण है। इस समय माया या वैष्णवी माया का स्पर्श होता है।

इसके वाद श्वास-प्रश्वास की क्रिया आरम्भ होती है। देह की रचना के मूल में क्षरविन्दु या आलय-विज्ञान है। यह अशुद्ध विज्ञान है। इसीका जन्म होता है। दो कार्य-बिन्दु इकट्ठा होकर देह की रचना करते हैं।

उत्पन्न क्रम वस्तुतः आरोहण-क्रम है। एक लिहाज से इसे संहार-क्रम भी

कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि से, इसे सृष्टि-क्रम भी कह सकते हैं। जैसे माया से ब्रह्म में स्थिति-लाभ करना एक धारा है, वैसे ही ब्रह्मावस्था में भी विकास का एक व्यापार है, जिसके प्रभाव से परमात्मा से भगवान् तक भाव की व्यञ्जना होती है। इसी दृष्टि से देखने से बौद्ध-चिन्तन का रहस्य खुल सकता है। माया के प्रभाव से प्रतिदिन इक्कीस हजार छह सौ श्वास-प्रश्वास की क्रिया चलती है। प्रत्यावर्त्तन की अवस्था में भी उसी प्रकार ठीक एक क्षण अभिसम्बोधि होती है। इस अवस्था में प्राण-वायु शान्त होती है। तब चित्त महाप्राण में स्थिर हो जाता है और स्थूल इन्द्रियों की क्रिया नहीं रहती। तब दिव्य इन्द्रिय का उदय होता है। स्थूल देहाभिमान जाता रहता है, दिव्य देह का आविर्भाव होता है। इस समय एक ही क्षण में विश्वदर्शन संघटित होता है : **'ददर्श निखिलं लोकं आदर्श इव निर्मले।'** इस ज्ञान का नाम वज्रयोग है—यह स्वभावकाय की अवस्था है।

क्षरविन्दु से देह-रचनात्मक सृष्टि होती है, अक्षर या अच्युत विन्दु से विशुद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक सृष्टि होती है। यही एक क्षण अभिसम्बुद्ध स्थिति ही वज्रसत्त्व की स्थिति है। इस अवस्था में श्वासचक्र की क्रिया नहीं रहती। इसी महाक्षण को ही बुद्ध का जन्मक्षण कहा जाता है। इसी का नाम द्वितीय जन्म है। —**'जन्मस्थानं जिनेन्द्रानामेकस्मिन् समयेक्षरे।'** यह स्वभावकाय की अवस्था है।

इसके वाद चित्त-वज्रयोग होता है। पहले जो वज्रसत्त्व थे, वह जव महासत्त्व-रूप में प्रकट होते हैं, तो परम अक्षर सुख का अनुभव होता है। इसका नाम पञ्चाकार अभिसम्बोधि है। आदर्श ज्ञान, समताज्ञान, प्रत्यवेक्षणज्ञान, कृत्यानुष्ठानज्ञान और पूर्ण विशुद्ध धर्मधातु का ज्ञान—यही मोक्षज्ञान हैं। रूपादि पञ्चस्कन्ध और द्रव्य आदि पञ्चधातु—दोनों ही प्रज्ञा और उपायात्मक हैं। यह पञ्चमण्डल निरोध-स्वभाव है—यह है धर्म और काल की अवस्था। इस समय श्वासचक्र फिर से क्रियाशील होता है।

जव सम्भोगकाय की अभिव्यक्ति होती है, तो उसका वाक्-वज्ररूप में वर्णन किया जा सकता है। यह महासत्त्व है, जिसका परिणाम बोधिसत्त्व है। यह द्वादशाकार सत्त्वार्थ बोधिसत्त्वों का अनुग्राहक है। इस सर्वसत्त्व रूप से धर्मदेशना किया जाता है। यह विंशति आकार अभिसंस्कार की दशा है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय, पाँच कर्मेन्द्रिय और निरावरण लक्षण वारह संक्रान्ति हैं।

सबके अन्त में काया-वज्रयोग का निरूपण होता है। यही निर्माणकाय है। अनन्त मायाजाल से काय का स्फुरण होता है। यहाँ की समाधि का नाम मायाजाल अभिसम्बोधि है। इस अवस्था में एक ही समय में अनन्त और नाना प्रकार की माया का निर्माण-लक्षण षोडश आनन्दमय विन्दु का निरोध होता है।

(ख) आनन्द-रहस्य :

प्रसंगवश बौद्ध-तान्त्रिक दृष्टि के अनुसार आनन्द-रहस्य के सम्बन्ध में दो-चार बातें कहना जरूरी है। स्थूल दृष्टि से आनन्द चार प्रकार का है—आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। जिस समय मन कामना से क्षुब्ध होता है, वही आनन्द के उदय का समय है। यह वास्तव में भाव का ही विकास है, इसमें सन्देह नहीं। शक्ति की अभिव्यक्ति से इसका आविर्भाव होता है। इसके बाद जब अभिव्यक्त शक्ति से मिलन पूर्ण होता है, तब बोधिचित्त भी पूर्णता प्राप्त करता है। इस पूर्णता का स्थान है ललाट। इस आनन्द का नाम है परमानन्द। बौद्ध-तान्त्रिक परिभाषा में शरीर का सार अंश विन्दु बोधिचित्त के नाम से अभिहित होता है। उत्तमांग से बोधिविन्दु का क्षरण होता है। इसी का दूसरा नाम अमृत-क्षरण है। इस अवस्था का नाम है ज्वाला। यही विरमानन्द का स्वरूप है। इसके बाद वाक् और चित्तविन्दु के अवसान से जब विन्दु-चतुष्टय का निष्क्रमण होता है, तो सहजानन्द का आविर्भाव होता है।

योगिगण कहते हैं कि प्रति पक्ष में प्रतिपदा से पञ्चमी तक पाँच तिथिरूप चन्द्रकला, आकाश आदि पञ्चभूत स्वरूप हैं। इनके नाम क्रम से हैं—नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा। इनके प्रतीक हैं—य र आदि वर्ण। इन पाँचों में आनन्द पूर्णता-लाभ करता है। षष्ठी से दशमी तक तिथि भी पूर्ववत् आकाश आदि पञ्च-भूत का स्वरूप। इसमें परमानन्द पूर्ण रहता है। एकादशी से पूर्णिमा तक भी आकाश आदि पञ्चभूत-स्वरूप होता है। इसमें विरमानन्द पूर्ण रहता है। इन तीन आनन्दों की जो साम्यावस्था है, वही षोडशी कला है, इसका नाम सहजानन्द है। इसमें सभी धातुओं का समाहार होता है। प्रत्येक आनन्द में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय भेद से—काय, वाक्, चित्त और ज्ञान के योग से चार प्रकार का योग आरम्भ होता है—यथा, कायानन्द, वागानन्द आदि। उसके अनुसार प्रत्येक आनन्द में संश्लिष्ट योग भी चार प्रकार का है। इस प्रकार से चार वज्रयोग षोडशी योग में परिणत होते हैं। इनके अलग-अलग नाम हैं। उनमें से पहले का नाम काम और अन्तिम का नाम नाद है।

(ग) शक्ति-उपासना—त्रिकोण और प्रज्ञातत्त्व :

तान्त्रिक उपासना वास्तव में शक्ति की ही उपासना है। बौद्धों की दृष्टि में प्रज्ञा ही शक्ति का स्वरूप है। इसका प्रतीक है त्रिकोण, जिसमें छह धातु मौजूद हैं। इसीलिए इसके छह गुण प्रसिद्ध हैं—जैसे, समग्र ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, ज्ञान और अर्थवत्ता।[1] चातुर्व्यूह के प्रसंग में वैष्णवगण भगवान् या वासुदेव के षाड्गुण्य-

---

१. सुप्रसिद्ध 'षण्णां भग इतींगना' में जिन छह गुणों का उल्लेख पाया जाता है, उनमें रूप के स्थान में धर्म और अर्थवत्ता के स्थान में वैराग्य पाठान्तर मिलता है।

विग्रह को स्वीकार करते हैं; संकर्षण आदि तीन व्यूह के प्रत्येक का गुण द्वयात्मक विग्रह मानते हैं। बौद्धागम और बौद्धेतर शाक्तागम में भी कुछ-कुछ यह प्रणाली देखने में आती है। शक्ति के प्रतीक तीन कोणों में तीन बिन्दु और केन्द्र में मध्य-बिन्दु है। मध्यबिन्दु में ही तीनों बिन्दुओं का समाहार होता है। इसलिए समष्टि में षड्गुण होता है। शाक्तों के चतुष्पीठ की कल्पना का मूल भी यही है। बौद्धगण कहते हैं कि यह त्रिकोण क्लेश, मार आदि का भंजन करता है। इसीलिए इसका नाम भग है। हेवज्रतन्त्र में प्रज्ञा को भग कहा गया है। इसका नाम वज्रधर धातु-महामण्डल है। यह महासुख का आवास है। यह 'ए' कार या धर्म धातु पद का वाच्य है। यह अजर, स्वच्छ आकाश की नाईं निर्मल, अनवकाश और प्रकाश-मय है। इसीका दूसरा नाम है वज्रालय या वज्रासन। यह अखण्ड, अपरिमित और अनन्त प्रकाशमय है। इसको आसन करके जो आसीन होते हैं, वास्तव में उन्हीं को भगवान् कहा जाता है। इन्हीं की महाशक्ति के रूप में गणना की जाती है।

बौद्धेतर आगमशास्त्र में भी 'ए'कार शक्ति का प्रतीक है। यह त्रिकोण है। अनुत्तर परस्पन्द का द्योतक 'अ' एवं उच्छलित आनन्द का द्योतक 'आ'। इस 'अ' या 'आ' के इच्छारूप 'इ' के साथ नियोजित होने से त्रिकोण की रचना सम्पन्न होती है। यही 'ए'कार है। यह विसर्ग आनन्दमय सुन्दर रूप में वर्णित होता है। स्मरण रखना होगा कि महाराज अशोक की ब्राह्मी लिपि में 'ए'कार त्रिकोणाकार है।

"त्रिकोणं एकादशकं वह्निगेहं च योनिजम्।
शृङ्गारं चैव एकारं नामभिः परिकीर्त्तितम् ।।"

इच्छा, ज्ञान और क्रिया—ये तीन त्रिकोण के रूप में परिणत होते हैं। विसर्गरूप पराशक्ति आनन्द-उदय के माध्यम से इच्छा और ज्ञान की व्यवस्था को भेद करके क्रियाशक्ति-रूप धारण करती है। त्रिकोण का उल्लास इसी का द्योतक है। यहाँ शक्ति नित्योदिता है, इसलिए यह परमानन्दमय है। योगिनी जन्म-आधार इस त्रिकोण से कुटिलरूपा कुण्डलिनी-शक्ति प्रकट होती है।

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम् ।।

बौद्धों का सिद्धान्त इसी के अनुरूप है।

"ए'काराकृति यत् दिव्यं मध्यं वंकारभूषितम्।
आलयः सर्वसौख्यानां बोधरत्न करण्डकम् ।।

बाहर दिव्य एकार, त्रिकोण के बीच वंकार, इसके मध्यविन्दु में सभी सुखों का आलय बुद्धरत्न निहित है। यह प्रज्ञा ही रत्नत्रय का अन्तर्गत धर्म है। इसीलिए एकार को धर्मधातु कहा जाता है। बुद्धरत्न इस त्रिकोण में या षट्कोण के मध्यविन्दु में प्रच्छन्न है।

(घ) मुद्रातत्त्व :

तान्त्रिक वौद्धों की भाषा में जो मुद्रा है, वह शक्ति का ही अभिव्यक्त या वाहरी रूप है। कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा—मुद्रा के चार प्रकार हैं। गुरुकरण के वाद साधन के लिए शिष्य को प्रज्ञा लेनी पड़ती है। प्रज्ञा ही मुद्रा या नायिका है। एक प्रकार का विवाह-व्यापार है यह। मुद्रा-ग्रहण के वाद अभिषेक और उसके वाद योग-क्रिया का अनुष्ठान आवश्यक होता है। वाहर और भीतर के विक्षेप को दूर करने के लिए मन्त्रक्रिया का अनुष्ठान करना पड़ता है। उसके वाद वोधिचित्त के उत्पादन की आवश्यकता होती है, जिसके लिए प्रज्ञा और उपाय का योग परस्पर सम्वन्ध अपेक्षित है। बोधिचित्त उत्पन्न होने के बाद उसे निर्माण-चक्र में या नाभि-प्रदेश में धारण करना आवश्यक है। इस धारणा के फलस्वरूप विन्दु स्थिरता पाता है और सत्-असदात्मक द्वन्द्व का वन्धन कटता रहता है। इसी के आनुषंगिक भाव से मन और प्राण की चंचलता भी निवृत्त होती रहती है। विन्दु जवतक चंचल रहता है, वौद्धगण तवतक संवृत्ति बोधिचित्त कहकर उसका वर्णन करते हैं। विन्दु के स्थिर होने से उसकी ऊर्ध्वगति सम्भव होती है। इस ऊर्ध्वगति के फलस्वरूप बिन्दु जव उष्णीष-कमल या सहस्रदल-कमल या महाबिन्दु-स्थान में जा सकता है, तो नित्य-आनन्द का आविर्भाव होता है। प्रचलित भाषा में इसे मुक्ति कहते हैं। बिन्दु की स्थिरता ही ब्रह्मचर्य-अनुष्ठान का फल है। विन्दु के स्थिर होने से योगक्रिया के द्वारा उसे क्षुब्ध या स्पन्दित किया जा सकता है। वैदिक साधना में ब्रह्मचर्य की सिद्धि के वाद विवाहोत्तर गृहस्थ-आश्रम में—'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्'—इस शास्त्रीय वाक्य का यही अभिप्राय है। इसके वाद विन्दु की क्रमिक ऊर्ध्वगति होती है, जिसके वारे में पहले कहा गया है। जव इस ऊर्ध्वगति की भी निवृत्ति होती है, तभी महासुख की अभिव्यक्ति होती है।

कर्ममुद्रा प्रारम्भिक है। कर्म से मतलव काय, वाक् और चित्त की चिन्ता आदि क्रिया है। इस मुद्रा के अधिकार से क्षण-भेद से चार प्रकार के आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। इनके क्रम के वारे में अद्वयवज्र का मत यह है कि तीसरे का नाम सहजानन्द और चौथे का नाम विरमानन्द है। इस क्रम का तात्पर्य यह है कि परम और विरम के सन्धिस्थल में लक्ष्य-दर्शन होता है। चार क्षण के नाम हैं—

विचित्र, विपाक, विलक्षण और विमर्द। धर्ममुद्रा धर्मधातु का स्वरूप है। यह निष्प्रपञ्च, निर्विकल्प, अनादि और करुणा-स्वभाव-विशिष्ट है। यह प्रवाह-रूप में नित्य है। इसीलिए यह सहज स्वभाव है। धर्ममुद्रा की स्थिति में अज्ञान या भ्रान्ति पूर्णरूप से निवृत्त होती है। साधारण योग-साहित्य में वाम नाड़ी और दक्षिण नाड़ी को आवर्त्तमय कहा गया है। आगमिक बौद्ध-साहित्य में पाश्ववर्त्ती दोनों नाड़ियों को प्रज्ञा और उपायरूपी लालना और रसना के नाम से वर्णित किया गया है। बौद्धतन्त्र की परिभाषा में मध्यनाड़ी का नाम अवधूती है। धर्ममुद्रा इसी का स्वरूप है। तथता के अवतरण के विषय में यही मुख्य द्वार-स्वरूप है। इसीलिए इसे 'मार्ग' कहते हैं। 'मध्यमा प्रतिपदा' इसी का दूसरा नाम है। आदर के साथ निरन्तर इसका अभ्यास कर सकने से निरोध का साक्षात्कार होता है। हान-उपादान से वर्जित जो स्वरूप-दर्शन है, वही सत्य-दर्शन है। इस मध्यमार्ग में ज्ञानगत ग्राह्य और ग्राहक-रूप विकल्प कट जाता है। तृतीय मुद्रा का नाम महामुद्रा है। यह निःस्वभाव तथा सारे ही आवरणों से निर्मुक्त है। यह दोपहर के आसमान की नाईं निर्मल और बहुत ही स्वच्छ है। यही स्पन्दों का आधार है। इसे एक प्रकार से निर्वाण-स्वरूप कहा जा सकता है। इससे अकल्पित संकल्प का उदय होता है।

यही अप्रतिष्ठित मानस की स्थिति और पूर्ण निरालम्ब अवस्था है। किन्हीं-किन्हीं योगी ने, **'अस्मृत्य मानसीकार'** कहकर इसका वर्णन किया है। इसका फल समय-मुद्रा है, जो मुद्रा-प्रकरण में चतुर्थ मुद्रा के रूप में गिनी जाती है। समय का स्वरूप अचिन्त्य है। इस अवस्था में जगत् के कल्याण के लिए स्वच्छ तथा विशिष्ट स्वभावकाय और निर्माणकाय-विशिष्ट वज्रधर रूप का स्फुरण होता है। इस विश्व-कल्याणकारी रूप को 'हेरूक' नाम से अभिहित किया जाता है। आचार्यगण यह मुद्रा ग्रहण करके, चक्राकार में पाँच प्रकार के ज्ञान की परिकल्पना करके आदर्शज्ञान, समताज्ञान आदि प्रकाशित करते थे।

(ङ) बोधिचित्त की उत्पत्ति और विकास :

पारमितानय और मन्त्रनय की साधना के पहले बोधिचित्त की उत्पत्ति आवश्यक है। सहानुभूति की प्रवृत्ति, सदगुरु (अथवा प्राचीन बौद्ध-परिभाषा में सन्मित्र या कल्याणमित्र) का प्रभाव, स्वाभाविक करुणा या दुःख से तीव्र परावृत्ति निवन्धन बोधिचित्त की उत्पत्ति हो सकती है। मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का विभाग साधारणतः दो या तीन काल में किया जा सकता है। पहला काल है साधक का। जो पथ पर आरूढ़ हुआ है और जो क्रमिक सिद्धियों से अग्रसर हो रहा है, उसका नाम साधक है। यह स्मरण रखना जरूरी है कि

बोधिचित्त की उत्पत्ति आध्यात्मिक परावृत्ति के बराबर-बराबर है। दूसरा काल है सिद्ध का। इस काल में साधक सम्यक् सम्बोधि और क्लेश-निरोध प्राप्त करता है। तृतीय काल है सिद्ध गुरु का। इस काल में पूर्वोक्त सिद्ध पुरुष सम्पूर्ण प्राणिजगत् में सेवा के लिए उद्यम करता है। इन तीन कालों को क्रमशः हेतुकाल, क्षणकाल और सत्त्वार्थ क्रियाकाल के रूप में वर्णित किया गया है।

परमज्ञान प्राप्त करने से पहले साधक को अपने साधन-जीवन की दो या तीन स्थितियों को पार करना होता है। पहली स्थिति वह है, जब साधक का चित्त विश्व के दुःख की भावना से भर जाता है और जब दुःख से छुटकारा दिलाने के लिए उसमें दृढ़ प्रतिज्ञा पैदा होती है। दूसरी स्थिति वास्तव प्रयोग के सम्बन्ध में है। इसमें पारमिता-साधन का अनुरूप स्थान है। अधिमुक्त चित्त की अवस्था में केवल सात पारमिता तथा उसके बाद अधिमुक्त चरित्र की अवस्था में सम्पूर्ण दस पारमिता की साधना में अग्रसर होना पड़ता है। प्रमाण-वार्त्तिक की टीका में मनोरथ नन्दी ने जो कहा है, उससे लगता है, यह प्रक्रिया पूरी तरह से बोधि के ऊपर निर्भरशील है। गरज कि साधक अवस्था बोधि के क्रम-विकास की अवस्था है। इससे बोधि क्रमशः अभिव्यक्त होकर अन्त में सिद्धावस्था में सम्बोधि-अवस्था को प्राप्त करती है।

(च) षडंग योग

अब बौद्ध योगियों के समादृत षडंग योग के बारे में संक्षेप में कुछ कह लें। हठयोग या राजयोग के साहित्य में जिस अष्टांग या षडंग योग का विवरण मिलता है, उससे बौद्धों का षडंग योग भिन्न है। गुह्य समाज, मंजुश्री, मूलकल्प, कालचक्रोत्तर-तन्त्र, मर्म-कलिकातन्त्र आदि में यह वर्णित है। बाद के बौद्ध-साहित्य में नारोपाकृत सेकोद्देश टीका में इसकी आलोचना मिलती है। साधारणतया यह बौद्ध-योग नाम से परिचित है, लेकिन लगता है, वैष्णव सम्प्रदाय-विशेष में और सम्भवतः नाथ-सम्प्रदाय में भी इसका प्रचलन था। ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार भास्कराचार्य के गीता-भाष्य (४।२८) में षडंग योग का उल्लेख मिलता है। बौद्ध-षडंग योग के जो छह अंग जिन नामों से अंगीकृत हुए हैं, वे छह अंग प्रायः वैसे ही नामों से भास्कर के भी ग्रन्थ में पाये जाते हैं। वे नाम क्रम से यों हैं— प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि। भास्कर-भाष्य में 'अनुस्मृति' की जगह 'तर्क' कहा गया है।

योगी का चरमलक्ष्य निरावरण प्रकाश को पाना है। बौद्ध तान्त्रिक आचार्य-गण कहते हैं कि इसीका नाम सम्यक् सम्बोधि, महाबोधि या बुद्धत्व है। यही उत्तम

सिद्धि है। समाजोत्तर-तन्त्र के मत से षडंग योग ही इसके पाने का साधन है। इसके चार उपाय हैं। उनमें से पहला उपाय सेवा-विधान, दूसरा उपसाधन, तीसरा साधन और चौथा महासाधन नाम से परिचित है। महोष्णीष-चक्र की साधना को सेवा-साधन कहा जाता है। यह अशेष त्रैधातुक बुद्धबिम्ब का स्वरूप है। अमृत कुण्डलिनी के रूप में इसे भावना करना उपसाधन कहाता है। देवतावृन्द की भावना को साधन कहते हैं। उसके बाद महासाधन का स्थान है। यही चरम और परम है। आवरण का लेश भी रहे तो महाबोधि का उदय नहीं हो सकता। परन्तु पूर्ण रूप से सर्वप्रधान आवरण से मुक्त होना हो तो प्रभामण्डल का आविर्भाव आवश्यक है और उसमें पूर्णता के पथिकरूपी योगी का प्रवेश होना भी आवश्यक है। लेकिन बहुत ही उच्चकोटि के योगी के लिए भी प्रभामण्डल में प्रवेश करना बड़ा दुरूह काम है, इसलिए कि जबतक दीर्घकाल की साधना के प्रभाव से वज्रसत्त्व-अवस्था का विकास नहीं होता, तबतक यह कल्पना से परे है। पर, वज्रसत्त्व-अवस्था पाने के लिए सबसे पहले पाँच अभिज्ञान प्राप्त करके बोधिसत्त्व-अवस्था में आरूढ़ होना जरूरी है। किन्तु मन्त्र की सिद्धि हुए बिना यह भी दुराशा ही है। आचार्यों का कहना है, मन्त्रसिद्धि का उपाय प्रत्याहार है। यही षडंग योग का प्रथम योगांग है।

प्रत्याहार-तत्त्व को विशेष रूप से समझना जरूरी है। दस इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय की ओर प्रवृत्त होती हैं या वृत्तिलाभ करती हैं। इसका नाम आहरण है। ये सारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होकर जब अपने स्वरूपमात्र का अनुवर्त्तन करती हैं तब इसका नाम प्रत्याहरण या प्रत्याहार होता है। प्रत्याहरण के समय विषय ग्रहण नहीं होता है, इसलिए इन्द्रियाँ विषय-भावापन्न नहीं होतीं। प्रत्याहार का पुनः-पुनः अभ्यास कर पाने से शुद्ध आकाश के धूम, मरीचि, खद्योत, दीपकलिका, चन्द्र, सूर्य या बिन्दु का दर्शन होता है। इन सबको निमित्त कहते हैं। ऐसे दस निमित्त हैं। अवधूती-मार्ग में चित्त के प्रवेश किये बिना धूम आदि निमित्तों का प्रतिभास नहीं होता। इन निमित्तों का दर्शन स्थायी हो जाने पर मन्त्र साधक के अधीन होता है और वाक्‌सिद्धि का उदय होता है। आकाश में त्रैधातुक बिम्ब-दर्शन को जब प्रत्याहार का अंग स्थिर करके उसे आयत्त किया जाता है, तो योगी सभी मन्त्रों का अधिष्ठाता हो सकता है। बिम्ब-दर्शन के सिद्ध होने से समझना होगा कि प्रत्याहार का कार्य सिद्ध हुआ और तब दूसरे योगांग-ध्यान का कार्य आरम्भ होता है। ध्यान में परिपक्वता पाने से पाँच अभिज्ञा आयत्त होती है। बौद्धगण कहते हैं, स्थिर और चर, सारे ही भाव पञ्च कामरूप हैं। पञ्चबुद्ध की भावना से उन सबकी बुद्धरूप में भावना आवश्यक है। बौद्धतन्त्र-मत से यही ध्यान का स्वरूप है। ध्यान के प्रभाव से

वाह्यभाव कट जाता है, चित्त दृढ़ होता है और बिम्व से चित्त का तादात्म्य होने से अनिमेष या दिव्यचक्षु का उदय होता है। दिव्य श्रोत्र आदि का उदय भी इसीके अनुरूप है। इसके वाद यानी अभिज्ञान पञ्चक के आविर्भाव के बाद योग के तृतीय अंग प्राणायाम की आवश्यकता है। इस समय मनुष्य की वाम और दक्षिण नाड़ी में प्रवहणशील दो श्वास-प्रवाह को निरुद्ध और एकीभूत करके पिण्ड के आकार में वदलना पड़ता है। वाद में इस पिण्ड को मध्य मार्ग में संचारित करने के वाद इसे क्रमशः ऊर्ध्व की ओर उठाकर नासाग्र में धारण करना पड़ता है। धारणा से मतलव इसे कल्पना कहना होगा। यह महारत्न-स्वरूप है। मनुष्य का स्वरूप पञ्चज्ञानमय और पञ्चभूत स्वभाव है। जभी यह पञ्चवर्ण है। इसीलिए कोई-कोई निरुद्ध श्वास को पञ्चवर्ण महारत्न कहकर उल्लेख करते हैं। इसे नाभि, हृदय, कण्ठ, ललाट और उष्णीष-कमल की कर्णिका में स्थिर करना जरूरी होता है। नासाग्र और उष्णीष-कमल का विन्दु समसूत्र है। वज्रयानी योगी इसी प्राणायाम को ही वज्रजाक कहकर अभिहित करते हैं। इसका मतलब यह कि दो विरुद्ध श्वास-धारा सम्मिलित होकर मध्यनाड़ी की राह उठकर नासाग्र में स्थिति-लाभ करती है। साधारण मनुष्य की प्राणवायु अशुद्ध प्रकृति का वाहन है। इसीलिए वह संसार का कारण है। जो सब योगी पञ्चक्रम के रहस्य के जानकार हैं, एकमात्र वही इस श्वास के रहस्य को समझ सकते हैं।

प्राणायाम की सिद्धि से बोधिसत्त्व-भाव का उदय होता है और तब बोधिसत्त्वगण उसका निरीक्षण करते हैं। प्राणायाम सिद्ध होने से योग के चतुर्थ अंग धारणा के अभ्यास का अधिकार पैदा होता है। योग-दृष्टि से अपना इष्ट मन्त्र ही प्राण है। इसका हृदय-कर्णिका में ध्यान करना होता है, उसके वाद प्राण को ऊपर उठाकर ललाट में बिन्दु-स्थान में निरुद्ध करना होता है। प्राण ही मन्त्र है; क्योंकि यह मन का त्राण करता है। इसी प्राण या इष्टमन्त्र का शान्त भाव धारण करके बिन्दु-स्थान में निरोध धारणा के नाम से परिचित है। धारणा का फल है वज्रसत्त्व में समावेश। अवतक योग का जितना अभ्यास हो चुका है, उसके प्रभाव से महारत्नरूप प्राणवायु स्थिरता प्राप्त कर चुकी है। यह स्थिर वायु नाभिचक्र से चाण्डाली नाम की कुण्डलिनी-शक्ति को उठाती है, तब वह शक्ति वज्रमार्ग से मध्यधारा का अवलम्बन करके उष्णीष-कमल-कर्णिका में पहुँचती है और कायादि स्वभाव चार विन्दुओं को गुरुनिर्दिष्ट स्थान में ले जाती है। धारणा में सिद्धि प्राप्त होने पर चाण्डाली शक्ति उज्ज्वलता प्राप्त करती है और बोधिसत्त्व वज्रसत्त्व-अवस्था में पहुँचता है, तब ग्राहक-चित्त या वज्रसत्त्व शून्यता विम्बरूप ग्राह्य में समाविष्ट हो जाता है। विन्दु में धारणा के फलस्वरूप प्राण गतिशून्य

होता है, इसलिए एकाग्र होता है। तब पञ्चम योगांग के आविर्भाव का अवसर आता है। धारणा तक के अभ्यास का फल है संवृति-सत्त्व की भावना की निश्चलता। इसी सत्त्व के द्वारा त्रिधातु का प्रतिभासन होता है। योग का पञ्चम अंग है अनुस्मृति। इसका उद्देश्य है—संवृति-सत्त्वाकार एकदेशवृत्ति आकार का समग्र आकाशव्यापी रूप में दर्शन। वैसे में त्रिकालस्थ समग्र भुवन का दर्शन-लाभ होता है। यही वास्तव में अनुस्मृति का स्वरूप है। अनुस्मृति के फलस्वरूप विमल प्रभामण्डल का आविर्भाव होता है और उसमें योगी का प्रवेश होता है। उस अवस्था में चित्त सम्यक् रूप से विकल्पशून्य होता है और योगी के लोमकूप से पञ्चरश्मि निकलती है। इसे महारश्मि कहते हैं। फिर ग्राह्य और ग्राहक चित्त एक हो जाता है और अक्षर सुख का आविर्भाव होता है। उस समय निखिल आवरण की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही योग का षष्ठ अंग या समाधि है। बुद्धत्व इसी का नामान्तर है। अचानक ही एक महाक्षण के महाज्ञान की निष्पत्ति होकर समाधि आविर्भूत होती है। प्रज्ञा और उपाय की समापत्ति के द्वारा पहले सभी भावों का समाहार होता है। फिर पिण्डयोग में भावना-विशेष के फलस्वरूप अकस्मात् महाज्ञान का उदय होता है और निष्पन्न आदि क्रम से व्योमकमल का उद्गम होने से पूर्ववर्णित सुख का आविर्भाव, ज्ञेय और ज्ञान का साम्य तथा चल-अचल सारे प्रतिभासों का उपसंहार होता है। तब पिण्डयोग से परम अनास्रव महासुखात्मक प्रभास्वर से बिम्ब में भावना करनी होती है। लौह आदि सभी रसों का भक्षण करके जैसे एकमात्र सिद्ध रस मौजूद रहता है, वैसे ही यह परम अनास्रव महासुखमय प्रभास्वर भी सब कुछ को ग्रास करके स्वयं अखण्ड रूप में विराजता रहता है। इस प्रभास्वर में संवृति-सत्त्व की भी बिम्ब-भावना करनी होती है। यह साक्षात्कारात्मक है। इसके परिणामस्वरूप महाज्ञान का आविर्भाव होता है। फिर संवृति-सत्त्व और परमार्थ-सत्त्व का द्विधाभाव कट जाता है और अद्वय रूप में उनका प्रकाश होता है। युगनद्ध विज्ञान का यही रहस्य है। यही बुद्ध या आत्मा का परम स्वरूप है। समाधिवशितावश निरावरण भाव का उदय होता है। यही अचल स्थिति है।

(छ) अभिषेक-तत्त्व

योग-साधन के प्रसंग में अभिषेक के बारे में कुछ नहीं कहने से लगता है, यह विवरण अधूरा रह जायगा। इसीलिए यहाँ दो-एक बात कही जा रही है। तान्त्रिक साधना का गुप्त उपदेश यही है कि जैसे दीक्षा के बिना सत्यज्ञान का उदय नहीं होता, वैसे ही अभिषेक के बिना उस ज्ञान का अन्यत्र संचार नहीं किया जा सकता। इसलिए जिसका वास्तव में पूर्ण अभिषेक नहीं हुआ है, उसे गुरु-पद पर आसीन

होने की योग्यता नहीं है। धर्मचक्र-प्रवर्त्तन ही गुरुकृत्य है। सम्बुद्धगण भी अभिषेक के द्वारा ही इसे करते हैं।

वज्रयान-मत से अभिषेक सात प्रकार का है। यथा, उदकाभिषेक, मुकुटाभिषेक, पट्टाभिषेक, वज्रकण्ठाभिषेक, नामाभिषेक, अनुज्ञाभिषेक और प्रज्ञाभिषेक। इनमें से पहले दो अभिषेक देहशुद्धि के लिए आवश्यक हैं। तीसरा और चौथा वाक्शुद्धि के लिए और पाँचवा तथा छठा चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक हैं। सातवें का उद्देश्य है ज्ञानशुद्धि। अभिषेक के बाह्यांग का बहुत विवरण वज्रयान के विभिन्न ग्रन्थों में पाया जाता है। यहाँ उसकी चर्चा अनावश्यक है। देह पञ्चधातुमय है, उष्णीष से कटिसन्धि तक पञ्चम जन्मस्थान में यथाविधि समन्त्रक अभिषेक द्वारा पञ्चधातु की शुद्धि हो जाने से कायशुद्धि होती है। इसीका नाम उदकाभिषेक है। मुकुटाभिषेक के द्वारा पञ्चस्कन्ध या प्रञ्चतथागत की शुद्धि होती है। इस प्रकार धातुस्कन्ध निर्मल होने के फलस्वरूप देह की शुद्धि सम्यक् प्रकार से होती है। तीसरे और चौथे अभिषेक से दस पारमिताओं की पूर्णता होती है। इससे चन्द्र-सूर्य शुद्ध होता है। पाँचवें अभिषेक से रूप आदि विषय और चक्षु आदि इन्द्रिय का शोधन होता है। इसके प्रभाव से प्रकृत विषय का नियन्त्रण होता है, इसलिए महामुद्रा-साधन में सहायता मिलती है। सातवें अभिषेक के द्वारा राग-द्वेष का शोधन होता है और मैत्री आदि ब्रह्मविहार की पूर्त्ति होती है। छठे अभिषेक के बाद की अवस्था वज्र शब्द के द्वारा वर्णित होती है। सातवाँ अभिषेक धर्मचक्र-प्रवर्त्तन अथवा बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए है। असंख्य प्राणियों के आशय का अनुसरण करके परम गुह्य वज्रयान के रहस्य का उपदेश करने के लिए संवृति-सत्त्व और परमार्थ-सत्त्व का विभाग किया जाता है। इस तरह बुद्धत्व के निष्पादन के लिए सातवाँ अभिषेक उपयोगी है। इन सात प्रकार के अभिषेकों के द्वारा शिष्य की काया आदि चार वज्र के शुद्ध होने से हाथ में धारण करने के लिए वज्रघण्टा की आवश्यकता होती है।

संवृति और परमार्थ के भेद से अभिषेक दो प्रकार का है। संवृति दो प्रकार की— लोक-संवृति और योगी-संवृति। पहली अधर-संवृति और दूसरी उत्तर-संवृति। उदकादि सात अभिषेक की जो कही गई, वह सब-के-सब लौकिक सिद्धि के सोपान हैं। यह सब तान्त्रिक शास्त्र में पूर्वसेक के नाम से परिचित हैं—उत्तरसेक नहीं। योगी-संवृतिरूप अभिषेक तीन प्रकार का है—पहला, कुम्भाभिषेक या कलशाभिषेक, दूसरा गुह्याभिषेक और तीसरा प्रज्ञाभिषेक। यही उत्तरसेक लोकोत्तर सिद्धि के निदान हैं। यह सब संवृति होते हुए भी परमार्थ के अनुकूल हैं। परमार्थ-सेक ही अनुत्तरसेक के नाम से प्रसिद्ध हैं। पूर्वसेक के लिए मुद्रा जरूरी

नहीं है, परन्तु उत्तरसेक मुद्रा के विना नहीं होता। अनुत्तरसेक के सम्बन्ध में कुछ कहना नहीं है। अनुत्तरसेक बहुत ही दुर्बल है।

पूर्ववर्णित उत्तरसेक के तीन प्रकार हैं—क्षर, अक्षर और सस्पन्द। अनुत्तर या पारमार्थिक सेक निस्पन्द है। कुम्भसेक से चतुर्दश उष्णीप-कमल से उतरकर बिन्दु ललाट के सहस्रदल की कर्णिक में आता है। इसके प्रभाव से काय, वाक्, चित्त और ज्ञान में आनन्द मिलता है। गुह्य सेक से विन्दु वत्तीस दल-कमल से हृदय के अष्टदल कमल की कर्णिका में आता है। इससे चारों कायों में परमानन्द-लाभ होता है। यह आनन्द से अधिकतर तीव्र होता है। प्रज्ञासेक से विन्दु नाभि के चौंसठ दल-कमल से बत्तीस दल-गुह्य कमल में आता है। यहाँ तक कि वज्रमणि के रन्ध्र में प्रवेश करता है। यह परमानन्द से भी उत्कृष्ट तृतीय आनन्द है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि उत्तरसेक के विना उष्णीष-कमल में स्थिरीकृत विन्दु नीचे नहीं उतर सकता। प्रथम सेक में बिन्दु कुछ दूर उतर आता है। दूसरे सेक में और कुछ उतरता है। तीसरे सेक में उतरते-उतरते बिन्दु वज्रमणि के आगे के भाग तक पहुँचता है, मगर फिर भी स्खलित नहीं होता। उसके बाद उत्तरसेक में विन्दु स्खलित होने की आशंका ही नहीं रहती। ग़रचे प्रज्ञासेक में भी विन्दु का पतन नहीं होता, फिर भी उस समय विन्दु स्पन्दहीन नहीं रहता। परन्तु अनुत्तरसेक में विन्दु विलकुल निस्पन्द हो जाता है। तव उसकी ऊर्ध्वगति और अधोगति, दोनों ही समाप्त हो जाती है। तव और आवर्त्तन पूरा होता है। यही सहजानन्द की अवस्था है।

उष्णीष-कमल में विन्दु को स्थिर करना जैसा आवश्यक है, वैसा ही बिन्दु को उतार लाना भी आवश्यक है। आरोह और अवरोह, दोनों ही जरूरी हैं। इसके वाद फिर किसी की भी जरूरत नहीं रहती। धर्मचक्र-प्रवर्त्तन के व्यापार में गुरुकृत्य-सम्पादन करना होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है। परन्तु पिता जैसे सन्तान की प्राकृत देह का जनक है, सद्गुरु भी वैसे ही शिष्य की अप्राकृत देह के जनक हैं।

इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से गुरु पिता-तुल्य हैं। इस ज्ञानदान-व्यापार को लोग एक प्रकार का गर्भाधान ही मानते थे। शुद्ध विन्दु के अवतरण के विना शुद्ध देह की रचना अथवा दूसरा जन्म नहीं हो सकता। ज्ञानीगण इस शुद्ध देह को ही ज्ञानदेह, बैन्दवदेह कहा करते थे।

सद्गुरु की कृपा की महिमा अपार है। स्वाधिष्ठान-रूप तृतीय शून्य में वज्रगुरु का अधिष्ठान होने से चतुर्थ शून्य आप ही उससे मिल जाता है। इस समय युगनद्ध मूर्त्ति का दर्शन होता है। उसके प्रभाव से विचित्र आदि क्षण के

द्वारा चतुर्थ आनन्द को सम्बोधित करके सिद्धि-लाभ करना आवश्यक है। इसके बाद मध्यमार्ग के निरुद्ध हो जाने से नाना प्रकार का प्रकृति-दोष और समाधि-मल ध्वंस होता है। इसके परिणामस्वरूप अनुत्तरबोधि का उदय होता है, जिसे पहले षडंग योग के वर्णन-प्रसंग में निरावरण प्रकाश की अभिव्यक्ति कहा गया है। फिर ज्ञान से ग्राह्य और ग्राहक—इन दो विकल्पों के कट जाने से यही निर्विकल्प ज्ञान के नाम से आत्मप्रकाश करता है। इसके द्वारा सर्वधर्म का अनुपलम्भ होता है। जिस विन्दु से जन्म होता है, विषय विकल्पहीन उसी विन्दु में जाकर उसे जानना होता है। इसके बाद अपनी विन्दु-शक्ति में प्रतिष्ठित रहकर उसी शक्ति के सहारे सारी बाधाएँ दूर करनी पड़ती हैं। फिर तो साकार और निराकार का शाश्वत विरोध सदा के लिए निवृत्त हो जाता है। यही तथता है।

उपसंहार

(क) अबतक जो कुछ कहा गया, उससे लग सकता है कि बौद्धयोग वाग्योग का ही एक प्रकार-भेद मात्र है। प्राकृतिक शक्ति-समूह को जगाने का श्रेष्ठ उपाय शब्द है। बीज, वर्ण, मातृका आदि इसीके रूपान्तर हैं। कुण्डलिनी-शक्ति प्रत्येक आधार में सुप्त है। उसे प्रबुद्ध कर सकने से वह जाग्रत् शक्ति साधक की अन्तःप्रकृति से मिलकर विचित्रता प्राप्त करती है। इसीलिए साधक की भिन्नता के कारण मन्त्र भी भिन्न होता है। बीज जैसे अंकुरित होकर वृक्ष, फूल, फल में परिणत होता है, वैसे ही शब्द-बीज मूर्त्त होकर देव-देवियों का आकार-परिग्रह करता है। मीमांसा के मत से देवता मन्त्रात्मक हैं, पर वेदान्त के मत से देवता विग्रहरूप हैं। वास्तव में ये दोनों ही मत सही हैं। वाचक और वाच्य अथवा नाम और रूप चूँकि अभिन्न हैं, इसलिए मन्त्र और दिव्य-विग्रह तात्त्विक दृष्टि से अभिन्न हैं। निरुक्त के दैवतकाण्ड में देवता की साकारता और निराकारता के बारे में थोड़ा-सा संकेत किया गया है।

साधारणतया सर्वत्र ही देखा जाता है कि साधक का मन्त्र-विचार उसके प्रकृति-विचार पर प्रतिष्ठित है। रोग का निर्णय नहीं कर पाने से औषध का निर्णय नहीं किया जा सकता। पञ्चस्कन्ध का मूल वास्तव में पञ्चभूत है, इसमें सन्देह नहीं। इसलिए मूल में पाँच ही प्रकार के भेद देखे जाते हैं। तान्त्रिक दृष्टि से इसका पारिभाषिक मन्त्र कुल है। हेवज्रतन्त्र में कुल का विवरण है। देवता के प्रकट होने से उनका आवाहन करना होता है। अव्यक्त अग्नि से जैसे दीया नहीं जलाया जा सकता, वैसे ही अप्रकट देवता का भी आवाहन नहीं किया जा सकता। जिस करण या साधन से देवता का आवाहन किया जाता है, उसे मुद्रा कहते हैं। एक-एक

प्रकार के आकर्षण के लिए एक-एक प्रकार की मुद्रा की जरूरत होती है। देवता प्रकट होकर और फिर आकृष्ट होकर अपने-अपने गुण के अनुसार निश्चित स्थान ग्रहण करते हैं। इसका नाम मण्डल है। मण्डल के केन्द्र में अधिष्ठाता देवता रहते हैं। चारों ओर वृत्त के आकार में असंख्य देवी-देवता वास करते हैं।

बौद्धधर्म में ज्ञान, योग, चर्या आदि में आगम का कब, कितना और कैसे प्रभाव पड़ा, यह कहना कठिन है। लगता है, बीज-रूप में यह प्राचीन काल से ही चला आ रहा है और कोई-कोई विशिष्ट अधिकारी प्राचीन काल से ही इस विषय में अनुशीलन करते रहे हैं। किन्हीं-किन्हीं का विश्वास है कि तन्त्र-साधना बहुत ही गुप्त साधना है और यह बहुत प्राचीन काल से ही धारा-रूप में चली आ रही है। भारतवर्ष और इसके बाहर मिस्र, एशिया माइनर, मध्य एशिया आदि भूखण्डों में बहुत पुराने जमाने में यह आविर्भूत हुई थी। वैदिक साहित्य और उपनिषद् आदि में इसका संकेत मिलता है। वज्रयान के सम्बन्ध में बौद्ध-समाज में जो किंवदन्ती प्रचलित है, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ऐतिहासिक विद्वान् तारानाथ का विश्वास था कि प्रकाशन के बाद दीर्घकाल तक पुरुष-परम्परा-क्रम से तन्त्रसाधन प्रचलित था। इसकी सिद्ध मण्डली और वज्राचार्यों ने इसे प्रकाशित किया। चौरासी सिद्धों का मत, उनके नाम तथा उनका अन्यान्य परिचय कुछ-कुछ मिलता है। नाम की सूची में भी मतभेद है। रससिद्ध, माहेश्वरसिद्ध, नाथसिद्ध आदि विभिन्न श्रेणी के सिद्धों का परिचय पाया जाता है। चौरासी मात्र सिद्धों की संख्या थी, ऐसी बात नहीं, इससे अधिक थी। किसी-किसी सिद्ध की पदावली प्राचीन भाषा में पाई जाती है। इनमें से कोई-कोई वज्रयान और कालचक्रयान मानते थे, कोई-कोई सहजयान मानते थे। प्रायः सभी अद्वैतवादी थे।

(ख) आगम का प्रभाव : तन्त्र का अवतरण

तिब्बत और चीन में यह प्रसिद्धि है कि आचार्य असंग ने तुषित स्वर्ग से तन्त्र का अवतारण किया था। उन्होंने मैत्रेयनाथ से तन्त्रविद्या का अधिकार प्राप्त किया था। यह भावी बुद्ध मैत्रेय थे या मैत्रेयनाथ नाम के कोई सिद्ध पुरुष थे, यह नहीं बताया जा सकता। कोई-कोई मैत्रेय को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। वह सिद्ध थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस प्रसंग में नागार्जुन की बात भी कोई-कोई कहते हैं। यह भी याद रखना होगा कि उनका वासस्थान श्रीपर्वत या धान्यकटक था, जो तान्त्रिक साधना का प्रधान केन्द्र था। आगमीय गुरुमण्डली में भी मैत्रेय के अन्तर्गत मानवौघ के ऊपर दिव्य और सिद्धौघ का परिचय मिलता है। हो सकता है, मैत्रेयनाथ वैसे सिद्धों में थे या उच्चकोटि के दूसरे कोई महापुरुष थे।

ऐतिहासिकों का खयाल है, बौद्ध-साहित्य में गुह्य समाज में सबसे पहले शक्ति की उपासना का मूल दिखाई पड़ता है। अतएव असंग से पहले शक्ति-साधना की धारा दृढ़ हुई थी। मातृरूप में कुमारी शक्ति की उपासना इस समय चारों ओर प्रचलित थी।

ऐसी बहिरंग आलोचना से कोई खास लाभ नहीं। तन्त्र का अवतरण वास्तव में एक गम्भीर और रहस्यमय व्यापार है। शैवागम के अवतरण के सम्बन्ध में तात्त्विक दृष्टि से आचार्यों ने जो कुछ कहा है, उससे समझ में आता है कि यह रहस्य सर्वत्र उद्घाटित करने योग्य नहीं है। 'तन्त्रालोक' की टीका में जयरथ ने कहा है कि परावाक् परम परामर्शमय बोधरूप है, इसमें सब कुछ पूर्ण है। इसमें अनन्त शास्त्र अथवा ज्ञान-विज्ञान परबोध-रूप में विद्यमान है। पश्यन्ती अवस्था में परावाक् की बहिर्मुखी अवस्था है। इस अवस्था में पहले बताया गया परबोधात्मक शास्त्र अहंपरामर्श-रूप में अन्तर में उदित होता है। विमर्श के अभाव के कारण इसमें वाच्य-वाचक भाव नहीं रहता। यह आन्तर परामर्श-रूप है। स्वरूपतः इसे असाधारण समझना होगा। इसलिए इस अवस्था में प्रत्यवमर्शक प्रमाता द्वारा परामृश्यमान वाच्यार्थ अहन्ता-आच्छादित रूप में स्फुरित होता है। यही वस्तु-निरपेक्ष व्यक्तिगत बोध की उद्भव-प्रणाली है। वाक्यपदीय में इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है—'ऋषिणामपि यज्ज्ञानम् तदप्यागमहेतुकम्।' आर्षज्ञान या प्रातिभ-ज्ञान के मूल में भी आगम विद्यमान रहता है। जिसे हृदय का स्वतः स्फूर्त्त प्रकाश माना जाता है, वह भी वास्तव में स्वतः स्फूर्त्त नहीं है। क्योंकि उसके मूल में भी आगम है। मध्यमाभूमि में आन्तर परामर्श अन्तर में ही विभक्त हो जाता है। उस समय यह वेद्य-वेदक प्रपञ्च-रूप में अवस्थान नहीं करता। परन्तु वाच्य-वाचक स्वभाव लेकर उपस्थित होता है। इसी मध्यमाभूमि में ही परमेश्वर चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया—अपना यह पञ्चमुख-भाव अभिव्यक्त करते हैं और सदाशिव तथा ईश्वरदशा का अवलम्बन करके गुरु-शिष्य रूप में प्रकट होते हैं। इस पञ्चमुख सम्मलेन से पञ्चस्रोतमय निखिल शास्त्रों का अवतरण होता है। अस्फुट होने के नाते ये सारे शास्त्र इन्द्रियों के अगोचर होते हैं, पर वैखरी भूमि में यह सब इन्द्रियगोचर होते हैं और परिस्फुटता प्राप्त करते हैं।

नागार्जुन, असंग अथवा किसी अन्य आचार्य के निकट किसी भी शास्त्र के अवतरण की यही एकमात्र प्रणाली है। ऋषियों के मन्त्र-साक्षात्कार की प्रणाली भी ऐसी ही थी। परन्तु यह याद रखना है कि धारक पुरुष के व्यक्तिगत चित्त का संस्कार उस अवतीर्ण ज्ञान-शक्ति के साथ जिसमें संश्लिष्ट न हो। संश्लिष्ट हो जाने से श्रुति-स्मृति के रूप में परिणत हो जाता है और जो प्रत्यक्ष था, उसे परोक्ष

रूप में धारण करता है। ऐसी अवस्था में अवतीर्ण ज्ञान का प्रामाण्य कम हो जाता है। मनुष्य के दुर्भाग्य से अनिच्छा के वावजूद कभी-कभी ऐसा हो जाता है।

इस विषय में और भी दो-एक बात कहना उचित लग रहा है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के कारण किसी-किसी भूमि में साधकगण व्यक्तिगत रूप से दिव्य वाणी प्राप्त करते हैं—वह भी आलोचना का विषय है। इन वाणियों में सवकी गुरुता समान नहीं है, और सवका उद्‌गम-स्थान भी एक नहीं है। स्पेन की सुप्रसिद्ध खीष्टीय साधिका सेंट टेरेसा नाम की महिला ने अपनी जीवनव्यापी अनुभूति के द्वारा जिन सिद्धान्तों को प्रकट किया है, उनके अनुसार अलौकिक श्रवण तीन भागों में विभक्त हो सकता है—

१. पहला स्थूल श्रवण—स्थूल होते हुए भी यह साधारण श्रवण से भिन्न है; क्योंकि यह ध्यानावस्था में होता है। ध्यानकालीन क्षुब्ध इन्द्रियजन्य वाह्य श्रवण लौकिक श्रवण से भिन्न है; क्योंकि यह वाह्य शब्दों का श्रवण नहीं है। यह प्रातिभासिक है। लगता है, यह शब्द कण्ठ-उच्चारित और स्पष्ट है, फिर भी यह अवास्तव और विकल्पजन्य है।

२. दूसरा श्रवण—इन्द्रिय के सम्वन्ध से हीन कल्पना से प्रसूत शब्द का श्रवण। जैसे इन्द्रिय-क्रिया से कल्पना-शक्ति में संस्कार पतित होता है, यहाँ क्रिया के नहीं होते हुए भी वैसा ही होता है। यह वास्तव में भ्रम-विकार है। यह धातु के विषमता-जनित दैहिक विकार से उत्पन्न होता है। पहले स्मृति-शक्ति में विकार होता है, फिर पूर्व-संस्कार में विकार पैदा होता है।

३. तीसरा श्रवण प्रामाणिक है। सेण्ट टेरेसा ने इसे Intellectual Locution के नाम से अभिहित किया है। यह प्रामाणिक है। कहना नहीं होगा, यह चिन्मय शब्द का व्यापार है। इसपर बुद्धि या इन्द्रिय या कल्पना-शक्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह सत्य का साक्षात् प्रकाश एवं संशय का निवर्त्तक है। यह भगवत्-शक्ति के प्रभाव से हृदय में उदित होता है और इसमें संशय-विकार आदि कुछ भी नहीं रहता।

(ग) बौद्ध तान्त्रिक साहित्य :

अब बौद्धतन्त्र और योग-विषयक साहित्य का कुछ परिचय दिया जा रहा है। तिव्वत और चीन में इस विषय के वहुत-से ग्रन्थ मौजूद हैं और कुछ-कुछ यहाँ भी हैं। अभी भी सभी ग्रन्थों का प्रकाशन नहीं हुआ है, और निकट भविष्य में होगा, इसकी भी सम्भावना नहीं दीखती। लेकिन कुछ-कुछ विशिष्ट ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है और हो रहा है। भारतीय पुस्तक-संग्रह में हस्तलिखित ग्रन्थों

के नाम उल्लेख-योग्य हैं। गुह्य समाज तथा उसकी टीका, भाष्य आदि के नाम विशेषज्ञों को मालूम हैं। मंजुश्रीमूलतन्त्र और हेवज्रतन्त्र का नाम भी प्रसिद्ध है। कुछ और भी तन्त्रग्रन्थों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

१. कालचक्रतन्त्र और उसकी टीका विमलप्रभा;
२. श्रीसम्पुट (योगिनीतन्त्र);
३. समाजोत्तरतन्त्र;
४. मूलतन्त्र;
५. नाम-संगीति ;
६. पञ्चक्रम;
७. सेकोद्देश—तिलोपाकृत;
८. सेकोद्देश-टीका—नारोपाकृत;
९. गुह्यसिद्धि-पद्मवज्र या सरोरुहवज्रकृत।

प्रसिद्धि है कि आचार्य हेवज्र इस साधन के प्रवर्त्तक थे। सरोरुहवज्र के शिष्य थे आनन्दवज्र, जिन्होंने प्रज्ञोपाय विनिश्चय-सिद्धि आदि ग्रन्थ लिखकर ख्याति पाई है। हेवज्र-साधन के बारे में भी इन्होंने ग्रन्थ लिखा था। इन्द्रभूति अनंग-वज्र के शिष्य थे। इन्होंने श्रीसम्पुट की टीका लिखी थी। इसके सिवाय ज्ञानसिद्धि, सहजसिद्धि आदि ग्रन्थ इनके नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसा सुना जाता है, उड्डीयन सिद्ध अवधूत थे। इनकी छोटी बहन और शिष्या लक्ष्मींकरा ने इनके साहित्य का प्रचार करके प्रसिद्धि पाई थी। इन्होंने अद्वयवज्र, तत्त्वरत्नावली आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। डाकार्णव नाम का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। यह प्रकाशित हुआ है।

(घ) तन्त्रमार्ग में अयोग्य व्यक्ति के प्रवेश का कुफल :

किसी समय भारतवर्ष की यह गुप्त विद्या चीन, तिब्वत, जापान आदि बहुतेरे देशों में समादर के साथ अपनाई गई थी। क्रमशः इसका प्रचार नाना देशों में हुआ था। एक ओर जैसे गम्भीर दार्शनिक तत्त्व और न्यायशास्त्र की आलोचना से बुद्धि का विकास-क्षेत्र मार्जित होता था और उत्तरोत्तर दिग्गज विद्वान् पुरुषों के आविर्भाव से दर्शनशास्त्र की पुष्टि होती थी; दूसरी ओर, वैसे ही योग-मार्ग के बोधिक्षेत्र में महान् सिद्ध पुरुषों का आविर्भाव होता था। ये प्राकृत और अतिप्राकृत शक्तिपुञ्ज को वशीभूत करके लोकोत्तर सिद्धि-सम्पत्ति के द्वारा अपने को अलंकृत करते थे। कभी अगर इनका प्रामाणिक इतिहास लिखना सम्भव हो सके, तो वर्त्तमान युग की विद्वान्-मण्डली बेशक सिद्धों के गौरवपूर्ण जीवन का आभास प्राप्त कर सकेगी।

तान्त्रिक योगमार्ग में अयोग्य लोगों का खुला प्रवेश होने के कारण स्वभावत: ही नागार्जुन और असंग के महान् आदर्श की सभी समान रूप से रक्षा नहीं कर सके। इसीलिए अन्यान्य धार्मिक प्रस्थान की तरह बौद्ध-प्रस्थान में भी नीति का लंघन और आचारगत शिथिलता क्रमश: बढ़ी थी। बौद्धधर्म के अवसाद के कारणों में यह एक मुख्य कारण है, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि नीतिधर्म के ऊपर ही दुनिया में सामाजिक प्रतिष्ठा का स्थायित्व निर्भर करता है। व्यक्तिगत भूल-चूक को देखकर मूल आदर्श के महत्त्व को भूलना उचित नहीं।

मातृका-रहस्य

[१]

मातृका-विज्ञान तान्त्रिक महाविज्ञान के अन्तर्गत है। तन्त्रशास्त्र के रहस्य-मार्ग में प्रवेश करके आगे बढ़ने के लिए मातृका-विज्ञान की पग-पग पर जरूरत पड़ती है। मातृका का मतलब है वर्णमाला। भारतवर्ष में हम पचास या चौंसठ वर्णों की समष्टि के रूप में जिस वर्णमाला का परिचय पाते हैं, यहाँ कुछ-कुछ उसी के अनुसार चर्चा की जायगी। परन्तु मातृका-विज्ञान संसार की किसी भी वर्णमाला के लिए प्रयोज्य है। भारतवर्ष में प्राचीन काल में इसकी गूढ़ आलोचना हुई थी। जिसे परिशीलन या कल्चर कहते हैं, वह भारतवर्ष में जितना हुआ था, और-और देशों में उतना हुआ था या नहीं, पता नहीं चलता। लेकिन फिनीशियों, मैगियों का मातृका-ज्ञान खूब विशुद्ध था—इसका सबूत मिलता है।

मातृका वर्ण को कहा जाता है। मातृका का परिशीलन करते-करते वर्ण से पद, पद से वाक्य—इस प्रकार विज्ञान प्राचीनकाल में प्रकाशित हुआ था। स्फोट-विज्ञान, नाद-विज्ञान आदि भी मातृका-ज्ञान के ही अन्तर्गत हैं। सृष्टि के रहस्य को भली तरह जानने में मातृका-रहस्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि पृथ्वी की प्राचीन संस्कृति के सभी विशेष रूपों से अवगत है कि इस वर्णात्मक शब्द से ही अथवा जो इसका मूल प्रतीक है, उसी से विश्व-सृष्टि का आविर्भाव हुआ है। शब्द, अर्थ और ज्ञान—ये तीनों परस्पर संश्लिष्ट हैं। परन्तु, जिस दृष्टि से यहाँ चर्चा कर रहा हूँ, उसके अनुसार शब्द की ही महिमा अधिक है।

अपनी व्यवहारभूमि में हम शब्द, अर्थ और ज्ञान के सांकर्य या संकीर्ण रूप को ही पाते हैं, यह सभी जानते हैं। लेकिन यहाँ हम वर्णमाला के जिस रहस्य के उद्घाटन को प्रवृत्त हुए हैं, उससे इस लौकिक ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान के सविकल्पक-निर्विकल्पक भेद के मूल में भी मातृका-रहस्य साफ ही देखने में आता है। यह बात क्रमशः समझ में आयगी। वाक् से अर्थ का आविर्भाव होता है, यह प्रायः सभी सभ्य देशों में ज्ञात था। किन्तु, वर्त्तमान समय में अभिनव सभ्यता के उद्गम और विकास के साथ-साथ प्राचीन रहस्य ढँक गया है, इसीलिए बहुतेरे लोग ही इसे भूल गये हैं। ग्रीक दर्शन में इसके अनेक निदर्शन हैं, पर यहाँ वह आलोचना का विषय नहीं।

पुराने जमाने में अपने देश में भी बहुतेरे लोग शब्द की इस महिमा को जानते थे। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में यह निर्देश है कि लौकिक पुरुष और

आद्य ऋषि—इन दोनों के उच्चारित शब्द एक प्रकार के नहीं; क्योंकि एक जगह सत्य के निर्णय के लिए अर्थ और शब्द का पारस्परिक सम्बन्ध अलग-अलग प्रतीत होता है। किसी स्थान-विशेष में किसी वस्तु के रहने से यदि उसके अनुरूप वाक्य का प्रयोग हो, तो वह सत्य माना जाता है। जैसे, किसी बरतन में दूध रखा हुआ है, वहाँ 'इस बरतन में दूध है' इस तरह का वाक्य सत्य है; क्योंकि यह पदार्थ के अनुरूप है। परन्तु आदि-ऋषिगण, जिनकी वाक्शक्ति सृष्टि करने में समर्थ है, ठीक इस स्तर के पुरुष नहीं हैं। उस बरतन में दूध के बदले वह अगर और कोई चीज कह बैठें, तो यह देखा जायगा कि उस बरतन में दूध नहीं है, उन्होंने जो कहा, वही है। ऋषीणां पुनराधानां वाचमर्थानुधावति' का यही अर्थ है। ये सब ऋषि शब्द से सृष्टि कर सकते थे, इसलिए ये जिन शब्दों का उच्चारण करते, वे अमोघ थे, उनके अनुरूप अर्थ उनके साथ-ही-साथ आविर्भूत होता था। Bible में—Book of Genesis में—है 'Let there be light and there was light'—यहाँ भी वाक्य के अनुरूप अर्थ का निर्देश किया गया है। New Testament में—Book of St. John में भी यही है—'The word was with God and the Word was God'. हमारे देश के वैदिक ऋषियों ने व्याहृति-तत्त्व में यही रहस्य देखा था।

मेरा अपना विश्वास है, बहुत प्राचीन समय से ही ब्रह्मस्वरूप को एक ओर जैसे पुरुष और प्रकृति से विलक्षण मानकर नपुंसक लिंग में व्यवहार किया जाता था, यह तो प्रसिद्ध ही है, वैसे ही उसके सिवाय उपनिषद् और वैदिक संहिता में कहीं-कहीं पुरुष-रूप में तो है ही, प्रकृति-रूप में भी पाया जाता है। जैसे 'सा देवता' आदि। लिहाजा मातृरूप में या पराशक्ति-रूप में विश्व की मूल महाशक्ति की कल्पना बाद के युग में कोई नया आविष्कार नहीं। भास्कर राय तथा दूसरे किन्हीं-किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने इस विषय में अन्वेषण भी किया है। यहाँ उसकी चर्चा अनावश्यक है। बहुत दिनों तक, युग-युगान्तर तक रहस्य-साधना लुप्त हो गई थी, इसका प्रमाण मिलता है। इसलिए बाद में जब उन गुप्त विद्याओं का पुनरुद्धार हुआ, अपने ही देश में नहीं, अन्य देशों में भी—तो बहुत-से विषय साधारण बुद्धि के लिए अगम्य होकर प्रकट हुए—यह सब प्राचीन काल में गुप्त विद्या के रूप में ही प्रकट थे। एशियामाइनर, प्राचीन ग्रीस, मिस्र, मैगियों का मुल्क, सुमेरियनों की प्रान्तभूमि—तमाम गुप्त विद्या का प्रचार था। उसके बाद क्रमशः बहुत दिनों के बाद इन गुप्त विद्याओं के पुनरुद्धार की चेष्टा हुई। तब जो बिलकुल ही लुप्त हो गई थीं, बाद में उनके संरक्षण की कुछ-कुछ चेष्टा हुई थी और उनके संरक्षण की इस प्रचेष्टा में भिन्न-भिन्न आचार्यों में किसी-किसी बात में मतभेद भी देखा जाता था। वेद या तन्त्र या आगम से हम अभी जो समझते हैं, कोई यह न समझ

लें कि यह बहुत ही प्राचीन काल का सिद्धान्त है। हम जिन वेदों से परिचित हैं, वे भी बहुत प्राचीन काल से ही लुप्तप्राय अवस्था में पाये गये हैं। उदाहरण के तौर पर सामवेद की सहस्रशाखा की बात ली जा सकती है। एकमात्र सामवेद के ही कौथुमी शाखा का कुछ अंश विद्वद्जनों के सामने उपस्थित हुआ है, राणायनीय शाखा भी लुप्तप्राय है, दूसरी-दूसरी शाखाएँ कहाँ गईं ? जो भी हो, ये ग्रन्थ भी इस गुह्य परमविद्या के स्थानापन्न नहीं हो सकते। प्रत्येक वेद में ही शाखा-भेद से इस तरह के असंख्य विभाग थे—जो लोग वेद का इतिहास जानते हैं, उन्हें यह बात मालूम है। तन्त्र की बात तो और भी रहस्यमय है, यहाँ उस बात के जिक्र की जरूरत नहीं।

बात असल में यह है कि आगम-निगम सामाजिक दृष्टि में जितने ही पृथक् रूप में उपलब्ध क्यों न हों, मूल में ये शब्द-प्रमाण हैं। प्राचीन काल में ऋषिगण इस शब्द को अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष करते थे और प्रत्यक्ष करने के बाद लौकिक व्यवहार के लिए उन्होंने उसके अनुकल्प का व्यवहार किया था। साधारणतया यह 'बिल्म' के नाम से परिचित है। अतएव हमारे प्रचलित और परिचित वेदादि शास्त्र बिल्म के ही अन्तर्गत हैं। 'वाक्यपदी' की टीका में एक जगह इस 'बिल्म' का उल्लेख किया गया है। इसके सिवा और एक विषय यहाँ सोचनें योग्य है। जो सब ऋषि इन शब्दरूप ज्ञानों को अपरोक्ष रूप से प्राप्त करते थे, उनमें भी श्रेणी-विभाग था; क्योंकि यह ज्ञानराशि साक्षात्कारात्मक है—यह दृष्टि-गोचर भी होती थी और श्रुतिगोचर भी होती थी। इसलिए उन ऋषियों को द्रष्टर्षि और श्रुतर्षि कहा जाता था। ज्ञान का यह जो आविर्भाव और संचार है, वह एक रहस्यमय विषय है। मातृका-रहस्य की चर्चा के प्रसंग में इस विषय में दो-एक बात कहना शायद अप्रासंगिक नहीं होगा।

साधारणतया हम परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार प्रकार के वाक् की धारणा रखते हैं। वैदिक युग में भी वाक् के चतुर्धा विभाग की बात मिलती है, पर उसके रहस्य के भीतर प्रवेश नहीं करके आगम की धारा से ही जो रहस्य संसार में प्रकट हुआ है, उसी के सम्बन्ध में दो-एक बात कहूँगा। इससे कोई यह न समझ लें कि परा, पश्यन्ती आदि के सम्बन्ध में सारी बातें कही गईं। परावाक् शब्द ब्रह्मस्वरूप है, साक्षात् महाशक्ति का परम रूप है। परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति ही पूर्णाहन्ता-रूप में परावाक् की आख्या में प्रकाशित होती है। पर, हम जिस दृष्टि से आलोचना कर रहे हैं, वह परावाक् के सम्बन्ध में नहीं, त्रयी वाक् अर्थात् पश्यन्ती वाक् आदि के सम्बन्ध में है। पश्यन्ती में शब्द, अर्थ और ज्ञान पूर्ण मात्रा में नित्य अभिव्यक्त रूप में स्वयं प्रकाश रूप से विद्यमान रहते हैं। एक बात याद

रखनी होगी कि गुरु और शिष्य—दोनों ही ओर से यहाँ इस त्रयी वाक् की चर्चा की जा रही है अर्थात् जगत् में ज्ञान का आविर्भाव कहाँ से होता है और उसका संचार कैसे होता है तथा कहाँ आकर उसका पर्यवसान होता है,—इन तीन भूमियों को लक्ष्य करके अवरोह-क्रम और आरोह-क्रम से इस तत्त्व की आलोचना करने की जरूरत है।

[२]

वैदिक ज्ञान या वेद की अलग-अलग शाखा या आगम के भिन्न-भिन्न प्रस्थान को एक-एक करके समझने की जरूरत नहीं है। जैसे, चौंसठ आगम कहने से कोई यह न सोचे कि सब कुछ कहा गया; क्योंकि अनगिनत प्रकार के चौंसठ भेद हैं। उदाहरण-स्वरूप भैरवागम के अन्तर्गत चौंसठ आगम की बात कही जा सकती है। शंकर की 'सौन्दर्यलहरी' में उल्लिखित चौंसठ तन्त्र चौंसठ आगम के रूप में परिचित हैं। और फिर 'तोडलतन्त्र' में चौंसठ अभिनव तन्त्रों का परिचय है। इसके सिवाय और भी उल्लेख है। इस प्रकार अट्ठारह और फिर दस आगम आदि के भी तरह-तरह के भेद हैं। यह कोई बड़ा विषय नहीं, आगम-तत्त्व ही चर्चा का विषय है। जैसे पहले भिन्न-भिन्न तन्त्र या आगम की सृष्टि हुई है, आज भी प्रतिदिन हो रही है, मगर खबर कौन रखता है?

पहले एक विषय अनुधावन के योग्य प्रतीत होता है। वह है ज्ञान और उसका विषय। विषय के भेद से ज्ञान के असंख्य भेद हो सकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका बहुत थोड़ा ही लोग देख पाते हैं। पातञ्जल योगशास्त्र में यह जो विवेकज ज्ञान की बात कही गई है, उसे औपदेशिक ज्ञान कहकर ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह सर्वविषयक, सर्वार्थ-विषयक दिव्यज्ञान है। प्रातिभ ज्ञान इसी का कणमात्र है। पातञ्जल की दृष्टि के अनुसार यद्यपि यह ज्ञान गुरु से समागत नहीं होने के कारण अनौपदेशिक रूप में वर्णित होता है, तथापि ऐसा कोई ज्ञान ही नहीं हो सकता, जो गुरुमुख से आगत नहीं है। इस विषय में वाक्यपदीयकार ने बहुत-कुछ कहा है। यह जो गुरुमुखी ज्ञान है, यह गुरु कोई लौकिक पुरुष नहीं, सिद्धौघ नहीं, मानवौघ तो नहीं ही है, वास्तव में दिव्यौघ भी नहीं—गोकि सच पूछिए तो दिव्यौघ रूप में ही वर्णित होने योग्य है। यह साक्षात् विश्वगुरु से प्राप्त ज्ञान है। लिहाजा इनट्विशन या अनौपदेशिक ठीक सत्य का परिचायक नहीं। पहले ही कह चुका हूँ, गुरु-शिष्य-क्रम में यह जो ज्ञान का प्रवाह है, उसीका नाम सम्प्रदाय है—ट्रैडिशनल लाइन। यह कोटि-कोटि कल्पान्तर से चला आ रहा है। यह किसी ऐतिहासिक मानदण्ड की धारणा के योग्य नहीं। इसका मूल तत्त्व क्या है, वही समझाने की कोशिश कर रहा हूँ।

कल्प के आदि में या महाकल्प के आदि में भी कहा जा सकता है, जगत्-सृष्टि के सम-समय में इन महाज्ञानों का आविर्भाव सूचित हुआ। इसीलिए ईश्वर को परम गुरु कहा जाता है—'स पूर्वेसामपि गुरुः कालेन अनवच्छेदात्'। तन्त्र भी यही कहते हैं। यह कल्प के आदि की बात है। कल्प के आदि में तत्तत् विषयानुरूप भिन्न-भिन्न ज्ञान, जो स्वरूपतः पश्यन्ती-भूमि में अभिन्न रहता है, आपस में अलग हो पड़ता है और उसके बाद एक-एक ज्ञान कल्पना के माध्यम से मनोराज्य में प्रकाशित होता है। पश्यन्ती-भूमि मनोराज्य के अतीत है और प्रकाश की भूमि मनोराज्य के प्रारम्भ में, यानी पश्यन्ती तथा मध्यमा के सन्धि-स्थल में है। इन सब भूमियों में उन-उन गुरुओं के मुख से कल्पना के सहारे उन-उन शिष्यों के लिए वह सब ज्ञान प्रवर्त्तित होता है। इस प्रकार से प्रवाह बहता रहता है। एक ओर ज्ञान और उसका विषय, दूसरी ओर उस ज्ञान का प्रकाशक गुरु और उनका शिष्य।

इस प्रसङ्ग में विशेष आलोचना से पहले एक बात याद रखना जरूरी है कि प्राचीन काल में विभिन्न प्रस्थानों का अवलम्बन करके शाक्त मत प्रचारित हुआ था। इन प्रस्थानों में कुल-मत या कौलिक मत अन्यतम प्रधान है। कौलिक मत के मूल सिद्धान्त का आदिरूप क्या है, यह जानने का कोई उपाय नहीं है। बहुत प्राचीनकाल में ऋषि दुर्वासा के साथ इस मत का सम्बन्ध था, ऐसा सुना जाता है। इस मत के अन्तर्गत—दुर्वासा का न होते हुए भी उनका अनुमोदित—परम्परागत मत कौलसूत्र में विद्यमान है। वह भारत के किसी खास स्थान में हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में बहुतों की जानकारी से बाहर पड़ा है। प्रायः चालीस साल हुए, इस ग्रन्थ का पता मुझे चला था, पर उसके बाद उसे प्रकाशित होते मैंने नहीं देखा। इस ग्रन्थ में भी ऐसे अनेक गुह्य तत्त्वों की चर्चा है, साधारणतः जो लोगों के परिचित नहीं हैं। दुर्वासा ने श्रीकृष्ण को आगम की शिक्षा दी थी, ऐसी प्रसिद्धि है। यह कितना पौराणिक है, ठीक-ठीक न जान सकने पर भी इसके मूल में भी ऐतिहासिक सत्य है, ऐसा लगता है। ऐसी भी प्रसिद्धि है, बाद के युग में कामरूप-मठ से मीननाथ ने इसका प्रचार किया था। आपाततः मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ को एक ही व्यक्ति माना जा सकता है। मत्स्येन्द्रनाथ नाथ-सम्प्रदाय के आदिगुरु हैं। मत्स्येन्द्र तथा गोरक्ष के प्रवर्त्तित मत में अवान्तर भेद-अभेद जो भी हो, मत्स्येन्द्र का आकर्षण शक्ति की उपासना की ओर था, गोरक्ष का शिव की उपासना की ओर। इसके सिवाय शक्ति-प्रस्थान की और भी बहुत-सी धाराएँ थीं। महार्घ-सम्प्रदाय (महानय सम्प्रदाय ?) ने अपनी उपासना-पद्धति में शक्ति के रहस्य के सम्बन्ध में अनेक अभिनव तथ्य प्रकाशित किये हैं। विरूपाक्ष ने अपनी प्रसिद्ध पञ्चाशिका में अद्वैत शैवमत की ही बात कही है। परन्तु वहाँ भी शिवशक्ति अभिन्न है। शाक्त मत की इन दृष्टियों के

सम्बन्ध में यहाँ चर्चा करना सम्भव नहीं। जैनों ने भी अपने तान्त्रिक प्रस्थान में शाक्त मत के प्रति अनुगतता का परिचय दिया है। इस विषय की सबसे ज्यादा चर्चा उत्तरयुग में महायान बौद्ध-सम्प्रदाय में मिलती है। इनके कालचक्रयान आदि शाक्त दृष्टि के अनुकूल ग्रन्थ ही हैं। तिब्बत में बहुत-बहुत पहले से यह शाक्त अद्वैत तन्त्रमत प्रचलित था और ऐतिहासिकों को मालूम है कि इस श्रेणी के शाक्त आगमसिद्ध मार्ग से वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय का कितना सम्बन्ध था। साधना-धारा की आलोचना के लिए ऐतिहासिक विषय का उठाना सब समय जरूरी नहीं, उपकार करनेवाला भी नहीं। कुछ दिन पहले 'पुराणसंहिता' नाम से पुराणार्थ विषय का एक प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था, जिसमें बहुत ही पुरानी पौराणिक धारा-अनुमोदित बहुत-से पौराणिक मूल सिद्धान्त प्रकाशित हुए थे। उस ग्रन्थ में श्रीकृष्णलीला-विषयक तान्त्रिक और साधनगत दृष्टि के बारे में बहुत आलोचना की गई है। प्रसंगतः प्राथमिक लीला, व्यावहारिक लीला, प्रातिभासिक लीला का सूक्ष्म विवरण उस ग्रन्थ में है। उसमें प्राचीन वैष्णव-सम्प्रदाय के कुछ-कुछ प्राचीन ग्रन्थ भी उद्धृत हुए हैं। इन सब ग्रन्थों की एक साथ चर्चा करने से समझा जा सकता है कि प्राचीन समय में किस प्रकार वैष्णव-सम्प्रदाय की साधना में भी तत्त्व के ऊपर और लीला-रहस्य में मूल तान्त्रिक रहस्य पैठा था। इस प्रसंग को उठाने की जरूरत यह है कि वैष्णव-साधना-साहित्य की प्रगति में भी तान्त्रिक दृष्टि ने गहराई से आत्मप्रकाश किया है—यह ऐतिहासिक सत्य है। अत्यन्त प्राचीन वेदान्ताचार्य श्रीमत्‌भगवत्पाद के परम गुरु गौड़पाद ने भी 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' नाम का बहुत ही उत्कृष्ट तान्त्रिक ग्रन्थ लिखा है। श्रीकृष्णयामल महातन्त्र नामक ग्रन्थ में साधना और योग की दृष्टि से इस तान्त्रिक दृष्टि के साथ वैष्णव-दृष्टि कैसे मिल गई थी, इसका पता चलता है। वंगीय वैष्णव-सम्प्रदाय ने अपने साहित्य में श्रीकृष्णलीला के प्रसंग में शुक और सारी की बात बहुत स्थलों में लिखी है। इस शुक-सारी को सिर्फ दो चिड़िया समझकर ही रूपक के रूप में इसकी चर्चा किया करते हैं। परन्तु प्राचीन काल में शुकविद्या और सारिकाविद्या नाम की दो साधना-धाराएँ प्रचलित थीं। श्रीकृष्ण से कदम्ब-वृक्ष या कदम्ब-मूल का क्या सम्बन्ध है, यह बहुतेरे लोग नहीं समझते। जो श्रीविद्या का अनुशीलन करते हैं, वे भी यह जानते हैं कि शाक्त मत में कदम्ब का स्थान कहाँ है। तन्त्र में है—'कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा' आदि। ललिता श्रीविद्या का ही दूसरा नाम है। इसके विपरीत ललिता श्रीभगवान् की लीला-सहचरी हैं। लीला-सहचरी ही नहीं, वह सभी सखियों की नायिका हैं। जो योग-साधना के रहस्य को जानते हैं, वे इसका मर्म समझ सकेंगे। ऊपर वर्णित 'पुराणसंहिता' ग्रन्थ में सुमंगला शक्ति के रूप में इस महाशक्ति का परिचय मिलता है। इस प्रसङ्ग में यह

सहज ही समझ में आयगा कि किसी-किसी अंश में वैष्णव-सम्प्रदाय पर तन्त्र का प्रभाव किस प्रकार पड़ा था। प्राचीन गौड़ीय शास्त्र तथा उस समय के वल्लभीय वैष्णव-सम्प्रदाय के रहस्यशास्त्र की चर्चा से इस विषय में बहुत-से गूढ़ तत्त्वों का पता चल सकता है, ऐसा लगता है।

योगी जानते हैं कि नित्यलीला कैसे सम्भव है और कहाँ। परम पुरुष एवं परमा प्रकृति के मिलन के विना नित्य की वात तो दूर, लीला की भी सम्भावना नहीं होती। योगी लोग साधारणतया भूतसिद्धि और चित्तशुद्धि की समाप्ति के लिए षट्चक्र-भेद का अनुष्ठान करते हैं। भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि होने से भौतिक जगत् और मनोमय जगत् के संस्कार से मुक्त हुआ जा सकता है, किन्तु सिर्फ आज्ञाचक्र के विन्दु तक गति होने से ही सहस्रारस्थ परमात्मा से मिलन सम्भव नहीं होता। दोनों के वीच अनन्त चिदाकाश है—उसका भेद कैसे होगा? उसके लिए खेचरी-शक्ति अर्थात् आकाश को भेदनेवाली गति जरूरी है। केवल पञ्चभूत के शुद्ध होने से ही नहीं होने का, केवल चित्तशुद्धि से भी नहीं होने का; क्योंकि इन दोनों के शुद्ध होने से प्रपञ्च से छुटकारा मिल सकता है, परन्तु प्रपञ्चातीत परम-धाम में जाने की शक्ति कहाँ? पौराणिक परिभाषा में सहस्रदल-कमल ही कहें या वैष्णव परिभाषा में गोलोकधाम ही कहें, जिस किसी नाम से भी अभिहित क्यों न करें, परमधाम में प्रवेश करने के लिए चिदाकाश का भेद करना ही पड़ेगा। सिर्फ समाधि से यह सम्भव नहीं। प्राचीन योगियों को पता था कि नाभि-स्थित शक्ति को आयत्त किये विना आकाश-गमन नहीं हो सकता। सिर्फ भौतिक आकाश ही नहीं, चिदाकाश भी नहीं, खेचरी शक्ति के विना चिदाकाश में स्वेच्छानुसार गति नहीं मिल सकती। नाभिचक्र को भेद करने से वहाँ से एक नाल प्रकट होता है, ठीक प्रसिद्ध ब्रह्मनाल जैसा। कोई इसे षट्चक्र के अन्तर्गत न मान लें; क्योंकि षट्चक्र भौतिक जगत् के अन्तर्गत है। नाभि से जो ब्रह्मनाल प्रकट होता है, उसी के ऊपर सुमङ्गला शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। यही सुमङ्गला शक्ति ही हमारी पूर्वोक्त ललिता है। लीला की नायिका, सखी-वर्ग की अग्रभूता।

इस शक्ति की सहायता के विना सहस्रार में प्रवेश असम्भव है। किसी तरह से प्रवेश कर भी पाये, तो वहाँ जाते ही परमशिव के सान्निध्य के प्रभाव से अभिभूत हो जाना स्वाभाविक है।

[३]

इस शक्ति-तत्त्व को हम यहाँ वाक् या शब्द की ओर से अनुधावन करने की चेष्टा कर रहे हैं। जप-साधना में इस शब्द की महिमा प्रत्यक्ष अनुभूत होती है।

जप के उद्देश्य की चर्चा फिर करेंगे। उस समय यह दीखेगा कि वाक् के चतुर्विध स्तर में परावाक् को पृष्ठभूमि में रखकर पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये तीन क्रमशः बहिर्मुख भाव से प्रकाशमान होते हैं। यह अवरोह-क्रम है। दुवारे जप-साधन के समय वैखरी से मध्यमा और पश्यन्ती में प्रवेश होता है। यही बहुत मामूली बात है और यही आरोहक्रम है। आरोह और अवरोह-क्रम में इस तत्त्व की चर्चा आवश्यक है, यह पहले कह चुके हैं।

परावाक् विश्वसृष्टि की अतीत भूमि है। वह अक्षर ब्रह्म का क्षरण है। शब्द, अर्थ और ज्ञान में जो पारस्परिक निगूढ़ सम्बन्ध है, उसकी चर्चा से यह देखने में आता है कि अर्थ से एक ओर शब्द और दूसरी ओर ज्ञान सम्बद्ध है। अर्थ और शब्द में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। अर्थ और ज्ञान, इनमें विषय-विषयी सम्बन्ध है। अतएव, जितना ही अस्फुट क्यों न हो चाहे, शब्द और ज्ञान में भी परस्पर सम्बन्ध है। व्यवहार-भूमि में भी योगिगण इसका अनुभव कर सकते हैं। वैखरी-भूमि में, यानी जिस भूमि में साधारण आदमी विद्यमान है, शब्द और अर्थ परस्पर भिन्न हैं। कौन-सा शब्द क्या समझाता है, उसे शास्त्र या व्यवहार से जान लेना होता है। वैसे ही मध्यमा भूमि में शब्द और अर्थ, दोनों में भेदाभेद-सम्बन्ध है। पहले भेद-सम्बन्ध था, अब भेदाभेद-सम्बन्ध हो गया। पश्यन्ती भूमि में शब्द और अर्थ का अभेद सम्बन्ध है। इसलिए, इस स्तर में Creative sound—इस शब्द का प्रयोग होता है, अर्थात् सिद्ध योगी के मुख से उच्चारित शब्द से ही अर्थ का आविर्भाव होता है। क्योंकि अर्थ और शब्द का वहाँ भेद नहीं होता। इसपर विशेष चर्चा बाद में की जायगी।

'मातृका' शब्द का अर्थ है 'माँ'। मातृका या महामातृका विश्वजननी है। एक ही परम सत्ता सिर्फ इन्हीं के सम्बन्ध के कारण बहुरूप में प्रकाशमान होती है। **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**—वेद में ऐसा है, एक ही परमात्मा 'मायाभिः' माया की असंख्य वृत्ति के द्वारा असंख्य रूप में प्रतिभासमान होते हैं। माया और मातृका एक ही वस्तु है। माया विश्वजननी है, इस बात का जो तात्पर्य है, मातृका से ही विश्व की उत्पत्ति होती है, इसका भी तात्पर्य वही है। परन्तु इस विषय को विशेष रूप से अनुधावन नहीं कर पाने से स्पष्ट धारणा के उदय की सम्भावना नहीं। मूल में मातृका एक और अभिन्न है। वास्तव में यह अक्षर ब्रह्म की क्षरणात्मक स्वरूपभूता शक्ति है। प्राचीन आगम में परावाक् के रूप में इसी की प्रशंसा गाई गई है। हम यहाँ प्राचीन सिद्ध तान्त्रिकों की दृष्टि से मातृका के सम्बन्ध में कुछ-कुछ चर्चा करने को तैयार हुए हैं। परावाक् के सम्बन्ध में अलग-अलग योगी की अलग-अलग धारणा है, यह सत्य है। वैदिक साहित्य में शब्दब्रह्म रूप में जिसका निर्देश मिलता है, यह वही है। यह शब्दब्रह्म या परामातृका ही विश्वजननी है।

इस चर्चा के प्रसंग में तीन स्तर की धारणा रखना जरूरी है। एक स्तर, जहाँ किसी प्रकार की तरंग, स्पन्दन या विमर्शन नहीं है। यह दिव्य समरस भूमि है। यहाँ सृष्टि नहीं, संरक्षण नहीं, संहार नहीं। लिहाजा तिरोधान-शक्ति या अनुग्रह-शक्ति का भी प्रश्न नहीं उठता। यहाँ पूर्ण सत्य अपनी महिमा में पूर्ण रूप से विराजमान है। यहाँ शिव-शक्ति का प्रश्न नहीं, जीव-जगत् का प्रश्न भी नहीं। यह एक अद्वय परम स्थिति है। अवश्य समझने के लिए इस तरह से हिस्सा करके कहा जा रहा है। वस्तुस्थिति में यह विभाग सम्भव नहीं है।

एक स्थिति और है, उसे दूसरी अवस्था कह सकते हैं, वहाँ परब्रह्म भी हैं, उनके साथ अभिन्न रूप में शब्दब्रह्म भी हैं। यह शब्दब्रह्म ही वहाँ परावाक् रूप में निर्दिष्ट होकर रहते हैं। यह अवस्था युगल-भाव की है। तान्त्रिक परिभाषा में यह शिवशक्ति की समरसात्मक अवस्था है। यह सामरस्य नित्यसिद्ध है। बौद्धों में भी दृष्टिगत ऐसी अवस्था का प्रतिभास जागा था। इसे वे 'युगनद्ध' अवस्था कहते थे। वैष्णव लोग इस अवस्था की व्याख्या 'युगल' कहकर करते हैं। तन्त्रशास्त्र में इसे 'यामल' कहते हैं। यह पुरुष नहीं, प्रकृति भी नहीं, फिर भी एक ही साथ पुरुष भी है, प्रकृति भी है। यह जो सामरस्य है, वह नित्यसिद्ध है, यह कह चुके हैं। पहले की अवस्था जैसे नित्यसिद्ध है, यह भी वैसी ही है।

इसके बाद इस यामल अवस्था का भेद होता है। तब दूसरी सत्ता का आविर्भाव होता है। यह दूसरी सत्ता जीव और जगत् है। समरस अवस्था में द्वितीय का आविर्भाव नहीं होता; क्योंकि वह अद्वय अवस्था है। अद्वय अवस्था में भी विकल्प है। ठीक वैसा ही विकल्प, जैसा कि द्वैत अवस्था में है। लेकिन जहाँ द्वैत-अद्वैत सब कुछ विवर्जित है, वहाँ विकल्प की सम्भावना कहाँ ?

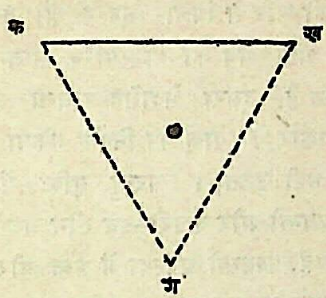
इस तरह तीन अवस्थाओं का पता चलता है। वही क्रमशः एक, दो और बहुरूप में व्याकरणशास्त्र में तीन वचन के रूप में प्रकाशित हुई हैं। पालि आदि तथा अन्यान्य भाषाओं में द्विवचन नहीं है। इससे समझ में आता है कि प्राचीन आर्यों में विश्लेषण-शक्ति कितनी तीक्ष्ण थी। वे समझते थे, एक से दो हुए विना बहु नहीं हो सकता। सृष्टि बहुस्वरूप है, मूल एक ही। एक से बहुत्व में आने के लिए दो की आवश्यकता है। यह द्वितीय दो अवस्थाओं में प्रकाशित होती है—एक, एक से अभिन्न रूप में जड़ित; द्वितीय, एक से भिन्न रूप में प्रकाशमान। जो अभिन्न रूप में जड़ित होती है, उसे यामल सत्ता कहते हैं। इन दो सत्ताओं के विना सृष्टि नहीं हो

सकती। एक और दो जहाँ यामल-रूप में प्रकाशमान होता है, वहाँ इन दोनों के मिलन से परम अद्वैत सत्ता का प्रकाश होता है। और, जहाँ एक और दो पृथक् रूप से संस्थित होती है, वहाँ इन दोनों के मिलन से इस भेदमय बाह्य जगत् का प्रकाश होता है। एक को अन्तरंगी शक्ति कहा जा सकता है, दूसरी को बहिरंगी शक्ति। बाद में ऐसा ही किया गया है, परन्तु वैसा नहीं किये बिना भी तत्त्व का निर्देश चल सकता है। जहाँ हम समग्र विश्व का विचार करते हैं, वहाँ इस गूढ़ रहस्य को लक्ष्य में रखकर ही विचार करना होता है। जिसे यामल कहते हैं, उसके भीतर से यानी उसके सहारे पूर्ण में प्रवेश किया जाता है। जिसे दो कहते हैं, उनके सम्मिलन के फलस्वरूप इस भेदमय मायिक जगत् का आविर्भाव होता है। आगम-शास्त्र में रेखाविन्यास के द्वारा इस तत्त्व को समझाने की कोशिश की गई है। दोनों में ही शक्ति का खेल है। एक शक्ति शिवतत्त्व में पहुँचा देती है, और एक शक्ति जीव और जगत् की ओर ठेल देती है। एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण है, दूसरी अधोमुख त्रिकोण। समग्र सृष्टि को समझने के लिए इन दोनों त्रिकोणों के संयोग को लक्ष्य करना ज़रूरी है। दोनों त्रिकोणों का केन्द्ररूपी बिन्दु एक ही है।

जो भी हो, सृष्टि-रहस्य की बात कहनी हो, तो एक विषय का ध्यान रखना आवश्यक है। सृष्टि के मूल में है बिन्दु। परमस्वरूप के स्वातन्त्र्य के कारण स्पन्दन जब इस बिन्दु को स्पर्श करता है, तो यह बिन्दु रेखारूप में परिणत होता है। सबसे ह्रस्व रेखा दो बिन्दुओं से गठित है। इसके बाद की सृष्टि साक्षात् रूप में बिन्दु से नहीं होती, रेखा से होनी है। उस समय लेकिन दोनों रेखाएँ आवश्यक नहीं होतीं—तीन रेखाओं की आवश्यकता होती है। इन तीन रेखाओं के संयोग से जो त्रिकोण उत्पन्न होता है, वही सृष्टि का मूल योनिरूप है। वेदान्त में इसीलिए **'योनेः शरीरम्'** —यह सूत्र किया गया है। इसको आश्रय किये बिना शरीर नहीं उत्पन्न हो सकता। जिन्होंने न्यायदर्शन की आलोचना की है, वे जानते हैं कि उन्हें इस सम्बन्ध में परिस्फुट ज्ञान था, पर अपने-अपने क्षेत्र के अनुसार। इसलिए उन्होंने कहा है, सृष्टि का क्रम यह है—परमाणु-द्व्यणुक-त्रसरेणु। इसीलिए एक परमाणु से द्व्यणुक उत्पन्न होता है, पर तीन द्व्यणुक के बिना त्रसरेणु उत्पन्न नहीं होता। इसीलिए बौद्धों ने भी कहा है— **'षट्केण युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता'**।

त्रिकोण की उत्पत्ति बहुत ही रहस्यमय है। यह त्रिकोण ही महात्रिकोण है, पण्डित लोग कुण्डलिनी कहकर जिसका विचार करते हैं। इस त्रिकोण में—वह चाहे ऊर्ध्वमुखी या अधोमुखी ही हो—तीन अवयव स्पष्टतया स्थित हैं। उदाहरण के तौर

पर मान लिया जाय कि क-खं-ग एक त्रिकोण है। यहाँ क-ख-ग त्रिरेखात्मक त्रिकोण है, उसके बाद क या ख या ग से एक केन्द्राभिमुखी रेखा।



अब विन्दु के बारे में कुछ चर्चा की जाय। लेकिन उससे पहले परावाक् का कुछ विश्लेषण जरूरी है। हमारे ज्ञानराज्य की व्यवहारभूमि में हम तीन विषयों से परिचित हैं—एक, वस्तु, जिसे प्राचीन ऋषि-मुनिगण अर्थ कहते थे, हम जिसे साधारणतया पदार्थ कहते हैं; दूसरा, ज्ञान और तीसरा शब्द। शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीन के बारे में थोड़ी-बहुत धारणा का रहना जरूरी है। इन तीनों में दो प्रकार का सम्बन्ध देखा जाता है। यह हम कह चुके हैं। दोनों में अर्थ का स्थान प्रधान है। अर्थ ही यह जगत् है; क्योंकि वह पदार्थों की समष्टि है। परन्तु इससे ज्ञान का भी सम्बन्ध है, शब्द का भी सम्बन्ध है। अर्थात् अर्थ से शब्द का जो सम्बन्ध है, वह वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। अर्थ से ज्ञान का जो सम्बन्ध है, उसे कहते हैं विषय-विषयी-सम्बन्ध। प्राचीनकाल के दार्शनिकगण जानते थे कि दोनों में सृष्टि का रहस्य विद्यमान है। साधारण अवस्था में अर्थ और उसके वाचक शब्द में जो सम्बन्ध है, आलोचना से समझ में आयगा कि ज्ञान और अर्थ में ठीक वही सम्बन्ध है, लेकिन दूसरी ओर से। अर्थ का ज्ञान ही ज्ञान है, अर्थहीन ज्ञान निरर्थक है, लेकिन वह भी है। विज्ञानवादी इसे खूब जानते हैं और उसका गहरा रहस्य है। यहाँ उसकी चर्चा नहीं करेंगे। शब्द से अर्थ का जो सम्बन्ध है, वह भी अकृत्रिम है, परन्तु हम अकृत्रिम रूप में उसे नहीं पाते।

इस प्रसंग में जरा विशद रूप से विचार करना जरूरी है। हम जानते हैं कि शब्द अलग है, अर्थ अलग। उस अर्थ को समझाने के लिए उस शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु दूसरे शब्द का भी प्रयोग हो सकता है। जलरूप पदार्थ को समझाने के लिए जल, नीर आदि शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, पर दोनों ही

कृत्रिम हैं; क्योंकि विभिन्न भाषाओं में जल का वाचक शब्द अलग-अलग है—यह सभी जानते हैं। कोश आदि से शब्द की जानकारी होती है, लेकिन यह सब कल्पित है। ज्ञान के राज्य में भी ठीक यही है। ज्ञान से ज्ञेय का सम्बन्ध ठीक उसी जैसा है। यहाँ सिर्फ वाच्य-वाचक की ओर से विचार कर रहे हैं; क्योंकि इस चर्चा का प्रधान लक्ष्य शब्द है। शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध तीन प्रकार का है। इनमें से एक अभेद-सम्बन्ध है, दूसरा भेदाभेद-सम्बन्ध और तीसरा भेद-सम्बन्ध। दार्शनिकों ने जिन चार प्रकार के वाक् का निर्देश किया है, उनमें से परावाक् में इस सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु सृष्टि में तीन अवस्थाएँ हैं, जिन्हें समझाने के लिए परा, पश्यन्ती और वैखरी—इन तीन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। पहले ही कह आये हैं, पश्यन्ती अवस्था में शब्द और अर्थ में अभेद-सम्बन्ध है, यानी जो शब्द है, वही अर्थ है; जो अर्थ है, वही शब्द है। मध्यमा अवस्था में शब्द और अर्थ में भेदाभेद सम्बन्ध है अर्थात् वहाँ भेद भी है और अभेद भी है, भेद से अभेद विजड़ित है। वैखरी-अवस्था में शब्द से अर्थ का भेद-सम्बन्ध है, यानी दोनों का सम्बन्ध कल्पित या conventional है। और, परावस्था में यह प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि शब्द, अर्थ और ज्ञान वहाँ पृथक् रूप से भासमान नहीं होते। इस प्रसंग में यह भी याद रखना होगा कि विषय और विषयीरूप सम्बन्ध भी इसी प्रकार का है। पश्यन्ती वाक् के विचार के समय इस सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की जायगी।

यहाँ सिर्फ यही कह रखते हैं कि शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों में एक हिसाब से देखने पर प्रधानता शब्द ही की है। परामातृका विश्वजननी, उनके सम्बन्ध में इस प्रसंग में विशेष चर्चा सम्भव नहीं। पश्यन्ती-अवस्था में तीनों सत्ता अभिन्न रूप में प्रकट होती हैं अर्थात् और समय शब्द और अर्थ, इन दो में सम्बन्ध कल्पित होता है। बात को और स्पष्ट करके कहें—जिन्होंने तन्त्रशास्त्र के गम्भीर रहस्य में प्रवेश नहीं किया है, ऐसे योगियों ने सम्प्रज्ञात समाधि का विवरण देने के समय ऐसी अनेक बातें कही हैं, जो तान्त्रिक योगियों के लिए भी चिन्ता का विषय हैं। सम्प्रज्ञात समाधि का पहला स्तर स्थूल अर्थ का अवलम्बन करके होता है और इस स्तर में दो प्रकार की समाधि का उदय होता है। हम स्थूल की चर्चा कर रहे हैं, इसलिए ये दोनों स्तर सवितर्क और निर्वितर्क नाम से प्रसिद्ध हैं। समाधि समझने जाने से ही उस पूर्वोक्त पश्यन्ती वाक् की नाईं शब्द, अर्थ और ज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध का विश्लेपण करना जरूरी है। जबतक 'स्मृति-परिशुद्धि' नहीं होती, तबतक विकल्प की निवृत्ति नहीं हो सकती और इसीलिए इस समाधिजनित प्रज्ञा में ज्ञान के साथ शब्द अनुविद्ध रहता है। यह

विशुद्ध ज्ञान नहीं है। अर्थ एक ओर वाचक शब्द के साथ संश्लिष्ट और दूसरी ओर उस विषय के ज्ञान के साथ सम्बद्ध रहता है। फलस्वरूप शब्द के साथ ज्ञान का सम्बन्ध आप ही रह जाता है। इसलिए साधारणतः कहा जाता है—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' अर्थात् लौकिक ज्ञान-मात्र में शब्द-सम्बन्ध रह जाता है। ज्ञान को विशुद्ध होना है, तो उसे शब्द से पृथक् करके रखना होगा। पर 'स्मृति-परिशुद्धि' के विना यह सम्भव नहीं। यह स्मृति-परिशुद्धि मनोविज्ञान का एक सूक्ष्म व्यापार है, यानी किसी परिचित शब्द को सुनकर उसे बिलकुल नहीं समझ सकना—सरल भाषा में कहना हो, तो यही स्मृति-परिशुद्धि का लक्षण है अर्थात् किसी शब्द को उच्चारित अवस्था में सुनने के साथ-ही-साथ उस शब्द के वाच्यार्थ का अनुधावन चित्त में होता है। उसके अनुसार व्यवहार प्रवृत्त होता है। परिचित भाषा में कोई कटूक्ति करे तो मन खीज जाता है। और चाटुकार की तरह प्रशंसा करे तो मन प्रसन्न होता है। इस प्रकार परिचित भाषा के सुनने से साधारण आदमी के अन्दर विकल्प का उदय होना स्वाभाविक है। लेकिन योगी को इससे ऊपर उठना होता है। इसकी परिणति यहाँ तक हो सकती है कि व्युत्पत्ति के रहते हुए भी अर्थ का वोध नहीं होने के कारण चित्त में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। फलस्वरूप परिनिष्ठित अवस्था में अजानी भाषा सुनकर भी समझी जा सकती है। इसी को कहते हैं–'सर्वभूतरुतज्ञानम्'। इस प्रकार सम्यक् रूप से स्मृति-परिशुद्धि होने से सवितर्क समाधि निर्वितर्क समाधि में उन्नीत होनी है। हम केवल स्थूल आलम्वन ग्रहण करके ही विचार कर रहे हैं। सूक्ष्म में भी वैसा ही है, किन्तु ऐसी जटिलता नहीं है। सविचार और निर्विचार इसके अनुरूप हैं, यह समझना होगा।

यह जो निर्वितर्क प्रत्यक्ष है, इसी का नाम परप्रत्यक्ष है। सम्प्रज्ञात भूमि के योगी इसी पर प्रत्यक्ष के द्वारा निर्विकार भाव से वस्तु के स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं। उसके वाद जगत् के कल्याण के लिए उस स्वरूप को शब्दरूप वाहन के सहारे ज्ञानोपदेश द्वारा व्यवहार-भूमि में भेजते हैं। इसकी विशेष चर्चा फिर की जायगी। यहाँ जिन दो व्यापारों की वात कही गई, ठीक ऐसे ही दो व्यापार तान्त्रिक योगी को भी पश्यन्ती और मध्यमा भूमि की सन्धि में करने पड़ते हैं। मध्यमा भूमि कल्पना का राज्य है, पश्यन्ती निर्विकल्प। पश्यन्ती में वाच्य-वाचक अभिन्न हैं, यानी शब्द और उसका वाच्यार्थ अभिन्न हैं। अर्थात् वाचक शब्द और वाच्य अर्थ वहाँ अभिन्न रूप में प्रकाशित होते हैं। पश्यन्ती वाक् की यह एक दिशा है। परन्तु इसकी दूसरी दिशा भी है। वाचक शब्द से जैसे वाच्य अर्थ अभिन्न है, ठीक वैसे ही वोध या ज्ञान से वोध्य अर्थ भी अभिन्न है। अर्थ से एक

और वाचक का सम्बन्ध है, इसीलिए यह वाच्य है, उसी प्रकार अर्थ से बोधरूप ज्ञान का भी सम्बन्ध है। वाच्य अर्थ का यह शब्द के द्वारा ज्ञान में प्रकाशन—यही पश्यन्ती की सन्धि में मध्यमा में प्रवेश है। महाज्ञान ठीक इसी स्थान में ज्ञान होते हुए भी वाक्‌रूप में प्रकाशित होता है। आगम, वेद आदि इसी के दृष्टान्त हैं। अन्तः-प्रविष्ट होकर देखने से वेद जैसे अनन्त हैं—'अनन्ता हि वेदाः'—वैसे ही ज्ञान की धारा भी अलग-अलग है। आगम, निगम, तन्त्र, वेद—दोनों ही जगह एक ही नियम है। यहीं गुरु-परम्परा का रहस्य है—जिसकी बात पहले कही गई है। उस महाज्ञान से निरन्तर अनन्त महाज्ञान निःसृत हो रहा है। वैदिक साहित्य के बारे में भी यह सुनने में आता है, वेद की अनगिनत शाखाएँ लुप्त हो गई हैं। तन्त्र की भी यही स्थिति है, यह पहले कहा जा चुका है। चौंसठ तन्त्र, अट्ठारह आगम, दस शिवागम, तथाकथित पाशुपत आगम—यह सब दृष्टान्त-मात्र हैं। ज्ञान निरवधि है। बोधरूप में तो है ही, शब्दरूप में भी। इस ज्ञान का जो प्रस्तार है, उसमें गुरु-शिष्य-धारा का रहस्य है, जिसका संकेत-भर किया है। फिलहाल उसके बारे में कुछ नहीं कहकर मातृका के बारे में दो-एक बात कह रहे हैं।

[४]

मातृका, महामातृका, वर्णमाला—मूल में यह सब एक अद्वैत महाशक्ति की ही भिन्न-भिन्न अवस्था का अनुरूप नाम है। इसपर पुंखानुपुंख विचार करने से पहले यह स्मरण रखना होगा कि मातृका शब्द का अर्थ माता, अम्बा, अम्बिका—एक ही वस्तु है। मातृका कहने से क्या मतलब होता है? जो अनन्त अखण्ड महासत्य जगत् को प्रकाशित कर रहा है, उसकी वह स्वरूपभूता शक्ति ही मातृका के नाम से परिचित है। मातृका-रहित अर्थात् स्वरूपभूत शक्तिहीन वह महाप्रकाश प्रकाश होते हुए भी प्रकाशमान नहीं है। महाजनों ने कहा है—'वाग्‌रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य पश्यन्ती न प्रकाशः, प्रकाशते सा हि प्रत्यवमर्शनी' अर्थात् ज्ञान या बोध की एक शाश्वत नित्यसिद्ध वाग्‌रूपता है। इसीलिए ज्ञान या प्रकाश स्वयं-प्रकाश-रूप में परिचित होता है। यानी प्रकाश-रूप में यदि वाग्‌रूपता नहीं रहती अर्थात् मातृभाव नहीं रहता, तो स्वरूपतः प्रकाश होने के बावजूद प्रकाशमान नहीं हो सकता। क्योंकि मातृका ही प्रत्यवमर्शनकारिणी शक्ति है यानी प्रकाश तभी अपने को प्रकाश-रूप में पहचान पाता है, जब उससे मातृका जुड़ती है। मातृका के अन्तर्लीन हो जाने से प्रकाश प्रकाश ही रहता है, परन्तु वह अपने को प्रकाश कहकर पहचान नहीं सकता। क्योंकि प्रत्यवमंशन-शक्ति मातृका में ही रहती है। मातृका स्वरूपभूता शक्ति है। यह जो शक्ति है, इसी का आश्रय लेकर ही सारी सत्ता प्रकाशमान होती है।

समग्र जगत्, ईश्वर, जीव और ज्ञेय जड़ पदार्थ व्यष्टि और समष्टिरूप में मातृका से उद्भूत हैं। यानी अहं रूप में जो प्रकाश मानता है, उसकी जड़ में भी मातृका है। यह अहं पूर्ण अहं हो सकता है, और अपूर्ण परिच्छिन्न अहं हो सकता है, पर दोनों ही में मातृका का खेल है। पूर्ण अहं सम्पूर्ण मातृकामय है—अ-कार से ह-कार तक जो महान् चक्र है—'अ' से मतलब प्रकाशमान और 'ह' से विमर्श—यह 'अ' से 'ह' तक पञ्चाशत मातृका समष्टिरूप में प्रकाशमान होने पर पूर्ण अहं सत्ता की अभिव्यक्ति होती है। आदि में 'अ'-कार और अन्त में 'ह'-कार—यह महामण्डल मातृका-मण्डल है।

विस्तार से इसपर वाद में चर्चा की जायगी। यही पूर्ण अहं-स्वरूप है। सच्चिदानन्द ब्रह्म अव्यक्त रूप में सत् और प्रकाश रूप में आत्मप्रकाशरूपी यह अनन्त मातृमण्डल है। पूर्ण अहं परमेश्वर का नित्यसिद्ध निज स्वरूप है। यह स्वरूप नित्य प्रकाशमान स्वयंसिद्ध एवं परिपूर्ण है—इसके वाहर कुछ नहीं है, रह भी नहीं सकता और इसमें इसके साथ अभिन्न रूप में अनन्त सत्ता है। उससे परम प्रकाश के पूर्णत्व में व्याघात नहीं होता। इस प्रकाश के बाहर प्रकाश कल्पनीय नहीं है। परन्तु महासिद्ध योगियों के अपने खयाल से या जरूरत होने पर—जो जरूरत कि हम विश्ववासी समझने में समर्थ नहीं हैं—हम अभिनव विश्व प्राप्त कर सकते हैं। यह बहुत ही गुह्य और गोपनीय विषय है। ऐसे स्थल में कूटाक्षर 'क्ष' से प्रवाह की सम्मुख गति को पहले रोध कर लेना चाहिए। उसके वाद पहले जैसी प्रकाश की अन्तर्वर्त्ती लीला चलती रहती है। यह वहुत ही गुह्य है, यहाँ महज नामोल्लेख किया।

पूर्ण अहं एक और अभिन्न है। इसमें भिन्न अवयव रहते हुए भी वह **'सूत्रे मणिगणा इव'** है। माला में फूल चाहे जितने हों, फूलों का अन्तर्भेदी सूत्र एक ही होता है—इसलिए माला को एक कहते हैं। यहाँ भी अन्तर्भेदी सूत्र एक ही है—जो 'अ'-कार से 'ह'-कार तक प्रसृत होता है। यह जो अहं है, वह एकमात्र अहं ही है। इसमें कोई पदार्थ नहीं, पदार्थ होता, तो यह अहं पूर्ण अहं न होकर अहं-इदं के समन्वय-रूप में परिणत होता। पूर्ण अहं चैतन्यस्वरूप है, उसमें इदंता नहीं। एकमात्र अहंता ही है। इदंता स्वातन्त्र्य-वल से सृष्टिमुख में आविर्भूत होती है। उस सृष्टि का नाम महासृष्टि होता है। हमारे खण्डकाल के जगत् में अनन्त लोक-लोकान्तर में जो कुछ है, था या होगा—सभी नित्य वर्त्तमान रूप में उस महासृष्टि में मौजूद हैं। वहाँ काल नहीं है, मगर है। जो काल परिणाम का साधक है, जिस काल को हम धर्म के परिणामरूप में देखते हैं—जो अतीत, अनागत और वर्त्तमान रूप में हमारे निकट प्रकाशित होता है, उस भूमि में

उस काल का अस्तित्व नहीं है। किन्तु काल है नहीं, यह भी बात नहीं। यह बहुत ही गुह्य विषय है। तान्त्रिकगण इसी को महाकाल कहते हैं। अहं से इदं रूप में भासमान होने ही से वह सृष्टिरूप में वर्णित होने योग्य है। इसका आदि-अन्त नहीं है, इसलिए इसे महासृष्टि कहते हैं। जिस किसी समय में, जहाँ कहीं भी कुछ था या होगा, उस महासृष्टि में वह विद्यमान है। परन्तु फिर भी वह अवस्था पूर्ण अवस्था नहीं है, वह संकुचित अवस्था है; क्योंकि वह इदंरूप में भासमान है, अहंरूप में नहीं। इस महासृष्टि का आविर्भाव पूर्ण अहं की ही सत्ता से होता है। इस महासृष्टि का संहार ही वास्तव में महासंहार है। पौराणिकगण जिसे महाप्रलय या अतिमहाप्रलय कहते हैं, वह इसके आगे बहुत ही तुच्छ है—इसलिए कि महाप्रलय का अन्त नहीं है। काल के हिसाब से उसका अवसान कल्पनीय नहीं है, पर उसका भी अवसान है। वह होता हैं पूर्णाहंता-बोध के साथ-साथ; क्योंकि उस समय इदंभाव बिलकुल नहीं रहता। इसे कहते हैं पूर्णता-लाभ, परमेश्वरत्व, परमशिवभाव। इस पूर्णसत्ता को वेदान्त का ब्रह्म सोचना ठीक नहीं है; क्योंकि वेदान्त के अधिकार की ब्रह्मसत्ता अहंभाव-वर्जित है और यहाँ अहंभाव का पूर्णत्व है। प्रकाश या महाप्रकाश उभयत्र एक ही है, महाशक्ति का सर्वात्मना परमशिव से सामरस्य-भाव—इस अवस्था की विशिष्टता है। पूर्णाहंता के बारे में बहुत-सी बातें कहनी हैं—यहाँ दिशा-मात्र का निर्देश है। पूर्णाहंता में स्वातन्त्र्य अभिन्न रूप में रहता है—इसी स्वातन्त्र्य का नाम परावाक् या महामातृका है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकाश की वाग्रूपता नित्यसिद्ध है, अतएव यह महाप्रकाश स्वरूपशक्ति-समन्वित है। यह शुद्ध प्रकाशरूप-भर नहीं है, वैसा होता तो अहंरूप में इसका विमर्श नहीं होता।

[५]

इसे समझने की सुविधा के लिए इस प्रसंग में प्राचीन सांख्य के दृष्टिकोण की चर्चा की जाय, तो अच्छा हो। सांख्य में प्रकृति और पुरुष भिन्न हैं। पुरुष चिद्रूप या प्रकाशरूप है, किन्तु प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और यह त्रिगुण मिथ्या नहीं, सत्य है। यानी वेदान्त कल्पित माया की नाईं मिथ्या नहीं, सत्य है। प्रकाश या पुरुष अपरिणामी, पर प्रकृति नित्य परिणामशील है। प्रकृति के यह परिणाम क्यों होता है, उस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के बहुत विचार हैं। कोई-कोई कहते हैं, 'कालाद् गुणव्यतिकरः' आदि। परन्तु प्रसिद्ध सांख्य इसे स्वीकार नहीं करते। सांख्यमत से इस परिणाम का बाहरी हेतु नहीं, स्वभाव ही इसका एकमात्र हेतु है। इसीलिए प्रकृति को स्वतःपरिणामिनी कहा जाता है। हाँ, विभिन्न प्रकार के परिणाम के लिए विभिन्न प्रकार का निमित्त या कारण है,

परन्तु सिर्फ परिणाम प्रकृति का स्वभावसिद्ध है, नैमित्तिक नहीं। सूक्ष्म रूप से देखने पर यह परिणाम दो प्रकार का दिखाई पड़ता है—एक, स्वरूप-परिणाम—यह स्वतः परिणाम है, इससे सृष्टि नहीं होती। प्रकृति सर्वदा स्वतःपरिणाम-सम्पन्न है। परन्तु और एक प्रकार का परिणाम है, वह विसदृश परिणाम है। पहलेवाला परिणाम सदृश परिणाम है, इसलिए इसे विसदृश परिणाम कहते हैं। इस परिणाम के फलस्वरूप सृष्टि का उदय होता है। कहना वाहुल्य है कि निमित्त जीव के पूर्वकृत कर्म का संस्कार है। इस विसदृश परिणाम के तीन विभाग हैं—धर्म, लक्षण और अवस्था। प्रकृति धर्मी है, उसका पहला परिणाम धर्म-परिणाम है। धर्म का प्रथम परिणाम लक्षण-परिणाम है। लक्षण-परिणाम के वाद अवस्था-परिणाम। लक्षण-परिणाम कालगत परिणाम है—अतीत, अनागत और वर्त्तमान, यह एक भेद लक्षण-परिणाम में रहता है। सांख्य सत्कार्यवादी है। सृष्टि परिणाम रूप से होते हुए भी असत् की कभी सृष्टि नहीं होती। पहले जो असत् था, वाद में अभिव्यक्त होकर वह सत् रूप में बदल जाता है। यह असत् अवस्था लक्षण-परिणाम के अन्तर्गत अनागत काल को लक्ष्य करता है। लिहाजा अनागत काल में जो सत् के रूप में परिदृष्ट होता है, वर्त्तमान में वह कार्यरूप में अभिव्यक्त होता है। अतएव, जो अभी नहीं है, वह भी अनागत लक्षण में है; क्योंकि ना कभी-कभी हाँ नहीं होता। परन्तु यह सवाल किया जा सकता है, जो अनागत लक्षण में है, भविष्य में वह वर्त्तमान में परिणत होगा। परन्तु जो अनागत लक्षण में दृष्ट नहीं होता, वह वर्त्तमान में आयगा कैसे? आचार्यों का कहना है, अनागत में नहीं रहने से वर्त्तमान में नहीं आ सकता, यह सत्य है, पर अनागत में नहीं होते हुए भी धर्म-परिणाम में तो वह हो सकता है। वह धर्म-परिणाम अनागत से होकर वर्त्तमान में आ सकता है। विसदृश परिणाम का पहला परिणाम ही है धर्म-परिणाम। धर्म-परिणाम की दृष्टि से व्यापक सृष्टि का पता चलता है। इसलिए धर्म-परिणाम में रहने से कोई योगी यदि उसका साक्षात् करें, तो वह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि लक्षण-परिणाम से वह वर्त्तमान में जरूर ही आएगा। परन्तु यदि वह देखें कि वह धर्म-परिणाम में भी नहीं है, तो उन्हें कहना पड़ेगा कि यह हो नहीं सकता। लेकिन तान्त्रिक कहेंगे कि यह भी ठीक नहीं है। तव इसका समाधान होगा कि सांख्यदृष्टि से यह असम्भव है। क्योंकि धर्म-परिणाम में इसका अस्तित्व नहीं है। सांख्य ईश्वरवादी नहीं, मगर जो ईश्वरवादी तान्त्रिक हैं, वह कहेंगे, सदृश परिणामशाली प्रकृति को ईश्वर क्षुब्ध कर सकते हैं, यद्यपि ये पुरुष नहीं कर सकते। तान्त्रिक के ईश्वर स्वातन्त्र्यमय हैं, उनके स्वातन्त्र्य-वल से सदृश परिणाम विसदृश परिणाम में बदल

सकता है। यदि यह हो, तो ईश्वर के स्वातन्त्र्य-बल से सदृश परिणाम प्रकृति भी क्षुब्ध होकर विसदृश परिणाम-साधन कर सकती हैं। वैसे में वही प्रकृति ही मायारूप में परिणत होती है, जो अघटन घटना पटीयसी हैं, जिनके अधिष्ठाता ईश्वर हैं। परन्तु यह मिथ्या है। पर, तान्त्रिक कहते हैं, यह सत्य है; क्योंकि उनकी दृष्टि और भी ऊपर है। इसके फलस्वरूप जो हमारे सामने प्रकाशमान है, वही महासृष्टि है। यह वेदान्त में भी नहीं, सांख्य में भी नहीं, पातञ्जल में भी नहीं। इसी महासृष्टि के अंश से ही खण्डसृष्टि है। महासृष्टि जैसे समग्र विश्व के अन्तर्गत सारी सत्ता का समष्टिरूप है, वैसे ही महाप्रलय भी समग्र विश्व के अन्तर्गत सारी सत्ता का चरम उपसंहार है। महासंहार के बाद विश्व नहीं रहता, रह नहीं सकता। पुराण आदि का कल्पित महासंहार आपेक्षिक है, पूर्ण नहीं। पूर्ण महासंहार होने से इदंरूप में प्रतीयमान सत्ता के अस्तित्व का रहना सम्भव नहीं। उस समय एकमात्र परिपूर्ण अहं ही रहता है। वर्त्तमान स्थल में भी महासृष्टि की अतीत अवस्था ही पूर्ण अहं या परमशिव है।

पूछा जा सकता है, क्या पूर्ण अहं सत्ता में महासृष्टि की यावतीय सत्ता विद्यमान रहती है? उत्तर यह है कि रहती है, अथच नहीं रहती। सभी रहती है, परन्तु इदंरूप में नहीं, अहंरूप में रहती है। पूर्ण अहं सत्ता में इदं का स्थान नहीं है। पूर्ण अहं सत्ता ही पूर्ण अहं विमर्शमय है। उसमें अहं सत्ता रह कैसे सकती है? लेकिन पूर्ण अहं के स्वातन्त्र्य-बल से आदिसृष्टि-रूप में इदं का आभास झलक सकता है। ऐसी स्थिति में पूर्ण अहं सत्ता के ऊपर स्वकल्पित एक आवरण आ जाता है। इन विषयों की बाद में विशेष रूप से चर्चा की जायगी। लेकिन याद रखना होगा, यह जो महा आवरण है, वह स्वरूप का ही आवरण है, और फिर आवरण होकर भी आवरण नहीं है। क्योंकि इस आवरण का आविर्भाव होने के बावजूद अखण्ड पूर्णसत्ता अनावृत ही रहती है। इसीलिए कहा जाता है— **'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते'**। यह जो मूल आवरण है, इस आवरण पर सृष्टि का व्यापार आविर्भूत होता है। यह आवरण ही महाशून्य या आकाश के नाम से परिचित है। परन्तु यह प्रसंग अभी आलोच्य नहीं।

वेदान्त में यह आवरण आवरण-रूप में और सृष्टि-प्रक्रिया विक्षेप-रूप में संक्षिप्त रूप में वर्णित है, यद्यपि तन्त्रशास्त्र में इसका बहुत विस्तार है। परन्तु वह भी इस प्रसंग में आलोच्य नहीं।

यह जिसे महासृष्टि कहा गया, वह इदंरूप में समग्र महासृष्टि का प्रतीक है। जिन महायोगी ने महाकाल के भीतर प्रवेश किया है, यह उनकी दृष्टि के सामने निरन्तर तैरता रहता है। इसका कोई विशेष रूप नहीं है। यह परम

सामान्य रूप है—अतीत, अनागत और वर्त्तमान यहाँ अवस्थित हैं; स्थूल-सूक्ष्म कारण, चेतन और अचेतन, ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय, आन्तर और बाह्य—सभी इसके अन्तर्गत हैं। यह इदंरूप में नित्य सिद्धरूप में मौजूद रहता है। अन्यान्य दर्शन या अन्यान्य योग की प्रक्रिया से इस स्थान में आते ही एक हिसाब से ईश्वर-पद में अधिष्ठित होता है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। यह भी पूर्णत्व की अवस्था नहीं है; क्योंकि यह इदंरूप में प्रतिभात होता है, अहंरूप में नहीं। पूर्णवस्तु एकमात्र अहं है, उसमें इदं का लेश भी नहीं रहता। इदंभाव सृष्टि के अन्तर्गत है।

पूर्ण वस्तु अखण्ड महाप्रकाश एवं पराशक्ति का सम्मिलित, सम्मूर्च्छित, अभिन्न स्वरूप है। पूर्ण स्वरूप में अहं है, पर वह अपूर्ण अहं नहीं है। महासृष्टि में अहं है, माया प्रमाता या जीवरूप में अनन्त या असंख्य। इदं सबसे पहले है महाशून्य-रूप में, उसके बाद तत्तत् प्रमाता के प्रमेय-रूप में, जो बाद में समझा जा सकेगा, और दोनों का सम्बन्धात्मक विज्ञान है। अनन्त रूप में कल्पित होने पर भी यह एक और अभिन्न है। इस त्रिपुटी का पहला आविर्भाव महासृष्टि में होता है। खण्डकाल की सृष्टि में यह विभिन्न लोक-लोकान्तर के रूप में फूट उठता है। यहाँ वह विचार नहीं करना है।

यह जो पूर्ण अहं है, वह नित्यसिद्ध है। इसे कोई अहंकार न समझ लें। पूर्ण स्थिति में अहंकार नहीं रह सकता, ग्राहक-भूमि में अहंकार रहता है, वह चाहे ईश्वरीय भूमि में ही हो, जीव-भूमि में ही हो। पूर्ण अहं ग्राहक-पद-वाच्य नहीं। ग्राहक, ग्रहण और ग्राह्य—यह त्रिपुटी के अन्तर्गत है। पूर्ण अहं में त्रिपुटी नहीं, एकमात्र अहं है। पूर्ण अहं और अपूर्ण अहं का पार्थक्य क्या है, यह संक्षेप में बता दें। पूर्ण अहं निरपेक्ष है, स्वतन्त्र है, किन्तु ग्राहकरूपी अहं निरपेक्ष भी नहीं, स्वतन्त्र भी नहीं। ग्राहक अहं ग्राह्य इदं-सापेक्ष है; क्योंकि ग्राह्य के नहीं होने से ग्राहक नहीं रह सकता। पूर्ण अहं में ग्राह्य कहाँ है, ग्रहण ही कहाँ है और ग्राहक ही कहाँ? समस्त अखण्ड रूप में बस एक अहं है, वहाँ और कुछ का स्थान नहीं। ग्राहकरूपी अहं और पूर्ण अहं में बहुत पार्थक्य है। ग्राहक-रूपी अहं सृष्ट किसी उपाधि को आश्रय करके होता है। समझ लीजिए कि यह जो सृष्ट आश्रय है, आपाततः वह दो हिस्सों में बँटा है। दोनों ही जड़ हैं, लेकिन एक में प्राण की क्रिया होती है और वहाँ अहं-प्रतीति का उदय होता है और दूसरे में प्राण की क्रिया नहीं होती और वह इदंरूप में प्रतीत होता है, अहंरूप में नहीं। उसी को साधारणतया जड़वस्तु कहते हैं। अतएव समझना होगा कि जड़वस्तु दो प्रकार की है—एक को अहं आश्रय करता है और वही अहं ग्राहक पद में परिणत होता है। दूसरे को ग्राह्य कहा जाता है। इसके भीतर एक रहस्य है, जिसका विवरण बाद में बतायेंगे। शास्त्र ने कहा है,

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता'—संवित्-रूपी चैतन्य जब सृष्टि की धारा में आकर अवरोहण करता है, तो सबसे पहले वही प्राण-रूप में परिणत होता है। इसे हम मातृका की चर्चा में समझेंगे। क्योंकि अहं में जो सर्वप्रथम कला—'अ'-कार है, यही महाप्रकाश का द्योतक है। और, 'ह'-कार प्राण का द्योतक है। दोनों एक हैं अथच एक नहीं हैं। एक शिवरूपी, दूसरा शक्तिरूपी है, लेकिन चित्‌रूप में दोनों अभिन्न हैं। इन दोनों के सम्मिलन में अन्तवर्त्ती भाव से असंख्य कला है। 'अ'-कार से 'ह'-कार तक पञ्चाशत कला प्रसिद्ध है। इसमें उपकला के रूप में अनन्त कलाएँ खेल रही हैं। इसका विवरण बाद में दिया जायगा।

'अ'-कार से 'ह'-कार तक प्रसरण समाप्त होने पर दोनों के आलिंगन से अन्तर्वर्त्ती रूप में सारी कलाएँ अभिन्न रूप में प्रकाशमान होकर अहंभाव का विकास करती हैं। यह जो 'ह'-कार है, वह इसके वाद दोनों के परस्पर आलिंगन-सम्भूत समष्टि अखण्ड रूप में प्रकाशमान होकर अहं को जगा देता है। यह 'ह'-कार इस भूमि में आते ही संवित् प्राण में वदल जाता है। इसकी चर्चा कुण्डली-विज्ञान में की जायगी। यह जो 'ह'-कार है, यही सांसारिक दृष्टि से ग्राहक और ग्राह्य का संयोजक है। जवतक महाशून्य का आविर्भाव होने पर भी 'ह'-कार का आविर्भाव नहीं है, तवतक देहात्म-वोध के उदय की सम्भावना नहीं रहती। इसे जरा समझाकर कहें—पहले यों समझिए, 'अ'-रूपी प्रकाश परिच्छिन्न होकर माया प्रमाता नाम से परिचित है, जिसे साधारणतः जीव कहते हैं, तन्त्र में जिसे पशु कहते हैं। इसमें पूर्ण अहं की अर्थात् परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति संकुचित हो गई है—इसी का नाम आणव मल है। यहाँ चिद्रूपी द्रष्टा दृश्य रूप में क्या देख पाता है? महाशून्य अर्थात् महा आवरण या परदा। इसके वाद पराशक्ति की प्रेरणा से उस परदे में हर पल संचरणशील असंख्य चित्र फूट आते हैं। यह जो चिदणु है, यह चित्रों को तटस्थ या उदासीन भाव से देख पाता है। इसके वाद उन सव चित्रों में से हठात् किसी चित्र के प्रति उसका आकर्षण होता है। क्यों होता है, यह वह नहीं जानता, लेकिन होता है। यह जो आकर्पण है, इसी का नाम 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' है, उस समय वह चित्र इंदभावापन्न होते हुए भी उसके निकट अहंरूप में प्रकाशमान होता है—इसी का नाम देहात्मभाव है। प्रथम अवस्था में अणुरूपी माया प्रमाता दृश्य को तटस्थ दृष्टि लेकर देख सकता है, वहाँ महा आवरण का पर्व है; क्योंकि एक ओर चिदणु, दूसरी ओर महाशून्य-रूप आवरण—दोनों ही हैं, पर देहात्मबोध नहीं है। परन्तु जव प्राण का उदय होता है तो वह चित्र द्रष्टा-मैं के साथ अभिन्न प्रतीत होता है अर्थात् देहरूप में प्रतीत होता है। भविष्य में यह जाना जा सकेगा कि यही कारण देह का बीज है। उसके वाद उससे स्फुरण होकर कर्म के अनुरूप मातृगर्भ में प्रवेश

करता है। यह चर्चा फिर होगी। मातृगर्भ में प्रवेश करने के बाद वर्गशक्ति के द्वारा मातृगर्भ में स्थूल देह की रचना आरम्भ होती है।

यहाँ हमने यह देखा कि अहं दो प्रकार का है—एक अकृत्रिम, स्वभावसिद्ध अहं, इसमें प्राण नहीं आणव भाव भी नहीं—यही पूर्ण अहं है। इनके सामने तटस्थ रूप में दृश्य भी नहीं, अहं रूप में तादात्म्य-युक्त दृश्य भी नहीं। और, एक है ग्राहक-रूपी अहं। ग्राहक-रूपी अहं देहात्मबोध वाला है। उसमें प्राण की क्रिया होती है और उसमें दृष्टरूप में वाह्यजगत् का अवभासन होता है। किसी कौशल से यदि इस ग्राहक-रूपी अहं की दृष्टि के सामने से इस दृश्य को हटा दिया जा सके अथवा जिस आश्रय या देह के सहारे उसका अहंभाव विकसित हुआ है, उसे अलग कर दिया जाय, तो उसी क्षण वह ग्राहक-रूपी अहं पूर्ण अहं में प्रवेश करेगा। पर, यह उचित नहीं; क्योंकि उससे निर्वाण में ले जाने की आशंका रहती है। निर्वाण या महानिर्वाण-अवस्था सत्य की ही द्योतक है, परन्तु स्वयं वल-सञ्चय किये विना उसमें प्रवेश नहीं करना चाहिए। ऐसे में अपने अहं के उस महासमुद्र में डूव जाने की आशंका रहती है। इसीलिए ऋषिगण कहते थे—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' वल या शक्ति के सहारे आत्मस्वरूप में प्रवेश करने से समझ में आता है—'निर्वाणं परमं सुखं ततः किं जायते भयम्?' इसीलिए महाशक्ति को आश्रय करके महाप्रकाश में प्रवेश करना चाहिए, उससे पूर्ण अहं का विकास स्वभावतः ही होता है।

इस प्रसंग में एक बात और कह रखें, शक्ति-आहरण किये विना पूर्ण में प्रवेश करने की धृष्टता करना उचित नहीं; क्योंकि वैसी स्थिति में अपने अस्तित्व-बोध का संरक्षण कठिन है। जबतक मायिक जगत् के विभिन्न स्तरों में संचरण होता है, तबतक डर नहीं रहता। परन्तु ब्रह्म में प्रवेश के समय अपने अस्तित्व के लोप की आशंका रहती है। महाशक्ति की कृपा हो तो ऐसा नहीं होता। क्योंकि माँ की स्नेहमयी गोदी में बैठकर पूर्ण में आरोहण करने से आत्मलोप की उतनी आशंका नहीं रहती। प्राचीनकाल में इसीलिए मातृका-उपासना का नियम था। माँ का सहारा लेकर उन्हीं की सहायता से पिता के पास उपस्थित होना। प्राचीन तान्त्रिकों ने आणव उपाय, शाक्त उपाय और शाम्भव उपाय में इस गूढ़ रहस्य को प्रकट किया है। आणव उपाय के मूल में चिदणु का व्यक्तिगत पुरुषकार है, यह कुण्डलिनी-जागरण के पहले की अवस्था है। कुण्डलिनी का जागरण नहीं होने से अपने पुरुषकार का ही अवलम्बन करके साधन-कार्य का निर्वाह करना पड़ता है, पर यह बहुत ही कठिन है और इसकी परिणति पूर्ण परिणति नहीं है। पहली चेष्टा आत्मशक्ति के जागरण के लिए होनी चाहिए। प्रक्रिया जो भी हो, वह विकारी नहीं है। आत्मशक्ति का जागरण ही कुण्डलिनी-चैतन्य है। कुण्डलिनी के रूप में आत्मशक्ति के जाग उठने से

वह शक्ति का प्रवाह महासमुद्र की ओर अपने-आप ही अग्रसर होता है। वैसे में उस शक्ति की गोद में आरूढ़ होकर शक्ति की धारा में संचालित होते-होते महासमुद्र में पँहुचा जा सकता है। मतलब कि जाग्रत् शक्ति से शिवभाव तक का उदय होना। यही उपाय संक्षेप में शाक्त उपाय के नाम से परिचित है। पारिभाषिक जटिलता यहाँ वर्जनीय है। प्रश्न हो सकता है—शक्ति जब जागकर जीव या सन्तान को शिव के सम्मुख पहुँचा देती है, तो शाक्त उपाय के बाद दूसरे उपाय की सम्भावना है क्या? हाँ, है। व्यक्ति-विशेष के लिए समुद्र में पहुँच जाने पर भी यात्रा का अन्त नहीं होता। शक्ति के द्वारा जीव शिवभाव में बदलता है। तब जीव पहले का जीव नहीं रह जाता, वह शिवस्वरूप होता है। परन्तु यहाँ भी अन्त नहीं होता; क्योंकि शिवत्व प्राप्त करना ही साधक का काम्य नहीं, साधक का काम्य है अपने को शिवरूप में पहचानना। शिवत्व-लाभ करने के बावजूद अगर अपने को शिवरूप में पहचाना नहीं जा सके, तो वह बुद्धिमान जीव का कदापि काम्य नहीं हो सकता। वेदान्त में भी वही बात है। वहाँ सप्त-ज्ञानभूमि की बात है। उसके लिए चतुर्थ ज्ञानभूमि साक्षात्कारात्मक है अर्थात् उस भूमि में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। परन्तु उससे जीवन्मुक्ति नहीं होती। वह गुरु की कृपा से हो सकती है तथा अपने पूर्वजन्म के अर्जित पुण्यफल से भी हो सकती है, परन्तु उससे अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। चतुर्थ भूमि में अपरोक्ष साक्षात्कार होता है, पर जीवन्मुक्ति होती है पञ्चम भूमि से। पञ्चम, षष्ठ और सप्तम—ब्रह्मविद्, वरीयान्, वरिष्ठा चतुर्थ से पञ्चम में प्रवेश कैसे और कब होता है, प्रश्न यह है। जिनकी भूतसिद्धि और चित्तशुद्धि हो गई है, उपासना के द्वारा वे चतुर्थ भूमि प्राप्त करने के बाद ही पञ्चम भूमि को प्राप्त करते हैं, कोई अड़चन नहीं रहती। आकाश में सूर्य का उदय होने पर वहाँ अगर मेघों का जमाव न हो तो प्रकाश अनुभूत होता है; मेघ के रहने पर प्रकाश अनुभूत नहीं होता। ठीक उसी प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार होने ही से जीवन्मुक्ति होगी, ऐसी बात नहीं—इस स्थूल देह में ब्रह्म-साक्षात्कार का अनुभव होना चाहिए। साधारणतः यह अनुभव बुद्धि के द्वारा होता है। बुद्धि प्रकृत तत्त्व है, यह आवरण से मलिन रहती है। साधन के द्वारा बुद्धि का आवरण हट जाने से इसके विपरीत, ब्रह्म-साक्षात्कार का उदय होने-से उस निर्मल बुद्धि में उस साक्षात्कार का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसी का नाम है ब्रह्मानुभव—तभी जीवन्मुक्ति होती है। तन्त्रशास्त्र में और भी विशद भाव से इस तत्त्व का प्रदर्शन किया गया है। उसके अनुसार ज्ञान और अज्ञान—दोनों ही दो प्रकार का है। हमारा बद्धभाव अज्ञान के कारण है, इसमें सन्देह नहीं। इस अज्ञान का नाम पौरुष-अज्ञान

है–यह पुरुष का स्वरूपगत अज्ञान है, यह साधन के द्वारा हर्गिज दूर नहीं होता। पौरुष-अज्ञान की निवृत्ति का एकमात्र उपाय सद्गुरु का अनुग्रह है। इस अनुग्रह के फलस्वरूप पल में अज्ञान दूर हो जाता है, परन्तु अज्ञान के जाने पर भी उसका अनुभव नहीं पाया जाता; क्योंकि बुद्धि मलिन ही है। इसलिए बुद्धि को निर्मल करना जरूरी है। पहले स्वरूप में ज्ञान अर्जन करना, उसके बाद निर्मल बुद्धि में प्रतिबिम्ब-रूप में उसे ग्रहण करना आवश्यक है।

[६]

मातृका के सिवाय स्वरूप को पकड़ने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। मातृका के विना पूर्ण परमेश्वर के स्वरूप, जिसे पूर्ण अहं कहा जाता है, का अनुभव नहीं होता। जिसे पशु या जीव कहते हैं, उसकी उपलब्धि भी मातृका-सापेक्ष है। यह जो परिच्छिन्न जीव है, इसके अनन्त रूप हैं। पशुरूपी प्रत्येक आत्मा की विशिष्टता ही रूप है। यह भारतीय दर्शन ही क्यों, पृथ्वी के सभी श्रेष्ठ दर्शन का परम सम्पद् है––इसीका नाम individuality है। बहुत-से लोग ठीक-ठीक धारणा नहीं कर सकते, इसलिए सोचते हैं कि यह कल्पित है, कल्पना की निवृत्ति के साथ-साथ यह निवृत्त हो जाती है। पर, यह आर्य-सिद्धान्त द्वारा अनुमोदित नहीं, महाजनों का अनुभव-सिद्ध नहीं। जिन्होंने वैशेषिक दर्शन का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि उस सम्प्रदाय के ऋषियों ने मुक्त आत्मा में भी 'विशेष' पदार्थ को स्वीकार किया है। प्रत्येक आत्मा ही विभु, व्यापक और यावतीय गुण-सम्पन्न है, यह सही है, पर एक आत्मा ठीक दूसरी आत्मा जैसी नहीं। मुक्ति के समय आगन्तुक आवरण हट जाता है, परन्तु स्वरूप रह ही जाता है। तब दीख पड़ता है कि प्रत्येक आत्मा अलग-अलग है, आत्मा नित्य और मन भी नित्य है तथा दोनों में 'विशेष' है। 'विशेष' के मानी quiddity–इतर व्यावर्त्तक धर्म। संसार-अवस्था में गुण, क्रिया, देह आदि के सम्बन्ध से पारस्परिक भेद जाना जाता है, परन्तु मुक्त अवस्था में यह सब भेद नहीं रहता। फिर भी स्वरूपगत भेद रहता है। वैशेषिकों ने इसी का नाम दिया है 'विशेष'। ठीक इसी भाव की बात उपनिषद् में भी है, ब्रह्मसूत्र में भी है। छान्दोग्य में है––'परं ज्योतिरूप सम्पद्य येन रूपेण अभिनिष्पद्यते'––अर्थात् उस समय ब्रह्मस्वरूप परम ज्योति प्राप्त होने के फलस्वरूप प्रत्येक आत्मा अपना-अपना स्वरूप प्राप्त करती है। 'सम्पद्य आविर्भावः येन शब्दात्'––ब्रह्मसूत्र में भी यही बात कही गई है।

यह जो पृथक्-पृथक् स्वरूप है, उससे कोई यह न सोच लें कि यहाँ भेद रह गया। यह भेद नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने कहा है––'भेदा भावेऽपि भेद कार्य-निर्वाह को विशेषः'। यह प्राचीन काल की बात है। यह विशेष सर्वत्र अंगीकृत है।

ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहने का मूल भी यही है। मातृका-तत्त्व और उनके संघट्टन को समझना हो तो स्मरण रखना होगा कि मूल उपादान सत्ता के एक होते हुए भी मातृका के प्रभाव से उसमें वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति होती है। सद्गुरु को इसीलिए दीक्षा के समय प्रत्येक आत्मा का स्वरूप देख लेना होता है। और, स्वरूप का प्रकाश मातृका से है। मातृका के अनन्त प्रकार हैं : Permutation-combination. आपात दृष्टि से पञ्चाशत मातृका है, पर मातृका की संख्या अनन्त है। एक 'क' ही अनन्त प्रकार का है, एक 'ख' ही अनन्त प्रकार का है। आदि-आदि।

एक रहस्य की बात यहाँ कहने की जरूरत महसूस होती है। जिन्होंने योग-शास्त्र पढ़ा है, वे कुछ-कुछ समझ सकेंगे। पातञ्जल योगसूत्र के व्यास-भाष्य में है—**'सर्वंसर्वात्मकम्'** यानी सब चीज में सब चीज है। लेकिन वहीं साथ-साथ यह भी कहना पड़ा है कि प्रत्येक वस्तु यद्यपि प्रत्येक वस्तु से अभिन्न है, फिर भी उसकी अपनी एक सत्ता है। वह लेकिन नष्ट नहीं होती। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है—**'जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकम्'**। जाति का उच्छेद नहीं होता, अथच सब वस्तु ही सब है। उदाहरणार्थ, 'क'—इसमें ग, घ, ल–सब है। ऐसे ही 'ख'–इसमें क है, ग है। 'जात्यनुच्छेदेन' द्वारा यही समझाया जाता है कि 'क' में दूसरे सबके रहते हुए भी 'क' का स्वरूपगत वैशिष्ट्य नष्ट नहीं होता। इसीलिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने कहा है, प्रत्येक व्यक्ति अपने इष्ट देवता में सब देवता की पूजा कर सकते हैं। गीता में भी भगवान् ने कहा है, जो श्रद्धा से मेरी अर्चना करते हैं, मैं उसे ग्रहण करता हूँ, पर दूसरे देवता की भी यदि श्रद्धा से अर्चना करते हैं तो वह मेरे पास पहुँचती है। अतएव मूल बात यह कि 'क' में सब है, पर उसकी अपनी सत्ता नष्ट नहीं होती।

अब पथ के परिचय की बारी। माया से योगमाया में गति की बात। इसे खास तौर से याद रखना है कि माया-राज्य में रास्ता ढूँढ़ निकालना कठिन है। मायाराज्य से तथाकथित योगमाया-राज्य में प्रवेश नहीं कर पाने से पूर्ण सत्य की ओर बढ़ना कतई सम्भव नहीं। जन्म-जन्मान्तर और युग-युगान्तर मायाराज्य में बीता, पर ढूँढे राह नहीं मिली। मायाराज्य की एकमात्र अनुभूति है–जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, फिर जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और फिर जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति। मायाराज्य काल के अधीन है, इसलिए काल का आवर्त्त मायाराज्य को कभी नहीं छोड़ता। जाग्रत् के बाद स्वप्नावस्था आती है, स्वप्न बाद में याद रहे, न रहे, वह जाग्रत् के बाद की अवस्था है और स्वप्न से सुषुप्ति या उसका आभास मिलता है। आवर्त्त के समाप्त होते ही फिर जागरण, फिर स्वप्न, फिर सुषुप्ति। यह आवर्त्त अनादि काल से चल रहा है। इसके बाद पूर्ण विश्व में प्रवेश करने से मैं अग्रसर नहीं हो सकता। आवर्त्त की यह

जो गति है, उससे प्राण-अपान या श्वास-प्रश्वास की सूक्ष्म गति जुड़ी हुई है। मायाराज्य को भेद करना हो तो कोई ऐसी शक्ति चाहिए, जो माया के राज्य में रहते हुए ही माया के ऊपर संचरण करे। हम कह आये हैं कि मायाराज्य काल के अधीन है, पर माया के ऊपर या बाहर काल नहीं है, यह बात भी सही है। प्रकृत प्रस्ताव में गौर करने की बात यह है कि माया के ऊपर काल के रहने पर भी वहाँ आवर्त्त-गति नहीं है। आवर्त्त-गति महज माया में ही है। आवर्त्त-गति से चलने पर लाख वर्ष में भी काल को शेष नहीं किया जा सकेगा; क्योंकि काल को भेद करने के लिए समस्त मायाराज्य को ही भेद करना होगा।

एक बात याद रखनी होगी, मायाराज्य में सत्य का जो रूप दिखाई देता है, वह कल्पनामण्डित है। कल्पना को छोड़कर मायाराज्य में रहते हुए निर्विकल्प सत्य को पाने का उपाय नहीं है। मायाराज्य में जबतक हैं, वास्तविक ज्ञानी के नियम के अनुसार तबतक कालराज्य के स्तरों का अनुभव नहीं किया जा सकता। इसका एक ही कारण है—आवर्त्त। इसलिए प्रकृत सद्गुरु दीक्षाकाल में बीजमन्त्र देने के समय साधक के आधार के मुताबिक थोड़े परिमाण में माया को तोड़ देते हैं। यह बड़ा ही रहस्यमय है। साधारण लोग इसे समझ नहीं सकते। इस तोड़ने के फलस्वरूप वक्रगति का अन्त होकर सभी गति का आभास फूट पड़ता है। उसके बाद उस सरल गति को पकड़कर कालराज्य और मनोराज्य—दोनों का भेद किया जा सकता है। परन्तु कालराज्य में रहने से उस सरल मार्ग से ऊर्ध्वगति की सुविधा नहीं मिलती।

इस बात को जरा और स्पष्ट करके कहें—जो फोटोग्राफी-विज्ञान जानते हैं और फोटो खींचने में अभ्यस्त हैं, वे जानते हैं कि photo-lens के द्वारा यानी दर्पण के द्वारा बाहरी ज़गत् का तसवीर ली जा सकती है, लेकिन चूँकि मामूली फोटोग्राफी यन्त्र अत्यन्त निपुणता के साथ गठित नहीं होता, इसलिए इस बाह्य जगत् का उन्मुखीकरण (exposure) जरा देर के लिए कर देना सम्भव है, परन्तु अपनी इच्छा के अनुसार सूक्ष्म नहीं किया जा सकता; क्योंकि कम कीमती कैमरा में instantaneous snap-shot की सम्भावना बहुत कम रहती है। क्योंकि उसका lens या दर्पण शक्तिशाली नहीं होता। जितनी देर तक exposure दिया रहता है, यानी वह दर्पण बाहर की ओर खुला रहता है, ठीक उतनी ही देर तक दर्पण में प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की सम्भावना है। बाहरी वस्तु के तीव्र गतिशील होने से अच्छे कैमरे के सिवा साधारण कैमरे में ठीक exposure नहीं होता। ठीक इसी प्रकार हमारा मन और इन्द्रिय बाहरी भाव-जगत् का अनुभव तो करता है, पर समय कुछ ज्यादा नहीं मिलने से प्रतिबिम्ब ग्रहण करना ठीक से नहीं हो पाता।

गतिशील वस्तु की गति की मात्रा के अनुसार गति को चित्रित करनेवाले यन्त्र की आवश्यकता होती है। गति अगर तीव्र वेग से हो रही हो, तो वह साधारण यन्त्र उसे कदापि ग्रहण नहीं कर सकता। किन्तु जिन सब कैमरों में lens-power बहुत ज्यादा है या होता है, उनके लिए इस द्रुतगति को ग्रहण करना उतना कठिन नहीं है। यह सबकी जानी हुई बात है।

माया और योगमाया-राज्य का व्यापार भी ठीक ऐसा ही है। इसलिए सद्गुरु शिष्य को शक्तिशाली बीजरूप तीव्र गतिवाला यन्त्र देते हैं। वह इतना तीव्र होता है कि मायिक जगत् की किसी तीव्रता को ही वह नहीं मानता। इसी को समझ सकने से अर्धमात्रा का तत्त्व समझ में आयगा। दुर्गासप्तशती में अर्ध-मात्रा की बात है। तन्त्र में भी बहुत जगह है। परन्तु साधारण लोग उसका मतलब नहीं समझ सकते। अर्धमात्रा को आश्रय करके योगी को ऊर्ध्वगतिशील होना पड़ेगा। अर्धमात्रा की मदद न मिले तो योगी को ऐसी कोई क्षमता नहीं कि वह मायाराज्य का भेद कर सके।

तन्त्र में इस वस्तु का बिन्दु-रूप में वर्णन किया जाता है। अर्धमात्रा बिन्दु के ही वेग की मात्रा है। मायिक जगत् में उसकी सम्भावना नहीं है और अर्धमात्रा की सहायता पाये बिना जीव कभी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-रूप काल के आवर्त्त को भेद-कर गति का सरल वेग ग्रहण नहीं कर सकता। जो तान्त्रिक विज्ञान से परचित हैं, उन्हें पता है कि बिन्दु से परम पद तक जो कई स्थान (stations) हैं, तमाम अर्धमात्रा या उसी का कोई-न-कोई अंश कार्यकर होता है। बिन्दु का दूसरा नाम महामाया है। दीक्षा के साथ-ही-साथ साधक मायाराज्य को पार करके, यहाँ प्रवेश करता है। यहाँ प्रवेश करते ही उसे बिना चेष्टा के ही सरल गति मिल जाती है। पर इस सरल गति से तृप्त नहीं होकर उसे और भी सरलतर करना आवश्यक होता है। अर्थात् बिन्दु-राज्य में गति का वेग यदि अर्धमात्रा होता है, तो उसके बाद के प्रत्येक स्टेशन में अर्ध-अर्ध हिसाब से कम होता जायगा, यानी बिन्दु में अर्धमात्रा, उसके बाद १/४ मात्रा, उसके बाद १ ८ मात्रा आदि। बिन्दु के ऊपर के ये स्तर बिन्दु से सूक्ष्मतर हैं। ऐसी क्रमिक सूक्ष्मता वास्तव में अनन्त हो सकती है, लेकिन कार्यक्षेत्र में वैसा नहीं होता। प्राचीन योगियों के अनुभव का विश्लेषण करने से देखा जाता है कि उसकी सूक्ष्मतम मात्रा या तो १/२५६ होती है या १/५१२—इसे याद रखना होगा। इसका यह मतलब नहीं कि इससे अधिकतर सूक्ष्म नहीं हो सकता। सिद्धान्त के अनुसार सूक्ष्मता अनन्त दूर तक व्यापक है, लेकिन कार्यतः वह देखने में नहीं आता। कार्यतः १/२५६ या १/५१२ सूक्ष्मता की चरम मात्रा लगती है। काल की सूक्ष्मता के साथ-साथ मन स्वयं भी

अत्यन्त सूक्ष्मता प्राप्त करता है। उसके अनुसार उसका दृश्य विश्व उसी के अनुरूप सूक्ष्मता पाता है। व्यवहार-भूमि में उसी तथाकथित चरम सूक्ष्म स्थान में ही योगी को मन का वर्णन करना पड़ता है। उस समय मनोनिवृत्ति की अवस्था आती है। मन को इस प्रकार से छोड़ना योगी की अपनी इच्छा से होता है।

अब उन स्तरों को बताते हैं, जिनको विन्दु से भेद करना होता है। इसीसे विश्व-भेद का परिचय मिलेगा। गति क्रमशः सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्तर की ओर चलती है—पहले विन्दु, योगी अपने स्वातन्त्र्य के बल से खींचकर शिष्य को यहीं बैठा देते हैं। उसके बाद वह जप-विज्ञान या ध्यान-विज्ञान के द्वारा इस मात्रा को अधिकतर सूक्ष्म करता रहता है। संक्षेप में इन स्तरों के नाम हैं—विन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना—यहाँ तक मनोराज्यमय विश्व है। सृष्टि की गति इसे भेद नहीं कर सकती। योगी को समना स्थान में आकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसके बाद किसी प्रकार की अशान्ति नहीं। लेकिन इच्छा करते ही योगी इस स्थान को भेद करने में समर्थ नहीं होता। विश्व-कुण्डलिनी का स्थान भी यही है। वास्तविक शान्ति का राज्य इसके बाद है।

तीन प्रकार की कैवल्य-अवस्था है, उसके बाद है उन्मनी। ये तीन प्रकार के कैवल्य जड़ से पूर्ण विश्लेष को लक्ष्य करके संगठित होते हैं। जड़ का पहला स्थूलतम रूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति या गुणत्रय है, उसके बाद माया, उसके बाद महामाया या विन्दु। महामाया से आत्मा मुक्त हो तो कहा जा सकता है कि उस साधक ने कैवल्य प्राप्त किया। उस समय उसकी आत्मा जड़ के क्षुद्रतम कण से भी विमुक्त होती है, लेकिन यह पूर्णत्व नहीं है। पूर्णत्व उन्मनी अवस्था में होता है। पूर्णत्व में परिपूर्ण चैतन्य का विकास रहता है, कैवल्य में वह बिलकुल नहीं रहता। पूर्णत्व में जाने का कोई रास्ता नहीं है। योगी जब भगवदनुग्रह के अधिकारी होते हैं, तब इस मनोराज्य के किनारे आकर प्रतीक्षा करते हैं। इसके बाद अधिकारी पुरुष के लिए परमशिव से उन्मनी शक्ति उतर आती है। वह उन्मनी शक्ति योगी की सत्ता को साथ लेकर परमशिव में पहुँचती है। पहुँचकर योगी के परमशिवत्व का सम्पादन करती है और खुद गायब हो जाती है। यही योगी या साधक के परमशिवत्व पाने का क्रम है।

यह जो उन्मना पद है, वही आत्मा का नित्य और परमस्थान है। यहाँ पर शिवभाव है, शक्ति-भाव भी है, पर दोनों ही अभिन्न। आगमविद् कहते हैं, छत्तीस तत्त्वों में सबके ऊपर शिव-शक्ति नाम के जो दो तत्त्व हैं, वे यहाँ आकर एक हो जाते हैं और योगी स्वयं ही उस अवस्था में विराजते हैं, इसीको परमशिव, पराशक्ति या परासंवित् कहते हैं। यहाँ शिव-शक्ति का भेद नहीं। यद्यपि शिव भी

चित्‌रूप हैं, शक्ति भी चित्‌रूप हैं, फिर भी दोनों के मिलन के विना पूर्णत्व नहीं सिद्ध होता। यह स्थान निष्कल पद है। शुद्ध शिव विश्व के शीर्ष स्थान में हैं, परन्तु वह पूर्ण नहीं हैं। उनके भी अभाव है; क्योंकि वह शक्तिहीन हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वह वोधरूप है, परन्तु स्वातन्त्र्यहीन हैं। इसी तरह विश्व के शीर्ष स्थान में जो शक्ति हैं, वह जगत् के ऊपर श्रेष्ठ शक्ति हैं, परन्तु उनमें भी पूर्णता नहीं; क्योंकि उनमें शिवभाव की कमी है। वह जड़शक्ति के सिवा और कुछ नहीं। जव इन दोनों का संयोग होता है और संयोग के फलस्वरूप दोनों एक होकर प्रकट होते हैं, तव वही अद्वैत तत्त्व है। उन्हें शिव कहना चाहो, तो परमशिव कहो और शक्ति कहना चाहो, तो पराशक्ति कहो। जहाँ स्वातन्त्र्य है, वहीं निष्कल है। शिव निष्फल नहीं हैं। उनमें शान्त्यतीत कला हैं, शक्ति भी निष्कल नहीं, उनमें शान्ति-कला है। परन्तु वे पूर्ण नहीं हैं; क्योंकि एक में दूसरे का अभाव है। शिव निष्क्रिय हैं, यह सही है और शक्ति स्पन्दमयी हैं, यह भी सही है—दोनों के मिलने से जो वस्तु होती है, उसीको पूर्ण कहते हैं। व्यवहार-भूमि में उनका नाम भगवान् या भगवती है। स्मरण रखना होगा, यह ब्रह्मरूप ही है, पर ब्रह्म नहीं; क्योंकि ब्रह्म में स्वातन्त्र्य नहीं है। यहाँ स्वातन्त्र्य है।

कोई-कोई कहते हैं, माया के अन्तर्गत रूप में सारे विश्व का प्रकाश होता है। जीव की अवस्थाएँ, जिन्हें हम उसका आध्यात्मिक सम्पद् मान सकते हैं, सब इसी मायाराज्य में निखरती हैं। विशेषज्ञों ने आपाततः माया को दो भागों में बाँटकर तत्त्व-निर्णय की चेष्टा की है। माया के प्रथमार्ध में अज्ञानी जीव संचरण करते हैं, द्वितीयार्ध में ज्ञान की प्राप्ति के वाद ज्ञानी जीव का संचरण सम्भव होता है। माया के इस द्वितीयार्ध को समझने की सुविधा के लिए कोई-कोई योगमाया कहकर निर्देश करते हैं। काल की गति दोनों में एक प्रकार की नहीं। जीव की अज्ञान-अवस्था में काल की आवर्त्त-गति नष्ट नहीं होती। इसीलिए जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का आवर्त्तन निरन्तर होता है। श्वास-प्रश्वास या प्राण-अपान की क्रिया भी चलती रहती है। मन की सत्ता माया के प्रथमार्ध में भी रहती है, द्वितीयार्ध में भी रहती है, पर प्रकार-भेद है। माया के प्रथमार्ध में आवर्त्तन की क्रिया रहती है, इसीलिए इन्द्रिय की क्रिया भी स्थूल या सूक्ष्म भाव से उसमें जुड़ी होती है। मन की क्रिया उसके साथ ओत-प्रोत भाव से जड़ित रहती है। जाग्रत् के वाद स्वप्न एवं स्वप्न के वाद सुषुप्ति—मन इन तीन में संचरण करता है। जाग्रत् अवस्था में इन्द्रिय की क्रिया मौजूद रहती है और मन से इन्द्रिय का सदा योग रहता है, साथ-ही-साथ प्राण की क्रिया भी रहती है—यही साधारण अवस्था है। स्वप्न-अवस्था में इन्द्रिय की वहिर्मुख क्रिया नहीं रहती, पर अन्तर्मुख क्रिया रहती है। वहिर्मुख क्रिया नहीं रहने के कारण

भौतिक जगत् इन्द्रिय के सामने भासमान नहीं होता, लेकिन चूँकि उसका संस्कार क्रियाशील रहता है, इसलिए इन्द्रिय की क्रिया अन्तर्मुख चलती रहती है। इन्द्रिय के साथ मन की क्रिया भी रहती है। परन्तु सुषुप्ति-अवस्था में इन्द्रिय की बहिर्मुखी क्रिया तो नहीं ही रहती है, अन्तर्मुखी क्रिया भी नहीं होती। मन उस समय अज्ञान-अवस्था में हृदय-कोष में लगा रहता है। कोई-कोई कहते हैं, पुरीतत नाड़ी में मन निष्क्रिय रूप में मौजूद रहता है। यह अज्ञान की अवस्था है। इस अवस्था में संस्कार का उद्दीपन नहीं होता और किसी प्रकार से मन की जागृति भी नहीं होती। यहीं तक अज्ञान-राज्य की सीमा है। कहना बाहुल्य है, यह काल के अन्तर्गत है। जो काल आवर्त्तशील है, वह यहाँ भी निरन्तर काम करता रहता है। इसलिए मन को कुछ समय विश्राम करके फिर दौड़कर इन्द्रिय से जुड़ना पड़ता है। सुषुप्ति-अवस्था में किसी प्रकार की नाड़ी-क्रिया नहीं रहती, जिसके प्रभाव से मन का संचार सम्भव है। मन के संचार के लिए मनोवहा नाड़ी निश्चित है। सुषुप्ति-अवस्था में ये नाड़ियाँ निष्क्रिय रहती हैं, इसलिए मन की कोई क्रिया नहीं होती। इसीलिए बाह्य मन के प्रभाव से प्रभावित ज्ञान का भी उदय नहीं होता। इसीलिए सुषुप्ति को अज्ञान की अवस्था कहा जाता है। परन्तु वास्तव में यह सुषुप्ति ही मन के जाग्रत् होने का एकमात्र स्थान है। सद्गुरु की कृपा से इस सुषुप्ति में ही मन में शक्ति का संचार होता है। इसीका नाम मन का त्राण है। उस समय मन का उद्धार होता है अर्थात् ऊर्ध्वगति आरम्भ होती है। इस ऊर्ध्वगति का वेग संचारित ज्ञान-शक्ति की तीव्रता पर निर्भर करता है। वैसे में हृदय से जाग्रत् होकर मन ऊपर की ओर यानी द्वादशान्त की ओर संचरण करता रहता है। इस ऊर्ध्व के संचार के ही कारण तुरीय अवस्था आती है।

मन के जाग उठने से उसीका नाम यथार्थ मन्त्र होता है। यानी मन उस समय चित्शक्ति के रूप में परिणत होता है, परन्तु आंशिक रूप में, क्रमशः। यह ऊर्ध्वगामी मन ऊपर जाता है, फिर लौट आता है। हृदय में आकर अस्त होता है। सूरज का जैसा उदय-अस्त होता है, उस समय मन का भी वैसा ही उदय-अस्त होता है। इसका विस्तार से वर्णन योगशास्त्र में पाया जा सकता है।

यह जो तुरीय अवस्था है, वह मन की यानी जाग्रत् या चिद्भाववाले मन की ऊर्ध्वगति की अवस्था है। इस अवस्था में सूर्य के उदय-अस्त की नांईं जाग्रत् मन का भी उदय-अस्त होता है। इसलिए एक बार में हृदय से ऊपर द्वादशान्त तक छत्तीस अंगुल ऊर्ध्वगति होती है। फिर द्वादशान्त से हृदय तक अधोगति होती है। इसके बहुत रहस्य हैं। कौलचक्रतन्त्र में इसके तत्त्व की चर्चा है। इस जाग्रत् मन के ऊपर-नीचे की गति सरल मार्ग से होती है। यहाँ अब आवर्त्त-गति

नहीं होती। परन्तु यह एकवारगी स्थायी नहीं होता। धीरे-धीरे अभ्यास करना होता है। क्योंकि गति एक वार ऊपर की ओर होती है, उसके बाद वह यथास्थान में उतर आती है। इस प्रकार फिर-फिर अभ्यास के फलस्वरूप स्थिति क्रमशः ऊपर की ओर होती है।

हमलोग जिस जगत् का अनुभव करते हैं—बेशक जाग्रत् अवस्था में, आनुषंगिक रूप से स्वप्न में भी—वह काल की आवर्त्त-गति के अन्तर्गत है। एक हिसाब से देखने पर काल की आवर्त्त-गति अन्तहीन है। इसलिए जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का क्रमिक आवर्त्त भी अन्तहीन है। तान्त्रिक योगी बड़े ही सूक्ष्मदर्शी थे। उन्होंने इस आवर्त्त-गति में साधना को छोड़ नहीं रखा। आवर्त्त-गति में साधक चरखी की तरह एक बार ऊपर उठता है, फिर नीचे गिरता है—वास्तविक उन्नति कुछ भी नहीं होती। क्योंकि उससे काल को भेद नहीं किया जा सकता। संसार-चक्र अनादि काल से इस आवर्त्त में चल रहा है। इस चक्र में अवस्थित होकर साधना के प्रभाव से उन्नति करने का खास कोई मूल्य नहीं। क्योंकि आवर्त्त के प्रभाव से जितनी ही ऊँची गति हो चाहे, फिर नीची गति अवश्यम्भावी है। इसलिए सिर्फ साधना में आत्यन्तिक परिश्रम रहते हुए भी स्थायी फल नहीं मिलता। सम्भव हो तो साधक को आवर्त्त-गति से हटाकर सरल मार्ग में बिठाकर साधना में लगाना चाहिए। इससे सरल मार्ग में रहकर जो जितनी उन्नति करेगा, वह उतना ही स्थायी रूप से सम्पन्न कर सकेगा। आवर्त्त के नहीं होने से गिर पड़ने की कोई आशंका नहीं। प्राचीन तान्त्रिकों ने अर्धमात्रा के महाविज्ञान का आविष्कार किया था। इस विज्ञान के सहारे सरल गति को आश्रय करके क्रमोन्नति की अवस्था है। सबसे पहले काल की मात्रा से इस अर्धमात्रा की धारा से जोड़ देना सद्गुरु का कर्त्तव्य है। अर्धमात्रा जहाँ से आरम्भ होती है, समझना होगा कि वहीं से सरल गति का आरम्भ है।

[७]

काल के राज्य में लोक-लोकान्तर तैर रहा है। वह जैसा मायिक सत्ता के लिए सत्य है, वैसा ही अमायिक या योगमायिक सत्ता के लिए भी सत्य है। लेकिन काल को अर्धमात्रा में प्रतिष्ठित न होकर देश और काल के रूप में जगत् के जिस स्वरूप का अनुभव किया जाता है, वह चूँकि निरन्तर आवर्त्तनशील है, इसलिए साधक के लिए धारणा के योग्य नहीं। इसलिए योगी का सबसे पहले विन्दु में प्रवेश आवश्यक है। विन्दु में प्रवेश किये विना सरल मार्ग में प्रवेश करना सम्भव नहीं। विन्दु के बारे में बहुत-सारी बातें बाद में कही जायेंगी, यहाँ सिर्फ दिग्दर्शन-मात्र किया गया।

इस बिन्दु की स्वाभाविक मात्रा है अर्ध। यहाँ से सरल मार्ग का आरम्भ हुआ है और यही योग-मार्ग है। इस मार्ग में प्रवेश करके क्रमशः ऊपर उठते-उठते काल के सूक्ष्मतम परमाणु तक पहुँचा जा सकता है। उपाय केवल अर्धमात्रा का अवलम्बन है। इस अर्धमात्रा का एक रहस्य है। बिन्दु की प्राप्ति एकाग्रता के फलस्वरूप है। हम षट्चक्र को भेद करके आज्ञाचक्र के जिस बिन्दु का पता पाते हैं, यह वही बिन्दु है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु आज्ञाचक्र तक विश्व उस बिन्दु में एक प्रकार से समाप्त हो गया है। लेकिन इस बिन्दु से ऊपर उठने के लिए अर्धमात्रा के क्रम का अवलम्बन करके महाबिन्दु तक उठना जरूरी है। बिन्दु से महाबिन्दु—इसीका नाम सरल मार्ग है। काल के कुटिल पथ में जैसे भौतिक राज्य और कल्पना का जगत् मौजूद हैं, वैसे ही काल के इस सरल मार्ग में भी विराट् विश्व मौजूद है, जिसका दर्शन काल के राज्य में रहकर सम्भव नहीं। अर्धमात्रा के सम्बन्ध में एक प्रवाद प्रचलित है। कोई अगर इस प्रवाद के तथ्य की खोज करें तो निस्सन्देह उपकृत होंगे। प्रश्न यह है—विश्व सान्त है या अनन्त? विश्व सान्त है, यह भी सत्य है, और विश्व अनन्त है, यह भी वैसा ही सत्य है। प्रवाद के इस रहस्य को समझ सकने से बहुत-से गम्भीर तत्त्व की सहज ही धारणा होगी। बहुत पुराने समय में हमारी दार्शनिक मण्डली में, खास करके तार्किकों के साथ विचार के सिलसिले में परमाणु-तत्त्व को लेकर विचार उठा था। दार्शनिक-गण (तार्किकगण) कहते हैं, बाह्य सत्ता का विश्लेषण करते-करते—अवश्य विचार के द्वारा—जहाँ जाकर और विश्लेषण सम्भव नहीं होता, वहीं विश्राम लेना पड़ता है। यही परमाणु की कल्पना का मूल स्थान है यानी जहाँ के बाद और विश्लेषण सम्भव नहीं, वही परम अणु है। परमाणु की मात्रा के तारतम्य पर वस्तु का स्थूलत्व निर्भर करता है। जो लोग पदार्थ की अनन्त विभाज्यता को स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं, प्रत्येक सत्ता में ही अनन्त परमाणु हैं। अतएव इस विभाग-प्रक्रिया का अवसान कहीं भी सम्भव नहीं। दूसरे पक्ष का कहना है, अवसान को स्वीकार नहीं करने से मेरु और सरसों समान हो जाते हैं। इसलिए अवसान को स्वीकार करना जरूरी है, आदि। प्राचीन दर्शन में सर्वत्र ही ऐसा विचार है। हमारे मनोविज्ञान में भी यह रहस्य है। एक हिसाब से, मन के विश्लेषण के साथ-साथ ही दृश्य-जगत् की सूक्ष्मता का अनुभव होता है। और, मन को विश्लेषण न करके अगर पहले ही छोड़ दिया जाता है, तो विश्व पहले से ही शून्य हो जाता है। उस समय एकमात्र पूर्ण सत्य ही रहता है।

अर्धमात्रा के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि सरल गति के क्रमविकास के साथ-साथ मात्रा का सूक्ष्म होना आवश्यक है। साधारणतः

यह सूक्ष्मता अर्धमात्रा आदि रूप में विभक्त होती है। जैसे, विन्दुस्थान में अर्धमात्रा, किन्तु अर्धचन्द्र में १/४ अंश मात्रा, और निरोधिका स्थल में उसकी भी आधी। इस तरह क्रमशः मात्रा का विभाग होते-होते क्रमशः काल की क्षीणतम मात्रा तक पहुँचना होता है। काल की क्षीणतम मात्रा को तान्त्रिकगण काल का परमाणु कहते हैं। इसका पारिभाषिक नाम 'लव' है। इसलिए 'लव' ही कालिक विभाग की ऊर्ध्वगति की चरम सीमा माना जाता है, परन्तु वास्तव में वह चरम सीमा नहीं है; क्योंकि यह चरमत्व योगी के मानसिक सामर्थ्य पर निर्भर करता है। अगर कोई योगी इस सीमा का लंघन करने में समर्थ होते हैं, तो उनके निकट विश्व का चित्र अधिकतर सूक्ष्म रूप में रह ही जाता है। परन्तु तान्त्रिक शास्त्र के प्राचीनतम विवरण या रेकर्ड से पता चलता है कि $\frac{१}{५१२}$ मात्रा ही मात्रा-विभाग की चरम सीमा है; क्योंकि आजतक किसी योगी को इससे सूक्ष्म रूप में मात्रा-विभाग-प्रक्रिया करते नहीं देखा गया है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि मात्रा की सूक्ष्मता इससे अधिक सम्भव नहीं है। जहाँ कार्यक्षेत्र में चरम सूक्ष्मता स्वीकृत होगी, वहीं काल का परमाणु या लव भी स्वीकृत होगा। जिसे विन्दु की प्राप्ति कहते हैं, वह षट्चक्र-भेद के वाद होती है। उसके बाद जो विभाग है, उस विभाग के कारण क्रमशः काल की मात्रा क्षीण हो जाती है और उसके अनुसार माया की मात्रा भी अपेक्षाकृत क्षीण होती है और उसके फलस्वरूप सत्य की ज्योति अधिकतर रूप में मलिनता का परिहार करती है। यह जो जगत् है, इसी का नाम महामाया का जगत् है। काल के आवर्त्त वाले जिस जगत् को छोड़कर इस जगत् में प्रवेश किया गया है, उसका नाम माया-जगत् है। माया-जगत् अज्ञानी के कर्म और भोग का स्थान है––स्वर्ग, मर्त्य, नर्क आदि अनन्त लोक-लोकान्तर इस मायिक राज्य में मौजूद हैं। यहाँ काल आवर्त्त-रूप में क्रिया करता है अर्थात् एक वार वाम-आवर्त्त में, फिर दक्षिण-आवर्त्त में और दक्षिण-आवर्त्त से फिर वाम-आवर्त्त में। इसी का नाम अज्ञानी का जगत् है। सुषम्णा में प्रवेश नहीं करने तक इसका अवसान नहीं होता। जीवन-मृत्यु इसी के अन्तर्गत हैं। मृत्यु के वाद का नया जीवन इसी के अन्तर्गत है। सर्वत्र ही काल का यह आवर्त्तमय खेल मौजूद है। मतलब कि जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति––इन तीन से यह जगत् गठित है। कोई सुदीर्घ काल तक स्वर्ग में रह सकते हैं, उसी तरह अधोलोक में भी रह सकते हैं, मगर रहेंगे काल के आवर्त्त में ही। इस आवर्त्त से उद्धार करने के एकमात्र सहायक हैं सद्गुरु। सद्गुरु यथानिर्देश दीक्षा-शक्ति के द्वारा जीवात्मा को ज्ञान-बीज दान करके यानी शुद्ध विद्यादान करके इस आवर्त्त से उद्धार करते हैं। अपनी तपस्या, साधना, यम-नियम आदि कोई भी उपाय इसे, यानी अर्धमात्रा-रूप काल

को भेद करने में समर्थ नहीं। इसको एकमात्र भगवान् की अनुग्रह-शक्ति ही भेद कर सकती है, जिसका दूसरा नाम शुद्ध विद्या है। यह शुद्ध विद्या अन्यान्य शास्त्रों के दिव्यज्ञान से तुलनीय नहीं है; क्योंकि यह आत्मा में प्रविष्ट होने से अज्ञान का नाश कर देती है और जीव के अहन्ता को जगा देती है।

इस अहन्ता का पूर्ण जागरण ही परम शिवत्व की प्राप्ति है। इस जागरण का क्रम है, उन क्रमों को योग या परम ज्ञान के जागरण का क्रम या भूमि कहा जा सकता है। एक-एक भूमि से उसकी ऊर्ध्ववर्त्ती भूमि में काल की मात्रा सूक्ष्मतर है—इसलिए यहाँ का ज्ञान अहन्तारूप में एक होते हुए भी अधिकतर सूक्ष्म और व्यापक है। यह जो क्रम है, उसका अनुसरण करते-करते काल क्रमशः लवरूप में परिणत होता है। अवश्य यह विशिष्ट योगी के लिए है; क्योंकि प्रत्येक योगी के सामर्थ्य के अनुसार यह निर्णीत होता है। यहीं महामाया का संसार भी अस्तमित हो जाता है। माया का संसार अस्तमित होता है विन्दु की प्राप्ति के प्रभाव से, सद्गुरु की कृपा से। यहाँ तक सरलगति योगी जीव का पुरुषकार है, परन्तु काल के परमाणु तक पहुँचते ही योगी जीव का पुरुषकार भी समाप्त हो जाता है। यह यद्यपि बहुत ऊँची अवस्था है; क्योंकि यहाँ माया और योगमाया की क्रिया परम उज्ज्वल रूप में फूटी हुई है, तथापि यह पूर्णत्व का द्योतक नहीं। इसलिए कि क्षीणतम होते हुए भी मन की क्रिया यहाँ रहती है। इसके बाद इस क्रिया का अर्पण हो जाता है। और अर्पण हुआ कि जानिए, योगमाया के राज्य का भी भेद हो गया। अशुद्ध मायाराज्य आवर्त्तमय काल के लंघन के साथ-ही-साथ परित्यक्त होता है। उसके बाद शुद्ध मायाराज्य आरम्भ होता है—इसी को तान्त्रिकगण महामाया कहते हैं। परमशिव अभी भी बहुत दूर रहते हैं। वर्त्तमान निबन्ध में इस शुद्ध माया का ही योगमाया के नाम से उल्लेख किया गया है। यह विन्दु के विकास का परिणाम है। परमशिव-स्थान इससे भी बहुत ऊपर है, उसे महाविन्दु कहते हैं।

स्मरण रखना है, कैवल्य-प्राप्त आत्मा तीन भागों में विभक्त है। अचित् अथवा जड़ जब स्थूल भाव का होता है, तब उसका नाम त्रिगुणात्मिका प्रकृति होता है। जब वह सूक्ष्म भावापन्न होता है, तो उसका नाम माया है—यह प्रकृति से कुछ अधिक शुद्ध है, पर बिलकुल शुद्ध नहीं। इसी माया-जगत् तक संसार है। इस माया के ऊपर महामाया या शुद्ध माया विद्यमान है। जड़ होते हुए भी वह अत्यन्त शुद्ध है—उसीको विन्दु कहते हैं। इस विन्दु की देह वैन्दव देह है। यह भी श्रेष्ठतम कैवल्य में नहीं रहता, पर आत्मा इतनी दूर तक केवली होकर भी और अपनी पूर्ण शुद्धि लाभ करके भी एकबारगी निर्मल नहीं हो पाती। आत्मा का वास्तविक

स्वरूप शिवत्वमय है। वह शिवत्व परम शिवभाव के सिवा और कुछ नहीं। श्रेष्ठतम कैवल्य-अवस्था प्राप्त होने पर भी उस प्रकार की शुद्धि प्राप्त नहीं होती। उस समय प्रकृति, माया या महामाया का आवरण जरूरी नहीं रहता है, परन्तु एक सूक्ष्म आवरण रहता है, जिसमें आत्मा का शिवत्व ढँक जाता है। मलरूप वह जो आवरण है, उसके दूर हुए विना आत्मा परमशिव में पहुँच नहीं पाती। आत्मा सरल मार्ग से मनोभूमि के अन्त तक आरूढ़ हो सकती है। वहाँ जाकर मन का त्याग हो जाता है और कृपा के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यही विश्व की उच्चतम अवस्था है, लेकिन परमशिव में जाने का प्रतिबन्धक स्वरूप है। लोग नदी पार होने के लिए साँझ को जैसे घाट की नाव के इन्तजार में रहते हैं, ठीक वैसे ही वहाँ जाकर महाकरुणा के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। आत्मा उस समय जहाँ होती है, वहाँ स्थूल माया तो नहीं ही है, सूक्ष्मादि रूप माया भी नहीं होती। आपाततः किसी प्रकार का आवरण वहाँ है, ऐसा नहीं लगता, पर आवरण है। उस आवरण को दूर करने के लिए उन्मनी शक्ति आकर आत्मा को ग्रहण करती है और उसे परमशिव-स्थान में पहुँचा देती है। उन्मनी शक्ति का अवतरण महाकरुणा-शक्ति का प्रतीक है। उन्मनी शक्ति सारे तत्त्वों के शिखर-प्रदेश में अवतरित होती है। जबतक आत्मा पुरुषकार के द्वारा मनोराज्य की या तथाकथित योगमाया-राज्य की चरम सीमा तक उपनीत नहीं होती, तबतक उन्मनी शक्ति उसे स्पर्श नहीं करती। उन्मनी शक्ति के प्रभाव से आत्मा परम शिवधाम में प्रवेश करती है और परम शिवत्व-लाभ करती है। उस समय वह शक्ति तिरोहित हो जाती है। आत्मा तब उस उन्मना भूमि में अपने को परमशिव-रूप में देख पाती है। इसी का नाम, पौराणिक शास्त्र में, काशी में मृत्यु के कारण शिवत्व-लाभ है। परमशिव-स्थान ही काशी-स्थान है; क्योंकि यहीं पूर्ण तत्त्व का परम प्रकाश होता है। उसीको उन्मनस् क्षेत्र कहते हैं।

यह जो परमशिव-भाव है, वही आत्मा की पूर्णत्व-प्राप्ति का नामान्तर है। इस अवस्था में आत्मा ईश्वर से सम्पूर्ण रूप में विलक्षण होती है। तत्त्व में रहकर आत्मा शिरोभूमि तक अधिकार कर ले तो शिवत्व प्राप्त करती है और वह ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड और शाक्ताण्ड के भी अतीत है। परन्तु उसमें मल-रहता है; क्योंकि वह स्वातन्त्र्य-शक्तिहीन आत्मा है, उसमें स्वातन्त्र्य-शक्ति नहीं रहती, स्वातन्त्र्य-शक्ति शक्तितत्त्व-रूप में निष्कल अवस्था में स्थित होती है, पर वह भी परमशिव की शक्ति नहीं; क्योंकि परमशिव की शक्ति शिव-सहित अभिन्न है। शिव तत्त्व में शक्तिहीन होते हुए भी बोधरूप है। यह निष्कल नहीं; क्योंकि इसमें शान्त्यतीत कला है। वैसी शक्ति भी महाशक्ति-रूप में तत्त्व में

परिगणित होती है—पर यह भी अपूर्ण है; क्योंकि इसमें शान्तिकला है। शिव और शक्ति के आपस में मिलने से वही होता है—शिव का भी परम रूप और शक्ति का भी परमरूप। उसीका नाम परमशिव है, वह निष्कल है। उसीका दूसरा नाम पूर्णत्व है। आत्मा का चरम लक्ष्य यही परम शिवत्व-लाभ है।

[८]

अब हम बिन्दुराज्य से क्रमशः ऊपर की ओर उठने की कोशिश करेंगे। इस संक्षिप्त चर्चा से यह स्मरण रखना होगा कि विश्व वास्तव में अनन्त है। माया-जगत् में हम विश्व का जो रूप देख पाते हैं और जो काल के आवर्त्त में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में से आत्म-प्रकाश करता है, वह भी अनन्त है। उसका भेद करने के लिए सद्गुरु की कृपा से बिन्दु-राज्य में प्रवेश करना होता है। यहाँ अर्धमात्रा के प्रभाव से मायातीत शुद्धमाया का विकास होता है। उसके बाद उस शुद्ध माया-राज्य को भिन्न-भिन्न स्थितियों में पार करना पड़ता है। इस तरह से काल के सूक्ष्मतम परमाणु तक उठना जरूरी है। उसके बाद अपनी दुर्बलता के कारण काल के राज्य में और अधिक संचरण सम्भव नहीं होता। कार्यक्षेत्र में तब एक ओर जैसे काल का अवसान होता है, दूसरी ओर वैसे ही योगी के सामर्थ्य का अवसान होता है। फिर आत्म-समर्पण का भाग जग उठता है। और तब आत्म-समर्पण के साथ-साथ उन्मनी शक्ति के प्रभाव से वह भी परमशिव-स्थान में पहुँचता है और परम शिवत्व प्राप्त करता है। काल वहाँ नहीं रहता, शुद्ध और अशुद्ध मन भी वहाँ नहीं रहता तथा व्यक्तिगत पुरुषकार का भी स्थान वहाँ नहीं। यही निष्कल परम अवस्था है। प्रत्येक आत्मा का यही चरम लक्ष्य है। लोक-लोकान्तर में गति, लोकातीत भूमा-स्वरूप में स्थिति आदि उसका लक्ष्य नहीं है। पूर्ण ब्रह्मस्वरूप ही जीव का लक्ष्य है—यही परमशिव है। यह स्वातन्त्र्यहीन प्रकाश-मात्र नहीं। यहाँ से सृष्टि का जो प्रकाश होता है, वही विश्वरूप में परिचित है। वह साक्षात् परमशिव से होता है। यही कामकला-तत्त्व का रहस्य फूट उठता है। इस विषय में फिर कहेंगे।

हम जिस पथ के सहारे क्रमशः आगे बढ़ रहे हैं, उससे परमशिव तक की स्थिति का पता चलता है तथा परमशिव से चित्कला के अवलम्बन द्वारा चिन्मय विश्व का भी परिचय मिलता है, इस सम्बन्ध में कुछ-कुछ गुह्य रहस्य का प्रकाश बाद में करने की इच्छा रही।

साधारणतया जो लोग योग के पथ में प्रवृत्त होते हैं, वे पातञ्जल योग के दिखाये रास्ते के अन्तिम छोर पर जाकर अस्मिता-भूमि में स्थिति-लाभ करते हैं। यह भूमि ग्राह्य समापत्ति (स्थूल और सूक्ष्म), ग्रहण-समापत्ति तथा ग्रहीतृ-समापत्ति की पर्यवसान-अवस्था में होती है। यही एकाग्र भूमि का प्रान्तबिन्दु है। आत्मसत्ता

उस समय अस्मिरूप में समस्त विश्व को आलम्बन करके प्रकाशमान हुई है, इसी लिए यह एकाग्र समाधि है। कालराज्य में चित्त को समाहित करने से यहीं तक जाना सम्भव होता है। एकाग्र भूमि में जिस प्रज्ञा का उदय होता है, उसका नाम अस्मिता प्रज्ञा है। कहना नहीं होगा, काल-राज्य से बाहर के राज्य में जाने की चेष्टा करने पर भी अभी भी पूर्णतया बाहर जाना सम्भव नहीं हुआ है। अस्मिता-भूमि एकाग्र भूमि है। यहाँ भी काल की मात्रा है। शास्त्रविदों को पता है, वर्णों के उच्चारण-काल के विषय में आचार्यों ने सिद्धान्त निश्चित किया था कि ह्रस्वस्वर का उच्चारण-काल एक मात्रा, दीर्घ का दो मात्रा, प्लुत का उससे भी अधिक है। पर जो वर्ण ह्रस्वस्वर भी नहीं है, दीर्घस्वर भी नहीं है, प्लुत भी नहीं है; पर व्यञ्जन वर्ण है, उसकी काल-मात्रा अर्धमात्रा है— 'व्यञ्जनं चार्धमात्रकम्।' एक हलन्त क् या न् या ट् की जो उच्चारण-मात्रा है, वही अर्धमात्रा है। एकाग्र भूमि में या अस्मिता-भूमि में जब प्रज्ञा का उदय होता है, तो यह अर्धमात्रा ही प्रकाशमान होती है। काल को संक्षिप्त करते-करते अर्धमात्रा तक ले आना—यही पातञ्जल योग-साधना का निगूढ़ रहस्य है। अर्धमात्रा एकाग्र भूमि है, उसके बाद है निरोध। पातञ्जल योगी स्थूल योगी हैं। उनके विश्व का ज्ञान इस अर्धमात्रा में ही पर्यवसित है। यही तथाकथित अस्मिता-ज्ञान है। इस अस्मि के भीतर समग्र विश्व है। जो वैराग्य-सम्पन्न और परवैराग्य के लिए उत्सुक हैं, वे इस अस्मिता-भूमि से क्रमशः निरोध की ओर अग्रसर होते हैं। क्योंकि अस्मिता के बाद और कहीं जाने का मार्ग नहीं है। स्थूल मायिक विश्व यहीं पर्यवसित हुआ है। पातञ्जल योगी का सर्वज्ञत्व-लाभ इसी अस्मिता-भूमि में पर्यवसित है। क्योंकि सर्व कहने से जो समझा जाता है, वही विश्व है और अस्मिता में वही परिस्फुट हो उठता है। जो तीव्र वैराग्य-सम्पन्न नहीं हैं, वे इस अस्मिता-भूमि के बाद निरोध की ओर या विवेक-ख्याति की ओर नहीं बढ़ते और ठीक से बढ़ भी नहीं सकते; इसलिए कि उनका अपर वैराग्य सिद्ध होने के बावजूद परवैराग्य का उदय नहीं हुआ है। अपर-वैराग्य भोग से वितृष्णा का दूसरा नाम है, और परवैराग्य गुणतृष्णा का नामान्तर। गुण के राज्य में रहने से परवैराग्य सम्भव नहीं। इस कोटि के योगी अस्मिता में प्रतिष्ठित होकर जो ज्योति पाते हैं, उसीसे सन्तुष्ट रहते हैं तथा जो विभूतियाँ उनके निकट अनाहूत भाव से उदित होती हैं, वही उनकी सम्पदा हैं। ऐसे योगी परवैराग्य अथवा निरोध की ओर नहीं बढ़ते। इनकी लौकिक स्थिति योग-दृष्टि से प्रकृष्ट है, फिर भी इन योगियों का मार्ग बहुत ही विपद्-संकुल है। क्योंकि ये योगी जितनी भी उच्चभूमि पर क्यों न चढ़ जायँ, इनमें दो न्यूनताएँ साधारणतः मौजूद रहती हैं। इसके फलस्वरूप 'मधुमती' नाम की एक अवस्था का उदय

होता है। उस समय बहुतेरे देवी-देवता, यहाँ तक कि सिद्ध महर्षि भी इन योगियों को दर्शन देते हैं और बहुत बार अनाहूत भाव से बहुत कुछ सिद्धि आदि वरदान देते हैं। यह अवस्था ऊँची होते हुए भी लक्ष्य की दृष्टि के अनुसार योगी के लिए विपद्-जनक अवस्था है। इस विपद् से अपनी रक्षा के लिए इस समय एकमात्र उपाय है अपने अन्दर आसक्ति या प्रलोभन का भाव नहीं रखना और स्मय अथवा गर्व का भाव नहीं पालना। अहंकार और लोभ—ये दो ऐसे योगियों के पतन के कारण हैं। सम्प्रज्ञात समाधि के शिखर पर पहुँचकर यदि कोई इन दो विपदों से अपनी रक्षा कर सकें तो उसके लिए बाकी रास्ता सुगम होता है; क्योंकि मधुमती भूमि दूसरी भूमि का नाम है। मधुमती भूमि में उत्तीर्ण होकर योगी जिस अवस्था में स्थित होते हैं, वह बहुत ही श्रेष्ठ अवस्था है। उस समय भूतजय और इन्द्रिय-जय अपने-आप सिद्ध हो जाती हैं। भूतजय और इन्द्रिय-जय सिद्ध होने से योगी को बाह्य विभूति का आकर्षण नहीं रह सकता; क्योंकि योगी की भौतिक देह, इन्द्रिय आदि विशुद्ध होने के कारण उसकी इच्छा ही उस समय शक्ति-रूप में परिणत होती है। लेकिन यह याद रखना ह, यह प्रचलित योग-विभूति नहीं है। योग-विभूति संयम से उत्पन्न होती है, पर यह इच्छारूपी शक्ति भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि से आप ही आविर्भूत होती है। इसके लिए संयम की आवश्यकता नहीं होती।

इस इच्छाशक्ति के उदय से एक दृष्टि से चित्कला का विकास होता रहता हैं, चित्कला का विकास क्रमशः अधिक होते-होते पूर्णत्व प्राप्त करता है। चन्द्रमा की कला जैसे शुक्लपक्ष में बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा तक उपस्थित होती है, वैसे ही चित्-कला का विकास पञ्चदशी तक होता है। उसके बाद स्वभाव के नियम से संकोच का आविर्भाव होता है। शुक्लपक्ष के बाद कृष्णपक्ष के आविर्भाव की तरह यहाँ भी क्रमशः निवृत्तिभाव प्रधान होता है। इसके बाद चित्कला का जैसे उदय नहीं होता, वैसे ही उसका तिरोधान नहीं होता, ऐसी ही एक अवस्था आती है। देह रहते तक इस भूमि तक ही अधिगत होती है। योगियों ने अपनी परिभाषा में 'अतिक्रान्त भावनीय' कहकर इसका निर्देश किया है।

इच्छा-शक्ति की इन दो दिशाओं को अच्छी तरह से समझना होगा। एक शुक्लपक्ष के अनुरूप है, दूसरी कृष्णपक्ष के अनुरूप—उसके बाद कालातीत। यह जो अवस्था बताई गई, वह अस्मिता समाधि से अभिव्यक्त होती है। किसी-किसी स्थल में विवेक-ख्याति के स्वभाव से अस्मिता-सिद्धि के प्रभाव के कारण ईश्वरत्व प्राप्त होता है। यही सांख्य का ईश्वर है—'ईश्वरसिद्धिः सिद्धाः'। यह ईश्वर साधारण पुरुषमात्र है, परन्तु ऐश्वर्य-सम्पन्न। ऐश्वर्य का अपगम होने से तदधिष्ठित ब्रह्माण्ड

के तिरोधान के साथ-साथ वह योगी कैवल्यधाम के लिए अवतीर्ण होता है।

जो विवेक-ख्याति के मार्ग में बढ़ते हैं, उन्हें उस तरह की अवस्था के सम्मुखीन नहीं होना पड़ता। विवेक-ख्याति के मार्ग में चलते-चलते परवैराग्य का उदय होता है और तब गुणवितृष्णा होती है। उस समय पुरुष का साक्षात्कार होता है—'पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्णाम्' तथा पुरुष के साक्षात्कार के आलोक में गुणमयी प्रकृति के भी दर्शन करता है और दर्शन के साथ-ही-साथ उसके प्रति वितृष्णा होती है; क्योंकि वह परिणामयुक्त है। इस प्रकार धीरे-धीरे विवेक-ख्याति पूर्णत्व प्राप्त करती है और पुरुष केवली रूप में आत्मप्रतिष्ठा पाता है।

तान्त्रिक योगी उस एकाग्र भूमि यानी अस्मिता भूमि की अर्धमात्रा का ज्ञान अपने सम्पद् के रूप में ग्रहण करता है और विभिन्न पथ पर चलना शुरू करता है। ऐसे योगियों का लक्ष्य ब्रह्माण्ड का ईश्वरत्व भी नहीं, कैवल्य-प्राप्ति भी नहीं। ये काल-मार्ग को भी समाप्त करने के लिए अग्रसर होते हैं। साधारण अवस्था में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में से काल का आवर्त्त चलता था, परन्तु ये योगी अर्धमात्रा में प्रतिष्ठित होकर क्रमशः उसको भेद करते-करते 'मध्यमा प्रतिपदा' अर्थात् सुषुम्णा के सरल मार्ग का अवलम्बन करके क्रमशः काल को भेद करने की चेष्टा करते हैं। इस स्थिति में प्रथम अवान्तर अवस्था विन्दुपद है, द्वितीय नादपद। बिन्दुपद के अधिष्ठाता ईश्वर हैं, नादपद के सदाशिव। विन्दु-अवस्था में स्वभावतः ही सर्वज्ञत्व-लाभ होता है। लोग साधारणतया इसे सिद्धावस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में समग्र विश्व के बाह्यरूप का दर्शन होता है, अर्थात् वाच्य और वाचक रूप में दोनों में भेद है—यह पूर्णतया तभी अधिगत होता है, जब वाच्यांश के अनुभव के बाद वाचकांश का अनुभव एक के बाद एक होता है। वाच्यांश के अनुभव के साथ सिद्धावस्था का उदय होता है, इसको सर्वज्ञत्व-प्राप्ति कहते हैं। पर बिन्दु से उत्तीर्ण होकर बाद की अवस्था में जाना बड़ा कठिन है। बिन्दु में अर्धचन्द्र नाम की एक अवान्तर अवस्था है। उसी के बाद निरोधिका शक्ति का प्राचीर है, जिसके प्रभाव से विन्दु से निरोधिका को पार करके नाद में जाना कठिन है। विन्दु का अनुभव और नाद का अनुभव एक प्रकार का नहीं है। बहुतेरे सिद्ध पुरुष विन्दुभूमि से नादभूमि की ओर जाने की चेष्टा करके भी सफल नहीं होते। नादभूमि से विन्दुभूमि में उतर आना भी उतना सहज नहीं है। दोनों के लिए महाशक्ति परासम्वित् के साक्षात् निर्देश की जरूरत है। आत्मबल की गरिमा से कोई विन्दु से नाद में नहीं जा सकता। विन्दु का ज्ञान अर्थात् विन्दुस्थ पुरुष का ज्ञान और नादस्थ पुरुष का ज्ञान एक प्रकार का नहीं। बिन्दु में भेदज्ञान है; और, नाद का अन्तःस्थित ज्ञान ही अभेद-ज्ञान है। बिन्दु से नाद में जाने के

लिए जैसे महाशक्ति श्रीश्रीमाँ के आदेश का होना जरूरी है, वैसे ही नाद से विन्दु में आने के लिए भी वह आवश्यक है। विन्दु का ज्ञान भेदमूलक ज्ञान है, नाद का ज्ञान अभेदमूलक ज्ञान। विन्दु में सभी अपरोक्ष भाव से देखा जाता है, पर अपने से भिन्न रूप में। नाद में भी सभी सत्ता का साक्षात्कार होता है, पर अपनी सत्ता से अभिन्न रूप में।

[जिन लोगों ने श्रीअरविन्द के दर्शन की चर्चा की है, उन्होंने गौर किया होगा कि विन्दु का ज्ञान वहुत कुछ Overmind की अवस्था है और नाद का ज्ञान Supermind की अवस्था।]

नाद के ज्ञान के साथ समग्र विश्व के नदन का अनुभव होता है यानी समस्त विश्व की सारी सत्ता ही 'मैं' लगती है—इसीका नाम नदन है। विन्दुस्थ सिद्ध पुरुष के यह नहीं होता और हो भी नहीं सकता; क्योंकि उससे विश्व में विश्रृंखला उपस्थित होगी, इसलिए कि विन्दुस्थित महापुरुषगण ही इस विश्व के संचालक हैं। जिसकी जैसी सेवा-भावना है, जगन्माता उसे वैसी ही सेवा का भार देती हैं। इस अवस्था में अपनी सेवा का कार्य छोड़कर नाद में प्रवेश करने से विश्व में विश्रृंखला आती है। इसलिए जाना हो, तो कुछ समय के लिए माँ की अनुमति लेकर जाना होता है। भेद-कामना के उन्मूलित होने से नाद में प्रवेश सहज ही हो जायगा, उस समय निरोधिका शक्ति वाधा नहीं देगी।

नादरूप व्यापार वड़ा अद्भुत है। साधारण लोग शायद इसे समझ नहीं सकेंगे, इसके लिए इसके तत्त्व का विश्लेषण थोड़ा ही किया जा रहा है। शव्द कहने से साधारणतया हम वैखरी शव्द ही समझा करते हैं, जिसका उच्चारण किया जा सकता है और कान से सुना जा सकता है। यह शब्द भौतिक आकाश का धर्म है। साधक जव गुरुमन्त्र लेकर जप करते हैं, तो पहले इसी शव्द की क्रिया होती है। गुरु के दिये हुए मन्त्र में सद्गुरु की दी हुई स्वाभाविक चित्शक्ति निहित रहती है। यह पश्यन्ती अवस्था की वात है, जहाँ अवगाहन करके गुरु शिष्य के बीजमन्त्र का उद्धार करते हैं। इसके वाद मध्यमा अवस्था में उस बीज को कल्पना के राज्य में मध्यमा वाक् से शिष्य को अर्पण करने के लिए भौतिक आकाश में उतर आते हैं और वैखरी रूप में उसे अर्पण करते हैं। इस वैखरी शब्द में, जो कुछ सद्गुरु से प्राप्त हुआ है, दो अंश अलग-अलग लक्ष्य करना होगा। एक इसका स्थूल अंश, जिसे शिष्य ने श्रोत्र के द्वारा ग्रहण किया है और एक उसका स्थूल अंश, जो उस स्थूल आवरण में ढँका हुआ है। शिष्य गुरु द्वारा निर्दिष्ट क्रम से मन की क्रिया निरन्तर उस स्थूल अंश में कर सके तो वह स्थूल आवरण कट जाता है। जो शब्द शिष्य ने गुरु के मुँह से श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सुना था, वह

वही आवरण है। नारियल में जैसे एक बाहरी स्थूल आवरण है, उसे हटा देने से भीतर सुस्वादु वस्तु मिलती है, यहाँ भी वैसा ही है। शब्द के उस स्थूल आवरण को निरन्तर जप के द्वारा तोड़ डालना चाहिए। उस स्थल में मन्त्र के अर्थबोध की कोई आवश्यकता नहीं होती और ध्यान की भी कोई जरूरत नहीं रहती। उस स्थूल आवरण के हटने के साथ-ही-साथ अन्तर्जगत् में आपेक्षिक ज्योति का प्रकाश होता है और भीतर की स्वतन्त्र सत्ता आलोक से आलोकित लगती है। यह कल्पना का जगत् या चित्ताकाश है। यह प्रकाश क्रमशः उज्ज्वल और निर्मल होता रहता है। इसी का नाम है चित्तशुद्धि। यह मध्यमा वाक् की परिपक्व अवस्था है। इसके बाद यह मध्यमा की ज्योति या चित्त-ज्योति चिदालोक में परिणत हो जाती है। तब वह मनोमय ज्योति नहीं रहती, बाह्य वैखरी शब्द की झंकार भी नहीं रहती, चिदालोक में आलोकित चिदाकाश दिखाई देता है। यहाँ गुरुदत्त मूल वस्तु का साक्षात्कार होता है, जिसे अत्यन्त गुप्त भाव से उन्होंने संरक्षित किया था और एक ऐसे व्यवहार का अनुभव होता है, जिसे तान्त्रिकगण पारिभाषिक रूप में 'नदन' कहते हैं। यहाँ विश्व की सारी सत्ता ही—मैं रूप में अनुभूत होती है। यह पूर्वाभास-भर है—इसके बाद बहुत अवस्थाएँ हैं।

वैसे में बिन्दु से नाद में प्रवेश होने पर भी नदन की अनुभूति प्राप्त होती है। फिर स्थूल या सूक्ष्म देह का बोध नहीं रहता। तमाम अपनी सत्ता की व्याप्ति की अनुभूति होती है। सारा विश्व ही अपना लगने लगता है।

पातञ्जल भाष्यकार व्यासदेव ने कहा है कि चित्त-रूपी नदी दो ओर प्रवाहित होती है— एक अन्तर्मुख और दूसरा बहिर्मुख। जो अन्तर्मुख स्रोत है, उसी का नाम है कल्याण-स्रोत और जो बहिर्मुख प्रवाह है, उसका नाम है विषय-स्रोत। हमारे मनोमय कोष में एक धारा बहिर्मुख बहती हुई प्राणमय कोष को भेदकर इन्द्रिय के अवलम्बन से भौतिक जगत् की ओर प्रवाहित होती है। इस भूताकाश में ही अनन्त कोटि लोक-लोकान्तर अवस्थित हैं। यह बहिर्मुख प्रवाह इन्द्रिय द्वारा प्रसूत होता है—इस अवस्था में प्राणमय कोष की क्रिया रहती है। इसीलिए साधक की श्वास-प्रश्वास की क्रिया चलती रहती है। मन का और एक प्रवाह बहुत ही निगूढ़ भाव से अन्तर्मुख या ऊर्ध्व की ओर प्रवाहित होता है। आम तौर से उस धारा का पता कोई नहीं पाता। एक बार उसका पता पाने से देहात्म-बोध कट जाता है तथा उस धारा-प्रवाह में वह अपनी सत्ता को ढाल देता है। वह अन्तर्मुख आनन्दमय धारा है—वही धारा पूर्ण आत्मचैतन्य के प्रकाश की ओर बही है। वह सुषुम्णा की ऊर्ध्वस्थित वज्रानाड़ी और चित्रिणी नाड़ी के बाद की ब्रह्मनाड़ी की क्रियावस्था है। योगिगण उसी का वर्णन माँ की गोद के रूप में करते हैं। एक

हिसाब से वही भगवान् का आनन्दमय धाम है। वहाँ द्रष्टा रूप में माता की गोद में विश्व का साक्षीस्वरूप लाभ करके आत्मा परम पिता और परम माता के स्नेह से बढ़कर अन्तर्मुख हो आनन्द का आस्वादन करता है। ब्रह्मनाड़ी की अतीत अवस्था ही ब्रह्मस्वरूप है और योगी यह अनुभव करता है कि उसे उठा लेने के लिए स्वरूप से भी शक्ति आकर उसे स्पर्श करती है। इसका कारण यह है कि भगवदनुग्रह-प्राप्त योगी जब उन्हीं के आकर्षण से उनकी ओर अग्रसर होता है, तो उन्हें स्वधाम में रखने के लिए पराशक्ति व्यापृत हो पड़ती हैं। वह ब्रह्मस्वरूप में नहीं जाता, वह अखण्डरूप में ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। काल का या माया का प्रवाह उसे बाधित नहीं कर सकता। क्योंकि वे वहाँ तक पहुँच नहीं पाते, बाधा कैसे दें?

जो भी हो—यह जो ऊर्ध्व उद्गमन का व्यापार है—जिसके प्रभाव से विज्ञानमय कोष से आनन्दमय कोष में गति होती है—वही नदन का रहस्य है।

विन्दु से नाद में आने पर नदन-क्रिया का आस्वाद मिलता है। नादभूमि में यह जो ऊर्ध्वगति की बात कही गई, जब इस ऊर्ध्वगति की ऊर्ध्वसीमा का भेद हो जाता है, तब खेचरी गति का आरम्भ होता है। अर्थात् साधक जब अपने ब्रह्मरन्ध्र को भेद करके भी ऊर्ध्वगतिशील होते हैं, उसी समय खेचरी गति का आरम्भ होता है। उस समय उसका देहाभिमान विलुप्त हो जाता है और शक्ति का विकास आरम्भ होता है। विन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त—पहले कह चुके हैं। नादान्त ही ब्रह्मरन्ध्रस्थ ज्योति का स्थान है। उसी के बाद चिदाकाश में गति मिलती है और ऊर्ध्वगति चलती रहती है।

यहाँ खेचरी के सम्बन्ध में एक विषय की संक्षेप में चर्चा की जा रही है। शक्तिविज्ञान के आलोचक के लिए यह अवश्य ही जानने का है। शक्ति यानी आत्मशक्ति दो अवस्थाओं में अवस्थित होती है। आत्मा जब पशुभाव में रहता है, तो उसकी शक्ति चक्राकार रहती है। और, आत्मा जब शिवभाव में उन्नीत होता है तो उसकी शक्ति शक्तिरूप में रहती है—सरल रेखा-रूप में, उस समय चक्रभाव नहीं रहता। आत्मशक्ति एक ही है, परन्तु भूमि के भेद से अनेक है। साधारण मनुष्य के विचार-योग्य या बोधयोग्य भाषा में कहना हो, तो आत्मा की भूमि तीन या चार है—एक प्रमाता का पद, एक प्रमाण का पद—यह स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार का और एक प्रमेय का पद। एक ही शक्ति विभिन्न नामों से विभिन्न भूमियों में कार्य करती है। पशु-अवस्था में वह चक्ररूप में काम करती है—अर्थात् खेचरी चक्र। पशुत्व कट जाने पर वह शक्तिरूप में काम करती है। उस समय चक्रभाव नहीं रहता—उसका नाम तब होता है खेचरी शक्ति। खेचरी शक्ति और खेचरी चक्र एक ही वस्तु है—मुक्त अवस्था में आत्मा खेचरी शक्ति लेकर विहार करता है। वह

उनकी अपनी शक्ति है, वह उन्हीं के अधीन है और बद्ध अवस्था में खेचरी शक्ति के अधीन उन्हें काम करना पड़ता है। साधारण मनुष्य वाह्य दृष्टि से कितने ही बड़े योगी, ज्ञानी या धार्मिक क्यों न हों, उनकी शक्ति चक्रावस्था से शक्तिरूप में नहीं परिणत होने से सब बेकार है। अतएव किसी को अगर खेचरी शक्ति की प्राप्ति हो तो समझना होगा कि उसे शिवत्व प्राप्त हो चुका है। सामाजिक दृष्टि से कोई उसे जीवन्मुक्त कहे न कहे, कुछ आता-जाता नहीं। आत्मशक्ति का पूर्ण जागरण—यही शिवत्व है। यह शक्ति स्तर-स्तर में क्रिया करती है। किसी स्तर में इसका नाम गोचरी शक्ति, किसी स्तर में इसका नाम दिक्चरी शक्ति, किसी स्तर में इसका नाम भूचरी शक्ति है। शक्ति का जागरण होने से प्रत्येक भूमि में ही उसका जागरण होता है—यह कहना नहीं होगा। कोई भूचरी चक्र के अधीन हैं और उनकी खेचरी शक्ति का जागरण हुआ है, ऐसा नहीं हो सकता। एक उदाहरण देते हैं: खेचरी शक्ति के जागने से योगी का अनुभव कैसा होता है और भूचरी शक्ति के जागने से ही कैसा होता है? खेचरी शक्ति के जागने से आत्मा फिर अपने को पशुरूप नहीं समझता, उनका शिवत्व प्रत्यक्ष होता है और देह के प्रमातारूप का अभिमान उनका नहीं रहता। क्योंकि तब तो वह पशु पशु हो जाय, लेकिन व्यवहार के लिए रख सकता है। शिवोऽहं रूप में उसका अनुभव निरन्तर रह जाता है—वह पुरुष है या स्त्री, ज्ञानी या अज्ञानी, बालक या वृद्ध—यह सब प्रश्न नहीं उठता। यह सब बात स्थूल देह की है—यहाँ तो स्थूल देह का अभिमान सदा के लिए जाता रहा है। उसका अभिमान है शिवोऽहं रूप में, अतएव अनन्त कोटि विश्व में वह सर्वत्र अपने को द्रष्टारूप में अनुभव करता है। भूचरी शक्ति के जागने से भूचरी चक्र की क्रिया जाती रहती है, भूचरी चक्र के प्रभाव से एक परिचित देह को अपनी देह मानकर अभिमान किया जाता है। और, भूचरी चक्र के अवसान से, भूचरी शक्ति के प्रभाव से विश्व की सारी ही देह अपनी ही देह लगती है। इस विषय में बहुत रहस्य है, बाद में चर्चा की जायगी।

[६]

अबतक हमने उल्लेख किया है कि परम शिव तक जीव का आत्मप्रकाश होता है। इस विषय में आगे बढ़ने के पहले दार्शनिक जगत् की चिन्ताधारा पर एक नजर डाल लेना आवश्यक है। जीव अज्ञान में पड़ा है और माया के अधीन है। अनादि काल से ही ऐसा हुआ है—इसे प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार कर लिया है। इस स्थिति का मूल कारण जीव-भाव का आविर्भाव और उसके स्वरूप का आवरण है। बहुतों ने बहुत प्रकार से इस तरह का विचार किया है। लेकिन दार्शनिक विलक्षण वर्ग में यह बन्धन और मोक्ष नाना प्रकार से आलोचित होने पर भी इसके

रहस्य की आलोचना बहुतों ने ही नहीं की है। षड्दर्शनों में स्थूल दृष्टि-सम्पन्न न्याय-वैशेषिक ने जीव की गति की आलोचना के प्रसंग में ऊर्ध्वगति और मोक्ष या अपवर्ग—इन दो विषयों की चर्चा की है। वे कहते हैं, जीव की दुःख-निवृत्ति के दो साधन हैं—सापेक्ष और निरक्षेप। एक साधन है धार्मिक अनुष्ठान और धार्मिक परिवेश में अपना संरक्षण—इससे जीव को स्वर्गलोक की विचित्र सुखराशि मिलती है। यह सुखभोग भी अनित्य है—इसीलिए श्रेष्ठ जीव इसकी उपेक्षा करके मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। वह ज्ञान-मात्र साध्य है। धर्म से स्वर्ग-लाभ होता है, आत्मज्ञान से मोक्ष। मोक्ष मिलने से उसे और कुछ काम्य नहीं रह सकता। नैयायिकों का यही मत है, वैशेपिकगण का भी यही। वैशेपिकगण चूँकि 'विशेप' पदार्थ मानते हैं, इसलिए कहते हैं कि मुक्त अवस्था में मुक्त पुरुष का एक वैशिष्ट्य होता है। आत्मा तथा मन—वे दोनों को विशेष पदार्थ मानते हैं। फलस्वरूप आत्मा अज्ञान के आवर्त्त में फिर पतित नहीं होता, यह सत्य है, पर अपने वैशिष्ट्य को लेकर वह अनन्त काल तक विराजता रहता है। उसका जन्मान्तर नहीं होता, उसे फिर संसार में नहीं आना पड़ता। न्याय और वैशेपिक में कुछ भेद होते हुए भी दोनों का मत प्रायः एक ही प्रकार का है। मीमांसकों के मत से स्वर्ग-लाभ और स्वर्ग में परिस्थिति स्वीकृत होती हैं। वह ठीक मोक्ष के अनुरूप नहीं, लेकिन एक नित्य सुखमय अवस्थान है, इसमें सन्देह नहीं। सर्वत्र मुक्त हो जाने से फिर संसार से सम्बन्ध नहीं रहता। शैव, पाशुपत, वीरशैव, वेदान्त के विभिन्न प्रस्थान—सर्वत्र ही अपने-अपने मत की उद्घोषणा हुई है। कहीं दुःख की निवृत्ति की प्रधानता है, कहीं सुख की उपलब्धि की—ऐसा थोड़ा-थोड़ा भेद नजर आता है। जैनों का कैवल्य-लाभ नित्य सिद्ध अवस्था की प्राप्ति की चर्चा भी इसी कोटि के चिन्तन के अन्तर्गत है। बौद्धों के विभिन्न सम्प्रदायों में भी यही है। दुःख की निवृत्ति अथवा आनन्द, जो भी क्यों न हो, सर्वत्र सब नित्य रूप में ही गृहीत हुआ है।

जो योगमार्ग में प्ररूढ़ हैं, वे कहा करते हैं कि मनुष्य काल के राज्य में पड़ा हुआ है। अनादि काल से ही है, यह सत्य है। इस काल के राज्य को यथासम्भव ग्रहण करके पूर्ण रूप से त्याग करना होगा। इस त्याग के प्रसंग में एक रहस्यमय तत्त्व की ओर दृष्टि आकर्षित होती है। थोड़ा विचार करने से ही देखा जायगा कि सभी सम्प्रदाय के योगियों ने एकाग्र भूमि में आकर काल के राज्य को क्रमशः भेद करने की चेष्टा की है। अधिकांश दार्शनिक योगमार्ग में अग्रसर होते-होते एकाग्र भूमि को पाकर समग्र विश्व को एक साथ ग्रहण करते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें सर्वज्ञान जरूर होता है, लेकिन वह स्थायी नहीं होता। पहले ही कह चुके हैं कि एकाग्रभूमि में काल की मात्रा अर्धमात्रा-रूप में निर्मित होती है। इस कलंकित अर्ध-

मात्रा में ही जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की धारा अनादि काल से ही आवर्त्तक्रम से चल रही है। ये सभी धाराएँ माया-राज्य की हैं, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु गुरु की कृपा से प्रज्ञा का उदय होने से इस काल-जगत् की अर्धमात्रा परित्यक्त हो जाती है; क्योंकि उस समय चित्त एकाग्र भूमि से निरोध की ओर बढ़ता है।

तान्त्रिक योगी इस काल की बाकी अर्धमात्रा को ग्रहण करके क्रमशः उसको भी भेद करने की कोशिश करते हैं। यहाँ पूर्वव्यक्त अर्धमात्रा का कोई प्रश्न ही नहीं। अज्ञानकालीन जगत् के साथ-साथ सद्गुरु की दी हुई अर्धमात्रा ग्रहण के समय वह छूट चुकी होती है। क्योंकि इसके हुए विना योगी विन्दु-तत्त्व में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। साधारण आदमी के लिए यह अनधिगम्य होने पर भी योगी के लिए आस्वादन योग्य है। साधारण जीव के लिए यह अर्धमात्रा का राज्य अज्ञानमय घोर अन्धकार का राज्य है। परन्तु योगी की दृष्टि में यही प्रज्ञा का राज्य है। क्रमशः क्षीण होते-होते यह अर्धमात्रा चरम अवस्था में काल के लव या परमाणु में परिणत होती है—इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। स्थूल माया-राज्य और सूक्ष्म महामाया-राज्य में काल की यह क्रमिक संकोच-परम्परा यद्यपि चलती ही रहती है, तथापि इसके फलस्वरूप काल की निवृत्ति अवश्यम्भावी है। स्थूल योगी के लिए एकाग्र भूमि से निरोध-भूमि तक यह मार्ग फैला हुआ है। यह नियम दोनों में ही प्रयोज्य है। स्थूल अर्धमात्रा स्थूल काल को आश्रय करके कल्पित होती है और योगी का सर्वज्ञत्व इस अर्धमात्रा में स्थापित है। क्योंकि योगी का सर्व वास्तविक सर्व नहीं है। यह उसकी अनुभूति में प्रकाशमान सर्व है। मायाराज्य का यही खेल है। महामाया-राज्य या शुद्ध मायाराज्य का व्यापार भी बहुत कुछ ऐसा ही है। क्योंकि वहाँ भी बिन्दुस्थ अर्धमात्रा से काल के लव तक जो ऊर्ध्वगतिशील मार्ग है, उसमें भी लगातार अर्धमात्रा का प्रकाश होता है और उसका निरोध भी उसी क्रम से हो जाता है। चरम निरोध होता है काल के परमाणु या लव की प्राप्ति के समय। स्थूल दृष्टि से देखने पर वामावर्त्त और दक्षिणावर्त्त काल की क्रम-निवृति इस स्थूल अर्धमात्रा की प्राप्ति के समय होती है, अर्थात् काल का चक्रभाव उस समय नहीं रहता, परन्तु सभी पथ रहते हैं और वह पथ भी काल का ही पथ है। क्रमशः यह सूक्ष्म अर्धमात्रा भी परिणाम में छूट जाती है। दोनों मिलाकर काल का पूर्वार्ध और परार्ध परित्यक्त होता है। उस समय काल नहीं रहता, काल के अन्तर्गत विश्व कहाँ? यह कालगत विश्व ही आत्मा के निकट अबतक इदं रूप में परिगणित था। इसके परित्याग के साथ-साथ एक हिसाब से काल का परित्याग, दूसरे हिसाब से देश का परित्याग हुआ तथा और एक हिसाब से देखने पर भाव का भी परित्याग हुआ। लेकिन अहं कहाँ? इस अवस्था में जीव विपन्न, व्याकुल होकर अपने को

पाने की चेष्टा करता है। इसके बाद जिस अवस्था के पाने की सम्भावना है, वह बहुत अद्भुत है; परन्तु उसके पहले यह जो निरोध के बाद की अवस्था है, उसकी कुछ समालोचना आवश्यक है।

काल का दक्षिणावर्त्त और वामावर्त्त कट जाने से ही योगी का निरोध प्रकाशमान होने लगा, यह सही है। किन्तु अन्त में यह सूक्ष्म निरोध भी निरुद्ध हो जाता है। पूरे सरल मार्ग को पार किये विना यह अन्तिम निरोध नहीं उपलब्ध होता, पर काल के परमाणु को पाने के साथ-साथ जब यह सम्पन्न होता है, तो फिर इस सूक्ष्म निरोध का भी स्थान नहीं रहता। सांख्ययोग और वेदान्त—दोनों में उसके बाद जिस अवस्था का निर्देश किया गया है, उसमें काल नहीं रहता, क्रम नहीं रहता, व्यक्तित्व नहीं रहता और भावाभावमय प्रकाश, कुछ भी नहीं रहता। क्या रहता है? यह प्रश्न स्वभावतया ही उठता है। जिनके जीवन का लक्ष्य परमात्मा या ईश्वर की प्राप्ति है, उनकी ओर से कहने पर एकमात्र ईश्वर रहता है। वेदान्त की ओर से कहना हो, तो कहना होगा कि एकमात्र ब्रह्म रहता है। परन्तु अहं रूप में प्रकाशमान जो मैं है—काल के जगत् में कण-रूप में खेलता था—उसका कुछ नहीं रहता। इसीलिए कहा जाता है, ईश्वर-साक्षात्कार काल के अतीत है। ब्रह्म-साक्षात्कार भी वही है और वहाँ कुछ तो नहीं ही रहता है, अहं भी नहीं रहता है। परन्तु अद्वैत परमशिव अथवा पराशक्ति की ओर से जो निर्देश पाया जाता है, उससे पता चलता है, उस समय कुछ नहीं रहते हुए भी एकमात्र मैं ही रहता है। यह मैं पूर्ण मैं है और इस मैं के होने से निश्चय जानो, सब कुछ रहता है, नहीं रहने का कुछ नहीं। इस विषय के अनुधावन के विना काम-कला-रहस्य कोई कुछ भी नहीं समझ सकेगा।

यह जो पूर्ण अहं है, जो ब्रह्म-प्राप्ति में नहीं पाया जाता, ईश्वर-प्राप्ति में भी नहीं पाया जाता, वह क्या है? इसका समाधान यह है, यह मैं मैं ही है, मैं के सिवाय और कुछ नहीं। ब्रह्म के बाहर असीम अनन्त मायाजगत् खेल रहा है। मायाजगत् से उत्तीर्ण होकर ब्रह्मसमुद्र में अवगाहन होता है। यह ब्रह्मसमुद्र सच्चिदानन्द-स्वरूप है, इसमें तरंग नहीं, देश नहीं, काल नहीं, अन्य सापेक्षता नहीं। यह अपने में आप प्रकाशमान है। इसमें मैं भी नहीं। जो है, वह सच्चिदानन्द अखण्ड प्रकाश है। मैं रूप में एक विवर्त्त का उदय हुआ था, इदंरूप में विवर्त्त के साथ अनादिकाल से वह खेल रहा था। किन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार के साथ-साथ दोनों ही विवर्त्त खो गये। अतएव वहाँ मैं नहीं है। मैं कहाँ हूँ, किस रूप में हूँ, यह प्रश्न उठ भी नहीं सकता। ईश्वर-अवस्था में भी बहुत-कुछ ऐसा ही है। ब्रह्म-दृष्टि में सब मिथ्या, ईश्वर-दृष्टि से सब परिणामशील, लेकिन सत्य, परन्तु जो पूर्णत्व का द्वार है, वह यहाँ भी प्रकाशित नहीं होता। यही कामकला-रहस्य की आलोचना की पूर्वपीठिका है।

अब ब्रह्म और परमात्मा से पूर्ण अहंरूपी महासत्ता की ओर दृष्टि डाली जाय। यह पूर्ण अहंरूप सत्ता जब आत्मप्रकाश करती है, तब शिव-शक्ति का सामरस्य होता है। यहीं पीठ-रचना आरम्भ होती है। आचार्य योगियों ने कहा है, शिव और शक्ति का जो एक सामरस्य है, वही परमविन्दु है। इसीका नाम काम-विन्दु है। पारिभाषिक भाषा में इसे सूर्य कहा जाता है। और जो दो विन्दु शिवरूप और शक्तिरूप में आत्म-प्रकाश करते हैं, उनमें से एक को अग्नि कहा जाता है, और दूसरे को कहा जाता है चन्द्र। मूल में इस त्रिविन्दु को समझना आवश्यक है। पूर्ण विन्दु सूर्य-रूप में ऊपर की ओर बीच में रहता है। और, अग्नि तथा सोमरूप में दो विन्दु दो स्तन-रूप में उसके नीचे की ओर दोनों तरफ रहते हैं। यही त्रिबिन्दु का अवस्थान है। उसके नीचे नाभि-स्थान में हार्धकला-रूप में एक विचित्र शक्ति का परिचय मिलता है। यही कामकला का स्वरूप है। इसी से पूर्ण स्वरूप के अन्तर्गत भगवत्-धाम खचित होता है। उसके प्रधान चित्र को लेकर हम फिर आलोचना करेंगे, जिसका नाम श्रीचक्र है। ऐसे अन्यान्य अवान्तर चित्र भी हैं।

[१०]

कामकला-तत्त्व का निगूढ़ रहस्य ठीक तबतक प्रतिभात नहीं होता, जबतक एक और अनेक का परस्पर गम्भीर सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। साधारणतया द्वैत और अद्वैत-दृष्टि में अन्तर है। उसके अनुसार द्वैत-दृष्टि तबतक सम्भव पर है, जबतक सृष्ट जगत् और जगत् के रहस्य के सम्बन्ध में हमें अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता। अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति के बाद साधारणतः द्वैत का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। अद्वैत-बोध जिसे जिस भूमि में हो चाहे, वहीं उसके सर्वज्ञान की समाप्ति हो जाती है। वास्तव में द्वैत और अद्वैत का सम्बन्ध—भेद या भेदाभेद जो भी क्यों न हो, परम अद्वैत की मीमांसा तब भी नहीं होती। द्वैत की निवृत्ति होने से अद्वैत में प्रतिष्ठा होती है और तब विश्व-जगत् का भान नहीं रहता या होता भी है तो विश्व-जगत् के साथ मूल सत्ता का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं होता। इसका एकमात्र कारण है, शिव-शक्ति के सामरस्य-रूप में अद्वैत-स्थिति का अभाव। कामकलावादी प्राचीन समय से ही दिखाते आ रहे हैं कि शिव-शक्ति के सामरस्य-रूप विन्दु के पाये विना आनन्दमय नित्यसिद्ध विश्व का आविर्भाव नहीं हो सकता। आगमिकगण कामकला के रहस्य-उद्घाटन का कितना ही प्रयास क्यों न करें, जब तक स्थिति और गति का एकान्त समन्वय बुद्धिगोचर नहीं होगा, तबतक रहस्य का भेद नहीं हो सकता। अग्नि संहार का प्रतीक है, सोम सृष्टि का प्रतीक। लेकिन संहार सिर्फ अग्नि के द्वारा ही नहीं होता और सृष्टि भी केवल सोम के द्वारा नहीं

होती। सोम अथवा चन्द्र की कला विगलित होकर सृष्टि के उपादान के रूप में परिणत होती है, पर इस विगलन के मूल में दाहिका शक्ति-सम्पन्न अग्नि की क्रिया है। चन्द्रविन्दु विगलित होकर विश्व के उपादान रूप में बदल जाता है। इस विगलन के मूल में जो शक्ति कार्य करती है, वही अग्नि है। अतएव अग्नि की सहायता से चन्द्रकला से सृष्टि होती है। ठीक इसी प्रकार अग्नि से संहार होता है, पर केवल अग्नि प्रज्वलित हुए विना संहार-कार्य नहीं कर सकती। उस अग्नि को पुष्ट करने के लिए चन्द्रकला की आवश्यकता होती है। ईन्धन या तेल के विना जैसे अग्नि जलकर स्थितिशील नहीं हो सकती, वैसे ही यह भी। चन्द्र से सृष्टि तो होती है, परन्तु उसके लिए अग्नि की सहायता आवश्यक होती है। अग्नि से संहार होता है, यह सही है, पर उसके पीछे चन्द्र का सम्बन्ध चाहिए। परन्तु जब अग्नि और सोम—इन दोनों की मात्रा में वैषम्य नहीं रहता है, तो एक ओर जैसे सृष्टि नहीं हो सकती, दूसरी ओर वैसे ही संहार नहीं हो सकता। सृष्टि-संहारशून्य मध्यस्थ इस अवस्था को स्थिति कहते हैं। इसका द्योतक सूर्य है। व्यवहार के लिए यहाँ स्थिति कहने से आपेक्षिक स्थिति ले रहे हैं, निरपेक्ष स्थिति की बात नहीं कही जा रही है। किन्तु आपेक्षिक होने पर भी उसके पीछे निरपेक्ष सत्ता का रहना जरूरी है। यह जो निरपेक्ष अग्नि-कला और सोमकला का साम्य है—वही स्थिति विधायक है। यह जो स्थिति है, वही अग्नि और सोम का नित्य सामरस्य है। इसे कहते हैं सूर्य।

अतएव समझा जा सकता है कि एक ही सविता के एक ओर चन्द्र की क्रिया होती है, दूसरी ओर अग्नि की क्रिया होती है। यह जो नित्य स्थिति-विन्दु है, वह एक होते हुए भी एक नहीं है, और एक नहीं होते हुए भी एक है। इसी को काम-कला-तत्त्व कहा जाता है। सूर्य या काम एक ही वस्तु है। अग्नि और सोम का यह सामरस्य नित्य सामरस्य है। इसीलिए बाह्य जगत् में भी इसका पता पाया जा सकता है। सूर्य-किरण से अग्नि प्रज्वलित होकर संहार होता है—यह बच्चे-बच्चियाँ भी जानती हैं, किन्तु सूर्य से चन्द्रकला प्रकट होकर जगत् के सारे पदार्थों की सृष्टि करती है—यह साधारण प्रौढ़गण भी नहीं जानते। सूर्य में ही अग्नि-शक्ति भी है, सोम-शक्ति भी है। अग्नि-शक्ति के द्वारा ध्वंस-कार्य होता है, सोम-शक्ति के द्वारा सृष्टि-कार्य होता है।

कामकला का प्रधान विन्दु ही रवि या सूर्य है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है। भगवती सृष्टि और प्रेममय जगत् के आविर्भाव की बात कही जा रही है, वह इस कामकला का ही कार्य है। परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि सूर्य की अन्तर्वर्ती इस अग्नि-शक्ति और सोमशक्ति का व्यापार जगत् में निरन्तर चल रहा है, परन्तु जगत् उसे नहीं जानता।

हम परमशिव की वात बीच-बीच में किया करते हैं, पर परमशिव क्या वस्तु है, यह धारणा हम कम ही कर पाते हैं। निर्गुण ब्रह्म की धारणा सहज है। सगुण ब्रह्म की धारणा भी सहज है। जीव की धारणा सहज है, जगत् की धारणा भी सहज है। परन्तु परमशिव के स्वरूप की कल्पना वहुत कठिन है। शास्त्र के सारे विषयों की स्वतन्त्र और निरपेक्ष भाव से आलोचना की जा सकती है—बेशक अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार। परन्तु काम-कला की आलोचना करने जाने से ही उसकी पृष्ठभूमि में परमशिव की रक्षा करनी होती है। परमशिव के विना शिव-शक्ति का सामरस्य-विन्दु नहीं मिलेगा। ब्रह्मतत्त्व में वह नहीं है, ईश्वर-तत्त्व में भी वह नहीं है। शिवरूपी महाप्रकाश और शक्ति या विमर्शरूपी उच्छ्वास एक साथ समन्वित होकर समरस-भाव से प्रकाशित होने पर जिस अवस्था की सूचना मिलती है, उससे Integration की चरम अभिव्यक्ति होती है। वही अखण्ड है, वही सामरस्य है। यह जो शिव-शक्ति का सामरस्य है, इस सामरस्य की एक दिशा है, जो सृष्टि के अनुकूल है और दूसरी एक दिशा है, जो सृष्टि की नित्यविरोधी है। प्रकाश नित्य प्रकाश है, इसमें सन्देह नहीं, पर उसकी प्रकाशमानता जिससे घटित होती है, वही विमर्श है। प्राचीन तान्त्रिक आचार्यों ने इसी को लक्ष्य करके ही परावाक् शब्द का प्रयोग किया है। कोई-कोई शब्द ब्रह्म के नाम से भी इसे आख्यायित करते हैं और इस स्थल में एक ओर परब्रह्म और दूसरी ओर शब्दब्रह्म—इन दो शब्दों का प्रयोग होता है। एक ओर शिव, दूसरी ओर शक्ति—दो सत्ताओं की अभिन्नता प्रकाशित होती है। यही सृष्टि का वीज है। यही सृष्टि काम-कला की सृष्टि है। परन्तु जवतक इस सृष्टि का पता नहीं चले, तवतक जिस सृष्टि की चर्चा हम किया करते हैं, वह होती है मायिक, माया-प्रसूत अथवा महामायिक यानी वैन्दव। प्राचीन आचार्यगण विश्व-सृष्टि के मूल में इस कामकला की क्रिया को देख पाते थे। सभी देख पाते थे, ऐसी वात नहीं; क्योंकि जिसकी दृष्टि में शिव-शक्ति का सामरस्य नहीं झलकता, उसके लिए यह सम्भव नहीं। विश्व की रचना तीन स्तरों में होती है। हम जिस रूप में विश्व को पाते हैं, वह उसका स्थूल रूप है। उसका जो सूक्ष्म स्वरूप है, वह तत्त्वरूप है। उसका जो चरमरूप है, वह कलारूप है। फलतः साधारणतया विश्व को कलारूप में पाना ही सम्भव है। यह जो कला है, वह चित्‌कला है। चित् से यह विलक्षण है। शिव चित्स्वरूप और शक्ति उनका कलास्वरूप है—और, यही दोनों जहाँ समरस हैं, वहीं कामरूपी विन्दु है। इस बिन्दु की एक वहिर्निसृति है, वही हार्धकला के रूप में आत्मप्रकाश करती है। यह हार्धकला नाना प्रकार से तरंगित होकर तत्त्व की सृष्टि करती है। षट्त्रिंशत तत्त्व ही हो या कोई भी संयोग-विशिष्ट तत्त्व ही क्यों न हो, उसके पीछे या मूल में

हार्धकला है। जो मन्त्रविद् हैं, वही इस हार्धकला को विशेष रूप से जानते हैं। यह सृष्टि, जो शिव-शक्ति सामरस्य-मूलक है, वही आनन्दमयी सृष्टि है। जिस सृष्टि से हम परिचित हैं, वह दुःखमयी सृष्टि है, वह शिव-शक्ति के सामरस्य से हार्धकला-रूप में उद्‌भूत धाराजन्य नहीं है। इसीलिए निष्कल परमशिव-अवस्था नहीं होने से कामबिन्दु के अभाव से आनन्दमयी हार्धकला की सृष्टि का अनुभव नहीं किया जा सकता।

जो मन्त्र-विज्ञान की आलोचना करते हैं, वे जानते हैं कि शाक्त मन्त्र की प्राण-वस्तु ही है हार्धकला। कोई भी मन्त्र क्यों न हो, उसके मूल में जो चैतन्य शक्ति है, वही प्राणवस्तु है। पूर्णाहंता विशुद्ध चैतन्य का स्वरूप है। तन्त्रशास्त्र में तरह-तरह की चक्र-रचना की बात पाई जाती है। वे चक्र दिवा-भुवन-स्वरूप हैं। जैसे मन्त्र असंख्य हैं, वैसे ही चक्र भी असंख्य हैं। लेकिन अभिव्यक्ति का तारतम्य है। चक्र-तत्त्व की चर्चा करने से पहले मन्त्र के सम्बन्ध में दो-एक बात कह लेना जरूरी है।

शैवागम आदि आगमशास्त्र तथा शाक्तागम के कामकला-विषयक ग्रन्थों से जो कुछ ज्ञात होता है, उससे पता चलता है कि शैवागम का प्रसिद्ध मन्त्र तथा शाक्तागम का मन्त्र-तत्त्व एक प्रकार का नहीं है। अपनी-अपनी भूमि में दोनों ही सही हैं, पर दोनों में भेद है। सिद्धान्त शैवमत से एवं अन्य.न्य द्वैत शैवमत से भी मन्त्र शुद्ध विद्या का दूसरा नाम है। इम मन्त्र के अधिष्ठाता को मन्त्रेश्वर कहते हैं और उसकी भी परावस्था का नाम मन्त्रमहेश्वर है। यह जो मन्त्र है, वह शुद्ध विद्यारूप भगवत्-अनुग्रह का ही प्रकाश है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन इसमें माया का संस्पर्श है। यह माया यद्यपि महामायारूपी है, फिर भी उसे माया के सिवाय दूसरे रूप में कहना सम्भव नहीं। इन मन्त्रों के विश्लेषण से पता चलता है कि इनमें से कुछ वस्तु-जगत् अर्थात् महामाया के जगत् में काम करते हैं और कुछ माया के जगत् में काम करते हैं। किन्तु दोनों ही स्थितियों में मन्त्र का अधिष्ठाता वैन्दवदेह-सम्पन्न अधिकारी पुरुष है। ये अधिकारी पुरुष अपर मन्त्रेश्वर-रूप में मायिक जगत् में काम करते हैं और परमन्त्रेश्वर रूप में मायातीत शुद्ध जगत् के अधिष्ठाता हैं। यह मन्त्र शुद्ध होते हुए भी इसमें माया का अंश मिला हुआ है। बैन्दव जगत् कुण्डलिनी रूप महामाया के अन्तर्गत है और शाक्तगण जिस मन्त्र के बारे में कहा करते हैं, उसके मूल में शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य के फलस्वरूप पूर्णाहन्ता उज्ज्वल रूप में फूट उठता है। यही मन्त्र की प्राणशक्ति है। परन्तु महामाया के जगत् में जो सब मन्त्र विराजते हैं, उनमें शिव-शक्ति का यह सामरस्य नहीं है।

इस विषय को समझने के लिए एक क्रम का सहारा लेकर तत्त्व-दर्शन

आवश्यक है। सिद्धान्तियों का कहना है,——शिव, शक्ति और बिन्दु—यही उनका रत्नत्रय है। शिव चित्स्वरूप हैं, शक्ति चिद्रूपा, पर विन्दु चित्-स्वरूप नहीं है। बिन्दु शुद्ध मायारूपी परिग्रहशक्ति-रूप अचित् तत्त्व है। शिव और शक्ति—दोनों ही चित्स्वरूप हैं—यह कहा जा चुका है। परन्तु शिव निष्क्रिय हैं, शक्ति है क्रियात्मिका। शिव में जब शक्ति की अभिव्यक्ति होती है, तो वह इच्छारूप में ही होती है। मतलब कि शिव की जो इच्छा है, वही शक्ति का स्वरूप है। यह शक्ति समवायिनी शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह शिव के साथ नित्य अभिन्न रूप में विद्यमान रहती है। परन्तु विन्दु ऐसा नहीं है। बिन्दु भी शिव की ही शक्ति है, पर समवायिनी नहीं, परिग्रह-शक्ति है, जिसका दूसरा नाम है उपादान-शक्ति। विन्दु का उपादान जड़ है, इसलिए शिव में इच्छा का उदय होने से उस इच्छा-शक्ति के आघात से विन्दु क्षुब्ध होता है और क्षुब्ध होने के बाद वही आकार ग्रहण करता है। इसीका नाम है महामाया की क्रिया। महामाया की क्रिया से शुद्ध जगत् उत्पन्न होता है, जिसका दूसरा नाम वैन्दव जगत् है। महामाया के अधःप्रदेश में माया-जगत् है। माया का संचालन महामाया के स्तर से होता है। महामाया का संचालन शक्ति या चित्-शक्ति से होता है और चित्-शक्ति का संचालन स्वतन्त्र परमेश्वर की इच्छा के साथ-साथ होता है। इससे स्पष्ट होता है कि शिव की समवायिनी शक्ति के इच्छारूप परिग्रह करने से विन्दुरूप शुद्ध उपादान अर्थात् महामाया उस शक्ति के अनुरूप आकार ग्रहण करती है। परन्तु इस शक्ति का आकार कितना ही शुद्ध क्यों न हो, सम्पूर्ण चिदात्मक नहीं है। इस बात को याद नहीं रखने से महामाया जगत् का मन्त्र-तत्त्व और शाक्तागम का मन्त्र-तत्त्व——इन दोनों के प्रभेद का रहस्य समझ में नहीं आ सकता।

शाक्तागम का मन्त्र-तत्त्व साक्षात् चित्शक्ति-स्वरूप है, जिसके मूल में शिव-शक्ति का सामरस्य रहता है। अतएव, शाक्त-आगम की शक्ति, जिसे मन्त्ररूपा शक्ति कहते हैं, वह स्वभावतः ही चित्कला-स्वरूप है, जिसके मूल में शिव-शक्ति का सामरस्य है। महामाया के जगत् में मन्त्र क्रिया करता है और उस क्रिया के कारण महामाया का स्वरूप तक अधिगत होना सम्भव है। परन्तु महामाया को भेद नहीं कर सकने से—सिर्फ भेद ही नहीं, शिव-शक्ति का सामरस्य नहीं होने से——काम-कला का रहस्य उद्घाटित नहीं हो सकता। जिन योगियों ने महामायिक शब्द प्राप्त किया है, उनकी स्थिति चरम अवस्था में शिवत्व-लाभ है। इस शिवत्व में शिव-शक्ति का सामरस्य नहीं खेलता। अतएव कामकला से इसकी विलक्षणता को अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इसके बाद हम चक्रनिर्माण, चक्राधिष्ठान तथा मूल शक्ति का विविध प्रपञ्च—इन विषयों की चर्चा करने की चेष्टा करेंगे; क्योंकि इनको

समझे विना कामकला-विज्ञान से स्वरूप की चर्चा अधूरी रहेगी।

मन्त्र तथा उसके आनुषंगिक विषय की आलोचना करने के पहले मन्त्रतत्त्व के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा का होना जरूरी है। मन्त्र-विज्ञान वहुत प्राचीन काल से ही प्रचलित था। वैदिक विज्ञान भी मन्त्र-विज्ञान है, तान्त्रिक विज्ञान भी मन्त्र-विज्ञान है और प्राचीन वहुतेरे विज्ञान का पता चलता है, जिनके मूल में मन्त्र-शक्ति की क्रिया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। लेकिन मन्त्रपद वाच्य होने से ही सब मन्त्र एक-से हैं, ऐसा नहीं सोचा जा सकता। मन्त्रों में भी स्तर-भेद है, शक्तिगत भेद, लक्ष्यगत भेद है और ऐसा ही नाना प्रकार का वैचित्र्य मन्त्र-विज्ञान का अनुशीलन करने से देखने में आता है। पतञ्जलि योगी थे, योगशास्त्र के प्रवक्ता थे, परन्तु उन्होंने भी स्पष्ट रूप से मन्त्रशास्त्र की प्रशंसा की है। अपने कैवल्यपाद के प्रथम सूत्र में ही उन्होंने मन्त्र और उससे मिलनेवाली सिद्धि का उल्लेख किया है। वहाँ निर्माण-काय या निर्माण-चित्त के प्रसंग में निर्देश किया गया है कि मन्त्र की शक्ति से भी निर्माण-चित्त रचित हो सकता है। लेकिन हाँ, उन्होंने योगमार्ग में प्रसिद्ध ध्यानज निर्माण-चित्त की ही प्रशंसा की है—यह सही है। मायाराज्य में मायाशक्ति के अन्तर्गत रूप में मन्त्र-शक्ति का परिचय आपामर सभी प्रायः जानते हैं और इस सिद्धि की अलौकिकता भी सर्वविदित है। पर, यह क्षुद्र सिद्धि है। मायाशक्ति के प्रभाव से, अवश्य तारतम्य के अनुसार, और-और लौकिक शक्ति का स्तम्भवन या निराकरण सम्भव है—यह वात प्रचलित अनेक तान्त्रिक ग्रन्थों से जानी जाती है, पर इन शक्तियों का आध्यात्मिक उत्कर्ष नहीं है; क्योंकि ये क्षुद्र मायिक शक्तियाँ इन्द्रजाल तथा नाना प्रकार के अलौकिक कृत्यों के रूप में ही आत्म-परिचय देती हैं। क्षपणक, दिगम्वर आदि सम्प्रदाय, ताल-वेताल सम्प्रदाय, कापालिकों में भी कोई-कोई इस कोटि की शक्ति का अनुशीलन किया करते हैं। शंकराचार्य की 'सौन्दर्यलहरी' की लक्ष्मीधर-कृत टीका में अनेक क्षुद्र तान्त्रिक सम्प्रदायों एवं उनकी अलौकिक सिद्धि की वात का उल्लेख किया गया है। इसके अधिकांश ही मन्त्रमूलक हैं, पर कहना वाहुल्य है, ये सब मन्त्र मायाराज्य के विषय हैं। वास्तविक शुद्ध मन्त्र महामाया-राज्य के विषय हैं। महामाया-राज्य का ही दूसरा नाम वैन्दव राज्य है। विन्दु का नामान्तर चिदाकाश है। यह महामायिक या वैन्दव राज्य शुद्ध माया का राज्य है। जीव जव सद्‌गुरु की कृपा प्राप्त करता है, तब उसकी प्रतिष्ठा इसी राज्य में होती है। शुद्ध तत्त्वपञ्चक में शुद्ध विद्या नाम का तत्त्व ही मन्त्र-शक्ति की प्राप्ति और विकास का क्षेत्र है। किसी साधक या योगी का मलपाक जब पूर्ण हो जाता है, तो श्रीभगवान् की कृपा सद्‌गुरु के मुख से मन्त्ररूप में निकलकर उसे मायिक राज्य से उद्धार के पथ में ले जाती है। यहाँ सद्‌गुरु से वह जो ज्ञान प्राप्त करता है, उसका नाम शुद्ध विद्या

है। शुद्धविद्या अहन्ता का ही आत्मप्रकाश है, अवश्य आधार के अनुसार। यह अहन्ता पूर्णाहन्ता नहीं, इसे अवश्य याद रखना है। पूर्णाहन्ता के बारे में बाद में कहेंगे।

सद्‌गुरु-प्रदत्त इस मन्त्र को प्राप्त करके साधक योगी शुद्ध विद्या-भूमि में अवस्थान करता है। यह अवस्था शुद्ध जगत् के द्वार-स्वरूप है। शुद्ध जगत् में अहन्ता का प्राधान्य और इदन्ता का अभिभव क्रमशः घटता है। इस मार्ग का आरम्भ ही शुद्ध विद्या में है। इसे जरा और साफ-साफ समझाएँ—मायिक जगत् का मनुष्य-मात्र ही देहाभिमान-विशिष्ट होता है—देह, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि प्राकृत तत्त्व में अहंभाव का अभिनिवेश है—यही उसकी विशिष्टता है। यह अज्ञान है। अचिद् वस्तु में चिद्-भाव का आरोप करके इस ज्ञान का उद्‌भव होता है। सद्‌गुरु के दिये मन्त्र के प्रभाव से यह अज्ञान क्रमशः कटता जाता है। अज्ञान दो प्रकार का है—अचित् सत्ता में चिद्-भाव और चित्‌सत्ता में अचिद्‌भाव। मायिक जगत् के जीव में मुख्य अज्ञान है और अचित् सत्ता में चिद्‌भावना अर्थात् देह आदि में अहं का बोध। सांख्य या पातंजल मार्ग में इस अज्ञान की निवृत्ति के फलस्वरूप कैवल्य की प्राप्ति होती है अर्थात् अचित्‌रूपा प्रकृति और प्रकृति के विकार से अपने को चिद्‌रूप में पृथक् मानना—यही विवेक ज्ञान का वैशिष्ट्य है। इस ज्ञान से भगवत्-प्राप्ति नहीं होती, परन्तु संसार की निवृत्ति होती है और चूँकि कर्म का क्षय होता है, इसलिए जन्मान्तर की सम्भावना नहीं रहती। वह अवस्था प्राप्त होने पर जीव की अधोगति रुक जाती है, परन्तु ऊर्ध्वगति नहीं मिलती। केवली पुरुष त्रिशंकु की भाँति उस केवली अवस्था में ही मौजूद रहते हैं—उससे ऊपर उठने की कोई सम्भावना नहीं। परन्तु सद्‌गुरु की कृपा से जिन्हें शुद्ध विद्या प्राप्त होती है, वे संसार और जन्म-जन्मान्तर ग्रहण आदि से और कैवल्य से भी उद्धार पाते हैं। इसलिए कि गुरु द्वारा दी गई मन्त्ररूपी शुद्ध विद्या विदेह आत्मा को वैन्दव देह प्रदान करती है। यही ज्ञान-देह है। यह देह काल के अधीन नहीं। इस देह में आते ही अपने में शुद्ध अहं अभिमान का थोड़ा-बहुत उदय होता है। मन्त्र-जगत् में क्रम-विकास का यही आरम्भ है। मन्त्र-अवस्था के बाद मन्त्रेश्वर-अवस्था—यह शुद्ध विद्या के ऊपर का तत्त्व है और इस प्रकार लगातार और भी तत्त्व हैं। इस प्रकार के तत्त्व से योगी का तत्त्वान्तर में क्रम-विकास होता है। अर्थात् जिस मन्त्र-तत्त्व में वह प्रतिष्ठित हुआ था, वह स्वातन्त्र्य-शक्ति के क्रम-विकास में ईश्वर-तत्त्व में प्रतिष्ठित होता है और इस प्रकार-ईश्वर तत्त्व से सदाशिव-तत्त्व में उन्नीत होता है, आदि। इस प्रकार से क्रमशः अहंभाव का विकास होता है और इदंभाव का तिरोधान होता है। इस अवस्था की जो चरम अवस्था है—तत्त्व में जो शिव शक्ति रूप में परिचित हैं—वह मिलती है, वह शिवत्व प्राप्त करता है या शक्तिभाव प्राप्त करता है—अधिकार के

के अनुसार, परन्तु पूर्णत्व-लाभ नहीं कर सकता। शिव अपूर्ण है, शक्ति भी अपूर्ण है। महामाया के जगत् में शिव ही श्रेष्ठ तत्त्व है, किन्तु उसमें भी मल है, शक्ति में तो है ही, और यह मल आणव मल के नाम से प्रसिद्ध है। शिव विशुद्ध बोध-स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु शक्तिहीन है—यही उसकी अपूर्णता है। इसी प्रकार पूर्ण शक्ति स्वातन्त्र्य-रूप है, इसमें सन्देह नहीं, पर यह भी अपूर्णरूप है; क्योंकि यह जड़शक्ति है, इसमें बोध नहीं है। शिव बोधरूप है, शक्ति स्वातन्त्र्य-रूप—ये दोनों स्वरूप जब प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं, तभी पूर्णता होती है। किन्तु महामाया-जगत् में वह सम्भव नहीं, महामाया को भेद करने पर वह उदित होता है। महामाया को भेद करने पर जिस पूर्णत्व का उदय होता है, वही परमशिव या परासम्वित् के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं। यही शिव-शक्ति का सामरस्य है और यही निष्कल अवस्था है। महामाया-जगत् में शिव भी स-कल और शक्ति भी स-कल है। शक्ति की कला शान्तिरूपा और शिव की कला शान्त्यतीता। परन्तु आत्मा के पूर्ण रूप में कोई कला नहीं, यह निष्कल अवस्था है। यह आत्मा ही परमशिव, यही आत्मा परासम्वित्, यही आत्मा पूर्ण है—इन दोनों के सामरस्य से ही कामकला का विकास होता है। कामकला-विज्ञान महामाया के जगत् के योगी के लिए नहीं है, यह शाक्त योगी के लिए है। इसीलिए पहले कहा गया है कि माया तो दूर की बात, महामाया के राज्य में भी मन्त्र का पूर्णत्व नहीं होता; क्योंकि शिव-शक्ति की भेद-रूप कला तब भी रह जाती है। पर, परासम्वित् के राज्य में, जिसे परमशिव की स्थिति कहते हैं, वही आत्मा की पूर्ण स्थिति है। वहाँ जिस मन्त्र का प्रकाश होता है, वही प्रकृत मन्त्र है, जिसकी आलोचना हम भविष्य में करेंगे।

टिप्पणी—मन्त्र के सम्बन्ध में हमने संक्षेप में मायान्तर, महामायान्तर—इन दो पृथक् स्तरों का उल्लेख करके सर्वोपरि शाक्ति-स्तर की बात कही है। माया की तो बात ही क्या, महामाया तक शिव-शक्ति में मिलन नहीं होता। महामाया के ऊपर जो भूमि है, वह अद्वैत भूमि है—वहाँ शिव-शक्ति का भेद नहीं रहता—यह उल्लेख भी पहले कर चुके हैं। पर इस अद्वैत भूमि के बारे में भी दो-एक बात कहना जरूरी लग रहा है। इस अद्वैत भूमि में परमशिव और पराशक्ति अभिन्न रूप में प्रकाशमान रहते हैं, पर इस अभिन्न प्रकाश के बावजूद देखने में आता है कि बाह्य दृष्टि से एक विभाग है। यह अद्वैत भूमि है, यह सही है, पर शैवों की दृष्टि से यह परमशिव की अवस्था है। पराशक्ति उनसे अभिन्न है, यह याद रखना होगा। पर शाक्तों की दृष्टि दूसरी है। जो कुल-मार्ग का इतिहास जानते हैं, वे अवश्य ही जानते हैं इसे। शाक्तगण शक्ति-अद्वैतवादी हैं। उनके मत से यह महाशक्ति की अवस्था है—महा-प्रकाश-रूप परमशिव उनसे अभिन्न हैं। 'त्रिपुरा-रहस्य' आदि को शाक्ताद्वैत सम्प्रदाय

का ग्रन्थ समझना होगा। 'शिव-दृष्टि' नाम का ग्रन्थ शैवाद्वैतवादियों का मूल ग्रन्थ है। और भी रहस्य की बात यह है कि प्राचीन काल में सोमानन्द जैसे सर्वजनपूज्य आचार्य ने भी एक साथ दो नावों पर पैर रखा था। उनका 'शिव-दृष्टि' ग्रन्थ शैवाद्वैत सम्प्रदाय का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें परमशिव की प्रधानता ही अंगीकृत हुई है, यद्यपि यह भी अंगीकृत हुआ है कि शिव-शक्ति सर्वथा अभिन्न हैं। सोमानन्द का और भी एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है, वह है 'परात्रिंशिका' नाम के ग्रन्थ की 'विवरण' नाम्नी टीका। इससे स्पष्ट है कि वह शिवाद्वैत पक्ष, शक्ति अद्वैत पक्ष--दोनों का ही समर्थन करते थे। भक्त का हृदय जिधर जाय, उसी पक्ष को ग्रहण करना उचित है। सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों ही सत्य हैं।

जप-रहस्य

[१]

जप-साधना अध्यात्म-साधन-विज्ञानों में एक सुपरिचित साधना है। परन्तु इसका निगूढ़ रहस्य साधारण लोगों के लिए दुर्भेद्य प्रहेलिका ही है। वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन आदि सभी साधनाओं में जप का महत्त्व और आवश्यकता मुक्त-कण्ठ से घोषित हुई है। सूफी साधक और फकीरों में तथा ख्रीष्टीय कैथोलिक-सम्प्रदाय के भक्तों में जप की प्रथा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। योगियों ने जप की महिमा गाई है—वे कहते हैं, यह क्रियायोग के अन्तर्गत स्वाध्याय का ही एक विशेष प्रकार है। अच्छी तरह से विधिपूर्वक अनुष्ठान होने से इसके फलस्वरूप परमात्मा का प्रकाश और इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है तथा और-और भी बहुत-से आनुषंगिक फल मिलते हैं। जिस नाद-अनुसन्धान की महिमा हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी और लययोगी समान रूप से घोषित करते हैं, उसे जप की ही एक विशिष्ट अवस्था का नामान्तर माना जा सकता है। प्राचीन शाब्दिकगण इसे 'वाग्योग' कहते थे और "इयं हि मोक्षमाणानां जिह्मा राजपद्धतिः"। अर्थात् मुमुक्षु मन के लिए यही सरल राजमार्ग है—कहते हुए इसकी उपयोगिता को स्वीकार करते थे। मध्ययुग के सन्तगण 'सुरत शब्दयोग' नाम के जिस योग-पन्थ का अनुसरण करते थे, वह वाग्योग का ही एक प्रकार-मात्र है। योग की कठिन प्रक्रिया, यज्ञ का जटिल विधान, ज्ञानमार्ग की विचार-बहुल गम्भीर भावना तथा भावभक्ति का रसमय उल्लास, सभी साधक के लिए सुलभ नहीं। परन्तु जप सबके लिए अल्प आयाससाध्य है। परन्तु ठीक से किया जाय तो उससे कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि सभी साधनाओं का ही फल मिलता है। सिर्फ इतना ही नहीं, सविशेष भाव की पूर्णता और सभी विशेष का उपशम अर्थात् ब्रह्म का महान् और परम रूप नाद के आश्रय से जापक के लिए जितना सुगम होता है, उतना अन्य साधक के लिए नहीं होता।

ग्रन्थकार को ग्रन्थ में प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के लिए आनुषंगिक तौर पर बहुत-से तत्त्वों की आलोचना करनी पड़ी है। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र किसे कहते हैं, मन्त्र-जपरूप क्रिया की निष्पत्ति कैसे होनी चाहिए, उसका चरम लक्ष्य क्या है, ध्वनि (नाद), संख्या और भाव या अर्थ का, अर्थात् वाक्, प्राण और मन का या अग्नि, सूर्य और चन्द्र का स्वरूप और प्रकार-भेद क्या है, जप का अन्तराय क्या है, एवं अन्तराय को दूर करने का उपाय क्या है—इस तरह के बहुत-सारे प्रश्नों का

समाधान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में दिखाई देता है। दूसरे और तीसरे खण्ड में सप्त-व्याहृति-रहस्य और महामाया-तत्त्व के प्रासंगिक बहुत विषयों के साथ विस्तारपूर्वक आलोचित हुआ है। इस आलोचना की तुलना नहीं है। चित् शक्ति केवल चिन्मात्र या प्रकाश-मात्र ही नहीं, वह चित् का अपने को विशेष-विशेष भाव से ईक्षण का सामर्थ्य है। स्वरूपत: दोनों एक होते हुए भी दोनों में विलक्षणता है। इस विलक्षणता को स्वीकार करके ही दोनों की अद्वयता स्वीकार्य है। विमर्शहीन प्रकाश प्रकाशमान नहीं होता, इसलिए अप्रकाश या असत्कल्प है। परन्तु प्रकाश तो विमर्शहीन नहीं होता। इसलिए प्रकाश की स्व-प्रकाशता और सद्भाव अक्षुण्ण ही रहता है। सत् और असत्, यह विरुद्ध भाव विकल्प-मात्र है—निर्विकल्प या अद्वय ही तत्त्वातीत परम तत्त्व है। ग्रन्थकार ने आगम और उपनिषद् का सारांश स्वकीय अनोखी युक्ति और विवेचन-सरणी के द्वारा ऐसे मनोज्ञ भाव से और कौशल से स्थापित किया है कि वह मन्दबुद्धि पाठक के लिए भी बोधगम्य हुए विना नहीं रह सकता। किन्तु, आन्तरिकता और मनोनिवेश जरूरी हैं।

और एक विषय में दो-एक वात वताना उचित प्रतीत होता है। वर्णमातृका के सम्बन्ध में साफ धारणा नहीं रहने से प्राण के स्पन्दन के तत्त्व का निर्णय नहीं किया जा सकता। तन्त्रशास्त्र में इसीलिए मातृका का विवेचन किया गया है। प्राचीन काल के किसी-किसी मूल आगम ग्रन्थ में वर्णमाला का विचार देखने को मिलता है। अभिनवगुप्त, स्वतन्त्रानन्द नाथ आदि ने भी अपनी-अपनी दृष्टि से इस विषय की आलोचना की है। इस विषय में जपसूत्रकार ने असाधारण अन्तर्दृष्टि तथा समन्वय-शक्ति का परिचय दिया है। आशा करते हैं, भविष्य में इस ग्रन्थ की विस्तृत समालोचना के अवसर पर कोई मनीषी तुलनात्मक रीति से प्राचीन भारत के वर्ण-विज्ञान के रहस्योद्घाटन की चेष्टा करेंगे। शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध और जैन-आगम में तमाम इस विषय के वहुतेरे तथ्य मिल सकते हैं।

[२]

शास्त्र में है, शब्द-ब्रह्म में निष्णात होने से परब्रह्म की उपलब्धि होती है। शब्दातीत परम पद के साक्षात्कार के लिए शब्द का आश्रय करके ही शब्द-राज्य को भेद करना होता है। समस्त विश्व शब्द से ही उद्भूत एवं शब्द में ही विधृत है। **"शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी"; "वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्"** इत्यादि शास्त्र-वचन से ज्ञात होता है कि शब्द ही जगत्-सृष्टि का मूल है। शब्द के बाहर जाने के लिए भी शब्द ही एकमात्र आलम्बन है। इसीलिए जप-साधना में शब्द को पकड़कर ही शब्दातीत परब्रह्म के पद में जाने का उपदेश है।

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा—चार प्रकार के वाक् की बात शास्त्र में पाई जाती है। वैखरी वाक् शब्द का निम्नतम स्तर है। इसे पकड़कर क्रमशः परा-वाक् तक उठने एवं उसके बाद उसको भी पार करने की जरूरत है। वैखरी इन्द्रिय-गोचर समग्र स्थूल विश्व में और स्थूल देह में अनन्त प्रकार से स्थान के अनुसार कार्य करता है—'वैखरी विश्वविग्रहा'। इसे पार नहीं कर पाने से मनुष्य स्थायी तौर पर वहिर्मुख वृत्ति त्यागकर आन्तर वृत्ति का आश्रय नहीं प्राप्त कर सकता।

आत्मा स्वरूपतः पूर्ण प्रकाशात्मक परमेश्वर रूप हैं, स्वतन्त्र और भोक्ता होते हुए भी स्वेच्छापूर्वक जीवभाव ग्रहण करने के साथ-साथ उनका स्वातन्त्र्य और भोक्तृभाव लुप्त-सा हो जाता है। आत्मा में अखिल शक्ति का अभेद में समन्वय है, इसलिए आत्मा का पूर्णाहन्ता का स्वभाव सिद्ध है। 'अ' से 'ह' तक सारे वर्ण या कला का आपस में या आत्मा के साथ अभिन्नरूप से अखण्डभाव से स्फुरित होना ही आत्मा का पूर्णाहन्ता है। इसी का दूसरा नाम है चैतन्य, विमर्श, स्वातन्त्र्य या ऐश्वर्य। इन सब अकारादि वर्णों का वाच्य अनुत्तरादि विमर्श आत्मा के अपने विमर्श का ही स्वरूपभूत है। अखण्ड स्थिति में यह सब एक और अभिन्नरूप में ही प्रकाशित होता है। किन्तु आत्मा के स्वेच्छापूर्वक सृष्टि-उन्मुख होने से उनके स्वरूपाश्रित अपने अमर्श के लेश रूप में अनुत्तरादि वाचक पूर्वोक्त अकारादि वर्ण उद्भावित होता है। अद्वैत स्थिति में जो सब कला अभिन्न रूप से आन्तर शब्द या स्वभावरूप में विद्यमान रहती हैं, वे उस स्वरूप में अक्षुण्ण रहकर भी सृष्टि की उन्मेष-दशा में मानों अंशतः विभक्त रूप में क्रमशः ब्राह्मी आदि अष्टवर्ग-शक्ति और अ, आ आदि पचास रुद्रशक्ति के रूप में अवतीर्ण होती हैं। आगे चलकर उन शक्तियों से पद-वाक्यसमूह के रूप में असंख्य क्षुद्र शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं। अकारादि अतमा का विमर्शरूप तथा स्व अभिन्न होते हुए भी अज्ञान-अवस्था में निज-आत्मा से भिन्न प्रतीत होने के कारण अंश या कला नाम से आख्यात होता है। यही सब मातृका शक्ति है। इनके द्वारा आत्मा का स्वीय ऐश्वर्य या विभव (आचार्य शंकर ने दक्षिणामूर्त्ति स्तोत्र में जिसका उल्लेख 'महाविभूति' के नाम से किया है) विलुप्त-सा हो जाता है। कला आत्मस्वरूप से उद्भूत होकर आत्मा के ऐक्य-भाव को ढाँके रखती है। उस स्थिति में शिवरूपी आत्मा जीव या पशुरूप में आविर्भूत होती है। यही उनका स्वरूप-संकोच या अणुभाव-प्राप्ति है। यह अणुरूपी आत्मा तब पूर्व-वर्णित अष्टवर्गीय ब्राह्मी आदि-शक्ति, अकारादि रुद्रशक्ति और उनसे निकली पदवाक्यादिमय असंख्य क्षुद्र शक्तियों का खिलौना हो जाती है। मातृका सब अणुजीव के प्रति संवेदन से ही अन्तःपरामर्शन के द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शब्दानुवेध करती हैं और वर्ग, वर्णी आदि देवताओं के अनुष्ठान द्वारा चित्त में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग,

द्वेष आदि भाव या वृत्तियों को उद्भावित करती हैं। इस प्रकार आत्मा का असंकुचित स्वातन्त्र्यमय चिद्घन-रूप आच्छन्न होता है और देहात्म भाव, पारतन्त्र्य तथा पाशबन्धन का सूत्रपात होता है।

मातृका का यह लय-विक्षेपकारक प्रभाव वैखरी वाक् में बहुत स्पष्ट है। चित् के उन्मेष के स्वभाव के कारण साधारण मनुष्य वैखरी भूमि में आबद्ध रहता है—इसका लंघन करके मध्यमा में प्रवेश नहीं कर पाता। वैखरी वाक् का कार्यक्षेत्र यद्यपि स्थूल है, मगर उसका प्रभाव अशुद्ध मनोमय स्तर, सूक्ष्मभूत और लिंग-शरीर में भी दिखाई पड़ता है। काल के आवर्त्तन के पर्याय के क्रम से स्थूल तथा सूक्ष्म भाव का उदय-अस्त होता है। एक वार स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति होती है, फिर सूक्ष्म से स्थूल में प्रत्यागमन होता है और फिर सूक्ष्म की ओर धारा बहती रहती है। स्थूल और सूक्ष्म का इसी प्रकार आवर्त्तन होता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का आवर्त्तन इस महा आवर्त्तन का ही एकदेश-मात्र है। गति का यह आवर्त्तन-भाव वैखरी भूमि का वैशिष्ट्य है। मलिन वासना के कारण गति की वक्रता होती है, इसलिए निम्न-भूमि में आवर्त्तन स्वाभाविक है। इससे छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—गुप्त मार्ग का अवलम्बन करके सरल गति की सहायता से ऊपर की ओर क्रम से आरोहण। मध्यमा-क्षेत्र से ही इसका आरम्भ होता है।

मध्यमा भूमि को मन्त्रमयी भूमि कहा जाता है; क्योंकि मध्यमा वाक् मन्त्र-रूप में ही आत्म-प्रकाश करता है। मन का शोधन और उसके फलस्वरूप विज्ञान के द्वार के उन्मोचन का सामर्थ्य क्रमशः इसी स्थान से प्राप्त होता है। मनुष्य के कण्ठ से वैखरी वाक् उठता है—उसके मूल में मानसिक चिन्ता (चेतन और अवचेतन दोनों ही क्षेत्रों में) और मनोगत भाव या अर्थ जुड़ा रहता है। योगिगण जिस शब्द, अर्थ और ज्ञान के सांकर्य की बात कहते हैं, वह इस वैखरी भूमि के शब्द को ही लक्ष्य करके कहते हैं। स्मृति-परिशुद्धि के द्वारा सांकर्य का परिहार वैखरी से मध्यमा भूमि में प्रवेश का आनुषंगिक रूपमात्र है। वाक् के साथ प्राण-शक्ति और मन-शक्ति अविनाभूत भाव से विद्यमान है तथा प्राणसूत्र को पकड़कर पृथ्वी आदि पाँच महाभूत का भी सम्बन्ध है। इसके सिवाय चित् का सम्बन्ध तो है ही। लेकिन वैखरी-स्तर में यह चिदंश आच्छन्न-सा रहता है। साधारणतः इसका आभास नहीं पाया जाता, इसलिए उस समय यह रहते हुए भी नहीं रहने के ही समान है। इसीलिए इस भूमि में मनोमय, प्राणमय और अन्नमय—इन तीन निम्नवर्त्ती कोषों की ओर आकर्षण रहता है। मन और प्राण की क्रिया समन्वित स्थूल देह के प्रति आकर्षण इसी का नामान्तर है। इसीलिए इस भूमि में देहात्म-बोध प्रबल रहता है। विषय के प्रति आसक्ति की तीव्रता के कारण वैराग्य, विवेक आदि सुकुमार भाव अभिभूत रहते हैं।

मध्यमा क्षेत्र में नादमय चिद्रश्मि नित्य विराजमान है। ये सब रश्मियाँ वैखरी-भूमि में स्वरूपतः नहीं दिखाई देतीं। वैखरी में इनके अवतीर्ण होने से नाना प्रकार के वर्ण भी इन्द्रियगोचर उज्ज्वल आलोक-रूप में प्रतिभासमान होते हैं। उसके साथ चिदनुसन्धान नहीं रहता। इसलिए वैखरी से उत्तीर्ण होकर मध्यमा तक नहीं पहुँचने तक सूक्ष्म चैतन्य का मिश्र अनुभव नहीं पाया जाता।

अतएव, जैसे भी हो, वैखरी से मध्यमा में उठना एकान्त आवश्यक है। इस उत्थान के लिए एक ओर गुरु की शक्ति और दूसरी ओर अपना प्रयत्न अनिवार्य है। इस क्रमिक विकास के कार्य में जप-साधन वहुत वड़ा सहायक है। ईश्वर-प्रणिधान या भजन, निष्काम कर्मयोग और भौतिक देह तथा चित्त का संस्कारमूलक आत्म-शोधन इस उत्थान-कार्य में यथासम्भव सहायता करता है। साधक की दृष्टि इस भूमि में प्रत्यावर्त्तित होकर अन्तर्मुखी होना आरम्भ करती है। वैखरी भूमि में लक्ष्य रहता है वाहर की ओर और नीचे की ओर—अर्थात् मूलाधार की ओर। लेकिन मध्यमा भूमि में वह लक्ष्य वदलता है—उस समय लक्ष्य वाहर या नीचे की ओर न होकर अन्तर या ऊपर की ओर आकृष्ट होता है। मूलाधार के वदले लक्ष्य सहस्रार या गुरुधाम की ओर अथवा अखण्ड नित्य सत्ता की ओर स्थापित होता है। विषयासक्ति-वर्जित चित्त उस समय शुद्ध होता है। भावना आदि दूसरे उपाय से भी मध्यमा भूमि में उत्थान हो सकता है, मगर अन्य साधना से जप-साधना का सौकर्य अधिक है। 'मध्यमा' शब्द का अर्थ है—जो दो छोरों के बीच की हो—एक छोर पर दिव्य पश्यन्ती वाक् और दूसरे छोर पर पाशव वैखरी वाक्—इन दोनों के बीच संयोजक सेतु-स्वरूप मध्यमा वाक् क्रियाशील है। इसलिए पशुभाव से दिव्यभाव में आने के लिए मध्य पथ के इस सेतु का सहारा लेना आवश्यक है।

पहले ही कहा जा चुका है कि वैखरी वाक् या लौकिक शब्द में चैतन्य की रश्मि आच्छन्न रहती है, पर मध्यमा वाक् में वह प्रच्छन्न नहीं, प्रस्फुट है। ये रश्मियाँ नादरूपी सूत्र का अवलम्बन करके अनन्त आकाश में व्याप्त हैं। इसलिए मूलतः सभी वीजात्मक एवं बीज विन्दुरूपी केन्द्र में नित्य अवस्थित हैं। वैखरी वाक् जैसा व्यक्त है, मध्यमा वाक् को वैसा व्यक्त नहीं कहा जा सकता। इसलिए अर्थात् मध्यवर्त्ती होने के नाते उसे व्यक्त और अव्यक्त—उभयात्मक कहा जाता है।

मन्त्र चिद्रश्मिमय है। वैखरी भूमि में चिद्भाव गुप्त होने के कारण और वाक् के असंस्कृत होने के कारण वैखरी वर्ण में मन्त्रमयता स्वीकार नहीं की जाती। लेकिन स्वरूपतः उसमें मन्त्रात्मकता नहीं रहते हुए भी चिद्रश्मि का वाचक होने के नाते वैखरी वर्ण से उद्भूत सभी स्थूल विद्या को भी 'मन्त्र' की आख्या दी जाती है। इस प्रसंग में मीमांसकों का मन्त्रात्मक देवतावाद स्मरणीय है। "मन्त्राश्चिन्मरीचयः।

तद्वाचकत्वाद् वैखरीवर्णविलास भूतानां विद्यानां मननात् त्राणता ।"

मध्यमा के उस पार पश्यन्ती या दिव्यवाक् है । यह एक प्रकार से अव्यक्त है। वाक् से निखिल देवतानिचय प्रकाशित होते हैं–ये सारे देवता सर्वज्ञ हैं और समग्र विश्व के कार्य में अपने-अपने अधिकार के अनुसार लगे हैं। सिर्फ देवता का प्रकाश पश्यन्ती वाक् का कार्य नहीं–विष्णु का परम पद तक पश्यन्ती भूमि से ही दिखाई पड़ता है। ऋषिगण जिस परम पद का निरन्तर दर्शन करते हैं, वह इसी भूमि से वास्तव में पश्यन्ती वाक् से ही कारणस्थ चैतन्य की स्फूर्त्ति होती है–यही देवता का स्वरूप है। प्राचीन काल में मन्त्र-साक्षात्कार के फलस्वरूप जो ऋषित्व प्राप्त होता था, वह यही पश्यन्ती भूमिलाभ के कारण होता था। यही आत्मा की 'अमृतकला' है–"विदेम देवतां वाचमृतामात्मनः कलाम्"। पश्यन्ती के स्वरूप का दर्शन होने से अधिकार की निवृत्ति होती है—"तस्यां दृष्टरूपायामधिकारो निवर्त्तते।" एक हिसाब से देखने पर पश्यन्ती के बाद वाक् की और कोई उच्चतर अवस्था कल्पनीय नहीं। इसीलिए प्राचीन आचार्यों में से किन्हीं-किन्हीं ने वाक् को त्रिविध (त्रयी वाक्) भी कहा है। फिर भी स्वीकार करना होगा कि पश्यन्ती के भी एक परा अवस्था है। इसीलिए कोई-कोई नामतः परावाक् को स्वीकार नहीं करते हुए भी कार्यतः 'त्रय्या वाचः परं पदम्' कहकर प्रकारान्तर से उसे मानने को विवश हुए हैं।

यह परावाक् चिन्मय और परम अव्यक्त है। इस भूमि में व्यष्टि देवता का प्रकाश नहीं है—समष्टि देवता या ईश्वर चैतन्य में समस्त वाक् की परिसमाप्ति हुई है। यह वाक् सृष्टि के ऊर्ध्वतम शिखर से निम्नतम भूमि तक समान रूप से व्याप्त है। यह ऊर्ध्व सहस्रार की सबसे ऊँची भूमि से उठकर मूलाधार तक व्याप्त है, यह जैसे कहा जा सकता है, वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि यह मूलाधार के नीचे स्थित महाकारण समुद्र में प्रकाशमान अधःसहस्रार से उठकर ऊर्ध्वसहस्रार के द्वादशदल में वाग्भव कूट तक व्याप्त है। कोई-कोई ऐसा कहते भी हैं। वास्तव में ऊर्ध्वसहस्रार के ही भिन्न-भिन्न स्तर में इन तीनों वाक् का उद्भव है–उनमें में एक का (मध्यमा) विस्तार नीचे की ओर हृदय तक, दूसरे का (पश्यन्ती) नाभि या उससे कुछ नीचे तक और तीसरे का (परा) मूलाधार तक। अधः-ऊर्ध्व, सर्वदेशव्यापी सत् रूप चैतन्य ही परावाक् का तात्पर्य है। इसी का नाम नित्य अक्षर है।

इस अवस्था के बाद शब्द की और गति नहीं। मध्यमा वाक् से इस अक्षर-ब्रह्म तक योगी की गति शब्द-ब्रह्म के अन्तर्गत है। अक्षर-ब्रह्म का भेद होने से ही परब्रह्म का द्वार खुल जाता है। परब्रह्म शब्दातीत है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है–"शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधि गच्छति।',

जितनी दूर तक शब्द का विकास है, उतनी ही दूर तक आकाश कल्पित

होता है । जो नित्य अक्षर अथवा सत् है, उसीका नाम परमाकाश है, जिसे विभिन्न प्रस्थानों में और वैदिक मन्त्रादि में भी परम व्योम के नाम से निर्देश किया गया है। जो शब्दातीत अवस्था है, वहाँ आकाश नहीं है—वहाँ शक्ति और शिव, दो तत्त्व अविभाज्य युग्मरूप में विराजित हैं। युगलभाव, यामलभाव अथवा युगनद्ध भाव शिव-शक्ति के इस अविनाभाव की ही सूचना करते हैं। समना और उन्मना-शक्ति—दोनों ही ब्रह्मशक्ति है—समना शक्ति तत्त्व को आश्रय करके परब्रह्म की इच्छा के अनुसार सृष्टि का विस्तार करती है और उन्मना शिवतत्त्व को आश्रय करके परब्रह्म के विमर्शहीन विश्वातीत दिशा की ओर उन्मुख है। शिव-शक्ति अभिन्न हैं, इसलिए किसी को छोड़कर कोई नहीं रह सकते। इसके बाद और तत्त्व नहीं है। वहीं तत्त्वातीत अद्वैत स्थिति है।

पन्रतु इस अद्वैत में भी दो दिशाओं का पता चलता है—एक अखण्ड सच्चिदानन्द का दिशा, जो विश्वातीत होने के बावजूद सूक्ष्मतम ध्यानगम्य होने के कारण आरोप-दृष्टि से कुछ वर्णनीय है और दूसरी सब प्रकार से निर्विकल्प तथा ध्यान-समाधि के अगोचर है। पहली अवस्था में स्वशक्ति परिस्फुट है, दूसरी अवस्था में वह अस्फुट या अव्यक्त है—पर वह नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। वास्तव में ये दोनों दिशाएँ भी अभिन्न हैं। वहाँ निष्कल और सकल में भी भेद की कल्पना का अवकाश नहीं। यही परम अद्वैत रहस्य है। एक ही अखण्ड स्वरूप में विश्व और विश्वातीत, 'अमात्र' और 'अनन्त मात्र' (माण्डूक्यकारिका १।२९), निष्कल और स-कल, निष्क्रिय और 'अनन्तक्रिय', क्षर और अक्षर स्वयंप्रकाश अद्वय रूप में विराजते हैं। काल वहाँ कला-तीत के साथ एक होकर प्रकाशित है।

[३]

परम पद में प्रवेश करके स्वभाव की धारा प्राप्त करने के लिए जप अन्यतम श्रेष्ठ उपाय है। जप के अनेक भेद हैं, जिनमें बाह्य और आभ्यन्तर—ये दो प्रधान हैं। शास्त्र में जिसे वैखरी जप निर्दिष्ट किया गया है, वही बाहरी जप है—यह प्रारम्भिक क्रिया है। आन्तर जप इससे सूक्ष्म और श्रेष्ठ है। बाह्य पूजा से जैसे आन्तर पूजा श्रेष्ठ है, वैसे ही बाह्य जप से आन्तर जप श्रेष्ठ है। विधिपूर्वक नाना प्रकार के वर्णों का उच्चारण ही जप का लक्षण है। आचार्यों ने विकल्पात्मक संजल्प कहकर इसका उल्लेख किया है। जो परम पथ और परम पद के अभिलाषी हैं, उनके लिए बाह्य जप से विमुख होकर क्रमशः आन्तर जप में निविष्ट होना जरूरी है।

पहले आरम्भ अवश्य वैखरी से ही होता है। कर्त्तृत्व का अभिमान लेकर ही संकल्पपूर्वक कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। कण्ठ-जप ही वैखरी जप का स्थूल लक्षण है। वाचिक, उपांशु और मानसिक—वैखरी जप के यही तीन प्रकार के अवान्तर

भेद हैं। इन तीनों ही भेदों में 'जप करना' भाव रहता है। मानस कर्म भी जैसे कर्म है, वैसे ही मानस जप भी वास्तव में वैखरी जप के सिवाय और कुछ नहीं। मानस जप करने के मूल में भी कर्त्ता के रूप में अहं अक्षुण्ण रहता है। यानी मैं जप कर रहा हूँ, यह भाव स्फुट या अस्फुट रूप में मौजूद रहता है। इसके बाद धीरे-धीरे अवस्थान्तर आता है। उस समय कण्ठ रुँध जाता है, प्रयत्न से जप नहीं किया जा सकता। कर्मकारिणी नाड़ियाँ किन्हीं अंशों में स्तब्ध हो जाती हैं और तब जप अपने-आप भीतर-भीतर चलता रहता है। इसे कहते हैं—'जप होना'। यह स्वभाव का जप है। इसके तीन भेद हैं। पहले हृदय में जप, उसके बाद दूसरी अवस्था में नाभि में और अन्त में मूलाधार में होता है। हृदय-जप को ही मध्यम मार्ग में प्रवेश जानना चाहिए। इस अवस्था में नाद अपने-आप चलता रहता है। मध्यमा में प्रवेश नहीं करने तक सिर्फ बाह्य जप में नाद-श्रुति नहीं होती। बाह्य जप में मन्त्र के अक्षरों का अलग-अलग उच्चारण रहता है, इसलिए वह विकल्पमय है, इसलिए वह वास्तविक मन्त्र नहीं। मध्यमा भूमि में जब नाद के साथ मन्त्र स्वभावतः ध्वनित हो उठता है, तभी उसे आन्तर जप समझना चाहिए। इन्द्रिय के अपने-अपने विषय के सभी संचार को रोककर आभ्यन्तर नाद का उच्चारण करना होता है।

संनियम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो नतु बाह्यजपो जपः॥

परम भाव की ओर जो पुनः-पुनः भावना है, वही आन्तर जप है—नाद की प्रकट अवस्था। हृदय-कमल में जो आकाश दिखाई देता है, उपनिषद् में जिसका वर्णन हृदयाकाश कहकर किया गया है, उसमें यानी उस अनाहत प्रदेश में सदा ही भगवती का आनन्दमय स्वरूप नाद-रूप में परिणत होकर चारों ओर संसर्पित होता रहता है। आम तौर से हमारा मन बहिर्मुख रहता है, इसलिए नाद का पता नहीं चलता। परन्तु गुरु की कृपा से जब मन अन्तर्मुख होता है, तो स्पष्ट रूप से उसका परिचय मिलता है। उसके प्रभाव से आँखों में आँसू का उद्‌गम होता है, सारे शरीर में पुलक या रोमांच का संचार होता है तथा दूसरे-दूसरे सात्त्विक भाव का उदय होता है।

शुद्ध विद्याभूमि में स्थित विद्येश्वर-रूपी श्रीगुरु के मुँह से निकली हुई वाणी मध्यमा वाक्‌रूप में आत्म-प्रकाश करती है, सहस्रदल-कमल के दल से हृदय तक इस वाणी का विस्तार अनुभूत होता है। इस वाणी के प्रभाव से माया का आवरण क्रमशः खुलता रहता है और साधक का अपना स्वरूप सद्‌विद्या-युक्त होकर पुरुष और प्रकृति को एक अभिन्न ज्ञान के अन्तर्गत बोध करने लगता है। इसे नवनाद का प्रथम जानना चाहिए।

विषय को और भी स्पष्ट करके आलोचना करने की चेष्टा कर रहे हैं। महर्षि पतंजलि के निर्देशानुसार मन्त्र-जप के साथ मन्त्रार्थ की भावना की आवश्यकता है, भावना और जप परस्पर अच्छेद्य सम्बन्ध से जुड़े हैं। आगम के रहस्यविद्गण कहते हैं कि जप के साथ मन्त्र के अवयव-समूह में छह शून्य, पाँच अवस्था और सात विषुव की भावना करनी चाहिए। छह शून्यों में पाँच का वर्णवैचित्र्यमय अपना-अपना अलग मण्डलाकार रूप है। परन्तु छठा अनुत्तर या महाशून्य है। पहले पाँच शून्य को ठीक निराकार नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मन का स्पन्दन जबतक रहता है, तबतक किसी-न-किसी प्रकार के अत्यन्त सूक्ष्म आकार का संभव रह ही जाता है। परन्तु छठा शून्य मन के अतीत होने के नाते वास्तव में ही निराकार, महाशून्य है। प्रणव अथवा वीजमन्त्र के प्रथम तीन अवयव——जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के द्योतक हैं, उसके वाद जो सब सूक्ष्मतर अवयव हैं, उनमें से प्रायः सब वास्तव में तुरीय और तुरीयातीत अवस्था के ही अन्तर्गत हैं। उन अवयवों के नाम ये हैं——विन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना। पहले तीन अवयवों से इन नौ के सम्मिलित होने से वारह अवयव होते हैं। इनमें से हर दूसरे अवयव को ही शून्य रूप में भावना करनी चाहिए। इसका बड़ा ही गम्भीर रहस्य है, पर यहाँ उसकी चर्चा अनावश्यक है। इस प्रकार दूसरा, चौथा, छठा, आठवाँ, दसवाँ और बारहवाँ——ये छह अवयव शून्य पदवाच्य हैं, उनमें पहले पाँच अवान्तर शून्य हैं और छठा महाशून्य। नीचे के पाँच शून्यों में एक क्रमविकास और क्रमलय का भाव अनुभव किया जा सकता है, जिसकी साधन-मार्ग में प्रविष्ट व्यक्तिमात्र ही गुरु-कृपा से कमो-बेश धारणा कर सकते हैं।

दस इन्द्रियों द्वारा जिस अवस्था में जागतिक व्यापार निष्पन्न होता है, उसको जाग्रत् अवस्था कहते हैं। प्रकाश वस्तुतः इसका करण है, इसलिए प्रकाश को ही जाग्रत् रूप में भावना करने का विधान है। जिस अवस्था में आन्तर चतुर्विधकरण द्वारा व्यवहार निष्पन्न होता है, उसका नाम स्वप्नावस्था है। स्वप्न में विद्यमान अन्तःकरण-वृत्ति का लय होने से सभी इन्द्रियों के उपरम-रूप जिस अवस्था का उदय होता है, उसका नाम सुषुप्ति है। सुषुप्ति-भावना का स्थान भ्रूमध्य-स्थित-विन्दु है। इस बिन्दु को हृल्लेखा का ऊर्ध्व विन्दु जानना चाहिए। स्वात्म चैतन्य की अभिव्यक्ति का हेतु नाद का आविर्भाव ही तुरीय का स्वरूप है। अर्धचन्द्र, रोधिनी और नाद——इन तीन मन्त्रावयवों में इसकी भावना करना उचित है। तुरीयातीत अवस्था परमानन्द-स्वरूप है। मन और वाक् के अतीत होते हुए भी मन और वाक् का आभास देहाव-स्थान-काल में किसी-किसी के रह ही जाता है। नादान्त से शक्ति, व्यापिनी और समना के वाद उन्मना तक तुरीयातीत अवस्था व्याप्त है। उन्मना के बाद और किसी प्रकार की अवस्था नहीं है।

मात्राहीन या अमात्र शिवस्वरूप आत्मा से चित्कला के आभास-विन्दु या विशुद्ध सत्त्वरूप दर्पण में पड़कर उसमें अवस्थित स्थिरीकृत मात्रा को आघात करता है। मात्रा उस आभास को धारण कर सके तो वह साधक या योगी की योगानुभूति के भूमिरूप में परिगणित होती है—एक मात्रा विभक्त होकर अर्धमात्रा में परिणत होती है। एक मात्रा और अर्धमात्रा का सन्धि-स्थान बहुत गुह्य है। स्थूल विश्व की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है, उसे एक मात्रा माना जाता है। स्थूल लौकिक अनुभूति का आरम्भ उसी एक मात्रा से होता है—मात्रा का आधिक्य जाड्य-वृद्धि का कारण है। मन का पूरा क्षेत्र चेतन या बोधमय नहीं है, उसमें अवचेतन का अंश भी है। हमारी स्मृति में जो नाम या शब्दराशि संचित है, वह हमारे अनुभव का ही परिणाम है। यह अनुभव स्थल-विशेष में मन की एकाग्रता (कम-से-कम आंशिक) के फलस्वरूप उदित होता है। इसलिए शब्द को स्मरण करते ही शब्द का अर्थ या रूप चित्त के क्षेत्र में जाग उठता है। वाचक के स्मरण से वाच्य की स्फूर्त्ति होती है। साधक का कर्त्तव्य है—साधना का उद्देश्य—मन को एकाग्र करना या केन्द्र में स्थापित करना अर्थात् एक मात्रा में अवस्थित रखना। समाधि आदि अभ्यास का वास्तविक उद्देश्य भी यही है। साधारणतया मन एक मात्रा में नहीं रहता। विक्षिप्त या क्षिप्त अवस्था में चंचलता के कारण मात्रा में बाहुल्य होता है। गूढ़ अवस्था की आलोचना की यहाँ जरूरत नहीं। मन के उत्थित होकर एक मात्रा में स्थित होने से ऊपर से उसपर गुरुकृपा-रूपी चिद्रश्मि का संपात होता है। उसके फलस्वरूप एक मात्रा अपने स्थान में एक मात्रा के रूप में अक्षुण्ण रहकर भी 'अतीत में' अर्धमात्रा आदि रूप में परिणत होती है।

यहाँ से सीमाहीन अनन्त की ओर गति की सूचना होती है। दिव्य अनुभूति का आरम्भ होता है। चित्-किरण के संपात की वृद्धि के अनुसार मात्रा का भग्नांश बढ़ता रहता है, अर्थात् मात्रांश क्रमशः क्षुद्र से क्षुद्रतर होता रहता है और प्रतिफलित चैतन्य क्रमशः अधिकतर उज्ज्वल तथा परिस्फुट होता रहता है।

जिस स्थान पर चिद्रश्मि का संपात होता है, उसे एक मात्रा और अर्धमात्रा की सन्धि माना जाता है—ऊपर से एक मात्रा में उस रश्मि के जाने से ऊपर की ओर एक मात्रा का टूटना शुरू होता है, यद्यपि नीचे की ओर एक मात्रा बरकरार ही रहती है।

यह एक मात्रा ही समग्र विश्व का मध्यविन्दु है। लौकिक विशाल जगत् इसी एक मात्रा में उपसंहृत होता है और यहीं से प्रबुद्ध होकर दसो दिशाओं में स्तर-स्तर में बिखर जाता है। एक लिहाज से इस मात्रा को सुषुप्ति का समानधर्मा

कहा जा सकता है । इसी दृष्टि से ही अर्द्ध मात्रा आदि को तुरीय तथा अतितूर्य अवस्था के आभास का ज्ञापक माना जाता है ।

मन की मात्रा जितनी ही फैलती है, मन का अंश उतना ही क्षुद्रतर होता है । चिदालोक उतना ही उज्ज्वल होता है । अर्द्धमात्रा आदि में प्रतिफलित जो चैतन्य है, वही मन्त्र है । जो चित्त उसका आधार है, उसे भी मन्त्र कहते हैं ।

पहले जिस विन्दु के बारे में कहा है, वही मात्रा से मात्राहीन में जाने का द्वार है । यहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एकाकार होते हैं तथा निरवलम्ब भाव से आरम्भ होते हैं । साथ ही मात्रा भंग के फलस्वरूप अर्द्धमात्रा का उदय होता है । कहा जा सकता है कि इसी भूमि से ईश्वर-भाव की पूर्व-सूचना होती है । यह ज्योतिर्मय एकाकारता ही शून्य है । यहाँ भेद-बोध विलकुल नहीं जाता, क्रमशः अपगत होता है । वास्तव में द्वितीय शून्य होते हुए भी यह जागतिक अवस्था के ऊपर है, यही प्रथम शून्य है । विन्दु से सहस्रार में उठने के रास्ते में कपाल में जो सोमरस दिखता है, वही अर्द्धचन्द्र है, जिसके भीतर त्रिविध वर्णमाला (सौम्य, सौर और आग्नेय) चिद्‌बीज-रूप में सहस्रार के दलों में प्रकाश पाता है । कपाल के ऊपर, किन्तु ब्रह्मरन्ध्र के नीचे, त्रिकोण में रोधिनी की अवस्थिति है । यह ब्रह्मा आदि कारण पंचक को अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पाँच जगत्पति को ऊर्ध्वगति से निवृत्त करती है, इसलिए इसका नाम रोधिनी है । कोई-कोई इसे निरोधिका भी कहते हैं । रोधिनी तक ही बिन्दु का आवरण है । इसे भी शून्य रूप में सोचना चाहिए । यहाँ दिक् और काल का पार्थक्य याद नहीं रहता । इसके सिवाय निम्नवर्त्ती मन और प्राणकण का अनुभव भी यहाँ नहीं रहता । इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र के सम्मुख नादस्थान है । यह मन्त्र महेश्वर-रूपी महापुरुषों द्वारा परिवृत्त है । नाद के अन्तर्गत भुवन-पंचक के बीच की शक्ति ऊर्ध्वगा नाम से प्रसिद्ध है । यहीं से शुद्ध चिद्‌बोध का सूत्रपात होता है । ब्रह्मरन्ध्र में नादान्त है । यह भी शून्यरूप में भावनीय है । कहा जा सकता है, नाद या चित् यहाँ सद्‌भाव में प्ररूढ़ है । ब्रह्मरन्ध्र है सुषुम्णा के ऊपर । ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर शक्ति-स्थान । यही ऊर्ध्व कुण्डली प्रसुप्त भुजगाकार तथा ऊर्णाचंचु जैसी प्रभावान् है । अन-उन्मिषित समग्र विश्व इसी के गर्भ में अवस्थित है—इसीलिए यह विश्वाधार है । सारे तत्त्व और भुवन इन्हीं को आश्रय करके विद्यमान रहते हैं । यहाँ एक अव्यक्त आनन्द का अनुभव होता है ।

इसके बाद व्यापिनी का अधिकार है । वास्तव में शक्ति के केन्द्र में स्थित कला ही व्यापिनी के नाम से परिचित है । परन्तु शक्ति से व्यापिनी पृथक् है । पृथ्वी तक समस्त शक्ति-तत्त्व का ही प्रपञ्च है । एक हिसाब से देखने पर शक्ति-तत्त्व ही अनाश्रित भुवन है, जिसमें व्यापिनी के बीच शिवतत्त्व है । अनाश्रित भुवन के

चारों ओर व्यापिनी, व्योमात्मिका, अनन्ता और अनाथा नामक शक्ति का अवस्थान है–बीच में अनाश्रिता शक्ति विराजमान है। कहना फिजूल है कि व्यापिनी भी शून्य-रूप में कल्पनीय है। किन्हीं-किन्हीं ने व्यापिनी को ही महाशून्य मान लिया है। लेकिन वास्तव में यह महाशून्य नहीं, इसके बाद भी शून्य है। यहाँ साकार और निराकार का भेद गायब है। यहाँ की अनुभूति एक अद्वय आत्मानुभूति के अंगीभूत है। व्यापिनी के बाद व्यापिनी पद अवस्थित है, अनाश्रित भुवन के ऊपर समना। यह ब्रह्मबिल के बाहर और अतीत मन का स्थान है। यहाँ मन नहीं है, मगर मन है। नादान्त से ही इस अतीत मन की सूचना मिलती है। सूक्ष्म समष्टि-मन नाद में ही परिव्याप्त होता है--उसके बाद ही अतिमानस है। समना ही सभी कारण-कर्त्तृभूता महेश्वर की पराशक्ति है। पूर्णब्रह्म की ईक्षण-शक्ति अवतरण के समय समना रूप में उतरकर समष्टि-मन में संचारित होती है। परमेश्वर सृष्टि आदि पाँच प्रकार के कृत्य समना में आरूढ़ होकर ही करते हैं। समना की दूसरी दिशा उन्मना है--यह अतीत मन से भी परे है। विकल्प-रहित केवल स्वरूप में आत्मा के अवस्थान का बोध यहाँ होता है। यह अमेय और अनिर्देश्य है। नव नाद में यही नवम नाद है। जिस नाद-समूह की सूचना बिन्दु में होती है, उन्मना में उनका अन्त है। यही वास्तविक महाशून्य है। श्रीमाता की करुणा के बिना इसका भेद नहीं किया जा सकता। इसके बाद अब शब्दब्रह्म नहीं अथवा शब्दब्रह्म ही परब्रह्म या अद्वैत आत्म-स्वरूप में स्वयं प्रकाश है।

जप की आनुषंगिक भावना से संसृष्ट छह शून्य और पाँच अवस्थाओं का थोड़ा-बहुत आभास दिया गया। अब सात विषुव की बात यथासम्भव संक्षेप में लिखने की कोशिश कर रहे हैं। विषुव-सप्तक का प्रचलित नाम इस प्रकार है--प्राणविषुव, मन्त्र-विषुव, नाड़ी-विषुव, प्रशान्त विषुव, शक्तिविषुव, कालविषुव और तत्त्वविषुव। प्राण, आत्मा और मन के पारस्परिक योग को प्राणविषुव कहते हैं। मन्त्रविषुव का तात्पर्य है अभिव्यज्यमान नाद को जापक की अपनी आत्मा मानकर भावना करना। मूलमन्त्र के द्वारा छह चक्र और द्वादश ग्रन्थि का क्रमशः भेद करने से मध्यनाड़ी में नादस्पर्श होता है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक बीज शिखरवर्त्ती नाद के उच्चारित होने से नाड़ीविषुवरूप स्पर्श उद्भूत होता है। नादान्त तक मन्त्रावयव की शक्ति से लय-भावना प्रशान्त विषुव नाम से अभिहित होती है। शक्ति-मध्यगत नाद के समना तक चिन्तन को शक्तिविषुव कहते हैं। यहाँ तक काल का खेल है; क्योंकि समना तक ही काल की सीमा है। वास्तव में नाद काल की सीमा के बाद भी है। कालातीत उन्मना तक नाद के चिन्तन को कालविषुव कहते हैं। उन्मना में काल नहीं है, पर वह भी परमतत्त्व नहीं है। काल-विषुव के बाद तत्त्वविषुव अंगीकृत होता है। नाद ही तत्त्व

का अभिव्यंजक है, लेकिन जबतक नाद का वास्तविक अन्त नहीं होता, तबतक तत्त्व-बोध नहीं होता। नादान्त तो दूर की बात, शक्ति में या समना में भी नाद का अन्त नहीं होता। शाक्त योगिगण उन्मना को भी नाद का अन्त नहीं कबूल करते। उन्मना के ऊपर—उन्मना को भेद करने के साथ-साथ—नाद लीन होता है। वैसे में तत्त्वबोध या आत्म-साक्षात्कार स्वभावतः होता है। इसलिए तत्त्वविषुव को ही चैतन्य का अभिव्यक्ति-स्थान कहना संगत है।

इसके बाद ही परम पद। यह छह शून्य, पाँच अवस्था और सात विषुव के कोलाहल से परे है—विश्व की परमविश्रान्ति और परमानन्द-स्वरूप। यही परमशिव की अवस्था है। तान्त्रिक योग में परमनिष्णात योगिगण कहते हैं, उन्मना तक सभी मन्त्रावयव १०८१७ बार उच्चारित होने से नाद का अन्त और तत्त्वज्ञान का उद्‌य होकर परम पद की प्राप्ति होती है। मन्त्रजप के साथ मन्त्र के अर्थ की भावना आवश्यक है—यह बात पहले कही गई है। अर्थज्ञान के बिना अर्थ-भावना हो नहीं सकती। शास्त्र में बहुत प्रकार के मन्त्रार्थ का विवरण मिलता है। उनमें से भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ और महातत्त्वार्थ—ये कई प्रधान हैं। किसी-किसी मत से १६ प्रकार के अर्थ का वर्णन भी मिलता है। मन्त्र के अवयवभूत अक्षर का अर्थ ही भावार्थ है। सर्वकारण-कारण पूर्ण परमेश्वर ही सभी मन्त्रों के मूल गुरु हैं। उनके मुख से स्वीय मन्त्र का उद्‌भव और उसका अवतरणक्रम या परम्परा का ज्ञान ही मन्त्र का सम्प्रदायार्थ ज्ञान है। परमेश्वर, गुरु और अपनी आत्मा के ऐक्य का अनुसन्धान ही निगमार्थ है। परमेश्वर निष्कल है, निरवयव—गुरु भी वही। निष्कल परमेश्वर को जो अपने आत्मारूप में साक्षात्कार करते हैं, वही गुरु हैं। इसलिए गुरु और परमेश्वर अभिन्न हैं। चक्र, देवता, विद्या, गुरु और साधक के ऐक्य का अनुसन्धान ही कौलिकार्थ है। मूलाधार-स्थित कुण्डलीरूपा विद्या ही साधक की स्वात्मा है—ऐसी भावना का नाम रहस्यार्थ है। निष्कल, अणु से अणुतर और महान् से महत्तर, निर्लक्ष्य, भावातीत, व्योमातीत, परम तत्त्व से प्रकाश के आनन्द-रूप में विश्वातीत और विश्वमय अपने गुरु-प्रबोधित निर्मल स्वभाव स्वकीय आत्मा का ऐक्य में अनुप्रवेश महातत्त्वार्थ है। इन सब अर्थ के विज्ञान के फलस्वरूप सम्यक् रूप से विकल्पजाल निवृत्त होता है।

इस देहरूप विश्व में अधः-ऊर्ध्वरूप में तीन स्तर हैं। पहला स्थूल या स-कल, दूसरा सूक्ष्म या स-कल-निष्कल और तीसरा कारण या निष्कल है। पहला स्तर अकुल से आज्ञाचक्र तक फैला है। सुषुम्णा नाड़ी के मूल का ऊपरी मुक्त रक्तवर्ण सहस्रदल-कमल ही अकुल पदवाच्य है। सुषुम्णा के शिखर का अधोमुख श्वेतवर्ण सहस्रदल भी एक प्रकार से वही है। दोनों के बीच में सुषुम्णा के मध्य में विभिन्न प्रकार का आधार-कमल गुँथा हुआ है।

दूसरे का विस्तार आज्ञा के ऊपर बिन्दु से उन्मना तक है ।

तीसरा महाबिन्दु है, जो उन्मना के अतीत और देश-काल द्वारा अपरिच्छिन्न है । इस त्रिभूमिक देहरूप विश्व में जो अधिष्ठाता होकर विराजते हैं, वह पूर्ण ब्रह्मरूपी आत्मा हैं । वह विश्वात्मक होते हुए भी विश्वातीत और विश्वातीत होते हुए भी विश्वात्मक हैं । जप-साधना में परमसिद्धि इस आत्मस्वरूप में सिद्धि-लाभ के सिवाय और कुछ नहीं ।

अजपा-साधन-रहस्य

बहुत प्रचीन समय से ही ग्राध्यात्मिक साधनों में जप की महिमा ने साधक-सम्प्रदाय में प्रसिद्धि पाई है। वास्तव में सब प्रकार के ग्राध्यात्मिक कर्म में जप का स्थान बहुत ऊँचा है। यज्ञ तरह-तरह के हैं ग्रौर प्रत्येक यज्ञ के ही एक-एक विशेष फल का निर्देश भी है। लेकिन जप-यज्ञ का माहात्म्य ग्रन्य यज्ञों से बहुत ग्रधिक है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है। वर्त्तमान सन्दर्भ में जप का तत्त्व ग्रौर फलाफल ग्रालोचना का विषय नहीं है, पर जप-साधना का जो चरम लक्ष्य है, उस ग्रजपा-जप के सम्वन्ध में महाजनों के पदांक का ग्रनुसरण करते हुए ग्रपने ग्रनुभव तथा बुद्धि के ग्रनुसार यथासम्भव संक्षेप में कुछ वातें कहने की चेष्टा करेंगे। जप के वास्तविक विज्ञान को नहीं जानते हुए भी जप के वारे में कमोवेश सामान्य ज्ञान बहुत-से साधकों को है। परन्तु ग्रजपा के सम्बन्ध में साधारणतः वहुतेरे ही लोग विशेष कुछ नहीं जानते। स्त्री ग्रौर पुरुष, वालक ग्रौर वृद्ध, भावुक ग्रौर भावहीन—सभी ग्रधिकारियों के लिए ही ग्रजपा-साधन की उपयोगिता है। विभिन्न युगों में, विभिन्न सम्प्रदायों में यह साधना विभिन्न नामों से परिचित रही है। ग्राध्यात्मिक साधना के क्रमिक इतिहास की ग्रालोचना करने से यह साफ ही समझ में ग्राता है।

एक ग्रोर से देखने पर यह जो ग्रत्यन्त ही सरल साधना है, इसमें कोई सन्देह नहीं। सच पूछिए तो कोई भी साधना इससे सरल नहीं हो सकती। मनुष्य के देह-धारण के बाद से ही ग्रर्थात् माता के गर्भ से भूमिष्ठ होने के समय से प्रयाण-काल तक, पूरे जीवन में जो स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास की क्रिया चलती है, उसको मूल भित्ति करके ग्रजपा-साधन ग्रनुष्ठित होता है। इसके लिए कोई खास उपकरण, कोई कृत्रिम प्रक्रिया, कोई विशेष ग्रनुशासन ग्रावश्यक नहीं होता। जानते ग्रौर ग्रनजाने, सभी समय श्वास-प्रश्वास जैसे चलता रहता है, श्वास-प्रश्वास से संश्लिष्ट ग्रजपा-क्रिया भी वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न ग्रौर सुषुप्ति—सभी समय समान रूप से चलती रहती है। यह क्रिया ग्रारब्ध होने पर यह चेष्टा या मनोयोग की ग्रपेक्षा किये विना ग्रपने-ग्राप निरन्तर चलती रहती है। ग्रतएव, एक प्रकार से यह जो बहुत ही सरल साधन है, यह समझने में कष्ट नहीं होता। परन्तु सरल होते हुए भी यह साधन बहुत निगूढ़ है ग्रौर इसका विज्ञानी एक गम्भीर रहस्य है। इसका फल दूसरी कृत्रिम साधना जैसा नहीं। निष्क्रिय परम सत्ता के हृदय को ग्राश्रय करके जो क्रिया

विश्व में निरन्तर चलती है, मनुष्य-देह में अजपा उसी की प्रतिच्छाया-भर है। यह स्वभाव की साधना है। प्रकृति में व्यष्टि-भूमि और समष्टि में समान रूप से इसका प्रभाव देखने में आता है। अजपा-विज्ञान को ठीक से समझ सकने से तत्त्वज्ञान का पूर्ण उदय अवश्यम्भावी है। यह साधना जैसी स्वाभाविक है, इसका फल भी वैसा ही स्वाभाविक है अर्थात् स्वभाव में स्थिति-लाभ।

बहुत प्राचीनकाल में भगवान् बुद्धदेव ने 'आनापानसत्ति' नाम से जिस साधना को अपने अन्तरंग भक्तों के बीच प्रचारित किया था, वह अजपा-साधन का ही एक अंग-मात्र लगती है। बाद के बौद्ध आचार्यों ने बहुत स्थानों में इसकी चर्चा की है और विस्तारपूर्वक इसका विश्लेषण भी किया है। गोरक्षनाथ तथा दूसरे नाथ योगिगण अजपा-साधन की महिमा को जानते थे—इस साधन में सिद्धिलाभ करके उन्होंने मुक्त कण्ठ से इसकी महिमा को उद्घोषित किया है। नाथ-सम्प्रदाय के साहित्य में बहुत स्थलों में अजपा-साधन के माहात्म्य का भूरि-भूरि प्रमाण मौजूद हैं। किंवदन्ती है कि महायोगी नानक साहब ने राजा शिवनाथ को अपने अधिकार के अनुरूप कई उपदेश दिये थे। इस उपदेश-परम्परा में पहले राम-नाम, उसके बाद प्रणव और सबसे अन्त में हंसरूप अजपा-मन्त्र का उल्लेख पाया जाता है। अजपा गायत्री, हंसविद्या, आत्ममन्त्र, प्राणयज्ञ[1] आदि विविध नामों से वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक साहित्य में यह साधन निर्दिष्ट हुआ है।

किन्हीं-किन्हीं का खयाल है, महाप्रभु चैतन्यदेव ने राय रामानन्द, स्वरूप दामोदर, शिखि माइती तथा उनकी बहन माधवी को, यानी अपने साढ़े तीन अन्तरंग भक्तों को इस साधना का गुह्य उपदेश दिया था। सन्त कबीर, महात्मा तुलसीदास आदि महाजनों की सिद्धि के मूल में इस साधना का अनुष्ठान मौजूद है—साधक-सम्प्रदाय में यह सुप्रसिद्ध है। वर्त्तमान युग में भी योगी गम्भीरनाथ, महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी, महात्मा राम ठाकुर आदि विशिष्ट साधकों ने इस साधन की महिमा स्थापित की है। श्वास-प्रश्वास से साधन कर पाने से जिस सहज उपाय से अत्यन्त दुर्लभ महातत्त्व का उन्मीलन होता है, उसे ये लोग बहुत स्थानों में प्रकट कर गये हैं। इनके भक्तों और शिष्यों ने भी अजपा-साधन के माहात्म्य के सम्बन्ध में बहुत-सी बातों का प्रचार किया है। सिद्ध जीवनीकार स्वामी ब्रह्मानन्द ने बारदी के

---

१ गीता के चतुर्थ अध्याय में 'अपाने जुह्वति प्राणम्' आदि वर्णन मिलता है। यही प्राणयज्ञ का स्वरूप है। श्रीधर स्वामी ने अपनी टीका में अजपा-साधन कहकर इसकी व्याख्या की है और कहा है कि तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ की ऐक्य-भावना ही अजपा-साधन का रहस्य है।

ब्रह्मचारी महायोगी लोकनाथ से इस साधन का उपदेश पाया था। इस सम्बन्ध में ज्यादा लिखना बेकार है।

यह साधन अनादिकाल से ही प्रचलित है। सदाशिव, ब्रह्मा, नारद, वशिष्ठ, ध्रुव, प्रह्लाद आदि ने भी यह साधन प्राप्त किया था—साधक-समाज में ऐसा प्रवाद है। वास्तव में तो अन्यान्य सभी प्रकार के साधनों की नाईं इस साधन के भी आदिगुरु श्रीभगवान् स्वयं हैं—इस सम्बन्ध में सन्देह की जरा भी गुंजाइश नहीं।

[२]

शिशु जब माता के गर्भ से बाहर आता है और जब उसका नाड़ीच्छेद होता है, उसी समय से उसके शरीर में श्वास-प्रश्वास की क्रिया देखी जाती है। माता के गर्भ में रहते समय गर्भधारिणी जननी से अलग शिशु का श्वास-प्रश्वास नहीं रहता। गर्भस्थ शिशु माँ के द्वारा लिये गये खाद्य से ही पुष्टिलाभ करता है और माँ के श्वास-प्रश्वास से ही उसकी देह का विकास होता है। परन्तु प्रसव के साथ-ही-साथ वैष्णवी माया उसे आक्रान्त करती है तथा वास्तव में उसी समय से वह कालराज्य में वास करना शुरू करता है। शिशु का जो पहला श्वास लेना है, उसका नाम जन्म है और उस साँस का अन्तिम त्याग ही मरण के नाम से प्रसिद्ध है। जन्म से मृत्यु के बीच की अवस्था उसका जीवन है। इसीलिए मनुष्य का पूरा जीवन ही श्वास-प्रश्वासमय है। आत्मविस्मृत अवस्था में मनुष्य श्वास-प्रश्वास के अधीन रहता है और काल की प्रेरणा से निरन्तर इड़ा और पिंगला नामक वायें और दायें मार्ग से संचरण करता रहता है। मूल में अविद्या का आवरण-रूप परदा नहीं रहने से विक्षेप-रूप श्वास-प्रश्वास की क्रिया नहीं रहती। वास्तव में तो श्वास-प्रश्वास काल का ही खेल है। हमलोग जिसे जीवन कहते हैं, वह काल या मृत्यु के ही अपने प्रकाश की महिमा है।

योगी कहते हैं, योग के पथ में नौ मुख्य अन्तराय हैं—ये सब चित्त के विक्षेप हैं। चित्त के विक्षेप के साथ-साथ ये मौजूद रहते हैं। इन नौ मुख्य अन्तरायों के नाम हैं—व्याधि, स्त्यान या चित्त की अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद या समाधि-साधन के अनुष्ठान का अभाव, भ्रान्तिज्ञान या मिथ्याज्ञान, समाधि की भूमि का प्राप्त नहीं होना और भूमि पाकर भी उसमें प्रतिष्ठित नहीं हो सकना। दुःख, इच्छा की अपूर्णता के कारण चित्त का क्षोभ, देह का कम्पन और श्वास-प्रश्वास—ये सब पूर्ववर्णित मुख्य अन्तराय के आनुषंगिक सहकारी हैं।

इस विवरण से समझ में आयगा कि श्वास-प्रश्वास मूल रोग नहीं, रोग के उपसर्ग-मात्र हैं। मूल रोग के जप के साथ-साथ श्वास-प्रश्वास भी आयत्त होता है। श्वास-प्रश्वास का मूल चित्त का विक्षेप है और विक्षेप का मूल प्रत्यक् चैतन्य की

अनुपलब्धि यानी साक्षात्कारात्मक ज्ञान का अभाव है। जिस उपाय से प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होता है, उसी के प्रभाव से श्वास-प्रश्वास-रूप काल का खेल भी शान्त हो जाता है। प्रणव-जप और प्रणव-वाच्य ईश्वर की भावना को योगियों ने आत्मज्ञान-लाभ का मुख्य हेतु मानकर स्वीकार किया है। प्रणव-जप के रहस्य को जानने से समझ में आता है कि अजपा-जप ही श्रेष्ठ जप है तथा दूसरे सारे ही जप चरम स्थिति में अजपा-जप में ही पर्यवसित होते हैं। यही मनुष्य का स्वाभाविक जप है।

[३]

एक अहोरात्र में मनुष्य के स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास की संख्या २१,६०० मानी जाती है। अवस्था-भेद से इसमें कुछ हेर-फेर होने पर भी यही साधारण नियम है। श्वास 'हं' ध्वनि करते-करते बाहर हो जाता है—इसका नाम प्रश्वास है, और यह फिर भीतर आता है 'सः' ध्वनि करते-करते—इसका नाम निःश्वास है।[1]

योगिगण कहते हैं, जीव श्वास-प्रश्वास के बहाने निरन्तर इस हंसमन्त्र का या अजपा गायत्री का जप करता है। जीवमात्र ही यह करता है, लिहाजा मनुष्य भी करते हैं, यह कहना ही फिजूल है। परन्तु इतर जीव से मनुष्य का अन्तर यह है कि मनुष्य अपने पुरुषकार के द्वारा ऐसा सामर्थ्य अर्जित कर सकता है, जिसके कारण श्वास-प्रश्वास की इस स्वाभाविक गति में विपर्यय सम्भव होता है। अर्थात् मनुष्य साधन के बल से 'हंसः' गति को 'सोऽहं' गति में बदल सकता है। ऐसे में आत्मज्ञान का रास्ता खुल जाता है तथा इड़ा-पिंगला में प्रवाहशील वायु की वक्रगति सुषुम्णा में सरल गति में बदल जाती है। सुषुम्णा ब्रह्ममार्ग है। इड़ा-पिंगला-मार्ग से आकृष्ट होकर वायु जिस परिमाण में सुषुम्णा में प्रवेश करती है, उसी परिमाण में विकल्प का उपशम होता है और निर्विकल्प आत्मज्ञान का बन्द द्वार धीरे-धीरे खुलना शुरू करता

१ 'हंकारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत् पुनः' यही साधारण मत है। पर राम प्रसाद के गीत में है—

'हं' वर्ण पुरके हय, 'सः' वर्ण रेचके रय
अहर्निशि करे जप हंस हंस बलिया।

यह अशास्त्रीय बात नहीं, बल्कि विरुद्ध बात है। क्योंकि श्रीधर स्वामी की गीता-टीका (४।३०) में उद्धृत योगशास्त्र के वचन में और योगबीज में (१३१) है कि 'सः' ध्वनि के साथ निर्गम और 'हं' ध्वनि के साथ प्रवेश होता है। जीव सदा हंसः मन्त्र का जप करता है। इसके बाद योगबीज में है—

'गुरुवाक्यात् सुषुम्णायां विपरीतो भवेत् जपः।
सोऽहं सोऽहं इति प्राप्तो मन्त्रयोगः स उच्यते ॥'

है। सुषुम्णा में प्रवेश किये विना वायु तथा मन की ऊर्ध्वगति सम्भव नहीं होती तथा ऊर्ध्वगति के विना विकार त्यागकर चित्त साम्य भाव में स्थिति-लाभ नहीं कर सकता। योगिगण जिसे कुम्भक कहते हैं, वह क्रमशः इस ऊर्ध्वगति के फलस्वरूप सिद्ध होता है। कुम्भक में वास्तव में गति नहीं होती, ऐसी बात नहीं। किन्तु वक्रगति छूटकर अन्तर्मुखी सरल गति की सूचना होती है। इन गतियों से अन्त में गतिहीन अवस्था का आभास मिलता है। जागतिक भाषा में हम जिसे प्राण-अपान का व्यापार कहते हैं, उसे ही योगी की भाषा में हंस-मन्त्र का उच्चारण समझना होगा।

इस प्रकार विषम गति के कारण के अनुसन्धान से यह जाना जाता है कि प्रकृति में ही इस वैषम्य का वीज निहित है। प्राण अपान को और अपान प्राण को निरन्तर खींच रहा है, परन्तु दोनों की स्वाभादिक गति परस्पर विरुद्ध है। प्राण जिधर संचारित होता है, अपान उसकी विपरीत दिशा में संचारित होता है। यदि वे अन्य-निरपेक्ष होते तो विरोध की कोई सम्भावना नहीं रहती। लेकिन ऐसा नहीं है। अपान के विना प्राण का नहीं चलता, इसीलिए प्राण अपान को चाहता है, उसे खींचता है, यद्यपि अपान विरुद्धवाही है। उसी प्रकार प्राण के विना अपान का नहीं चलता, इसलिए अपान प्राण को खींचता है। इससे यह बात साफ समझ में आती है कि वास्तविक साम्य अवस्था से च्युत होकर ही दोनों में विरुद्ध गति का उदय हुआ है। इसीलिए प्राण और अपान विरुद्ध संचारी होकर भी अविरुद्ध साम्यभाव में ही फिर से प्रतिष्ठित होना चाहता है। अवतक ऐसा नहीं होता, तवतक शान्ति की सम्भावना नहीं। वद्ध जीव इन दो खिचावों में पड़कर एक बार उठता है, एक बार गिरता है, वाम और दक्षिण-पथ में संचरण करता है—इसमें विश्राम नहीं। योगी का लक्ष्य है इन दो विरुद्ध गतियों में समन्वय-साधन करना।

इस वैषम्यमयी गति की दो दिशाएँ हैं। एक देहगत, दूसरी कालगत। श्वास नासापुट से बाहर की ओर प्रवाहित होता है और बाहर से वह भीतर की ओर लौटता है। इस वहिर्गति की एक सीमा है। साधारण अवस्था में नासापुट से बाहर वारह अंगुल तक यह वाह्य गति लक्षित होती है। आगन्तुक[1] कारण-विशेष से कभी एक ही व्यक्ति की श्वासगति में गति का कुछ तारतम्य होता है। उसी प्रकार प्रकृति के वैचित्र्य के कारण विभिन्न व्यक्तियों के श्वास की गति में भी कुछ-कुछ भेद

१. कहा गया है, भोजन और बात करने में बहिर्गति की वृद्धि छह से बारह अंगुल होती हैं, गमन में वृद्धि होती है बारह से चौबीस अंगुल। तेजी से दौड़ने पर तीस से बयालीस अंगुल तक वृद्धि होती है। सबसे अधिक वृद्धि होती है स्त्री-संग से—तिरपन से पेंसठ अंगुल।

रहता है। गति का विस्तार जितना अधिक होगा, बहिर्मुखता और काल का प्रभाव भी उतना ही अधिक समझना होगा। संयत जीवन के अभ्यास से इस गति का क्रमशः ह्रास होता रहता है। यह देहगत विषम गति का विवरण है।

कालगत वैषम्य दूसरे प्रकार का है। एक निर्दिष्ट काल की श्वास-संख्या से इस वैषम्य का परिचय मिलता है। श्वास से यहाँ पूरक और रेचक—दोनों ही समझना होगा। साधारण तथा संसारी स्वस्थ मनुष्य को पन्द्रह श्वासोच्छ्वास होता है, ऐसा माना जाता है। लेकिन यहाँ भी आगन्तुक कारणवश और प्रकृति-भेद से इसमें कुछ विलक्षणता नजर आती है। वह नगण्य है। संयम और अभ्यास से यह संख्या भी धीरे-धीरे कम होती है। यह श्वास-गति के काल की दिशा हुई। कहना बाहुल्य है, श्वास की बाह्य उन्मुखता और संख्या में परस्पर सम्बन्ध है। साधारणतः बाह्य गति बारह अंगुल होने से संख्या पन्द्रह होती है, ऐसा माना जाता है। योगाभ्यास या विशेष शक्ति के प्रभाव से बाह्य गति कम होने से संख्या भी उसके अनुपात से कम होती है। अर्थात् श्वास का देश-सम्बन्ध और काल-सम्बन्ध समान रूप से एक ही साथ शिथिलता प्राप्त करता है। बाह्य गति एक अंगुल घटने से संख्या सवा घटती है, दो अंगुल घटने से संख्या घटती है ढाई। अन्त में जब बाह्य गति का बारहो अंगुल शून्य में परिणत होता है, तो संख्या भी पन्द्रह से शून्य में पर्यवसित होती है। मतलब कि श्वास का देशगत और कालगत सम्बन्ध एक ही समय में विच्छिन्न होता है। इस अवस्था में श्वास का स्थूल संचार रुद्ध होता है और रेचक-पूरक-रूप व्यापार शान्त होता है। इसीका नाम है कुम्भक, जिससे पूर्ण समाधान का मार्ग खुलता है। यह समाधान ही स्थिति है। तभी पूर्ववर्णित विक्षेप का उपशम होता है, उससे पहले नहीं।

प्राण की बाह्यगति या संख्या के न्यून होने के साथ-साथ तरह-तरह की अलौकिकयों शक्तियों का विकास होता है। पहले कामना का त्याग होता है। प्राण की चंचलता से ही वासना पैदा होती है। प्राण का शान्त होना आरम्भ होते ही चित्त में धीरे-धीरे निष्काम भाव आता है। निष्काम भाव की अभिव्यक्ति के बाद आनन्द की अभिव्यक्ति स्वभाव-सिद्ध है। गीता में श्रीभगवान् ने कहा है—'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। शान्ति के उदय के बिना वास्तविक सुख का आविर्भाव नहीं होता। इसके बाद वाक्सिद्धि, दूरदृष्टि, आकाशगमन, यहाँ तक कि निर्वाण तक आयत्त होता है। यही शास्त्र का सिद्धान्त है।

साधना का उद्देश्य प्राण की बाह्य गति का उपशम है। जैसी चिन्ता और आचरण से बाह्यगति की वृद्धि होती है, साधन के क्षेत्र में वह वर्जनीय है। कम-से-कम इन सब विषयों में संयम का अभ्यास जरूरी है।

[४]

अजपा-साधन-तत्त्व और प्रक्रिया के सम्वन्ध में महाजनों ने गुरु-परम्परा-अनुसृत पद्धति के वशवर्त्ती होकर विभिन्न दृष्टिकोण से विभिन्न प्रकार का विवरण प्रकाशित किया है। साधक की योग्यता और अधिकारगत विशिष्टता की दृष्टि से विचार करने से समझ में आता है कि इनमें से प्रत्येक की सार्थकता है।

अजपा कुण्डलिनी से उद्भूत प्राणधारिणी प्राणविद्या-रूप में योगी-समाज में परिचित है। वाज जैसे ऊपर आससान में उड़ता हुआ होने पर भी गुणबद्ध रहने से नीचे पृथ्वी की ओर आकृष्ट होता है, वैसे ही प्राण और अपान की क्रिया के वशीभूत जीव ऊपर और नीचे की ओर गति-लाभ करता है। कोई-कोई आचार्य कहते हैं, 'तत्' पदवाच्य परमात्मा हंसविद्या के प्रथम अवयव 'ह'कार द्वारा वर्णित होते हैं और 'त्वं' पदवाच्य प्रत्यक् चैतन्य अथवा खेचरी बीज द्वितीय अवयव 'सः'कार द्वारा द्योतित होता है। प्राणिमात्र के हृदय में जो अव्याकृत् आकाश है, उसमें लिंगशरीर विद्यमान है। उसके प्रतिलोम भाव से हंस की गति होती है। शास्त्र में हैं—'सः-कारो ध्यायते जन्तुर्हंकारो जायते ध्रुवम्'। 'सः' अथवा जीव अपना जीवत्व-परिहार करे, तो सोऽहं शब्द का लक्ष्य प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न परमात्मा के सिवाय दूसरा कुछ नहीं। जो साधक अपनी आत्मा का ध्यान करता है, उसके लिए 'ह'कारात्मक परमात्म-भाव का पाना सुलभ होता है।

दूसरे मत से, हंस कहने से प्रत्यक् आत्मा अथवा व्यष्टि-तुरीय समझना होगा और परमहंस शब्द से परमात्मा अथवा समष्टि-तुरीय का बोध होता है। व्यष्टि-तुरीय और समष्टि-तुरीय के आपस में मिल जाने से हंसयोग निष्पन्न होता है। यही अजपा का तत्त्व है।

तीसरे मत से, साधक की प्रज्ञा और साधन-शक्ति के तारतम्य के अनुसार अजपा-तत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की दृष्टि अंगीकृत होती है। मन्दप्रज्ञ, मध्यप्रज्ञ, और उत्तम प्रज्ञ साधक की दृष्टि भिन्न है, यह नीचे लिखे विवरण से स्पष्ट ही समझ में आयगा। जिसकी ज्ञान-शक्ति उज्ज्वल नहीं है, जो अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व ग्रहण नहीं कर सकता, उसका नाम मन्दप्रज्ञ है। इस प्रकार साधक 'ह'कार के द्वारा पुरुष और 'स'कार के द्वारा प्रकृति—इन दो की धारणा करता है। अतएव उसकी दृष्टि से हंसयोग कहने से पुरुष और प्रकृति का योग समझा जाता है। परन्तु जिसकी प्रज्ञा उससे तीक्ष्ण है, यानी जो मध्यप्रज्ञ है, उसकी दृष्टि के अनुसार 'ह'कार अपान का और 'स' कार प्राण के संचार का बोध कराता है। मुख्य प्राण जव पराङमुख भाव से आवर्त्तित होता है, तो उसे प्राण के वजाय अपाब कहा जाता है। अतएव हंसविद्या का रहस्य मध्यम साधक की दृष्टि में प्राण और अपान के संयोग के अलावा और कुछ नहीं।

परन्तु जो साधक उत्तम प्रज्ञा-सम्पन्न है, उसकी दृष्टि और भी सूक्ष्म है। वह प्रकृति-पुरुष के सम्वन्ध या प्राण और अपान के सम्बन्ध को छोड़कर आत्मस्वरूप की ओर लक्ष्य करता है। यह साधक अजपा मन्त्र के पूर्वभाग 'अहं' को जीवात्मा एवं उत्तर भाग 'सः' को शक्तिवाचक कहकर धारणा करता है।

अधिकार चूंकि भिन्न है, इसलिए अजपा-जप का विधान भी भिन्न है। निम्न अधिकारी तालु, ओष्ठ आदि दैहिक उच्चारण-यन्त्र के व्यापार के द्वारा अजपा-जप करता है। ऐसे साधकों का चित्त पूर्णतया शुद्ध या शोधित नहीं है। इसीलिए वे देहगत क्रिया को आश्रय नहीं करके जप-साधन नहीं कर सकते। पर, जो मध्यम अधिकारी हैं, उनका चित्त-संस्कार अधिक है। इसलिए उन्हें अजपा-जप करने के लिए तालु आदि की कोई क्रिया आवश्यक नहीं होती। उनका अधिकार उच्च है, इसलिए उनका विधान भी भिन्न है। उनके लिए दैहिक उच्चारण का प्रयोजन नहीं रहने पर भी दूसरे प्रकार के अनुसन्धान की आवश्यकता है। उनको भावना करनी होती है कि अजपा मन्त्र का 'सः' अंश प्राणरूप में और 'हं' अंश अपान-वृत्ति रूप में अपनी देह में सदा अनुस्यूत है। 'हं' शव्द से अपान-वृत्ति का साम्यमूलक सम्बन्ध है। इसलिए 'हं'कार अपान-वृत्ति की सूचना करता है। उसी प्रकार 'सः'कार प्राण का वोध करांता है। 'सः' और 'हं' मन्त्र का यह दो भाग—प्राण और अपान वृत्ति-रूप में अपनी देह में सदा ही क्रिया करता है—निरन्तर ऐसा सोचना ही अजपा-जप है। जो साधक प्राण-अपान रूप में विद्यमान इस मन्त्र को गुरुमुख से अधिगत करता है, वह 'अजपन्नपि' अर्थात् तालु आदि का व्यापार नहीं भी करे तो उसमें प्राण-अपान-रूप मन्त्र अनुस्यूत रहता है। इसलिए उसका सदा ही जप होता है। इसलिए इस हंस-मन्त्र को अजपा-विद्या कहते हैं। वाचिक जप की अपेक्षा अनुसन्धान-रूप यह जप अधिक प्रबल है एवं अधिक फलप्रद है। फिर भी इस जप के साथ आस्तिक्य-भाव, गुरुभक्ति, श्रद्धा आदि सद्गुण का समावेश रहने से वल अधिक होता है। यह हुई मध्यम अधिकारी की वात। पर, उत्तम अधिकारी के लिए अजपा का विधान दूसरे प्रकार का है। कहना नहीं होगा, उच्च अधिकारी का चित्त श्रवण, मनन आदि के अभ्यास से वहुत ही विशुद्ध होता है। इस प्रकार के साधक धारणा करते हैं कि अजपा-मन्त्र का पूर्वभाग 'अहं' जीव को समझाता है, जो जाग्रत् प्रभृति विभिन्न अवस्थाओं का साक्षी है। अपने को सुखी अथवा दुःखी अनुभव किया जाता है, इससे समझ में आता है कि 'अहं' पदार्थ जीव का वाचक है। पर मन्त्र के उत्तरभाग में जो 'सः' पद है, वह इनके मत से शक्ति का वाचक है। यह शक्ति वास्तव में विश्व के कारण परमेश्वर का दूसरा नाम है। अतएव, संसारी रूप में प्रतीयमान 'अहं' ही वास्तव में 'सः' अथवा परमात्मा है। यही अजपा-जप का तात्पर्य है।

[५]

योगी-समाज में अजपा-प्रक्रिया के बारे में और भी बहुत विधान देखने में आता है। उनमें से कोई-कोई श्रुति आदि शास्त्रग्रन्थ में निबद्ध है। उदाहरण के तौर पर दो-एक का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है–

इस मत से सबसे पहले केवल कुम्भक के द्वारा ऐसी एक अवस्था प्राप्त करनी है, जब रेचक और पूरक कुछ भी नहीं रहता। इस समय श्वास-प्रश्वास का वेग शान्त रहता है। इस अवस्था में नाभिकन्द में प्राण और अपान के साम्य की प्रतिष्ठा होती है। इधर सहस्रदल कमल से निरन्तर जो अमृतधारा झरती रहती है, उस समय उसके पान का अवसर आता है। प्राण की चंचल अवस्था में उस अमृत को पान करने की सम्भावना नहीं। योगी जब प्राण और अपान की समता प्राप्त करके शान्ति में अवस्थित होता है, और पूर्ववर्णित अमृत को पाता है, तब उसका कर्त्तव्य है, स्वयं उस अमृत का पान नहीं करके उसके द्वारा नाभि-स्थित ज्वलन्त महादेव का अभिषेक करना और साथ-ही-साथ हंस-हंस कहकर हंस-मन्त्र का आवर्त्तन करना। इस उपलक्ष्य में देह में प्रत्यक्ष यज्ञ करने की आवश्यकता होती है। यह आध्यात्मिक सूर्य-ग्रहण है। देहतत्त्वविद् योगी जब देह में उत्तरायण और दक्षिणायन नामक दो अयन और विषुव का दर्शन करते हैं, तो वे देह में रहकर ही सकल और निष्कल-बिन्दु का साक्षात्कार-लाभ करते हैं। प्राण इड़ा से पिंगला में संचरण करता है और पिंगला से इड़ा में लौटता है। यह उत्तरायण और दक्षिणायन नाम से प्रसिद्ध है। प्राण के मूलाधार में प्रवेश एक विषुव और उसके मस्तक में प्रवेश और एक विषुव। विषुव कहने से ठीक उस अवस्था से मतलब है, जिसमें दिन और रात का साम्य प्रकाशित होता है, देह में भी इन दोनों बिन्दुओं में साम्य प्रकाशित होता है। इसीलिए इन्हें विषुव कहते हैं। योगी का कर्त्तव्य है सहित (मन्त्रयुक्त) अथवा केवल (मन्त्रहीन) प्राणायाम के द्वारा अर्थानुसन्धान करके प्रणव और हंस-मन्त्र का उच्चारण करना; प्रणवार्थ जो हंसरूप है, उसका सोऽहं रूप में अनुसन्धान करना। यह ऐक्य-अनुसन्धान ही नमस्कार-योग का रहस्य है। अजपा का तात्पर्य इसी में निहित है। इसके बाद मुद्रा-धारण आप ही होता है। इस मुद्रा को चिन्मुद्रा कहते हैं। प्रचलित भाषा में इसीका नाम शाम्भवी या खेचरी मुद्रा है। इस मुद्रा का तात्पर्य यह है कि अपने से भिन्न और कुछ नहीं है, इस बोध में स्थिति। आत्मा के अर्चन की प्रशस्त पद्धति है सर्वदा 'सोऽहमस्मि' रूप में मग्न रहना। इसका नाम प्रत्यक्ष याग है। इस समय प्राण पिंगला-मार्ग से कुण्डलिनी-स्थान में प्रवेश करता है। यही आध्यात्मिक सूर्यग्रहण है।

उपनिषद् में हंसयोग या अजपाऽसाधन का विवरण दिया गया है। इस योग के प्रभाव से प्रत्यगात्मा और परमात्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है। यही हंस-ज्ञान है।

जो योगी इस पद्धति के अनुसार अजपा-साधन में अग्रसर होते हैं, उन्हें पहले सिद्धासन पर बैठकर वाम गुल्फ के द्वारा गुदस्थान को आवेष्टन करके क्रिया करनी होती है। इस प्रकार मूलाधार में वायु संचित होती रहती है। इसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार आकुंचन-क्रिया के द्वारा मूलाधार से उस वायु को उठाना पड़ता है। यहाँ तक क्रिया सिद्ध होने पर प्राण और अपान का साम्य-स्थापन करना आवश्यक होता है। प्राण और अपान के साम्य भाव में आने पर मूलाधार-स्थित त्रिकोण में जो अग्नि है, उसे उठाकर प्राण और अपान के साथ जोड़ने से ही कुण्डलिनी-शक्ति जाग उठती है। कुण्डलिनी के जागने वाद उस जाग्रत् कुण्डलिनी के द्वारा ब्रह्मग्रन्थि को भेद करना होता है। इस ग्रन्थि का भेद नहीं होने तक षट्चक्र का प्रथम चक्र के मूलाधार में अर्थात् चतुर्दल दल में प्रवेश करने का सामर्थ्य ही नहीं आता। कमल में प्रवेश करके, उस कमल में जो एक बिन्दु या तुरीय भूमि है, उसका ध्यान करना होता है। उस ध्यान से ऊर्ध्वगति उत्पन्न होती है। तब षट्दल-स्वाधिष्ठान-चक्र की तीन बार प्रदक्षिणा करके दशदल-मणिपुर में गमन करना होता है। उस समय फिर ग्रन्थिभेद की आवश्यकता होती है। इस ग्रन्थि का नाम विष्णु-ग्रन्थि है। यह अनाहत चक्र के नीचे अवस्थित है। इसको भेद नहीं कर पाने से हृदय-चक्र में प्रवेश नहीं किया जा सकता। हृदय में प्रवेश करके पहले की तरह चक्रस्थ मध्यबिन्दु में तुरीय ध्यान आवश्यक होता है। यह सूत्रात्मा का ध्यान है। इस समय सविकल्प समाधि का उदय होता है। अनाहत को अतिक्रम करके विशुद्ध चक्र में प्रवेश करने के मार्ग में स्तनवत् लम्बमान दो मांस-खण्ड दिखाई देते हैं। उस समय पास के दोनों पथों को छोड़कर मध्यपथ से विशुद्ध में प्रवेश करना होता है। वहाँ प्राण निरुद्ध होता है। इसके बाद तुरीय या अन्तिम ग्रन्थि को भेद करके आज्ञाचक्र में उठना चाहिए। इस ग्रन्थि का नाम रुद्रग्रन्थि है। यह आज्ञाचक्र के नीचे अवस्थित है। आज्ञा में प्रवेश करने के बाद वहाँ के बीज या तुरीय का ध्यान जरूरी है। यहाँ तक के मार्ग को पार कर लेने पर योगी चन्द्र, सूर्य और अग्नि—इन तीन तेजों अथवा तीन बिन्दुओं को मिलाने में समर्थ होता है। उस समय इन तीन तेजों में पार्थक्य नहीं रहता। तीनों के मिलने से एक महातेज का विकास होता है। इसके फलस्वरूप सहस्रार से झरते हुए अमृत के आस्वादन का अधिकार उत्पन्न होता है। तब योगी अजर और अमर पिण्ड-लाभ करके सहस्रार-शोभी ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। वहाँ तूर्य या तूर्य-तूर्य का अपरोक्ष दर्शन होता है। तूर्य कहने से चतुर्थ समझा जाता है। जिस पर तीन मात्राएँ आरोपित होती हैं, उसीका नाम तूर्य है। जब इस अवस्था का अनुभव होता है, तो अपनी त्रिमात्र-रूप में प्रतीति होती है। परन्तु तूर्य-तूर्य में मात्रा लुप्त हो जाती है। यही अमात्र परिस्थिति है। यह साक्षात्कार

क्षणिक न होकर सदाकालीन होना आवश्यक है। तूर्य में कुछ साकार भाव रहता है । किन्तु तूर्य-तूर्य में साकार भाव विलकुल नहीं रहता। यह प्रतिद्वन्द्वीहीन एक और अद्वय है। परमहंस-अवस्था इसी का दूसरा नाम है। तूर्य-तूर्य के स्वगत अंश से तूर्य उद्भूत होता है। योगिगण इसको कोटि सूर्य की नाईं देदीप्यमान कहते हैं। परन्तु सच तो यह है कि इसका वर्णन नहीं हो सकता। ऐसा वर्णन तूर्य से अभिन्न मानकर किया जाता है। वास्तव में यह वर्णन के अतीत है।

[६]

अजपा आत्ममन्त्र है, यह पहले ही कहा गया है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं में जीवात्मा वास्तव में परमात्मा से अभिन्न है—यह महातत्त्व ही इस मन्त्र का प्रतिपाद्य है। इस मन्त्र के ऋषि हैं—ब्रह्मा, छन्दः, गायत्री, देवता, आत्मा, शक्ति 'स' और बीज 'ह'। इस मन्त्र के दो भाग हैं—एक शक्ति, दूसरा बीज। इसलिए यह शिव-शक्ति-घटित है।

विद्या या संविद्रूपिनी शक्ति ही मन्त्रात्मा 'स'कार का वाच्यार्थ है। उसी प्रकार उक्त शक्ति का प्रतिपाद्य निष्कल परशिव ही 'ह'कार का प्रतिपाद्य है। शब्दात्मक शक्ति और बीज, अर्थात् 'स' और 'ह' इस स-कल और निष्कल स्वरूप का ही प्रतिपादन करता है। सत्य ज्ञान आदि लक्षण निरुपाधिक स्वप्रतिष्ठ अन्तरात्मरूपी चैतन्य ही परशिव है। 'अहं' शब्द अन्तरात्मा या प्रत्यगात्मा का वोध कराता है, इसलिए उसके द्वारा परशिव का ही प्रकाश होता है। ये शिव-स्वरूप अपनी माया के द्वारा जव आप ही अपने प्रतियोगी या प्रतिद्वन्द्वी का उद्भावन करते हैं तो वह प्रतियोगी उनका द्वितीय होता है और उसे शक्ति कहते हैं। अजपा-मन्त्र में जो 'सः'कार है, वह इसी शक्ति का वोध कराता है। यह मन्त्र इसलिए शिव और शक्ति-उभयात्मक है; क्योंकि 'ह' पुरुष का और 'स' प्रकृति का वाचक है। प्रपञ्चसार में भगवान् शंकर ने कहा है—

हकारः पुरुषः प्रोक्तः स इति प्रकृतिर्मता।
पुं-प्रकृत्यात्मको हंसः तदात्मकमिदं जगत्॥

शिव शक्त्यात्मक अर्द्धनारीश्वर अर्थात् शक्ति-युक्त परमेश्वर निरन्तर उस परशिवस्वरूप का ध्यान करते हैं और वह मन्त्र जपते हैं।

[७]

द्वादशदल हृत्-कमल में चार दल से श्वास-प्रश्वास का कोई सम्वन्ध नहीं होता—हंस उन चार दलों को स्पर्श नहीं कर सकता है। प्राण-अपान उपाधियुक्त जीव का ही यहाँ 'हंस' कहकर उल्लेख किया गया है। यह हंस यद्यपि उन चार दलों का स्पर्श नहीं करता, मगर यह बाकी आठ दलों में निरन्तर भ्रमण करता

रहता है। जीवों के चित्त में हर क्षण नाना प्रकार के भावों का उदय होता है, यह सभी जानते हैं। आपाततः विना कारण के ये भाव चित्त में निरन्तर क्यों उठा करते हैं, अज्ञान से आच्छन्न जीव उसका वास्तविक कारण नहीं बता सकता। विशेषज्ञों का कहना है, ये भाव या विकल्पराशि संख्या में अनगिनत हैं, फिर भी स्थूल दृष्टि से आठ श्रेणियों में विभक्त हो सकती हैं। योगिगण कहते हैं, भ्रमण-काल में जीव जब जिस दल का स्पर्श करता है या जब जिस दल में प्रविष्ट होता है, तब उसके अनुरूप ही भाव उसके चित्त में उदित होता है। यह जानना है कि पूर्व ओर के दल से ईशान कोण के दल तक कुल आठ दल हैं। शास्त्रकारगण और अनुभवसिद्ध महाजनगण दल-विशेष के साथ भाव-विशेष के सम्बन्ध का सूक्ष्म रूप से निरूपण करके व्याख्या करते हैं। इस विषय में किसी-किसी से कुछ मतभेद का अवसर देखने में आता है। भाव और रस के साधकों ने इस विज्ञान का अनुसरण करके अपनी-अपनी साधन-पद्धति की रचना की है। दल और कर्णिका—कमल में ये दो प्रधान अंश हैं। वायु जब दल में संचरण करती है, तो चित्त चंचल और बहिर्मुख रहता है। उस समय वासना आदि का प्रभाव तीव्र भाव से अनुभूत होता है, पर अगर वायु दल को त्यागकर मध्य विन्दु या कर्णिका में प्रवेश करती है, तो अपने से अतिरिक्त विषय अर्थात् बाह्य विषय में वैराग्य उपजता है। केशर में वायु के सम्बन्ध से जाग्रत् दशा का विकास होता है। उस समय अहंकार पूरी तरह कार्य करता है। वायु के कर्णिका में प्रवेश करने पर अहंकार अर्द्ध-विकसित अवस्था में परिणत होता है। यही स्वप्न-दशा है। विन्दु या कर्णिका के अन्तःस्थित शून्य में वायु के प्रवेश करने से सुषुप्ति-दशा का उदय होता है। उस समय अहंकार नहीं रहता। इसे भी यानी इस शून्य को भी पार करना पड़ता है। तब फिर कमल से सम्बन्ध नहीं रहता। उस समय की अवस्था का नाम तुरीय है। यही साक्षात्कार की अवस्था है। उस समय हंस प्रत्यगात्मा के साथ अभिन्न परमात्मा के स्वरूप में प्रकाशित होता है। हंस के ऊपर नाद की क्रिया रहती है। उसके कारण मन धीरे-धीरे अपने को खोता रहता है। चरम अवस्था में उन्मनी भाव का उदय होता है। यह तुरीयातीत अवस्था है। यह तुरीयातीत स्थिति भी स्वाधिष्ठान और निरधिष्ठान—दो तरह की है। स्वाधिष्ठान-स्थिति में देह रहती है, पर त्रिताप की पीड़ा नहीं रहती। इस अवस्था में नाद या अर्द्धमात्रा रहती है। पर जब देह नहीं रहती, तो नाद भी नहीं रहता—उस समय नाद प्रत्यगात्मा के साथ अभिन्न परमात्मा में या हंस में लीन होता है। यह प्रतियोगी-हीन अद्वैत ब्रह्म-अवस्था है।

श्वास-प्रश्वास ही आत्ममन्त्र है। निःश्वास 'सः'कार या त्वं पदार्थ एवं उच्छ्वास विन्दु-सहित आकाशबीज 'हं'कार है। यह तत् पदार्थ है। पुनः-पुनः इन

दोनों का योग ही मैं है । इसीका नाम है 'तत्त्वमसि' । यही अजपा के स्वरूप का रहस्य है ।

[८]

अजपा-साधन के सम्वन्ध में बहुत-सारी वातें कही गईं । परन्तु इस साधना का व्रती हुए विना इसका रहस्य सहज में बोधगम्य नहीं होता । जप की संख्या नहीं रखने से ही जो अजपा होता है, वास्तव में वात ऐसी नहीं, या कि संख्या विना रखे श्वास-प्रश्वास के साथ जप करने से ही अजपा होता है, ठीक यह भी नहीं । वाचिक, उपांशु, अथवा मानसिक, जिस किसी क्रम में बद्ध रहने से भी अजपा नहीं होता । मगर हर साधन-क्रिया का ही कोई-न-कोई फल अवश्य होता है । शास्त्र के अनुसार महाजनगण नाम का 'चैतन्य-रसविग्रह' और 'चिन्तामणि' के रूप में वर्णन करते हैं । यह बहुत सही है । नाम सिर्फ लौकिक आकाश-धर्म शब्द-मात्र ही नहीं । वह चेतन तथा पूर्ण जीवनी शक्ति-सम्पन्न है । वह भगवान् के अनुग्रह या गुरु की कृपा से अपने वल पर ही चलता रहता है । श्वास-प्रश्वास की नाईं वह वाक्यन्त्र को आश्रय करके भी अपनी शक्ति से ही काम करता है । अहंकार-विमूढ़ जीव अपनी चेष्टा या अपनी इच्छा से भगवान् के जाग्रत् नाम का जप नहीं कर सकता है; क्योंकि चिन्मय नाम स्वतन्त्र है । सद्‌गुरु का अनुग्रह-प्राप्त साधक केवल द्रष्टा होकर इस प्रकार के नाम का खेल देखता रहता है । और, श्रोता होकर निरन्तर उसका अनुगमन करता है । अजपा का यही रहस्य है कि स्वभाव से ही क्रिया होती है—स्वयं को कुछ नहीं करना पड़ता । स्वयं क्रिया की पृष्ठभूमि में रहकर सिर्फ खेल के द्रष्टा के रूप में अवस्थान करता है ।

इसलिए सद्‌गुरु द्वारा शक्ति-संचार सबसे पहले ही आवश्यक है । अवश्य यह बाहर से भी हो सकता है और सौभाग्य हो तो भीतर से भी हो सकता है । इसके सिवाय, जितना सम्भव है, मन से पृथक् रहकर प्रकृति का खेल देखना चाहिए । कल्पना मन का धर्म है, इसलिए उसका सब प्रकार से वर्जन करना चाहिए । सत्य स्वयं प्रकाश है, वह अपने आलोक में आप ही प्रकाशित होता है । मन या कल्पना-शक्ति उसे ढँका हुआ-सा या खण्डित-सा करके रखती है, बस । श्वास-प्रश्वास जैसा स्वाभाविक है, उसके साथ नाम गुँथा रहने से वैसी ही उसकी क्रिया भी स्वाभाविक होती है । कोई-कोई जप के द्वारा प्राण की नियन्त्रण-क्रिया का भी अभ्यास करते हैं । प्राण को नियन्त्रित करने से ही बद्ध प्राण को मुक्त प्राण-रूप में परिणत करना सम्भव होता है । काँटे से जैसे काँटा निकाला जाता है, वैसे ही प्राण को बद्ध करने से ही अवाधित मुक्त प्राण का पता मिलता है । प्राणायाम की यह जो क्रिया है, उससे देहात्म-बोध सहज ही कट जाता है और बाहरी स्मृति तथा देह का संस्कार

लुप्त होता है। उस समय चैतन्यमय प्रवाहशील एकमात्र नाम का अस्तित्व अनुभूत होता है। उस प्राण के नियन्त्रण के अन्तर्गत भाव से नवद्वार को बन्द करना पड़ता है। एक बार प्राण-वायु के अन्तर्मुख आकर्षण के बाद साधारण वायु के अन्तः-प्रवेश को बद्ध करना होता है। नाम के जीवन्त प्रवाह में मन को संलग्न तथा अपने सामर्थ्य के मुताबिक उस अन्तराकृष्ट वायु को धारण करना होता है। बाह्यजगत् का संस्कार और देहात्मबोध के लुप्त हो जाने से आध्यात्मिक मार्ग का प्रधान प्रतिबन्धक दूर हो जाता है।

पूछा जा सकता है कि श्वास-प्रश्वास जब विक्षेप-रूप में परिगणित होता है, तो श्वास-प्रश्वास को आश्रय करके नाम-साधना की सार्थकता क्या है? उत्तर यह है कि श्वास-प्रश्वास विक्षेप है, यह सही है और जिस स्थान में जाकर स्थिति लेनी होगी, वह श्वास-प्रश्वासहीन है—मन की चंचलताहीन, सुशान्त, परमस्थान है। उस परम स्थान में कुम्भक की अवस्था में प्रवेश प्राप्त होता है। अपने स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास को अवलम्बन किये विना उस स्थान में स्थिति-लाभ नहीं। ज्ञानेन्द्रिय के द्वार को रुद्ध नहीं करने से कुम्भक हो ही नहीं सकता। क्योंकि इन्द्रियों का द्वार खुला रहने से मन की चंचलता अनिवार्य है। उसके साथ-साथ प्राण की चंचलता भी स्वाभाविक है। ज्ञान का द्वार निरुद्ध होने से बाहर की स्मृति लुप्त होती है और स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास भी अस्वाभाविक और अशान्तिकर लगता है।

कोई-कोई महात्मा अजपा के सम्बन्ध में कहते हैं कि कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण होने से तालुमूल से नाभि तक एक आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया का अनुभव होता है। वह अवस्था नहीं होने से प्रकृत अजपा क्रिया नहीं हो सकती।

[६]

हम साधारणतया मन के साथ घनिष्ठ रूप से जड़ित हैं। वास्तव में मैं जो मन से पृथक् है, मन का साक्षी और मन का नियामक है, यह हम सदा भूले रहते हैं। इसके फलस्वरूप मन से अपना-अपना तादात्म्य अर्थात् अभेद भाव बहुत ही गाढ़ा हो जाता है, इसीलिए बहुत बार कार्यक्षेत्र में मन ही मैं हो बैठता है। ऐसी अवस्था में इन्द्रिय के कार्य के साथ मन लिप्त हो जाता है—वह इन्द्रिय का नियन्त्रण नहीं कर सकता। वैसे में अभिमान जग उठता है अर्थात् कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व भाव उदित होता है। हम स्वयं कर्म के कर्त्ता बनते हैं, इसलिए सुख-दुःख का भोगरूप बोझ खुद को ही ढोना पड़ता है। सांसारिक बद्ध जीवन का यही स्वरूप है।

लेकिन मन से अपने को कुछ विविक्त कर पाने से मन भी इन्द्रिय-व्यापार से विविक्त हो सकता है। इन्द्रिय-व्यापार के साथ प्राण के खेल का सम्बन्ध है। ज्ञान का व्यापार भी प्राण का खेल है, कर्म का व्यापार भी प्राण का खेल है। प्राण ही विश्व के

रंगमंच पर खेला करता है—यही प्रकृति का खेल है। मन अगर तटस्थ होकर यह खेल देखता है तो ठीक होता है। परन्तु साधारणतः वैसा नहीं होता। खेल देखकर मन खुद ही खेलना शुरू करता है। पर, अज्ञान के प्रभाव से खेल का भाव ढँक जाता है अर्थात् स्वयं कर्त्ता बनकर अभिनय करता है। साक्षी-भाव से दर्शन नहीं करता। इसीसे रस भी नहीं पाता। प्राण खेलता है, उसके संसर्ग में मन भी खेलता है। मन की अशान्ति या चंचलता का यही रहस्य है।

सारी अशान्ति का मूल कारण यह है कि मैं द्रष्टा नहीं। मैं के द्रष्टा होने से ही मन विना चेष्टा के ही निष्क्रिय हो जायगा। मन तब स्वच्छ और निर्मल रहता है। तब उसमें प्राण का खेल आरोपित होता है। उस खेल में मन भाव का आरोप करता है—मैं द्रष्टा होकर उसे देखता हूँ। मन सत्त्वस्वरूप है, उसमें से देखने पर आत्मा का तटस्थ भाव अक्षुण्ण रहकर भी आत्मा अभिनेता-अभिनेत्री से अपना भेद भूल जाती है, यानी उन्हें अपना किये लेती है, यद्यपि खुद प्रेक्षक ही रहती है। मन के मध्यस्थ नहीं रहने से ऐसी स्थिति नहीं हो सकती।

यह जो मन की बात कही गई, वह शुद्ध मन या शक्ति है। परमात्मा के लिए जो शक्ति है, जीवात्मा के लिए वही मन है। शुद्ध मन योगमाया की परिणति है और अशुद्ध मन मलिन माया की परिणति है—करना और कराना, देखना और दिखाना—सर्वत्र ही इसकी आवश्यकता है।

खेलते हैं प्राण, प्रकृति (शुद्ध और अशुद्ध)। अब यह आवश्यक है कि मन जिसमें वह खेल देखे अर्थात् मैं स्वयं साक्षी रहकर भी शुद्ध मन के योग से जिसमें वह देखूँ। साक्षी रहे विना शुद्ध मन को पाने का कोई उपाय नहीं। उस समय जो पाया जाता है, वह मलिन मन है, जो खेल से जुड़ जाता है और साथ-साथ मुझे भी जड़ित करता है। मन को बाद देने से भी आत्मा द्रष्टा ही रहती है, पर उस अवस्था में जो कुछ देखती है, अपने से पूर्णतया अभिन्न देखती है। उससे लीला-दर्शन नहीं होता। यद्यपि मूल में वही अपने को आप ही देखना अवश्य रहता है, फिर भी लीला-दृष्टि में कुछ भेद रहना जरूरी है। इसीलिए, रसास्वादन के लिए स्वच्छ मन अनिवार्य है। यह मन वैसे में दर्पण होता है, जिसमें स्वभाव का खेल प्रतिबिम्बित देखा जाता है। इसीका नाम भाव का खेल है। शुद्ध मन को छोड़ने से भावातीत स्थिति पाई जा सकती है। उसमें रसास्वादन नहीं रहता—रहती है केवल अनन्त और अबाधित आत्मदृष्टि।

मनोमय या सत्त्वमय स्तर में ही खेल होता है, देखती है आत्मा। यह खेल अनन्त है—देखते-देखते देखने का अन्त नहीं मिलता। और फिर देखते-देखते विक्षोभ भी आता है। तब भावातीत स्थिति होती है। जो साक्षी हैं, वे रहते हैं विश्राम के

साक्षी। जो विश्राम के साक्षी हैं, खेल के साक्षी भी वही हैं। विश्राम के साक्षी निकुंज-विहार के द्रष्टा एवं खेल के साक्षी कुंजलीला के द्रष्टा हैं। साक्षी लेकिन एक ही।

आत्मा भाव-रंजित होकर खेल देखती है। अर्थात् सहृदय नहीं होने से खेल देखकर रस का अनुभव नहीं होता। उसके अपने लिए कोई खेल ही खेल नहीं। आत्मा भाव-रंजित होकर विशुद्ध द्रष्टा के रूप में मन को देखने से मन निष्क्रिय होगा, इसलिए प्राण का खेल फिर उस समय नहीं रहेगा।

हमलोगों के श्वास-प्रश्वास का प्रवाह इस प्राण का खेल है। निरन्तर ऊपर-नीचे यह खेल चलता है। शिव से शक्ति तक और फिर शक्ति से शिव तक यह प्रवाह चलता है। शिव-शक्ति के विच्छेद या विरह के समय दोनों में व्यवधान रहता है। तभी यह प्रवाह चलता है। श्वास की क्रिया इसी का नामान्तर है। जब शिव-शक्ति का मिलन संघटित होता है, तब यह प्रवाह नहीं रहता——श्वास की क्रिया भी नहीं रहती, एक परम शान्त भाव में स्थिति होती है।

शिव-शक्ति के विच्छेद की अवस्था में आत्मा मन में एवं मन प्रकृति में या प्राण में जड़ित रहता है। आत्मा स्व-वल से द्रष्टा होकर मन को यदि दृश्य करे तो मन भी तटस्थ होकर प्राण के खेल को देख सकता है। इसलिए मन को श्वास की गति के निरीक्षण-कार्य में लगाना चाहिए और खुद मन की पृष्ठभूमि में नीरव होकर अवस्थान करना चाहिए। साधारणतया मन श्वास के और प्राण के साथ संचालित होता है। इसीसे श्वास चलता है। पर मन जब श्वास के संग न चलकर उसकी गति का निरीक्षण करता रहता है, तो मैं भी उदासीन होता हूँ और साथ ही श्वास की गति में भी मन्दता आ जाती है।

इसकी भी एक परावस्था है। वह अद्भुत रहस्य है। जब शिव-शक्ति का मिलन होता है, जब प्राण और अपान का योग होता है, जब वायु स्तम्भित होती है, मन स्तम्भित होता है, समग्र विश्व स्तम्भित होता है, काल की गति निरुद्ध होती है, परम शान्ति का उदय होता है, तब उस महास्थिति में भी अन्दर-ही-अन्दर एक व्यापार चलता रहता है। यह हंस-अवस्था से परमहंस-अवस्था में उन्नयन है। इसी को आत्मरमण कहते हैं। यह आप अपने से विहार है। दूसरा कुछ तो उस समय होता नहीं, शिव-शक्ति मिलित होते हैं। मिलित होने पर भी उसमें अन्तः-क्रिया है। यह शिव और शक्ति का परस्पर अनुप्रविष्ट स्वरूप है। यह बहुत ही गुप्त है। आगम कहते हैं, यह अनुत्तर अक्षररूपी परमेश्वर अपने अंगभूत और निखिल प्रपञ्चमयात्मक विमर्श-शक्ति में अनुप्रविष्ट या प्रतिबिम्बित होता है, उसके बाद वह विमर्श-शक्ति अपने अन्तःस्थित प्रकाशमय प्रतिबिम्ब में अनुप्रविष्ट होती है। आत्माराम अवस्था का यही पूर्वाभास है।

जप-विज्ञान

बहुतेरे लोग जानना चाहते हैं कि जप करते-करते क्रमशः अन्तर्मुखी गति क्यों नहीं मिलती और जब अन्तर्मुखी गति का उदय होता है तो उस गति का चरम लक्ष्य ही क्या होता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए जप के विज्ञान को ठीक से समझना होगा। साधारण तौर पर जप तीन प्रकार का होता है, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। एक वाचिक जप, एक उपांशु जप और एक मानस जप —इन तीन प्रकार के जप में वाचिक जप निषिद्ध है। और, मानसिक जप श्रेष्ठ होते हुए भी साधारणतया अगम्य है। इसलिए अधिकांश स्थल में उपांशु जप का विधान देखा जाता है। लेकिन यह स्मरण रखना है कि इन तीनों प्रकार के ही जप का वैशिष्ट्य एक ही प्रकार का है। वैखरी जप में सर्वत्र ही वाह्य वायु की आवश्यकता है; क्योंकि इसमें कण्ठ आदि स्थानों में वायु के आघात की जरूरत होती है। सच पूछिए तो उपांशु जप में भी कुछ परिमाण में वाह्य वायु की क्रिया मौजूद रहती है। मानसिक जप में वाह्य वायु का प्रभाव नहीं रहने की ही बात है, पर साधारण लोग बाह्य वायु से योग नहीं रखकर मानसिक जप नहीं कर सकते; क्योंकि यदि कर सकते तो श्वास की गति में विलक्षणता आती। इसलिए यह समझना होगा कि प्रथमावस्था में जिस किसी प्रकार से भी जप क्यों न किया जाय, उसमें थोड़े परिमाण में बाह्य वायु का प्रभाव रहे विना नहीं चलता।

वैखरी जप मातृका या वर्णमाला से सम्पन्न होता है। वर्णमाला वायु की संहति से उत्पन्न होती है। इसलिए मन-ही-मन वर्णात्मक शब्द की चिन्ता करने से भी थोड़े परिमाण में बाह्य वायु की क्रिया हुए विना नहीं रह सकती। और, बाह्य वायु की क्रिया होने को हुई कि कण्ठ आदि उच्चारण-स्थान में आघात अनिवार्य है।

जप करते-करते जब जापक का आपेक्षिक उत्कर्ष होता है तो स्वभावतः ही कण्ठ रुँध जाता है। इच्छा या चेष्टा करके कण्ठरोध नहीं करना पड़ता।

बिन्दु क्षुब्ध होकर प्रवाहशील नादरूप में परिणत होता है और नाद वायु के संघर्ष के कारण वर्णमाला-रूप में प्रकाशित होता है। अतएव वर्णमाला को आश्रय करके जिस किसी प्रकार के जप या शब्द की आवृत्ति क्यों न की जाय, उसमें बाह्य वायु का स्पर्श रहेगा ही और बाह्य वायु के स्पर्श-निबन्धन से अन्तर्मुख गति में जरूर बाधा पड़ेगी।

इसलिए अन्तर्मुख गति प्राप्त करने के लिए क्रमशः बाह्य वायु से आभ्यन्तरीण वायु में प्रविष्ट होना आवश्यक है और सबसे पहले वायुमण्डल को भेदकर आकाश-मण्डल में प्रविष्ट होना जरूरी है। आकाश के बहुत स्तर हैं। वायु के भी नाना स्तर हैं। आकाश के सर्वोच्च स्तर को भेद कर सकने से ही विशुद्ध चैतन्य-राज्य में प्रवेश करने का अधिकार उत्पन्न होता है।

गुरु की दी हुई शक्ति सहाय हो और साधक उद्यमशील हो तो अन्तर्मुख गति स्वभावतः ही हो जाती है। काल के राज्य में परिणति स्वाभाविक है। बालक को युवक होने के लिए कोशिश नहीं करनी पड़ती और युवक को भी बुढ़ापा पाने के लिए चेष्टा नहीं करनी पड़ती, वैसे ही वैखरी से परा तक गति पाने के लिए योगी को चेष्टा की जरूरत नहीं। वैखरी से मध्यमा में स्वभावतः ही संचार होता है। यही प्रकृति का नियम है। बार-बार वैखरी का अभ्यास करने से कण्ठद्वार रुद्ध हो जाता है और हृदय-द्वार खुल जाता है। गुरुशक्ति-युक्त जप के प्रभाव से वैखरी का अभ्यास करते-करते वैखरी समाप्त होती है और मध्यमा में प्रवेश होता है।

जबतक साधक वैखरी-भूमि में निविष्ट रहता है, तबतक वह विकल्प भूमि में मौजूद रहता है। वैखरी-भूमि इन्द्रिय-राज्य का व्यापार है। उसके साथ मन की क्रिया का न रहना हो ही नहीं सकता। लेकिन वैखरी-भूमि में बाह्य प्रमेय का प्राधान्य रहता है। पर जब वैखरी से मध्यमा में संचार होता है, तब बाह्य प्रमेय नहीं रहता, इन्द्रिय की क्रिया भी नहीं रहती—किन्तु विकल्पात्मक मन की क्रिया रहती है। वैखरी-अवस्था में देहात्म-बोध स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है और साधक का कर्तृत्व-अभिमान जगा रहता है। मध्यमा में वह अभिमान बहुत कुछ क्षीण हो जाता है। परन्तु विकल्प का उदय तब भी रह जाता है। वैखरी में जप करते-करते अपने-आप मध्यमा में प्रवेश होता है। साधारणतया जप की मात्रा द्रुत अथवा विलम्बित न होकर मध्यम अवस्था में रहनी चाहिए। इस प्रकार, नियम की रक्षा करते हुए जप कर सकने से जप से ध्यान की अवस्था आप ही आ जाती है। पर यह ध्यान स्थायी नहीं होता। वैसे में ध्यान से जप में आ जाना पड़ता है। इस प्रकार बार-बार जप और ध्यान के आवर्त्तन से ध्यान की अवस्था अपेक्षाकृत स्थायी हो जाती है। जप की क्रिया योगी की दृष्टि में योग का अंग है और ध्यान-समाधि भी योग का अंग है। दोनों ही का अनुशीलन जरूरी है। इधर ध्यान की अवस्था के साथ-साथ मध्यमा की क्रिया आरम्भ हो जाती है। तभी वैखरी वाक् निरुद्ध, देहात्म-बोध अत्यन्त क्षीण और बहिर्भाव निरुद्ध होकर अन्तर्मुख भाव की सूचना हुई होती है। इस अवस्था में नाद का प्रसार आरम्भ होता है और साथ-ही-साथ वर्णात्मक मातृका विलीन होकर ध्वनि के रूप में परिणत होती है। इस अवस्था में कण्ठ रुँधा

रहता है तथा हृदय का द्वार खुल जाता है। वायु की क्रिया तब भी रहती है, लेकिन भीतर। बाह्य वायु की क्रिया नहीं रहती। इस अवस्था में निरन्तर अनादि-अनन्त ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह नाद-ध्वनि बड़ी विशाल होती है। इसमें सारी वर्णात्मक मातृका लीन हो जाती है। जल की तरंग लीन हो जाने से जैसे मात्र जल ही बाकी रहता है, वैसे ही वर्णात्मक तरंग के निवृत्त होने से ध्यानात्मक शब्द अपना प्रभाव लेकर नाद-रूप में प्रकाशित होता है। शुरू में इस नाद में वर्णात्मक नाम अथवा मन्त्र की तरंग रहती है, परन्तु साधक के कर्त्तृत्व के अभिमान के विगलित होने से वह नाद में आप ही उच्चारित होता है, उसे उच्चारण नहीं करना पड़ता। यही एक प्रकार से ब्रह्मनिर्घोष है। यह नाद-ध्वनि वास्तव में वर्णात्मक नहीं होते हुए भी पहले वर्णात्मक शब्द जैसी सुनाई पड़ती है। जैसे 'वह बात बोलो' चिड़िया की बोली। वह वर्णात्मक नहीं है, फिर भी उसें वर्णात्मक रूप समझना चाहिए। वास्तव में वह ध्वनि-मात्र है, उसमें वर्णसंघात कुछ भी नहीं। फिर भी संस्कारवश वैसी प्रतीति होती है। इस समय साधक श्रोता होकर अपने अभ्यन्तर से उच्चारित अपना मन्त्र या नाम का ध्वन्यात्मक रूप ध्यान से सुनता रहता है। उपनिषद् में श्रवण-मनन की जो बात आई है, वास्तव में यही वह श्रवण है।

हृदय से उठती हुई नाद-ध्वनि को निरन्तर सुनते-सुनते उस ध्वनि से वर्ण का आभास कट जाता है। तब निराभास नाद-ध्वनि उठती रहती है। इस तरह काफी समय बीत जाने पर क्रमशः अन्तःकरण शुद्ध होता है और चिदाकाश निर्मल होकर प्रकट होता है। हर साधारण व्यक्ति आँख मूँदने से जो अन्धकार देख पाता है, वही वास्तव में हृदय का अन्धकार है। मध्यमा वाक् के लगातार अभ्यास से वह अन्धकार अपगत होता है। चिदाकाश निर्मल होकर दिखाई पड़ता है, और साथ-ही-साथ नाद-ध्वनि क्षीण होती रहती है। ऐसी अवस्था का उदय होने से समझना होगा कि मध्यमा भूमि का अवसान सन्निहित है। यह चित्त-शुद्धि की अवस्था है। चित्त के अत्यन्त शुद्ध होने से एक ओर जैसे अन्धकार नहीं रहता, दूसरी ओर वैसे ही ध्वन्यात्मक शब्द भी निवृत्त हो जाता है। यह 'आध्यात्मिक उषा' के रूप में वर्णित होने के योग्य है। इस अवस्था में मन क्रमशः निवृत्त होकर चिदाकाश की ओर उन्मुख हो जाता है। तब प्रकाश का उदय नहीं हुआ, मगर अन्धकार भी नहीं—ऐसी अवस्था होती है। सूर्योदय के पहले और रात के बीतने के बाद जिस अवस्था का उदय होता है, यह उसी जैसी है। जो शब्द अबतक सुनाई पड़ रहा था—अवश्य आभ्यन्तरीण—अब वह सुनाई नहीं पड़ता। इस अवस्था में चिदाकाश में एक ज्योतिर्मण्डल प्रकाशित होता है और साधक अथवा योगी की दृष्टि उस मण्डल की ओर खिचती है। उस समय देह की स्मृति नहीं रहती तथा मन की क्रिया अस्तमित-सी

होती है। इस अवस्था में आभासमयी चित्-शक्ति की ही क्रिया होती है। साधक की निष्ठा निराकार और निर्गुण सत्ता की ओर होने से वह ज्योतिर्मण्डल क्रमशः निकट होकर सत्ता से तादात्म्य-लाभ करता है। उसके बाद ज्योति का भेद होकर परावाक् में प्रवेश होता है। किन्तु साधक अगर साकार का उपासक होता है, तो उस ज्योतिर्मण्डल में इष्टदेवता की मूर्त्ति प्रकाशित होती है और क्रमशः वह इष्ट सत्ता अपनी सत्ता के साथ या अपनी इष्ट सत्ता के साथ अभिन्नता प्राप्त करती है। निराकार उपासक को ज्योतिर्मण्डल में अपना स्वरूप भी परिदृष्ट हो सकता है। यह सब वैचित्र्य साधक का भाव-सापेक्ष है। जिस किसी भी रूप का प्रकाश क्यों न हो, वह ज्योति में ही प्रकाशित होता है और धीरे-धीरे ज्योति मिटती है तथा सिर्फ रूप ही स्वयं प्रकाश-रूप में विद्यमान रहता है, द्रष्टा और दृश्य का भेद उस समय नहीं रहता। प्रकाश जैसा भी क्यों न हो, वह आत्मा का ही स्वरूप है, इसमें कोई सन्देह नहीं और वह साक्षात्कार अभिन्नता का सूचक है। यह पश्यन्ती वाक् की अवस्था है, मन्त्रसिद्धि या इष्ट-साक्षात्कार इसी का दूसरा नाम है। प्राचीन युग में कोई योगी अथवा साधक इस अवस्था में पहुँचता था, तो उसे 'ऋषि' गिना जाता था। इस अवस्था में मन नहीं रहता, इन्द्रिय की क्रिया भी नहीं रहती, विश्व-जगत् का भान भी नहीं रहता, रहती है सिर्फ चैतन्यमय स्वरूप की सत्ता। यह जिस रूप में भी प्रकट क्यों न हो, वह अपना ही स्वरूप है, उस समय यह समझ में आता है। पर यह खण्ड अवस्था है। इसकी भी पूर्ण परिणति है। तब खण्ड सत्ता अखण्ड सत्ता में आत्मप्रकाश करती है। यह उन्मनी अवस्था है और आत्मा का निर्मल साक्षात्कार है, सिद्धगण इसी की परावाक् में गणना करते हैं। यह पराशक्ति के ही स्वरूप के अन्तर्गत है। मन्त्र-साधना या ज्ञान-साधना का यही चरम लक्ष्य है।

यह चरम स्थिति जप-साधना के प्रभाव से आती है। फिर वक्रगति तो आती ही नहीं, सरल गति भी स्थिति-बिन्दु में एकाकार हो जाती है। शिव-शक्ति का सामरस्य तब आप ही संघटित होता है। आगमविद्गण इसी को आत्मा का पूर्ण विकास कहते हैं। इसकी भी परावस्था है। परावस्था की भी परावस्था है। विशुद्ध चैतन्य का पूर्ण विकास होने से ही उस अवस्था में स्थिति मिलती है। जप की पूर्ण परिणति के फलस्वरूप इस आत्मविकास की अवस्था प्रकट होती है। जप-क्रिया की यहीं पूर्ण परिणति समझनी चाहिए। यह क्रिया-योग नहीं, बल्कि क्रिया-योग की परिणति का फल है।

आत्मा का पूर्ण जागरण और उसकी परिणति

[१]

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि इस संसार में सभी आत्माएँ वास्तविक जाग्रत् अवस्था में नहीं हैं। मायिक जगत् में अज्ञान के आवरण से ढँकी वे मोह-निद्रा में सोई पड़ीं हैं। जबतक वे उस मोह-निद्रा से नहीं उठेंगी तबतक मायातीत चिन्मय सत्ता का अनुभव नहीं कर सकेंगी—चिन्मय दिव्य जगत् में संचरण करने की बात तो दूर है। ठीक उसी प्रकार जगत् में ऐसे महापुरुष-रूपी आत्मा भी हैं, जो संयमी होने के कारण इस मोहमय जगत् को देख नहीं पातीं। उनकी दृष्टि हमेशा चिद्भूमि पर पड़ी रहती है। वे चिद् आकाश तथा उसके ऊपर के चिन्मय राज्य का सदा दर्शन करती हैं।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ।।

इस श्लोक में संयमी या प्रबुद्ध तथा मूढ़ या निद्रित आत्माओं के वैशिष्ट्य का वर्णन है।

इससे समझ में आता है, संसार के अधिकांश जीव ही सोये हुए हैं। हमारे प्रचलित जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इस नींद के ही प्रकार-भेद मात्र हैं। यानी व्यवहार-भूमि में हम जिसे जाग्रत् अवस्था समझते हैं, वह भी वास्तव में जाग्रत् नहीं है। विज्ञान की दृष्टि से वह भी निद्रा के ही अन्तर्गत है। इस प्रसंग में यह याद रखना है कि मनुष्य-मात्र के ही जीवन का लक्ष्य इस मोह-निद्रा से जाग उठना है और पूर्णरूप से जाग्रत् होकर ऊर्ध्व की ओर क्रम-विकास के फलस्वरूप जीवभाव से शिवभाव में उन्नीत होना तथा आत्मा की पूर्णता को प्राप्त करना है। आचार्य शंकर ने अपने दक्षिणामूर्त्ति स्तोत्र में स्पष्ट ही निर्देश किया है, इस मोह-निद्रा से जो जीव को जगा देते हैं, वही वास्तविक सद्गुरु हैं। जीव जब पूर्णरूप से जग उठता है, तो सबसे पहले यही अनुभव करता है कि यह जगत् उसके बाहर नहीं, बल्कि उसके अन्तर में है। स्वच्छ दर्पण में जैसे विराट् नगर प्रतिबिम्बित होता है और वह प्रतिबिम्बित नगर जैसे दर्पण के ही अन्तर्गत होता है, दर्पण से बहिर्मुख नहीं, ठीक उसी प्रकार समग्र विश्व को ही आत्मारूप स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित समझना चाहिए। वास्तव में यह विश्वद्रष्टा आत्मा के अपने ही अन्तर्गत है, उससे बाहर स्थित नहीं है। माया के कारण जो अन्तर की वस्तु है, उसे अन्तर में न देखकर बाहर देखा जाता है। शुद्ध विद्या का संचार करके सद्गुरु जब जीव को मोह-निद्रा से जगा देते हैं, तो जीव अपने आत्मस्वरूप में प्रबुद्ध होकर समग्र विश्व को अपने

अन्तर्गत समझकर प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। स्मरण रखना होगा कि इस तथाकथित बाह्य जगत् से आन्तर जगत् में प्रवेश करना ही साधना का उद्देश्य है और गुरु-कृपा का भी वही एकमात्र लक्ष्य है।

आन्तर जगत् में प्रवेश की यह जो बात कही गई, इसमें क्रम है। पहले अज्ञान-जगत् से ज्ञान-जगत् में प्रवेश करना होता है। उसके बाद परासम्वित् में नित्यधाम की प्राप्ति होती है। अज्ञान के जगत् में रहते हुए यह अनुभव होता है कि यह जगत् भेद-ज्ञान के द्वारा अनुप्राणित है। पर जब गुरु की कृपा से ज्ञान का उदय होता है, तब समझ में आता है कि वास्तव में ज्ञेय वस्तु बाहर कुछ नहीं है। ज्ञेय वस्तु बाहर है, यह ज्ञान भ्रम है। इस मार्ग में प्रवेश करने से देखने में आता है कि ज्ञेय वस्तु वस्तुतः साकार ज्ञान ही है। यही बाह्य या स्थूल रूप में कल्पित हुआ है। जिसे हम माया कहा करते हैं, वह क्रियाशक्ति का ही दूसरा नाम है। इसी के प्रभाव से साकार ज्ञान बाह्य पदार्थ-रूप में प्रतीयमान होता है। ज्ञान के राज्य में ज्ञान ही एक छोर पर साकार ज्ञान या ज्ञेय रूप में भासमान होता है और दूसरे छोर पर वही ज्ञान ही ज्ञातारूप में आत्मप्रकाश करता है। ज्ञान-राज्य को पार करने के लिए ज्ञान के इस ज्ञेयभाव और ज्ञातृभाव को दूर करना जरूरी है। यह कर पाने से ज्ञान विशुद्ध होता है।

इस विशुद्ध ज्ञान का अवलम्बन करके ज्ञान-राज्य से सम्वित्-राज्य में प्रवेश करना होता है। माया या अज्ञान के राज्य में भेदज्ञान प्रबल है। ज्ञानराज्य में भेदाभेद-ज्ञान रहता है। परन्तु सम्वित् राज्य में भेद का लेश भी नहीं। यह अभेद-ज्ञान की अद्वैत भूमि है। यह तुरीय राज्य-रूप में वर्णित होने योग्य है। इसके बाद अखण्ड प्रकाश है, जिसका तुरीयातीत कहकर भी उल्लेख नहीं किया जा सकता।

मनुष्य-जीवन का प्रकृत उद्देश्य रूपान्तर प्राप्त करना है—यह व्यापार गुप्त रूप से सम्पादित होता है। इसलिए गुप्त पथ से प्रवेश करना होता है। गुप्तधाम का व्यापार वास्तव में रहस्य है।

रूपान्तर की जो बात कही, उसी का नाम जागरण है। पूर्ण जागरण ही पूर्ण रूपान्तर अथवा अखण्ड महाप्रकाश रूप में विश्राम है। माया के राज्य में आत्मा भेदज्ञान से मुक्त नहीं हो सकती; क्योंकि यहाँ की विद्या अशुभ विद्या है। यह माया का कंचुक है। इसके बाद कला का नियन्त्रण भी है और अदृश्य कंचुक का आवरण भी है। अन्तर्जगत् में प्रवेश का पहला उपाय शुद्ध विद्या का उन्मेष है। इससे पशुत्व निवृत्त होता है। पशुभाव में अवस्थित पुरुष सम्विन्-मार्ग में प्रवेश का अधिकार नहीं पाता, यानी शुद्ध विद्या प्राप्त नहीं होने तक महाशक्ति के मार्ग में प्रवेश असम्भव है।

[२]

आत्मा की विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं को समझने के लिए प्रतीति के भेद का विश्लेषण करना आवश्यक है। प्रतीति के अनुसार ही किसी प्रमाता आत्मा को अप्रबुद्ध या निद्रित कहा जाता है या दूसरे किसी प्रमाता को अप्रबुद्ध नहीं कहकर प्रबुद्ध-कल्प कहा जाता है।

यह विश्व-भुवन (जो महामाया और माया के अन्तर्गत है) अनाश्रित शिव से कालाग्नि रुद्र तक विस्तृत है। अर्थात् समग्र विश्व के ऊर्ध्व शिखर पर अनाश्रित शिव है और सबके नीचे कालाग्नि रुद्र खेल रहे हैं। प्रकाशात्मक होने के नाते यद्यपि यह विश्व प्रकाश की भित्ति से लगा है, तथापि 'भवी' आत्मा अर्थात् अप्रबुद्ध आत्मा सोचती है कि सब कुछ उसके बाहर है। 'भव' से यहाँ भेदज्ञान समझना होगा। भेद-ज्ञान-सम्पन्न सिद्ध आत्मा भी 'भवी' नाम से अभिहित होती है। माया द्वारा अभिभूत रहने के कारण ये अभिन्न वस्तु में भिन्न ज्ञान का आश्रय करके रहती हैं।

भवीगण से ऊपर और एक प्रकार की आत्मा हैं—इनके भेदज्ञान नहीं। परन्तु भेदज्ञान नहीं रहने पर भी इनका संस्कार है। किन्हीं-किन्हीं ने इन्हें 'भवपदी' कहकर निर्देश किया है। ये आत्माएँ शुद्ध विद्या पद में अनुप्रविष्ट हैं और कोई-कोई सम्प्रज्ञात समाधि के स्तर पर रहती हैं। ये आत्माएँ शुद्ध विद्या के प्रभाव से आन्तरिक संस्कार आदि को भिन्नवत् अनुभव करती हैं। इनमें दो श्रेणियाँ हैं। कोई-कोई बाह्य ज्ञान-रहित होती है और किसी-किसी में वाह्य ज्ञान रहता है। जिनमें बाह्य ज्ञान रहता है, उन्हें परासम्वित् तत्त्व का उपदेश दिया जा सकता है। पशु होने पर भी ये योग्य पशु हैं, कारण कि ये अधिकारी हैं। ये सब चिद्-अणु सोचते हैं कि ग्राहक और ग्राह्य रूप में विश्व के दो विभाग हैं। जो अंश ग्राहक है, वह अजड़ है, चिन्मय है और जो अंश ग्राह्य है, वह जड़ और अचित् है। इस कोटि के पशु माया से मोहित नहीं होते; क्योंकि यह जो ग्राहय वस्तु को जड़ और अपने से भिन्न समझना है, यही माया है। ये पशु अपने स्वरूप को पहचान नहीं सकते। ये भी पूर्व-वर्णित 'भवी आत्मा' के अन्तर्गत हैं। दो प्रकार के प्रमाता की बात कही गई। इनमें से कोई प्रबुद्ध नहीं। इसके बाद प्रबुद्ध नामक तीसरे प्रकार का प्रमाता आलोचना का विषय है। इन आत्माओं को 'द्विपदी' कहा जा सकता है; क्योंकि एक ओर जैसे इनमें भव-संस्कार है, वैसे ही दूसरी ओर इनमें उद्भव-संस्कार भी है। ये सब प्रमाता भेदाभेद दशा में हैं। एक ओर जैसे ये जड़भावात्मक इदन्ता को आश्रय करते हैं, दूसरी ओर वैसे ही चिद्भावात्मक अहन्ता को प्राप्त करते हैं। अतएव इनकी अनुभूति 'यह और मैं' इन दोनों का समानाधिकरण है। अर्थात् ये अहंभाव का आरोपण कर

अनुभव के भेदांश को डुबाकर 'इदं-अहं' रूप में बोध प्राप्त करते हैं। ये अपने

शरीर-सदृश विश्व को देखते हैं, जिसमें भेद रहता है, अभेद भी रहता है। योगिगण इसे ईश्वर की अवस्था कहा करते हैं। यह हुआ प्रबुद्ध आत्मा का विवरण।

प्रबुद्ध अवस्था से सुप्रबुद्ध अवस्था तक आत्मा की उन्नति आवश्यक है। परन्तु प्रबुद्ध अवस्था से सुप्रबुद्ध में जाने के लिए एक मध्य अवस्था प्राप्त करके और उसे त्याग कर अग्रगति पाना चाहिए। अभेद ज्ञान या कैवल्य 'उद्भव' के नाम से परिचित है। जो यह अवस्था प्राप्त करते हैं, उनके निकट इदं-रूपी प्रकृति के विषयीभूत ज्ञेय पदार्थ अहं-रूपी आन्तरिक पद में निमग्न रहते हैं। इस निमग्न भाव की प्रकृति को 'निमेष' कहते हैं। यह विमर्श शक्ति से आता है। यह अवस्था सदाशिव की अवस्था जैसी है—इसमें अहंभाव के द्वारा आच्छादित अस्फुट इदंभाव विद्यमान रहता है। यह अवस्था स्थायी नहीं है। जब यह आविर्भूत होता है, तो अपने स्वरूपभूत प्रकाश में एक बार निमग्न और उसके बाद उन्मग्न—ये दोनों ही भाव अनुभूत होते हैं। मग्न रूप को कहते हैं निमेष और उन्मग्न रूप को कहते हैं उन्मेष। जैसे समुद्र में कब तरंगें उठती हैं और कब खो जाती हैं, पर दोनों ही हालत में समुद्र समुद्र ही रहता है, ठीक वैसे ही शिवादि विश्व प्रकाशात्मक रूप में ही प्रकाश-रूप में खुलता है, फिर प्रकाश में ही विलीन हो जाता है। यह अवस्था प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध दोनों अवस्थाओं के बीच-बीच की है। इसे समना अवस्था कहते हैं।

उन्मना के द्वारा जब स्वरूप में अवस्थिति होती है, तो उसी स्थिति को उन्मना कहा जाता है। उन्मना के द्वारा जब पूर्णत्व-सिद्धि अविचलित होती है, तो योगी सिद्ध और प्रबुद्ध अवस्था-लाभ करता है। इस अवस्था में स्थित होने से मन की कोई क्रिया नहीं रहती अर्थात् मन की चंचलता इसे कदापि स्पर्श नहीं करती।

योगी जब सुप्रबुद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तो उनके इच्छा करते ही अभीष्ट विभूति का आविर्भाव होता है। साधारणतया इसी को इच्छा-शक्ति कहते हैं।

इससे यह समझ में आता है कि योगी के इच्छा करने से ही वह इच्छा शक्ति का रूप धारण नहीं करती। क्योंकि मन को अतिक्रम किये बिना आत्मा का जागरण पूर्ण नहीं होता और आत्मा के पूरी तरह नहीं जाग जाने से यानी मन से पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाने से उसकी इच्छा इच्छा-शक्ति का रूप नहीं धारण करती।

सिद्धि की जो बात कही गई, वह नाना प्रकार की है और उसका आविर्भाव भी विभिन्न उपायों से होता है। इन सिद्धियों को अपर सिद्धि और परसिद्धि—इन दो श्रेणियों में बांटना सम्भव है। अपर सिद्धि निम्न स्तर की और परसिद्धि ऊर्ध्व स्तर की सिद्धि है।

आद्या सिद्धि गुरु प्राप्त करने का दूसरा नाम है और दूसरी सिद्धि शिवत्व का

स्वरूप है। इन दोनों को महासिद्धि कहा जा सकता है। सूर्य आदि जिस किसी वस्तु को आत्मा-रूप में दृढ़ भावना कर पाने से उसका जगत्-प्रकाशन आदि कर्म जो नित्यसिद्ध हैं, उन्हें पहचाना जा सकता है। यही प्रत्यभिज्ञा (recognition) है। जब यह प्रत्यभिज्ञा बहुत दृढ़ होती है तो वह अर्थकारी रूप में प्रतीत होती है, यानी वह कार्यरूप में परिणत होती है। उस समय योगी सूर्य आदि का रूप स्वयं न होते हुए भी सूर्य आदि वस्तु का रूप धारण करता है। विमर्श अथवा ज्ञान के दुर्बल होने से भिन्न रूप में स्थिति होती है। परन्तु उस विमर्श-ज्ञान के प्रबल होने से भेद और भ्रम का संस्कार नहीं होता। योगी उस समय स्वयं विश्वात्मक हो जाता है, इसलिए सारी सिद्धियाँ नित्यसिद्धि-रूप में प्रकाशित होती हैं और उसके दृढ़ होने से केवल भाव-मात्र नहीं रहता, बल्कि अपने-अपने कार्य-साधन में सामर्थ्य उत्पन्न होता है। लेकिन इस बात का खयाल रहना चाहिए कि योगी को सभी अवस्थाओं में अपना जो परिपूर्ण प्रकाशात्मक विश्वरूपी स्वरूप है, उससे अविचलित रहना आवश्यक है।

जो देवता जो कार्य-साधन करता है, वह कार्य-साधन यदि आवश्यक होता है, तो उस देवता के अहंकार को धारण कर सकने से क्षण-भर में ही वह कार्य-साधन सम्भव होता है।

पृथ्वी का लक्षण धारण, जल का लक्षण संग्रह, देवता का लक्षण पाक, वायु का लक्षण व्यूह और आकाश का लक्षण प्रतिघात है। योगी पृथ्वी आदि जिस भूत को आत्मस्वरूप में अनुसन्धान करता है, उस भूत की कर्मसिद्धि होती है। ठीक इसी प्रकार तन्मात्रा, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, अस्मिता, बुद्धि, अव्यक्त और पुरुष—इनमें स्थिति ले सकने से वैसी ही कर्मसिद्धि होती है। इस प्रकार राग, नियति, काल, विद्या, कला और माया में चित्-शक्ति की धारणा सम्भव है। इसके विपरीत शुद्ध विद्या या सरस्वती, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव—इनके ऊपर भी चित् शक्ति की धारणा सम्भव है। धारणा के साथ-ही-साथ उसके अनुरूप सिद्धि आविर्भूत होती है।

आचार्यगण कहते हैं कि शुकदेव, वामदेव, कृष्ण, दधीचि, वैन्य—इनका जो विश्वात्मक भाव पुराण और इतिहास में प्रसिद्ध है, वह पूर्वोक्त उपाय से आविर्भूत होता है। इसके बाद महासिद्धि की बात याद रखनी है। महाशक्ति या पराशक्ति के विषय को स्मरण करना आवश्यक है। यह शक्ति कोटि-कोटि कालाग्नि की दीप्ति लेकर षडध्वा को दग्ध कर रही है। इसका निरन्तर अनुसन्धान करना जरूरी है। जब तृप्ति या आप्लावन-रूप सिद्धि का उदय होता है, तब अमृत की लहरी वृष्टि की तरह समस्त अध्वा को प्लावित करती है। इस अनवच्छिन्न सुधा-समुद्र का स्मरण भी आवश्यक है। इस दाह और प्लावन के द्वारा 'सरलीकरण'-रूप क्रिया की सिद्धि होती है। पूर्वोक्त प्रणाली से जितनी अध्वा शोधित होती है, निःशेष उतना जगत्

अनुग्रह का भाजन होता है। यह जो देह-शुद्धि की बात कही गई, यह देहात्मक रूप में संक्षिप्त षडध्वा की शुद्धि नहीं है, बल्कि समग्र विश्व की शुद्धि है। सभी आचार्य विश्व-शरीर हैं। किसी निर्दिष्ट देह में देही-रूप जो अभिमान है, वह आचार्यत्व नहीं है। इसलिए विश्व को अपने शरीर के रूप में परिणत करके विश्व का साधन करना आवश्यक है। अतएव प्रकाश के साथ इस देह का अभेद दर्शनकारी जो स्वरूप है, उसी को समस्त अध्वा का दाह समझना होगा। यह और कुछ नहीं, विशुद्ध चैतन्य-रूपी प्रकाश से तादात्म्य है। पहले जिस आप्लावन के बारे में कहा गया है, वह इस विमर्श का नामान्तर है। इसलिए शास्त्र में है—"प्रकाशस्य विमर्श-घनता प्रत्यभिज्ञान दाढ्यर्यात्" परमानन्द-आविर्भाव। प्राचीन शाक्तों ने इस व्यापार को 'सकलीकरण' कहकर वर्णित किया है, यह परम आनन्द के आविर्भाव का नामान्तर है। सच तो यह कि प्रकाश-रूपी चैतन्य जब विमर्श-शक्ति के प्रभाव से घनीभूत होता है, तब दृढ़ प्रत्यभिज्ञा के उदय के कारण यह आनन्द प्रकट होता हैं। इसीका नाम आद्यासिद्धि है। यह गुरु-प्राप्ति का नामान्तर है।

याद रखना होगा, इस अवस्था में भी पूर्ण ख्याति का उदय नहीं होता। इसलिए यह भी अपूर्ण ख्याति के अन्तर्गत है। अपूर्ण ख्याति स्थायी नहीं होती। परन्तु जब स्थायित्व का उदय होता है, तो इसे दृढ़ता से आश्रय करके अपूर्ण ख्याति का क्षय करना चाहिए। हर पल अनुसन्धान को दृढ़ करके क्षय की क्रिया को सम्पन्न करना चाहिए।

पूर्ण ख्याति का उन्मीलन करते-करते योगी इच्छा के अनुसार भुवनों की सृष्टि करते रहते हैं और रक्षा आदि सभी कृत्य करते हैं यानी योगी तब पंचकृत्य करने में समर्थ होते हैं।

पूर्णत्व-लाभ और नित्यलीला की चर्चा करने के लिए तीन ओर से विचार करना आवश्यक है। एक ओर महाप्रकाश, जो आप अपने में रहकर पंचकृत्यमय रूप में सर्वदा नित्यलीला-परायण हैं। दूसरी ओर चिदाकाश है, जहाँ आत्मा चिति-शक्ति के द्वारा अभिनय करती है। और एक ओर प्रेक्षक के रूप में इन्द्रियाँ हैं। यहाँ हमने कर्त्ता, द्रष्टा और नाट्य-गृह का पता पाया। इस लीला का मूल ह्लादिनी शक्ति है। यही रसास्वादन करती हैं और कराती भी यही हैं।

[३]

गुह्य राज्य में जागरण के क्रम को नाना दिक् से नाना प्रस्थान में दिखाया गया है। यहाँ संक्षेप में कुछ चर्चा करते हैं।

पूर्ण जागरण का फल ही पूर्णत्व-लाभ है। अद्वैत शैवगण जिसे परमशिव कहा करते हैं, यही उसीका दूसरा नाम है। यह परासम्वित् है, यही एक ही साथ विश्वातीत

होते हुए भी विश्वात्मक है। स्वरूप सदा ही नित्य प्राप्त है, शक्ति भी वही है। जिस ओर विश्व का भान नहीं है, उस ओर शक्ति की एक कला के सिवा पूर्ण संकोच की अवस्था है। एक कला-शक्ति विश्वातीत अवस्था में भी रहती है। नहीं रहने से विश्वातीत अक्षरस्वरूप जगत् में आत्म-प्रकाश नहीं कर सकते। परन्तु इस कला के रहते हुए भी आत्मा को निष्कल कहा जाता है। उसके नहीं रहने से शिव का शिवत्व नहीं रह सकता। यह एक कला ही अमाकला का नामान्तर है। ऋषियों ने अमृतकला कहकर इसका वर्णन किया है। बाकी पन्द्रह कलाओं का संकोच और प्रसार होता है। प्रसार या विकास विश्वात्मक अवस्था में होता है।

इसका विस्तृत विवरण यहाँ अनावश्यक है। शक्ति या कला चिति-शक्ति का ही दूसरा नाम है। इसका विकास कैसे होता है, यह आलोच्य है। शक्ति की तीन अवस्थाओं की बात का स्मरण किया जा सकता है। उनमें से एक सुप्तावस्था है। एक क्रमिक जागरण की अवस्था है और एक नित्य पूर्ण जाग्रत् अवस्था है। पूर्ण जाग्रत् का भी क्रम है। शक्ति के वैसे जागरण की कहने से यही समझना होगा कि यह अचित् अवस्था से चिन्मय रूप में उठती है। शक्ति की जो कृश अवस्था है, उसमें आचार्यगण विश्व का आस्वादन नहीं करते। विश्व यद्यपि अभेद-सम्बन्ध से उसी में है, यह सत्य है, फिर भी जो कहा गया, वह भी सत्य है। विश्व उसमें 'वह' होकर है। पर वह अपने को आप आस्वादन नहीं करते हैं, जभी तो अणुभाव या संकोच का उदय हुआ है। इसलिए सुप्त अवस्था एक घेरे की अवस्था है। यह घेरा या आवरण महामाया का स्वरूप है। अणुभाव के साथ-साथ वह व्याप्त होता है। इसलिए वह शून्य है, शास्त्र में उसे तिरोधान कहा जाता है। इसलिए अस्फुट विग्रह उसमें भी रहता है। स्फुट विग्रह की अवस्था में कंचुक से योग होता है। बाद में कला से प्रकृति का आविर्भाव होता है। इधर पुरुष कर्ममल से युक्त हो पड़ा। क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति का उदय हुआ, चित्त का आविर्भाव हुआ, उसके फलस्वरूप देह प्रकट हुई। पुरुष तब कर्त्ता और भोक्ता बन गये। जगत् भी भोग्य-रूप में परिणत हुआ। इस प्रकार संकोच की क्रम-वृद्धि के कारण प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता-रूप विभक्त दशा का उदय हुआ।

साधारण मनुष्य के स्तर में आने से देखा जाता है कि यह भेदमय ज्ञान का राज्य है। शाक्तों ने विश्व का विश्लेषण करके उसके कई अंग देखे हैं। उनमें से पहला ग्राह्य, दूसरा ग्रहण और तीसरा ग्राहक है। लेकिन उन्होंने एक प्रकार के ऐसे एक ग्राहक का पता पाया है, जिसमें ग्राह्य और ग्रहण-जनित क्षोभ नहीं है, मगर जो फल के अधिकारी हैं। यह सही है। इस जगत् का प्रथम अंकुर यही है और सच पूछिए तो यही सम्वित् या प्रमा-अवस्था है। सारा जगत् इसी के गर्भ में है। ज्ञाता, ज्ञान

और ज्ञेय—सब इसी के अन्तर्गत हैं। सृष्टि के प्रसंग में पहले ज्ञाता का आविर्भाव होता है, उसके बाद ज्ञान का और सबसे अन्त में ज्ञेय का। इन सबको शक्ति की दशा जाननी चाहिए। यहाँ शिव शक्तिमान के रूप में नहीं, बल्कि शक्ति-रूप में हैं। इस शक्ति के तीन रूप हैं। एक पराशक्ति, दूसरा परा-पराशक्ति और तीसरा अपरा शक्ति। इन तीन के अलावा मातृसद्भाव नाम की एक सत्ता है। यह चतुर्दल चक्र का रहस्य है।

पूर्णता का तिरोधान होने पर इस दशा का उदय होता है। यह शक्ति-दशा के नाम से परिचित है। इससे संसार-अवस्था का उदय होता है। शक्ति की दशा अविभक्त है। इसमें परा, परापरा और अपरा—तीनों शक्तियाँ एक ही साथ हैं। अभी भी इन सब शक्तियों ने देवी-रूप नहीं धारण किया है। पहले कहे गये मातृसद्भाव का यही तात्पर्य है। यहाँ इस अवस्था में सब प्रकार की अनुभूति मौजूद है, मगर उनके मूल में क्षोभ नहीं है, लेकिन यहाँ भी अपूर्णता है। यह एक अद्भुत राज्य है।

पूर्ण सत्ता से अवतरण—इसीका नाम तिरोधान है। शाक्तगण परम प्रकाशमय इस पूर्ण सत्ता को 'भासा' के नाम से वर्णित करते हैं और इस शक्तिमय अवस्था की अनाख्या नाम से व्याख्या करते हैं। भासा से अनाख्या में अवतरण, यही निग्रह या तिरोधान है और अनाख्या से भासा में आरोहण—इसीका नाम अनुग्रह है। तिरोधान के फलस्वरूप चतुर्दल-कमल का आविर्भाव होता है तथा उससे क्रमशः षोडशदल तक विकसित होता है। इसके विपरीत अनुग्रह के फलस्वरूप षोडश दल से चतुर्दल तक गति होती है एवं उसके बाद अनाख्या के आश्रय से 'भासा' में स्थिति होती है।

भासा में आत्मा अविभक्त और अविभाज्य अव्यय-स्वरूप होती है। यही पुरुष है। अनाख्या में चतुर्दल-प्रकृति में स्थिति होती है। अविभक्त होते हुए भी यह विभाज्य है। प्रमाता-स्थान में अष्टदल-कमल और अमितारूप का प्रकाश। यह विभाज्य और स्वत्त्व-प्रधान है। प्रमाणभूमि में द्वादशदल-कमल। यह मन, बुद्धि, दस इन्द्रिय का प्रवृत्ति-क्षेत्र है। यह रजःप्रधान है। प्रमेय भूमि में षोडशदल-कमल-यह तन्मात्रा और भूत का क्षेत्र है। यह तमःप्रधान है।

अनुग्रह-शक्ति के प्रभाव से क्रमशः प्रमेय से प्रमाण, प्रमाण से प्रमाता, प्रमाता से अनाख्या एवं अनाख्या से पूर्ण या भासा में प्रवेश होता है

पूर्ण और भासा में समग्र विश्व अभेद में विद्यमान रहता है। तिरोधान-काल में वह पृथक् भाव से स्फुरित होता है। इसी का दूसरा नाम प्रकृति अथवा 'शक्तिचक्र' है। एक प्रकार से यही पुरुष से प्रकृति का आविर्भाव है अथवा ब्रह्म से माया का आविर्भाव कहा जा सकता है। तिरोधान का अर्थ आत्मसंकोच या कालचक्र का आविर्भाव है। इसमें प्रतिपद से अमावास्या तक कृष्ण पक्ष है। अमावास्या पूर्ण संकोच का प्रतीक है।

इस अवस्था में चित्कला का सम्पूर्ण आकुञ्चन होता है—मात्र एक ही कला बाकी रहती है—इसीका नाम अमा है।

यहाँ एक बात विचार करने योग्य है। पूर्ण से जिस अनाख्या का आविर्भाव होता है, इसकी प्रणाली विवर्त्त है, अनाख्या से जिस त्रिपुटी का आविर्भाव होता है, उसकी प्रणाली है परिणाम। इसके बाद आरम्भ-क्रिया का अवसर होता है। जागरण से ही अनुग्रह का उदय होता है। इसके बाद शाक्त स्रोत का वर्षण होता है। यह प्रक्रिया अनाख्या तक चलती है। उसके बाद अनाख्या से पूर्ण अथवा भासा में प्रवेश परम अनुग्रह का स्वरूप है। आरम्भवाद जैसे अवरोह-अवस्था में होता है, वैसे ही आणव व्यापार को आरोह के बाद समझना चाहिए। आरोहक्रम में पहले रहती है अपनी चेष्टा। इसका नाम है 'आणव उपाय', उसके बाद शाक्त-स्रोत बहा ले जाता है लक्ष्य है शक्ति या अनाख्या। अनाख्या में जाकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है; क्योंकि अपने से पूर्ण या भासा में नहीं जाया जाता। उस स्थिति में पूर्ण खींच लेते हैं, उससे पूर्णत्व-लाभ होता है। अनाख्या से भासा में तभी जाना होता है, जब आत्मा खुद से पकड़ाई देती है। अनाख्या तक अनुग्रह के फल से ऊर्ध्व स्रोत के खिचाव से जाया जाता है। परन्तु अन्त तक ऊर्ध्व स्रोत में भी नहीं जाया जाता। उस तुंग शिखर पर जाकर बैठे रहना पड़ता है, तब वह खींच लेते हैं।

महाशक्ति माँ तुरत खींच ले जाती हैं और इस उपलक्ष्य में आत्मा का रूपान्तर करती हैं। वह शिवत्व तक पहुँचा देती हैं। यह विश्व का उच्चतम स्थान है, पर यह विषयी विश्व है। इसके बाद पूर्ण की महाकृपा से विश्वातीत की प्राप्ति होती है, यानी पूर्णत्व-लाभ होता है।

अतएव, अनुग्रह की धारा है शुक्लपक्ष। पूर्णिमा हुई पञ्चदशी। आरोह-क्रम में वही अनाख्या है। अवरोह-काल में शिव थे शक्तिरूप, आरोह-काल में शक्ति होती हैं शिवरूप। यहीं शक्ति शिवरूप धारण करती हैं। इसीलिए शक्तियुक्त शिव का प्रकाश है—यही युगल पद्म है। इसीलिए पञ्चदशी-युक्त है। उसके बाद षोडशी अर्थात् 'अमा' यह युक्त नहीं है, अकेली।

अनाख्या के बाद भासा। इसमें है अनन्त व्यवधान। तिरोभाव के कारण इसमें इस व्यवधान की सृष्टि हुई है। फिर अनुग्रह का उदय होने से यह व्यवधान जाता रहेगा। तिरोभाव के फलस्वरूप काल-राज्य में प्रवेश होता है, अतएव यह जो फाँक है, वह यमुना या कालनदी या कि विरजा है। वैष्णवी भाषा में कहना हो तो पूर्ण हुआ नित्य-वृन्दावन या नित्य-लीलाभूमि, यमुना या कालनदी का पार होना ही पार जाना है, नाविक एक ही हैं, वही पूर्ण हैं।

आत्मा के जागरण का एक क्रम है। आत्मा अभी माया के आवरण से आच्छन्न

सोई हुई है यानी नींद में है। इसलिए उसके आत्मविमर्श नहीं है, इसी के प्रभाव से पिण्डमात्र में उसका अहन्ता रक्षित होता है। इसीका नाम देहाभिमान है। यह तमाम है, इसलिए विश्व-शरीर के रूप में वह अपने को पहचान नहीं पाती, इसलिए उसका जागरण भी नहीं हो सकता।

वास्तव में विशुद्ध आत्मा अनवच्छिन्न चैतन्यरूप और अशुद्ध आत्मा अवच्छिन्न चैतन्य है, जिसे हम ग्राहक कहते हैं। विशुद्ध आत्मा ही वस्तुतः परम शिव है। समग्र विश्व उन्हीं का शरीर है। अनाश्रित शिव से आरम्भ करके पृथ्वी-तत्त्व तक-सब उनका शरीर है। अनवच्छिन्न चैतन्य और ग्राहक चैतन्य एक प्रकार का नहीं। शुद्ध चैतन्यरूपी आत्मा किसी निर्दिष्ट रूप में विशिष्ट ग्राह्य की ओर उन्मुख नहीं होती। जो उस प्रकार से उन्मुख होता है, उसीका नाम ग्राहक है।

वह अवच्छिन्न चैतन्य है। उस ग्राह्य से ही उसका चैतन्य या प्रकाश अवच्छिन्न रहता है। अनवच्छिन्न चैतन्य का भान कैसा है? निर्दिष्ट विशेष रूप में उसमें भान नहीं होता। भान होता है सामान्य सत्ता में। इस सामान्य का अनुसन्धान ही उसका स्वभाव है। सर्वत्र अनुगत एक अखण्ड सत्ता का अनुसन्धान ही उसका स्वभाव है। कोई भी आत्मा अपने ग्राहकत्व-निबन्धन, नियम-दर्शन आदि से मुक्त हो सकने पर चैतन्य रूप में अपने को प्रकट कर सकती है। समस्त विश्व वैसे में उसके शरीर-रूप में गण्य होता है।

शुद्ध आत्मा विभिन्न स्तरों में विद्यमान है। किसी आत्मा की अस्मिता विषय से खेलती है, किसी की देह को आश्रय करके, और किसी की इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण अथवा शून्य को आश्रय करके कार्य करती है। शून्य ही सुषुप्ति-रूपी माया है। अहं अभिमान होने के लिए देह ही होना पड़ेगा या दृश्य ही होना पड़ेगा, ऐसी कोई बात नहीं। देहबाह्य विषय में अस्मिता होती है, इसके विपरीत अदृश्य होने से उसमें भी अहं अभिमान हो सकता है। बात दर-असल यह है कि अहं अभिमान की माया है। यह अहं अभिमान चिति या सम्वित् के ही होता है, ग्राहक के नहीं होता। उसे किसी-किसी पद में धारण किया जाता है। यदि उसे छह अध्वाओं में ही धारण किया जाय तो शिव आदि पृथ्वी तक सभी वस्तुओं का नित्य शुद्ध प्रत्यभिज्ञा के द्वारा अनुसन्धान किया जा सकता है।

एक बात और। जिसमें चिति का दृढ़ अभिनिवेश या अस्मिता रहती है, इच्छा करते ही उसमें क्रिया का उत्पादन किया जा सकता है। अस्मिता अहं आकार में अभिनिवेश-मात्र है। एकमात्र शिव की अस्मिता विश्व में सर्वत्र विद्यमान रहती है; क्योंकि शिव ग्राहक नहीं हैं अर्थात् अवच्छिन्न प्रकाश नहीं हैं।

यह जो अहन्ता है, वह बिन्दु से शरीर तक को घेरे हुए है। बिन्दु है स्वरसवाही

सामान्यभूता सूक्ष्म अहं-प्रतीति, जो ग्राहक, ग्रहण, ग्राह्य आदि प्रतीति-विशेष की पूर्ववर्त्ती है । प्राण है उस सत्ता या अणु का नाम, जो अभिमान, अध्यवसाय आदि अन्तःकरण का क्षोभकारी है । शक्ति है बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय और शरीर-रूप में प्रसिद्ध । बिन्दु से शरीर तक छह को घेरकर कम्पित करता है जो अहन्ता, उसीकी धारणा चाहिए । भावना के द्वारा इस अहन्ता का विकास होता है । इसी का नाम है—कर्तृत्व, ईश्वरत्व, स्वातन्त्र्य, चित्स्वरूपता आदि । सिद्धि मात्र ही अहन्तामय हैं, इसलिए दृढ़ प्रत्यय होना आवश्यक है ।

[४]

सुप्त प्रमाता की प्रतीति कैसी है ? यह माया-मोहित है । ग्राहक चिदात्मक तथा ग्राह्य अचिदात्मक और उससे भिन्न रूप में प्रतीत । समग्र विश्व भुवनावली यद्यपि पूर्ण या प्रकाश के अन्तर में स्थित है, फिर भी सुप्त आत्मा सोचती है कि वह उससे बाहर है । ये आत्माएँ भवी नाम से वर्णित होती हैं ।

जाग्रत्कल्प प्रमाता की प्रतीति किस प्रकार की है ? इसका दूसरा नाम भव-पदी है । शुद्ध विद्यारूपी प्रमाता एवं संप्रज्ञात समाधि-प्राप्त प्रमाता इसी के अन्तर्गत है । ये ठीक-ठीक सुप्त नहीं, मगर ठीक जाग्रत् भी नहीं । सुप्त नहीं हैं, इसलिए कि इनका भव या संसार नहीं है । चूँकि इनके भेदज्ञान नहीं यानी अभिन्न वस्तु में भिन्न प्रतीति नहीं है । परन्तु इसके बावजूद इनकी अवस्था उद्भव है । लेकिन भव अर्थात् भेदज्ञान नहीं रहने पर भी उसका संस्कार इनके चित्त में मौजूद है; क्योंकि अन्तःसंकल्प आदि आकार में भिन्न-सी प्रतीति शुद्ध विद्या के प्रभाव से अथवा संप्रज्ञात समाधि के कारण हो सकती है । इस अवस्था में अविवेक रहता है । इसके बाद विवेकख्याति का उदय होता है और बाद में शुद्ध सत्ता का आविर्भाव होता है । यह अवस्था ठीक स्वप्न-जैसी है । सुप्ति नहीं है, परन्तु ठीक-ठीक जागरण भी नहीं हुआ है । ठीक-ठीक जागरण होने से भेद का संस्कार रहना सम्भव नहीं होता । यह सब आत्मा धर्माधर्म के क्षय से किसी-किसी दृष्टि के अनुसार मुक्त पुरुष के रूप में गिनी जाने के बावजूद प्रकृत मुक्तपुरुष नहीं हैं । तन्त्रशास्त्र में इन्हें रुद्र-अणु के रूप में वर्णित किया गया है। वास्तव में ये भी पशु हैं । कर्म-संस्कार से रहित होते हुए भी सम्वित् श्रवण का इन्हें अधिकार नहीं ।

इसके बाद जाग्रत् अथवा प्रबुद्ध प्रमाता की अनुभूति की बात कही जा रही है। इन आत्माओं में भेद और अभेद का संस्कार मौजूद रहता है । ये आत्माएँ जड़ वस्तु का इदं रूप में अनुभव करती हैं और इसके विपरीत अहं वस्तु की प्रतीति भी अहं रूप में रहती है । समानाधिकरण्य के कारण अभेद का आरोप होता है, इसलिए भेदांश ढँक जाता है और 'इदं-अहं' रूप अनुभव का उदय होता है । इनके अनुभव में

समग्र विश्व अपने शरीर-रूप में प्रतीयमान होता है। इस अवस्था में दो अनुभव समान रूप से रहते हैं। इसे ईश्वर-अवस्था कहते हैं।

सुप्रबुद्ध कल्प और सुप्रबुद्ध प्रमाता के बारे में कहें। इस अवस्था में इदम्-प्रतीति का विषयीभूत ज्ञेय पदार्थ अहंरूपी स्वरूप में निमग्न होकर प्रकट होता है। यह निमेष-रूप में वर्णित होने योग्य है।

ये आत्माएँ अभेद-ज्ञान या कैवल्य की प्राप्ति के कारण उद्भवी रूप में वर्णित होती हैं। ये अहंरूप स्वरूप में मग्न रहती हैं। यह अवस्था अहंभाव से आच्छादित अस्फुट इदंभाव की दशा है, इसे सदाशिव-अवस्था माना जा सकता है। लेकिन यह याद रखना है कि यह भी आत्मा की पूर्ण स्थिति नहीं। इसके बाद पूर्णस्थिति का उदय होता है, पर वह भी अस्थायी है। इस अवस्था में 'निमेष और उन्मेष' दोनों ही रहते हैं। समुद्र में तरंग आदि के 'निमेष-उन्मेष' जैसे दोनों ही रहते हैं, यह भी बहुत-कुछ वैसा ही है। प्रकाश सदा रहता है, परन्तु शिव आदि विश्व का भान कभी रहता है, कभी नहीं रहता। जब भान रहता है, तब प्रकाशात्मक रूप में ही उसका उन्मेष होता है। जब भान नहीं रहता, तब भी प्रकाश-रूप में ही उसका निमेष होता है।

इसके बाद वास्तविक पूर्णत्व का आविर्भाव होता है। यही स्थायी अवस्था है। पहले जिस पूर्णत्व की अभिव्यक्ति हुई थी, उसमें प्रकाश और निमेष का सम्बन्ध था। पर अब वह नहीं है। इसका कारण यह है कि पहले मन था, इसलिए निमेष और उन्मेष होता था। लेकिन अब वह नहीं है। अभी की अवस्था ठीक उन्मना है। उन्मना है, इसलिए पूर्णात्मा की सिद्धि अचल है। इसीका नाम सिद्ध सुप्रबुद्ध अवस्था है। ऐसे योगी की इच्छा-मात्र से अभिमत विभूति का आविर्भाव होता है। यही आत्मा के पूर्ण जागरण की अवस्था है।

[५]

अब विभूति या सिद्धि के विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ कहना है। सिद्धि नाना प्रकार की हो सकती है। कोई-कोई सिद्धि अर्थमूलक होती है। यह सब निम्नस्तर की सिद्धि या अपरा सिद्धि है। कोई-कोई सिद्धि तत्त्वमूलक होती है। ये उच्च स्तर की या परासिद्धि हैं। प्रत्येक अर्थ का एक कर्म है। इसे cosmic function कहा जा सकता है। नित्यसिद्ध योगी जब जिस अर्थ में आत्म-भावना करता है, वह उस समय उस अर्थ में स्वयं ही अवस्थित होता है और उसी समय उस कर्म का निर्वाह होता है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, वज्र, समुद्र, पर्वत आदि प्रत्येक का जो अर्थ क्रिया-कारित्व है, योगी उसे इस समय प्राप्त कर सकता है। जो देवता जिस अर्थ या प्रयोजन का सम्पादन करता है, इच्छा करने से उस देवता में अहं अभिमान धारण कर

पाने से क्षण में स्वयं ही फूट उठता है। इस प्रकार योगी पृथ्वी से शिवत्व तक अहंभाव में अभिनिवेश-निबन्धन तत्-तत् सिद्धि प्राप्त करता है। माया तक जिस-जिस सिद्धि का उदय होता है उसका नाम गुहान्त-सिद्धि है। ये अपरा सिद्धि हैं यानी निम्न स्तर की सिद्धि हैं। सरस्वती या शुद्ध विद्या आदि सिद्धियाँ परासिद्धि हैं। ये उच्चस्तर की सिद्धियाँ हैं। इसके बाद सर्वसिद्धि के ऊपर दो महासिद्धियाँ हैं।

पहली महासिद्धि है सकलीकरण। कालाग्नि के समान तीव्र ज्वाला से छह अध्वारूपी पाश दग्ध होते हैं। उसके बाद अमृत-धारा का आप्लावन होता है। उस समय इष्टदेवता का दर्शन होता है। इस अवस्था में शोधित समग्र अध्वा का अर्थात् समस्त विश्व का गुरुपद में वरण होता है। वह जगद्गुरु हैं, समस्त विश्व के अनुग्राहक। यह भी लेकिन अपूर्ण ख्याति है। इसके बाद जो दूसरी महासिद्धि है, वही पूर्ण ख्याति अर्थात् परम शिवत्व-लाभ है। इस अवस्था में उनकी अपनी इच्छा के अनुसार भुवन आदि की सृष्टि का अधिकार उत्पन्न होता है। परमशिव का पञ्चकृत्यकारित्व सदा मौजूद रहता है। स्मरण रखना है, मुक्त शिव-मात्र ही परम शिव से अभिन्न होने के नाते पञ्चकृत्य सम्पादन के अधिकारी हैं। परन्तु अधिकारी होते हुए भी वे कृत्य का सम्पादन नहीं करते।

यहाँ पर एक रहस्य का इशारा-भर करेंगे। सिद्ध अवस्था में ऐसी एक स्थिति है, जब योगी इच्छा-शक्ति की उपेक्षा करके भक्ति की ओर उन्मुख होते हैं। जबतक इच्छा-रूप में इच्छा-शक्ति मौजूद रहती है, तबतक लक्ष्य बाहर की ओर रहता है। परन्तु, इच्छा अन्तर्मुख होते ही भक्तिरूप में परिणत होती है। उस समय योगी भक्त कुछ नहीं चाहते। मात्र उन्हीं को चाहते हैं। किसी प्रयोजन की सिद्धि उनका उद्देश्य नहीं होता, फिर भी उन्हें चाहे विना नहीं रह सकते। शंकराचार्य ने कहा है— **'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवैवाहं'** आदि। यह वही अवस्था है। इसी को श्रीमद्भगवद्गीता में 'ज्ञानी भक्त' कहकर वर्णन किया गया है। यही श्रेष्ठ भक्त हैं; क्योंकि यह नित्ययुक्त और एकभक्त हैं।

देह-सिद्धि

[१]

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः', 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्' आदि वाक्यों से पञ्चभूतमय षाट्कौशिक देह की मृत्यु अवश्यम्भावी रूप में वर्णित हुई है। महाभारत में वकरूपी धर्म ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया था : 'किमाश्चर्यम्'––आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर के उत्तर में ऐसा ही तत्त्व जाहिर हुआ था कि भूत-समूह प्रतिदिन यम के यहाँ जाता है, यह जानते हुए भी प्रत्येक प्राणी सोचता है कि संसार स्थायी होगा और उसकी मृत्यु नहीं होगी। यह एक परम आश्चर्य की बात है। इस विषय में योग-शास्त्र में कहा गया है कि सारे ही जीव स्वतः सिद्ध भाव से हृदय में प्रार्थना करते हैं कि मैं स्थायी रूप से संसार में रह जाऊँ, मुझे जिसमें अभाव न हो।

देह से हम शुक्र-शोणित द्वारा रचित योनिज शरीर समझते हैं। जीव प्रारब्ध कर्म के भोग के निमित्त यह देह धारण करता है। शास्त्र में इस देह को चेष्टा, इन्द्रिय और भोग का आश्रय कहा गया है। न्याय-वैशेषिक मत से देह-शुद्धि का यही तात्पर्य है। सांख्य मत में 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' सूत्र के द्वारा लिंग-शरीर स्वीकृत हुआ है। और, पञ्चभूतात्मक स्थूल देह स्वीकृत हुई है। वेदान्त में स्थूल देह और सूक्ष्म देह से भिन्न मूल अविद्या-रूप कारण-देह स्वीकृत हुई है। यहाँ तक गुण-मण्डल की व्याप्ति है। कार्यभेद और कारण-भेद से भौतिक देह दो प्रकार की है। और, फिर कार्यदेह भी स्थूल और सूक्ष्म––दो प्रकार की होती है। प्रचलित दर्शन, पुराण और उपपुराण में तीनों प्रकार की देह का ही उल्लेख और विचार देखने में आता है।

भौतिक देह विकारीय भाव है। इस विषय में मतभेद नहीं है। मगर इसके बावजूद मन्त्र, औषधि, तप के प्रभाव से; उपासना, योग और ज्ञान के प्रभाव से अथवा और किसी प्रक्रिया से भौतिक शरीर भी इतना अधिक निर्मल हो सकता है कि नश्वर होते हुए भी वह अविनाशी हो सकता है और मृत्यु को जीत सकता है। यह महज कल्पना नहीं, शास्त्र और अनुभव-सिद्ध है। इस विषय के अनुसन्धित्सु 'कालदहनतन्त्र' तथा 'मृत्युञ्जयतन्त्र' में कार्यसिद्धि का विवरण देख सकते हैं। चिदम्बर-निवासी रामलिंग शास्त्री ने प्रायः १०० वर्ष पूर्व कार्यसिद्धि-लाभ किया था और जुटी हुई भीड़ के सामने दिन को तिरोहित हुए थे। यह एक प्रामाणिक तथ्य है। इस सम्बन्ध में और भी सत्य घटनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

भूतसमूह स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व—ये पाँच स्वभाववाले हैं। भूतसमूह के इस पञ्चविध स्वरूप के संयम के द्वारा विजयी होने से योगी की अणिमा आदि सिद्धि और कायंसम्पत् की अभिव्यक्ति होती है। भूतजय होने से योगी का एक ओर जैसे रूप-लावण्य का विकास होता है, दूसरी ओर वैसे ही शरीर वज्र जैसा मजबूत होता है। यही मुख्य काय-सम्पत् है। सिद्ध देह भौतिक धर्म से अभिभूत नहीं होती। सिद्ध देह का यही प्रधान लक्षण है।

देह सिद्ध होने से वह जरा, व्याधि आदि विकारों से मुक्त होकर मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होती है। कभी-कभी देखा जाता है कि देह एक ही साथ अजर और अमर है। और, कभी-कभी यह देखा जाता है कि अजरत्व और अमरत्व एक साथ नहीं हैं। अजरत्व और अमरत्व ये दो धर्म जब एक ही देह में रहते हैं, तो उस सिद्ध देह को दिव्य तनु कहते हैं। और, कोई-कोई देह जरा-रहित होते हुए भी दीर्घ-काल के बाद काल का ग्रास हो जाती है। परन्तु इसके बावजूद उसमें दिव्य शब्द का गौण प्रयोग होता है। और, फिर कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि देह मरण-रहित है, मगर उसमें बुढ़ापा आता है। पर उस बुढ़ापे को सोमकला के द्वारा इच्छा-नुसार दूर किया जा सकता है। उसके बाद जब वह शरीर जीर्ण हो जाता है तो उस देह को जीर्ण वस्त्र की नाईं त्यागकर औपपदिक देह के समान बालक, पौगण्ड और किशोरावस्थावाले पुरुष की तरह नया शरीर ग्रहण किया जा सकता है। या ऐसा भी शरीर पाया जा सकता है, जिसमें अभी-अभी यौवन का उन्मेष हुआ हो। जीव का देह-सम्बन्ध जन्म, आयु और भोग की तरह प्रारब्ध कर्म के फल से होता है। भोग से प्रारब्ध का क्षय एवं देहपात होता है। इसी का नाम मृत्यु है। योग की प्रक्रिया से कायसम्पत् प्राप्त होने से केवल भूतधर्म से अनभिभव ही नहीं होता, देहपात भी निरुद्ध होता है।

सौगत मत से बोधिसत्त्व की दस भूमिरूप हेतु अवस्था में चार प्रकार के सम्पत् का आविर्भाव होता है। उनमें वज्रसार स्थिर कायसम्पत् रूप रूपकायसम्पत् उल्लेख योग्य है। श्रुति में भी ऐसे योगाग्निमय शरीर में व्याधि, जरा और मृत्यु के अभाव की बात सुनी जाती है।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।। (श्वेताश्वतर २।७१)

देह-सिद्धि की विभिन्न प्रक्रिया विभिन्न स्थलों में दिखाई पड़ती है। देह वज्रांग है और आयु की असामान्य वृद्धि होने पर भी भूत-समूह के द्वारा उसके अनभिभूत होने पर भी युगान्त, महायुगान्त, कल्पान्त या महाकल्पान्त में उस देह का

पतन अवश्यम्भावी है। अतएव देहसिद्धि भी आपेक्षिक है, ऐसा कहना उचित है। क्योंकि, देह के उपादान-समूह की सम्यक् शुद्धि नहीं होने से प्रदीप्त कालाग्नि के प्रभाव से वह दग्ध हो जाती है। परन्तु ऐसे सिद्ध पुरुष चिरंजीवी और कल्पान्त-स्थायी रूप में वर्णित होते हैं। 'अपाम् सोमम् अमृता अभूम'—इस उक्ति के द्वारा सोम-पान के प्रभाव से अमरत्व-लाभ जैसा प्रलयकाल-स्थायी है—देह भी वैसी ही है। इस प्रकार का देह-सम्पत् कालावच्छिन्न है, लिहाजा वह वास्तव नहीं। लेकिन ऐसी स्थिति किसी विशेष प्रकार की देह के लिए सही होने पर भी हमलोग जिस प्रकार की देह-शुद्धि के विषय में आलोचना कर रहे हैं, वह ऐसी नहीं। देह जब शुद्ध सत्त्वमय अथवा चिन्मय रूप में स्थिति-लाभ करती है, तो निरपेक्ष पारमार्थिक सिद्धि का उदय होता है। उस अवस्था में मृत्यु की कोई सम्भावना नहीं। इस विषय में जानने की बात यह है कि षोडशकल पुरुष की जो षोडशी कला है, वही अमृतकला और पूर्ण सोमकला है। उसके द्वारा देह का आपूरण होने से कालानल उस देह में प्रवेश नहीं कर सकता। उसके कारण देह का शोषण भी नहीं होता। इस अवस्था में देह और आत्मा अभिन्न होकर रहती हैं। यही सिद्धावस्था और मृत्युंजयता-लाभ है। सम्यक् रूप में जिस देह में साधन-क्रिया घटित होती है—आयु का क्षय होने से उसका पतन योगी की इच्छा अथवा काल के प्रभाव से होता है। परन्तु सम्यक् प्रकार से देहसिद्धि होने से वह सिद्ध देह चिन्मय रूप धारण करती है। उस समय सिद्ध योगी की देह उसका शक्तिरूप होने के कारण सिद्ध स्वरूप के ही अन्तर्गत होती है। इसलिए उस समय पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती। स्वातन्त्र्यवश सिर्फ तिरोभाव होता है। पूर्ण सामरस्य की दशा में देह और आत्मा शिव-शक्तिरूप धारण करके सर्वतोभाव से समरस होती है। वह अद्वय स्वरूप और नित्य स्वप्रकाश रहती है। इसीलिए उस समय तिरोभाव नहीं होता।

सिद्ध सम्प्रदाय में किंवदन्ती है—जिसके द्वारा सम्यक् और असम्यक् रूप से कायसिद्धि का भेद स्पष्ट रूप से प्रतीतिगोचर होता है। ऐसी प्रसिद्धि है, एक बार गोरक्षनाथ ने अल्लाम प्रभुदेव नामक किसी एक महासिद्ध के निकट आविर्भूत होकर उसके सामने अपनी भूतजय और वज्रांगता का प्रदर्शन किया था। प्रभुदेव के मत से केवल मात्र वज्रांगता-लाभ सम्यक् सिद्धि नहीं। देह की स्थिरता होने पर भी जबतक माया की निवृत्ति नहीं होती, तबतक परामुक्ति की सम्भावना नहीं। उनके मत से क्षर भूत-समूह एवं अक्षर कूटस्थ के अधीश्वर महादेव के प्रति भक्ति ही परामुक्ति का उपाय है। इस भक्ति के उदय हुए बिना देहसिद्धि होने पर भी वह परमसिद्धि-रूप में नहीं गिनी जाती।

गोरक्षनाथ ने कहा कि उनके शरीर में तीक्ष्ण धारवाली तलवार की चोट से भी कोई नुकसान नहीं होगा। प्रभुदेव के मत से छेदन-भेदन आदि क्रिया द्वारा काय-सिद्धि की परीक्षा आसुरिक परीक्षा है। इसके बावजूद गोरक्षनाथ के शरीर में खड्ग का प्रहार किया गया तो पाया गया कि कोई भी अंश छिन्न नहीं हुआ। यहाँ तक कि उसके शरीर का कोई लोमकूप भी छिन्न नहीं किया जा सका। सिर्फ देह से वज्र की चोट खाये पहाड़ की तरह आवाज होने लगी। इसपर प्रभुदेव ने कहा, कायसिद्ध योगी वात, आतप, आग, वृष्टि, पानी, हिम आदि से पीड़ा का अनुभव नहीं करते। इस प्रकार से योगी जरा-मृत्यु-वर्जित होता है, सिद्ध योगी सब प्रकार के बन्धन का वर्जन करके ईश्वर में पूर्ण समाहित होता है। सारी बातें सुनकर गोरक्षनाथ प्रभुदेव की परीक्षा लेने को तैयार हुए। तलवार लेकर उन्होंने तरह-तरह से प्रभुदेव के शरीर पर चोट की। परन्तु चोट खाते समय प्रभुदेव आकाश की नाईं अचल रह गये। चोट कहीं रुकी, ऐसा समझ में नहीं आया। इस आश्चर्य सिद्धि को देखकर गोरक्षनाथ दंग रह गये। उनके अपने शरीर में चोट के समय आवाज उठी थी, लेकिन प्रभुदेव का शरीर आकाश के समान निःशब्द रहा। प्रभुदेव ने कहा—'काये धनी भवति सापि धनैव माया'।

रस-सम्प्रदाय में बहुत प्राचीन काल से जीवन्मुक्ति के साधन के लिए काय-सिद्धि की उपयोगिता की जानकारी थी। रस-तत्त्वविद्गण कहते हैं, इस शरीर में परमार्थ संवेदन का होना आवश्यक है। शरीर-त्याग के बाद ज्ञान-लिप्सा निरर्थक है। परन्तु नाना प्रकार की व्याधि, जरा, मरण आदि दुःखों से तापित क्षणभंगुर शरीर के द्वारा मन के अगोचर पूर्ण ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं। इसलिए महाज्ञान प्राप्त करने के पहले ही अणिमादि अष्टसिद्धि-सम्पन्न स्थिर देह पाने का प्रयत्न करना जरूरी है। दिव्य देह के निर्माण के लिए शिव-वीर्य पारद और शक्ति-बीजात्मक अभ्रक की उपयोगिता रसतन्त्र में बारम्बार लिखी गई है और इसीलिए देह को हर-गौरी-सम्भूत कहा जाता है। पारद चूँकि शिव का अंगजात है, इसलिए उसे रस कहा जाता है। अट्ठारह संस्कार से संस्कृत रस एक ओर जिस प्रकार लोहे को छेदने में समर्थ होता है, उसी प्रकार उसी के द्वारा देह के वेधन की क्रिया भी सम्पन्न होती है। रस से लोहे का वेधन होने से वह सोने में बदल जाता है और उसके द्वारा नर-देह का वेधन होने से वह सिद्ध देह में परिणत होता है। वेधक्रिया के द्वारा देह के सम्यक् रूप से शुद्ध होने पर देह आकाश-गमन आदि कार्य करने में समर्थ होती है। रसायनशास्त्र का उद्देश्य लोहे को सोने में बदलना नहीं है, बल्कि देह को अमरता दिलाना है। लोहे का वेधन इसलिए होता है ताकि समझा जा सके कि रस सम्यक् रूप से संस्कार-विशिष्ट हुआ है—और किसी कारण से नहीं। जीव को पार प्रदान

करता है, इसलिए उसका नाम 'पारद' है। शिवशक्ति-बीजरूप पारद और अभ्रक—दोनों के संघट्ट से रसदेह की अभिव्यक्ति होती है। अनित्य भौतिक देह जिस प्रकार रज-वीर्य के सहयोग से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार रस-देह भी शिव-शक्ति के सामर्थ्य से पैदा होती है। जो लयप्राप्त और जिसमें वह लीन होता है—उन दोनों में साम्य होता है। जो पारद अभ्र को ग्रास करता है, उसमें सुवर्ण आदि के लीन होने से अमृत-सत्ता प्रकट होती है, जिससे देह की स्थिरता होती है।

देह की सिद्धि प्राप्त होने से समस्त मन्त्रवर्ग, शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत सभी देवता रससिद्ध पुरुष के किंकर होते हैं। अनादि काल से बहुतेरे उपासक यह देह प्राप्त करके सिद्ध रूप में परिचित हुए हैं—उनमें से महेश्वर, दत्तात्रेय, शुक्राचार्य आदि के नाम का उल्लेख किया जा सकता है। इसी तरह मंथान भैरव, सिद्ध बुद्ध, नागार्जुन, नित्यनाथ, बिन्दुनाथ आदि का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। प्रसिद्धि है कि ये अमर देह प्राप्त करके, काल की वंचना करके त्रिलोक में विचरण करते हैं। चतुष्पाद ब्रह्म का केवल एक पाद मृत्यु से व्याप्त है—बाकी पादत्रय 'अमृतम् दिवि' अर्थात् मृत्युहीन और दिव्य हैं। वे अपनी महिमा में विराजते हैं। सारा जगत् एक पाद में स्थित है, चल-स्वभाव होने से वह हेय है, पर त्रिपाद-विभूति उपादेय और मन के अगोचर है। वह ब्रह्मतत्त्व केवल योगगम्य है। योग शब्द को यहाँ प्रकृति और पुरुष का शुद्धि-साम्यमूलक समझना होगा। नरदेह प्राकृत होने के कारण स्वभावतः मलिन है। अतएव योग-सम्पादन के पहले ही उसका विशुद्धि-सम्पादन जरूरी है। योग के द्वारा आत्म-संवेदन होता है और समस्त जगत् की भासक चिद्ज्योति का आविर्भाव होता है। देह की काल-ग्रास-शंका जबतक दूर नहीं होती, देह और आत्मा का वह योग सम्भव नहीं और उपयुक्त चिद्ज्योति का स्फुरण नहीं होता। वह ज्योति सभी क्लेशों से मुक्त, विकल्पहीन, शान्त, एक, स्वयंवेद्य है। मन के योग के फल से विश्व चिद्रूप में भासमान होता है—सभी कर्म छिन्न होता है। बहिःप्रवण इन्द्रियगण प्रत्याहृत होते हैं और चिरकाल के लिए राग-द्वेष का परिहार होता है। मानव-जीवन की पूर्ण सफलता इसी में निहित है। वैसे में देह तेजोरूप होकर अपने शक्तिरूप में परिणत होती है।

अरब देश के रसायनविदों के अनुसार सब वस्तुओं में दो अंश हैं। उनमें एक भाग जड़ और पार्थिव तथा दूसरा भाग सूक्ष्म और चेतन, लघु और ज्योतिर्मय है। एक देह है, दूसरी उसकी आत्मा। वह सूक्ष्म अंश, जो स्थूल से बलवान् है, आत्मरूप है। वह आत्मा स्थूल में अनुप्रविष्ट होकर स्थूल को किसी उपाय से परिवर्तित करता है।

रसविदों का पहला कर्त्तव्य है स्थूल और सूक्ष्म को अलग करना। उसके बाद स्थूल में उसके अनुरूप सूक्ष्म सत्ता का संचार करना चाहिए। इसी का नामान्तर

है योग से योग्य की योजना। रसविद्या के निष्णात, कर्मकुशल और धी-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति स्थूल सत्ता से निकली सूक्ष्म सत्ता को पुनः खींचकर स्थूल में फिर से स्थापित कर सकते हैं। स्थूल सत्ता की यहाँ तक शुद्धि की आवश्यकता है कि जिसमें वह वेग से अपने अनुरूप स्थूल सत्ता में प्रवेश कर सके। उसे इतनी दूर तक शुद्ध करना चाहिए कि वह तेजोरूप धारण करके बाह्य तेज को भी प्रतिहत कर सके। इस विषय में पर्यालोचना करने से समझ में आता है कि रसतत्त्वविदों का उद्देश्य प्राकृत सत्ता को अप्राकृत सत्ता में परिणत करना था। अप्राकृत सत्त्व, रज, तम से संश्लिष्ट नहीं और वह घनीभूत है। लिहाजा वह अखण्ड स्वभाव है। संयोगकाल में वह संघर्ष सह सकता है।

नाथ-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक तो आदिनाथ थे, पर दुनिया में वह मत्स्येन्द्र नाथ द्वारा प्रचारित हुआ। आगे चलकर गोरक्षनाथ, जलन्धर, चौरंगी, भर्तृहरि आदि विशिष्ट योगी उस सम्प्रदाय में आविर्भूत हुए। ऐसा सुना जाता है कि कपिल, मार्कण्डेय, याज्ञवल्क्य आदि हठयोग के उपदेष्टा थे। नाथ-योगियों में कोई-कोई देह-सिद्धि के लिए रस-प्रयोग, कोई-कोई वायु-प्रक्रिया और कोई-कोई विन्दु-सिद्धि के लिए अलग-अलग उपायों का सहारा लेते थे। वे सब उपाय योग-प्रक्रिया रूप में परिगणित होते हैं। ये नाथ-योगीगण लोकोत्तर योगसिद्धि के अधिकारी थे। परन्तु इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि महाज्ञान के अलावा कायसिद्धि का कोई उपाय नहीं है। यही उनका मुख्य सिद्धान्त है। परपिण्ड से लेकर स्वपिण्ड तक समस्त पिण्डों का ज्ञान सम्पन्न होने के बाद परम पद में समरसता प्राप्त होती है। परन्तु आत्म-विश्रान्ति के सिवा पिण्ड और परम का समरसी भाव सम्भव नहीं। इसलिए पहले विश्रान्ति चाहिए। उस विश्रान्ति के कारण सद्गुरु स्वयं हैं। वह वाक्य या दृष्टि के द्वारा शिष्य के चित्त का विश्रान्ति-सम्पादन करते हैं। विश्रान्ति के बाद परमपद का साक्षात्कार आवश्यक है। यह साक्षात्कार दुस्साध्य तो है, पर विश्रान्त चित्त के लिए बहुत-कुछ सुकर है।

परमपद के साक्षात्कार के वाद परमपद और अपने पिण्ड में सामरस्य करना जरूरी है। तव अत्यावश्यक निरुत्थान दशा का उदय होता है। परमपद स्वयंवेद्य एवं वाक्य और मन के अगोचर है।

महत्त्वपूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के वाद योगी अपने स्वरूप के अनुसन्धान की इच्छा से अपना आवेश प्राप्त करते हैं और निरुत्थान दशा भी प्राप्त करते हैं। सच्चिदानन्द-चमत्कार, अद्भुत आकार-समूह का प्रकाश, प्रबोध, परमपद-प्रवेश आदि क्रम से धीरे-धीरे प्राप्त होते हैं। इस अनुभव के फलस्वरूप अपने पिण्ड की सिद्धि होती है। और तब सिद्ध अपने पिण्ड से परमपद का एकाकारत्व करते हैं।

इस मार्ग में कहीं-कहीं क्रमिक चार ज्ञान की बात का उल्लेख देखने को मिलता है। ये हैं—सहज, संयम, सोपाय और साद्वय। इनके आविर्भाव के फलस्वरूप प्रकृष्ट निरुत्थान दशा के पूर्वांग-रूप आत्मविश्रान्ति सुलभ होती है।

आचार्य वलभद्र के मत से परम्परा-प्राप्त सन्मार्ग-प्रदर्शक पुरुष ही गुरुरूप में स्वीकृत है। आत्मविश्रान्ति देने की शक्ति सिर्फ उन्हीं में है। जो उनके दिखाये पथ पर चलते हैं, वे स्वयंसंवेद्य वस्तु को देख सकते हैं, परमात्मा-स्वरूप सद्‌गुरु की कृपा-दृष्टि ही सभी प्रकार के कल्याण का मूल है। योगी सभी प्रकार की सिद्धि को त्यागकर स्वात्मैकवेद्य निरुत्थान दशा प्राप्त करते हैं और अपने पिण्ड को समरस कर सकते हैं।

पहले निजावेश उत्पन्न होता है, उसके बाद महानन्द दशा अभिव्यक्त होती है और उसके साथ अमल प्रकाश का आविर्भाव होता है। यहाँ तक हो चुकने के बाद निखिल भेद विगलित होकर अभेदमय चैतन्यभासक परमपद का उन्मेष होता है। उसके अनुभव के फलस्वरूप अपने पिण्ड का सम्यक् ज्ञान होकर परमपद में अपने पिण्ड का निर्वाण या ऐक्य होता है। अपना किरणपुंज निज रूप में साक्षात्कृत होता है। यही सामरस्य अद्वय तत्त्व है। अवधूतगीता में कहा गया समतत्त्व यही है। अमनस्क-वर्णित भावाभाव विनिर्मुक्त नाश और उत्पाद-रहित। सर्वसंकल्प-वर्जन और परब्रह्म-दशा भी इसी का दूसरा नाम हैं।

महाज्ञान के द्वारा परमशून्य योग मिलता है। आदिनाथ श्रीशंकर से यह ज्ञान मत्स्येन्द्रनाथ की तरह गोरक्षनाथ ने भी प्राप्त किया था। सिद्ध-नाथ योगियों की नामावली में बहुत-से नाम देखे जाते हैं। ये सब नाम रस-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। कहीं-कहीं ८४ सिद्धों के नाम देखने को मिलते हैं। उनमें से कोई-कोई रसमार्ग में सिद्ध, कोई-कोई हठयोग से सिद्ध और कोई तान्त्रिक प्रक्रिया या विन्दु-साधन के द्वारा सिद्ध हुए थे। इस सम्बन्ध में किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचना कठिन है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रायः सभी मार्गों में एक मार्ग देखा जाता है। वह ब्रह्ममार्ग है। वही शून्य पदवी के नाम से प्रसिद्ध सुषुम्णा नामक मध्यमा प्रतिपत् है, जिसका वर्णन इस प्रकार किया जाता है—

'भोक्तृ सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम्।'

अर्वाचीन काल में वज्रयान-मार्ग में गमनशील साधकों के भाव से भावित वाऊल और सहजिया साधकों के भाव से प्रभावित हो नाथ-योग-मार्ग ने कुछ विशिष्टता प्राप्त की है। उसके फलस्वरूप वे कायसिद्धि के लिए अत्यन्त गुह्य चार-चन्द्र के साधन नामक उपाय का सहारा लेते हैं। इस मत में सापेक्ष और निरपेक्ष—

द्विविध अमरत्व स्वीकृत होता है। सापेक्ष अमरत्व वास्तव में नाथ-निरंजन-पदलाभ है और वही पूर्णता है। सापेक्ष अमरत्व सिद्ध-पद-लाभ है। अमृतधारा का स्रावण और उससे देह-संजीवन उस प्रकार की अमरता प्राप्त करने के उपाय-रूप में वर्णित होता है। अधोमुख सहस्रदल-कमल को ऊर्ध्वमुख करके उस कमल के अमृत से मन का अभिषेक करना आवश्यक है। वहाँ प्रणव का ध्यान करना चाहिए। ब्रह्मरन्ध्र और त्रिवेणी का द्वार बन्द करना आवश्यक है। इस उपाय के अवलम्बन से सुधाधारा फिर नीचे नहीं गिर सकती। योगियों के अनुसार यह क्रिया आकाश-चन्द्र-भेद के नाम से परिचित है। यहाँ यह जानना जरूरी है कि देह-रस अमृत-रूप में परिणत होकर ऊर्ध्वगामी वायु द्वारा ऊपर जाता है और सहस्रार में संचित रहता है। इस मत से चार प्रकार का चन्द्र स्वीकृत है–(१) आदि चन्द्र, (२) निज चन्द्र, (३) उन्मद चन्द्र और (४) गरल चन्द्र।

रसात्मक निज चन्द्र को खींचकर आकाश-चन्द्र की योजना करना आवश्यक है। ऊर्ध्वगति के कारण रस अमृतरूप में परिणत होता है। आकाश-चन्द्र सहस्रार से संलग्न हो–योगी इस रूप में गरल-चन्द्र का पान करेंगे। गरल-चन्द्र का पान और प्रणव का ध्यान जरूरी है। गरल-चन्द्र के द्वारा देह और मन का शोधन और संजीवन होने से सिद्ध देह की प्राप्ति होती है।

महायानी बौद्धों ने भी काय-साधन के उपदेश किये हैं। वे कहते हैं, परप्रज्ञा-लाभ के लिए बोधिसत्त्व-भूमि में प्रवेश करना चाहिए और भूमिभेद करना भी जरूरी है। इसके प्राप्त होने से प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति होती है। और वही बुद्धत्व-सम्पादक महाज्ञान है। जबतक प्रक्लिष्ट अज्ञान मौजूद है, तबतक पूर्णत्व प्राप्त करना सम्भव नहीं एवं सम्यक् सम्बोधि भी नहीं मिलती। बोधिसत्त्व का कायसम्पत् हेत्वावस्था में ही उत्पन्न होता है।

तान्त्रिक बौद्ध मत से कोई रसात्मक बिन्दु को बोधिचित्त कहते हैं। इसे चतुर्दश कमल से ऊपर उष्णीष-कमल में स्थापित करना योग-साधना का फल है। षट्चक्र-भेद की तरह उत्थापन-क्रिया बहुत कठिन है। पहले बिन्दु के नीचे के चक्र में स्थिति जरूरी है। उसके बाद निर्माण-चक्र से उसे महासुख-चक्र में उठाना पड़ता है। वहाँ बोधिचित्त का उदय होता है। वह कर्ममुद्रा का स्थान है। उद्भव का तात्पर्य है क्षोभ। उसके बाद क्षुब्ध बिन्दु को अवधूती नामक मध्य मार्ग से संचालित करना होता है। क्षुब्ध बिन्दु के ऊपर जाने के मार्ग में भिन्न-भिन्न आनन्द आस्वादित होता है। बिन्दु के अधोगमन में भी आनन्द की अभिव्यक्ति अवश्य होती है, लेकिन वह अस्थायी और मलिन होती है, इसलिए त्याज्य है। बिन्दु की अधोगति के फल से जैसे कामदेह की उत्पत्ति होती है, वैसे ही उसके ऊर्ध्वगमन से दिव्य देह प्रकट होती है।

[२]

काय-साधन के विषय में यह जानना आवश्यक है कि जिसमें किसी भी प्रकार से बिन्दु का अधःस्खलन न हो, नहीं तो मृत्यु अवश्यम्भावी है। योगियों ने कहा है—मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात्। बिन्दु की ऊर्ध्वगति के सम्पादन से काय-साधन सम्पन्न होता है। स्वभावतया विन्दु मलयुक्त होता है, इसलिए वह अधोगति-सम्पन्न होता है। उस अशुद्ध विन्दु को बौद्ध तान्त्रिकगण संवृति-बोधिचित्त के नाम से अभिहित करते हैं। अशुद्ध विन्दु को भूमि-प्रवेश का सामर्थ्य नहीं है, लिहाजा उसके द्वारा भूमिभेद भी सम्भव नहीं और उससे प्रज्ञा की शुद्धि भी नहीं हो सकती। इसलिए बुद्धत्व-लाभ दूर की बात होती है। इसलिए सबसे पहले शोधन-शक्ति और निरोध-शक्ति के द्वारा बिन्दु की अधोगति का रोध करना जरूरी है। उसके बाद कर्ममुद्रा से ऊर्ध्वस्रोत खुलने पर अमरता का मार्ग सिद्ध होता है। यहीं पर बुद्ध-भाव का उदय होता है। निर्माण-चक्र में विन्दु की गति और स्थिति के फलस्वरूप जिस काय का उदय होता है, उसका नाम निर्माणकाय है। विन्दु के ऊर्ध्वगमन के साथ-साथ आनन्द का भी तारतम्य होता है। अवधूती मार्ग का सहारा लेकर बोधिचित्त जब धर्मचक्र तक उठता है, तब पूर्वोक्त आनन्द परमानन्द में परिणत होता है। निर्माण-चक्र में जो कर्ममुद्रा है, धर्मचक्र में वह धर्ममुद्रा है। इस अवस्था में बोधिचित्त योगी के शिरोदेश में रहता है। इसके बाद उत्कर्ष-लाभ होने पर सम्भोग-चक्र में विरामानन्द का अनुभव होता है—इस समय की मुद्रा का नाम महामुद्रा है। परमानन्द और विरामानन्द क्रमशः भव और निर्वाण-रूप हैं। इस समय समयमुद्रा कार्यकरी होती है, परन्तु यह भी पूर्णता-लाभ नहीं है। यहाँ क्लेश-आवरण और ज्ञेय-आवरण की निवृत्ति होती है तथा भव और निर्वाण एकाकार हो जाता है। इससे ऊपर महासुख-चक्र में सहजानन्द की उपलब्धि होती है। उस समय अहंबोध बिलकुल लुप्त हो जाता है।

निर्माण-काय में जैसे बुद्ध के निर्माणकाय का आविर्भाव होता है, वैसे ही धर्म-चक्र में धर्मकाय, सम्भोगचक्र में सम्भोग-काय और महासुख-चक्र में महासुख-काय की अभिव्यक्ति होती है। यही दिव्य देह का प्रकटन है। इस स्थिति में दिव्यचक्षु, दिव्य श्रोत्र, सर्वज्ञत्व, विभुत्व आदि महागुण का आविर्भाव होता है। सबसे अन्त में सम्यक् सम्बुद्ध रूप में बोधिचित्त की स्फूर्त्ति होती है।

आनन्द ही अमृत है। चद्रकला से उसका उन्मेष होता है। बोधिचित्त जब अवधूती मार्ग से ऊपर जाता रहता है, उस समय भिन्न-भिन्न प्रकार के आनन्द का उन्मेष होता है। षोडश कलात्मक चन्द्र की पहली पाँच कलाओं से धर्मचक्र में परमानन्द का आविर्भाव होता है; बीच की पाँच कलाओं और अन्तिम पाँच कलाओं से दूसरे प्रकार के दो आनन्द का उद्भव होता है। अमृता नामक षोडशी कला महासुख-

चक्र में सहजानन्द-रूप में अनुभूत होती है । यही अमृतकला मानव-देह में अमरता लाती है ।

सहज साधक वैष्णवगण भी काय-साधन को साधना का उद्देश्य मानते हैं । वे कहते हैं, देह में चार सरोवर हैं । काय-साधन में सिद्ध होने से ये सरोवर अभिव्यक्त होते हैं । सरोवर में से दो बायें और दो दायें हैं । ये प्रकृति-पुरुष-रूप हैं । काम-सरोवर तथा मानसरोवर बायें हैं, प्रेम सरोवर और अक्षय सरोवर दायें हैं । सन्तवाणी जाता है कि मानसरोवर में स्नान करने से व्यापक मनोराज्य की प्राप्ति होती है । बाद में उसे पार करके महाशून्य को भेद करना चाहिए । नहीं तो चिदानन्दमय भगवान् के धाम की प्राप्ति नहीं होती । महाप्रलय में समस्त जगत् का नाश होने पर भी केवल अक्षय सरोवर ही मौजूद रहता है । अक्षय सरोवर ही भगवद्धाम है ।

मानदेह में यह स्थान मस्तक के सहस्रदल कमल में है । यह सहजपुर है । अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का भेद होने पर यह मिलता है । यहाँ काल नहीं है, जरा नहीं है, मृत्यु भी नहीं है ।

सहज साधकगण काय-सिद्धि के लिए तीन भूमियाँ मानते हैं । पहली प्रवर्त्तक भूमि, दूसरी साधक भूमि, तीसरी सिद्ध-भूमि । पहली भूमि में नाम-साधना । जबतक महासिद्धि नहीं मिलती, तबतक प्रवर्त्तक अवस्था को पार करना सम्भव नहीं । दूसरी भूमि में भाव-साधना और प्रेम-साधना । भावदेह पाने के बाद उस देह में साधन चलता है । सिद्धावस्था में तीसरी भूमि में रसमय तनु प्राप्त होता है और श्रीभगवान् के नित्यलीला-मण्डल में प्रवेश मिलता है ।

मृत्यु के समय जीव नया शरीर ग्रहण करके जीर्ण काया को त्यागता है, यही वस्तुस्थिति है । इस तरह से नया-नया शरीर धारण करने से शरीर की शुद्धि अवश्य ही होती है, परन्तु चरम शुद्धि इससे भी नहीं आती । प्राकृत सत्त्व शुद्धि के प्रकर्ष से जैसे अप्राकृत सत्त्वरूप नहीं होता; क्योंकि पूर्वोक्त प्राकृत सत्त्व में सत्त्व, रज, तम जरूर ही रह जाता है, वैसे ही देह से देहान्तर-लाभ होने पर भी उसमें अशुद्ध माया का लेश रह ही जाता है, शुद्ध माया का योग उसमें नहीं आता ।

सिद्ध-सम्प्रदाय के अनुसार माया तीन प्रकार की है—अशुद्ध माया, शुद्ध माया, महामाया । शुद्ध माया यहाँ शैवागम-प्रसिद्ध बिन्दुतत्त्व या महामाया है, प्रायः चित्-शक्तिरूपा अशुद्ध सत्त्व विकार स्वभाव, शुद्ध सत्त्व लेकिन अविकारी । इसलिए सम्यक् देह-शुद्धि करने के लिए अशुद्ध मायाजात देह को शुद्ध माया-कोटि में लाना आवश्यक है । जब ऐसी शुद्धि होती है, तो माया से होनेवाले विकार दूर हो जाते हैं । परन्तु शुद्ध मार्ग में अवस्थित मुक्त पुरुष के अनुग्रह के विना शुद्ध देह की उत्पत्ति सम्भव नहीं । जबतक अशुद्ध प्राकृत देह शुद्ध माया-देह के रूप में परिणत नहीं,

होती, तबतक संसार तथा मृत्यु की निवृत्ति नहीं होती। कर्म का अभाव हो जाने पर भी अशुद्ध देह का बीज उस समय तक रहता है, अतएव संसरण होगा ही। पर वह संसरण स्वेच्छाधीन है। वह किसी कर्म के अधीन नहीं। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो सूक्ष्म कर्म वहाँ भी रहता है। शुद्ध मार्ग में अवस्थित पुरुष की कृपा पाने से बीज-लाभ होता है तथा अशुद्ध देह की शुद्धि भी होती है। उस समय मृत्यु होती है। मुक्त पुरुष के अनुग्रह से अशुद्ध माया शुद्ध माया में बदल जाती है और तब देह को भी अमरता मिलती है।

यह शुद्ध देह अमृतकलामय 'प्रणवतनु' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रणवतनु का पाना जीवन्मुक्ति है। ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष जीव होते हुए भी ईश्वरकल्प हैं। वे शुद्ध और अशुद्ध जगत् के सन्धिस्थान में रहते हैं। अशुद्ध जगत् से उनका सम्बन्ध थोड़े समय के लिए रहता है। उनकी परामुक्ति आसन्न होती है। जब उन्हें परामुक्ति मिलती है, वे चिन्मय ज्योतिस्वरूप अवस्थान करते हैं और देह ज्योति-रूप में रहती है, तब माया का सम्बन्ध नहीं रहता, शुद्ध माया भी उस समय नहीं रहती। जीवन्मुक्त की देह शुद्ध मायामय है, परमुक्त की देह महामायामय। परमुक्त पुरुष की देह ज्ञानमय होती है, वहाँ देह और आत्मा का भेद जाता रहता है। प्रणव-देहधारी जीवन्मुक्त पुरुष मुमुक्षु मायाग्रस्त जीवों का माया के गर्भ से उद्धार करते हैं। शुद्ध वासना की मुक्ति होने पर वे शुद्ध माया-राज्य का भी त्याग करते हैं। उनका शरीर अकस्मात् दिव्यलोक में ही तिरोहित होता है। सिद्धों का कहना है, देह में रहते हुए ही जीवन्मुक्ति की प्राप्ति करनी होगी, मृत्यु के बाद नहीं। सिद्धमत से मनुष्य का एकमात्र कर्त्तव्य है देहशुद्धि और चित्तशुद्धि। दोनों के मिलन' से परम सत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। रससिद्ध और नाथ-योगियों का भी यही सिद्धान्त है।

प्रतीच्य देशों में भी काय-सिद्धि के सम्बन्ध में अनुशीलन होता था। उन देशों की गुप्त संस्कृति और प्राचीन इतिहास की आलोचना से इस विषय में काफी जानकारी होती है। ख्रीष्टीय सम्प्रदाय के प्रामाणिक तथ्यों का उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

बाइबिल के नवविधान (New Testament) के चौथे खण्ड में अप्राकृत जन्म शब्द का उल्लेख मिलता है। इससे लगता है कि उस शब्द के द्वारा दिव्य-देह की प्राप्ति की बात ही कही गई है।

ज्ञान से ज्ञेय का भेद दूर करके ज्ञान को ज्ञेय में बदल देने की शक्ति ही महाज्ञान का लक्षण है। मनुष्य के शरीर में अनादि काल से असंख्य शक्ति सोई पड़ी है। उन शक्तियों को नहीं जगा सकने से ज्ञान महाज्ञान में नहीं परिणत हो सकता। फलस्वरूप आत्मविकास भी नहीं होता और उसके अभाव में स्वरूप-प्रतिष्ठा भी

नहीं हो सकती। शक्ति के जागरण का उपाय अन्तर्दृष्टि का उन्मीलन है। उन्मीलित शक्तियों के द्वारा ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता आती है तथा जरा-मरणादि विकार-वर्जित एवं मल और पापलेशहीन दिव्य देह का उद्भव होता है।

यही द्विजत्व देनेवाला दूसरा जन्म (Regeneration या Birth from Above) है। हमारे देश में जैसे उपनयन-संस्कार के प्रभाव से अथवा दीक्षा के फलस्वरूप शुद्ध देह का उदय होता है, वैसे ही ईसाई-सम्प्रदाय में भी दीक्षा (Baptism) के प्रभाव से शुद्ध देह मिलती है—शास्त्र में ऐसा वर्णित है।

अब प्रश्न यह है कि अन्तर्दृष्टि का उन्मीलन कैसे होता है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय के अनुसार पूर्ण सत्य, अखण्ड, एकरसस्वभाव है। वह महासाम्यरूप है। सभी प्रकार के कारण के अगोचर होने से वह निर्विकल्प-स्वरूप वस्तु द्वैत भी नहीं, अद्वैत भी नहीं। इस मत से एक अचिन्त्य बाह्य सत्ता स्वीकृत होती है, उसे हम विश्व-सृष्टि का मूल एक आदि द्रव्य कह सकते हैं। सृष्टि के समय में इस सत्ता में क्षोभ उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप वह विभक्त होकर सूक्ष्म और स्थूल नाना प्रकार के असंख्य जड़ अंशों में परिणत होता है। पूर्ण सत्ता के बाहर क्रमशः नित्य और अनित्य मण्डल का उदय होता है। उनमें नित्य-मण्डल सत्य और अनित्य-मण्डल मिथ्या है। पूर्णत्व इन दोनों की अतीत अवस्था है। नित्य-मण्डल निर्विकार है, अनित्य-मण्डल विकारमय। नित्य-मण्डल में एकता का भान होते हुए भी बहु की समष्टि होने के कारण उसमें वास्तविक एकता नहीं होती। हाँ, समष्टिगत वैकल्पिक अवस्था उसमें है। सांख्यसम्मत प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। परन्तु साम्यावस्था में उसमें जिस कोटि की एकता होती है, वैसी एकता नित्य-मण्डल में है। पूर्ण स्वरूप में जो एकता है, साम्यरूप नहीं होने से वह विलक्षण स्वभाव है।

यह नित्य-मण्डल श्रीभगवान् का भाव-रूप अथवा कल्पना-रूप है। सृष्टि के समय वह भौतिक रूप में प्रकट होता है, परन्तु सृष्टि के उन्मेष-काल में वे दोनों मण्डल अव्यक्त अवस्था में रहते हैं।

नित्य-मण्डल का चिद्रूप (Logos) में अधिष्ठान होता है। इसके साथ सृष्टि-प्रकृति (Archeus) का क्या सम्बन्ध है? ईसाई योगियों के मत से यह चित् और अचित् सत्ता समकालीन और समभावापन्न कही जाती है। यह चित् मूल द्रव्य में आच्छन्न अवस्था में रहता है। और, मूल द्रव्यरूप प्रकृति भी चित्-स्वरूप की प्राण-शक्ति है। सांख्य मत में जैसा सत्त्व और पुरुष में सम्बन्ध स्वीकृत हुआ है, वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिए। चित् ज्योतिरूप में प्रतिभात है। द्वैत शैवमत में जिस प्रकार विन्दु के क्षोभ के कारण चित्-शक्ति की अभिव्यक्ति-रूप ज्योति का प्रकाश स्वीकृत होता है, यहाँ भी बहुत-कुछ वैसा ही है। अखिल सृष्टि, सब प्रकार की स्थूल-सूक्ष्म देह,

इसी ज्योति से ही आविर्भूत होती है। ईसाई योगियों की परिभाषा में इस ज्योति को Pneuma कहते हैं।

ज्योतिरूप यह मूल शक्ति समस्त जड़ वस्तु में निहित है और उसी के प्रभाव से भिन्न-भिन्न उपादान भिन्न-भिन्न कार्यरूप प्राप्त करते हैं। नवविधान में Paraclete नाम से जीवात्म-शक्ति की बात उल्लिखित होती है। वह इस मूल शक्ति का ही नामान्तर है।

महाज्ञान के सम्पादन में यही शक्ति काम करती है। इसे छोड़कर कोई भी निर्माण-कार्य नहीं हो सकता। भारतीय योगी-समाज की नाईं ईसाई योगी-सामज में भी पिण्ड और ब्रह्माण्ड का एकत्व स्वीकृत होता है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, वह सब कुछ पिण्ड में भी दिखाई पड़ता है—जो पिण्ड में है, वह ब्रह्माण्ड में है। वाह्य प्रपञ्च में कारण, सूक्ष्म और स्थूल—इस प्रकार तीन भूमियाँ हैं। पूर्वोक्त अन्तर मण्डल (Logos) ही कारण-भूमि है। वह ज्योतिर्मय है।

मध्यभूमि मनोमय (Psychic) है; वह सूक्ष्म है। अन्तिम भूमि भौतिक है—स्थूल। वह सब प्रकार से इन्द्रिय-ग्राह्य है। स्थूल और सूक्ष्म के अन्तराल में एक भूमि है, किन्हीं के मत से वह स्थूल के अन्तर्गत है और किन्हीं के मत से सूक्ष्म के अन्तर्गत। वह भूमि कल्पनामय है। इसी प्रकार मानव की अन्तःसत्ता में भी तीन भूमियाँ हैं। वे कारणरूप, सूक्ष्मरूप और स्थूलरूप तथा कारणादि देहत्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कारण-देह (Pneumatic body) ज्योतिर्मय है, कहीं-कहीं वह आत्मरूप (Spiritual body) देह के नाम से भी वर्णित है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा निरीक्ष्यमाण होने से वह अण्डाकार प्रभामण्डल के रूप में प्रतिभात होता है और उसमें पूर्व वर्णित ज्योति (Paraclete, Logos) सोई-सी रहती है। उसका उद्दीपन होने से वह मानव के अध्यात्म-जीवन को निर्मल कर सकता है। जागरण के समय वह तीव्र प्रकाश-शक्ति के रूप में बिजली की चमक की तरह साँप की गति से लरजती है। यह शक्ति अमित है। भारतीय योगशास्त्र में इसे कुण्डलिनी कहते हैं। प्राचीन काल के यवन-शास्त्र में भी इस शक्ति के कुण्डलाकार साँप-जैसी होने के कारण इसे Spirema नाम से अभिहित किया जाता था। जब इस शक्ति का कुण्डल भंग होता है, तब यह वैद्युती शक्ति कारण-देह के अन्तःस्थित सत्त्व को ग्रहण करके ज्योतिर्मय देह की रचना करती है। इस देह का निर्माण-कौशल ही दीक्षा के नाम से प्रसिद्ध है। रहस्य-विद्गण चित्-उज्ज्वल इस देह को Augoeides शब्द से अभिहित करते हैं। अजर-अमर इस देह को सौरदेह भी कहा जाता है। इस देह में अचिन्त्य वैशिष्ट्य वर्त्तमान है। इसका आकार पूर्वोक्त विद्युत्-ज्योति में निमग्न रहता है। योग-

साधना के बल से और श्रीभगवान् के अनुग्रह से यह दिव्य, मृत्युहीन देह मूल आकार का अनुसरण करते हुए क्रमशः अभिव्यक्त होती है। यह स्वयंप्रकाश देह सोने की ज्योति-मण्डित मालूम होती है। उपनिषद् में वर्णित हिरण्मय ज्योति का यह घनीभूत रूप है। अवयव का संघात नहीं होने से यह अखण्ड है। अवयव नहीं है, इसलिए इसे विभक्त नहीं किया जा सकता। इसलिए यह अविनाशी, अपरिणामी, अजर और अमर है। स्वयंप्रकाश होने के कारण इसके प्रकाश में बाह्य आलोक की आवश्यकता नहीं होती। अन्तःकरण या करण-शक्ति की भी अपेक्षा नहीं होती।

सूक्ष्म मनोमय देह चान्द्र देह के नाम से परिचित है। मन की चन्द्रात्मकता हमारे देश की प्रसिद्ध बात है। सौरदेह और चान्द्रदेह दोनों ही ज्योतिर्मय हैं। इस दृष्टि से समान होते हुए भी दोनों में भेद है। सौरदेह निरावयव, अखण्ड होती है, चान्द्रदेह सावयव। सावयव होने के नाते विनाशधर्मी होती है। सौरदेह अविनश्वर है।

स्थूल देह भौतिक है, यह सभी जानते हैं, इसलिए उसकी चर्चा बेकार है। सूक्ष्मदेह के छायारूप एक देह होती है, मृत्यु के बाद कोई-कोई जीव उसे ग्रहण करते हैं, मृत्यु के पहले भी उसका ग्रहण हो सकता है। यह मनुष्य के लिए प्रायः हानिकर है, अतः इस विषय की आलोचना निरर्थक है। उस छायामय देह से आत्मरक्षा करना जरूरी है, नहीं तो धर्मजीवन में उन्नति कठिन है।

योगशास्त्र में ज्ञान-चक्षु को तृतीय नेत्र के नाम से अभिहित किया जाता है। पूर्वोक्त संजीवनी शक्ति के प्रभाव से नेत्र की सूक्ष्म क्रिया उन्मिषित होती है। आत्मा की इच्छा-शक्ति के ही द्वारा कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है। वह कुण्डलिनी जाग्रत् होकर नाड़ीगत असंख्य आवरण को दूर करती है और देह को भी विमल बनाती है। यही आत्मशुद्धि का उपाय है। शुद्धि के क्रमिक उत्कर्ष के फलस्वरूप केन्द्र-स्थित सभी चक्र अपने अधिकार में आते हैं। आत्मा की शक्ति के विकास का यही क्रम है।

दिव्यदेह प्राप्त करके दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। साथ-ही-साथ विचार-शुद्धि और बोध-शक्ति के परिशीलन की जरूरत है। पवित्र जीवन, चिन्ता-रहितता और एकाग्रता दिव्य भाव में सहायक होती हैं। एकाग्रता आने से चित्त अन्तर्मुख होता है और सूक्ष्म ध्यान में प्रवणता आती है। इससे चित्-शक्ति का विकास होता है तथा इच्छा करते ही समाधि प्राप्त होती है। यह समाधि प्रचलित जड़ समाधि से अलग है। इसमें चेतना लुप्त नहीं होती, स्व-नियन्त्रण का सामर्थ्य रहता है, प्राचीन खीष्टीय योगियों के मत से इसका नाम Mantea है। यह आन्तर योग-मार्ग विशुद्ध मन की भावना से खुलता है। परन्तु कुण्डलिनी का जागरण

और प्राण-केन्द्र पर जप-सम्पद् नहीं होने से वह भावना कार्यकरी नहीं होती। विशुद्ध तत्त्वज्ञान के लिए गुप्त शक्तियों की प्राप्ति का यही उपाय है, और कोई रास्ता नहीं है।

[३]

भिन्न-भिन्न प्रस्थान के सहारे हमने अवतक संक्षेप में कायसिद्धि के विवरण उपस्थित किये। प्रसंगवश प्रतीच्य में इसका कैसा प्रचार था, उसका भी थोड़ा-बहुत विवरण दिया गया। अब कौलिक आगम-सम्प्रदाय के योगियों में यह काय-साधन-प्रक्रिया कैसी थी, उसका उल्लेख कर रहे हैं। किन्तु प्रक्रिया के ज्ञान से पहले देह का विज्ञान आवश्यक है। इसलिए नर-देह का महत्त्व दिखाने के लिए उस देह से संश्लिष्ट पदार्थ-समूह का विवरण देना जरूरी है। इन सब पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के बिना देह-सम्पादक कौलिक योगक्रिया को आरम्भ करना सम्भव नहीं है।

वे पदार्थ क्या हैं, जिनका ज्ञान काय-साधन के लिए निहायत जरूरी है? नेत्रागम में महेश्वर ने इस विषय में पदार्थ-समूह का उल्लेख किया है। वे हैं—

ऋतुं (६) चक्रं स्वराधारं (१६) त्रिलक्ष्यं (३) व्योमपञ्चकम् (५)।
ग्रन्थिद्वादश (१२) संयुक्तं शक्तित्रय (३) समन्वितम्॥
धामत्रय पर्याक्रान्तं (३) नाडित्रय समन्वितम् (३)।
ज्ञात्वा शरीरं सुश्रोणिद शनाडिप योवृतम् (१०)॥
द्वासप्तति सहस्रैस्तु (७२०००) सार्धकोटित्रयेण च (३५००००००)।
नाडिवृन्दैः समाक्रान्तं मलिनं व्याधिभिर्वृतम्॥
सूक्ष्मध्यानामृतेनैव परेनैवेदितेन तु।
आप्यायं कुरुते योगी आत्मनो वा परस्य च।
दिव्यदेहः स भवति सर्वव्याधिविवर्जितः।

(१) कौल मत से षट्चक्र

(क) जन्मस्थानस्थ नाड़ीचक्र। उसे आश्रय करके विशाल नाड़ी-समूह जाल की तरह फैला हुआ है।
(ख) मायाचक्र नाभिदेश में अवस्थित है। वहाँ से माया तमाम व्याप्त है।
(ग) हृदय में योगचक्र। यह योग के प्रसार का आश्रय-स्थान है।
(घ) तालुदेश में भेदन-चक्र।
(ङ) दीप्तिचक्र बिन्दु-स्थान भ्रू-मध्य में।
(च) शान्तचक्र नादस्थान में अवस्थित।

(२) षोडश आधार

जीव का आधार होने के फलस्वरूप ये आधार-समूह आधार-पद-वाच्य हैं। पाँव के अँगूठे से द्वादशान्त कमल तक इसका विस्तार है। उनके नाम हैं—अंगुष्ठ,

गुल्फ, जानु, मेढ्र, वायु, कन्द, नाड़ी, जठर, हृत्कमल, कूर्मनाड़ी, कण्ठाधार, तालुदेश, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त। ये सब आधार नाम से परिचित हैं।

(३) तीन लक्ष्य

(क) अन्तर्लक्ष्य

तड़ित्-प्रभा जैसे अत्यन्त सूक्ष्म कुण्डलिनी-स्थित आकाश का दर्शन। अथवा मस्तक से ऊपर द्वादशांगुल तक ज्योति का दर्शन। यह आन्तर और बाह्य इन्द्रिय के अगोचर है। इस विषय में कुछ मतभेद है। योगियों का अन्तर्लक्ष्य है सहस्रार में जल-ज्योति का दर्शन। वैष्णवों के मत से बुद्धि की गुहा में सर्वांगसुन्दर पुरुषरूप का दर्शन। शैवों के मत से शीर्षस्थ मण्डल में उमा-महेश्वर का दर्शन। दहर-उपासकों का अंगुष्ठ-मात्र पुरुष-रूप का यह दर्शन है।

(ख) मध्यलक्ष्य

नाना विचित्रवर्ण सूर्य, चन्द्र और अग्नि की शिखा के समान या उससे विहीन अन्तरिक्ष के समान।

(ग) बहिर्लक्ष्य

अपनी नाक के सम्मुख भाग में अभ्यास के फलस्वरूप जरा दूर तक व्योम।

(४) पञ्चव्योम

इस व्योम-समूह के जन्मस्थान, नाभि, हृदय, विन्दु और नाद में भावना करनी होती है। इनमें से प्रथम व्योम अनन्त विश्व का आश्रय अनन्त शून्यरूप है। सुप्ति का आवेश-कारक होने के नाते ये शून्य हेय हैं। पञ्च आकाश के नाम दूसरे-दूसरे स्थानों में दूसरे-दूसरे प्रकार के हैं; यथा—गुण-रहित आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश, सूर्याकाश।

(५) द्वादशग्रन्थि

माया से शक्ति तक द्वादश ग्रन्थियों का स्थान जानना होगा। माया-ग्रन्थि देह की उत्पत्ति का कारण है। पाशवग्रन्थि पशुओं की संकुचित दृष्टि का कारण है। यह ग्रन्थि कन्द में है। हृदय से लेकर ललाट तक पाँच कारण-ग्रन्थियाँ हैं। ये पशुओं की सृष्टि के कारण हैं। इसलिए इनका निरोध आवश्यक है। निरोधनीय होने के कारण इन्हें ग्रन्थि कहते हैं। ब्रह्मग्रन्थि हृदय में, विष्णुग्रन्थि कण्ठ में, रुद्रग्रन्थि तालु-मूल में, ईश्वर-ग्रन्थि भ्रू-मध्य में, सदाशिव-ग्रन्थि ललाट में अवस्थित हैं। इससे भी ऊपर और भी कई ग्रन्थियाँ हैं—ये नादशक्ति-रूप हैं, इसलिए निरोधिका के ऊपर अवस्थित हैं। इनके नाम हैं—इन्धिका, दीपिका, वैष्णव, नाद और शक्ति। यह भी परचित्-प्रकाश में आवरण-स्वरूप है।

(६) तीन धाम

चन्द्र, सूर्य और अग्निरूप धाम वाम, दक्षिण और मध्यस्थान तक व्याप्त होकर अवस्थित है। मानव-देह की अधिष्ठात्री तीन प्रकार की वायु से धामत्रय की सृष्टि है। इड़ा आदि नाड़ीत्रय और वायुत्रय से नियन्त्रित हैं। वास्तव में नाड़ियाँ असंख्य हैं और वायु से उनका अधिष्ठान है।

परचित्-शक्ति से प्रसृत अमृत-धारा दिव्य शाक्त काय से उद्भूत होती है। यह जो शक्ति है, वह क्या है? यह आत्मा का धर्म है, भगवान् की स्वरूप-महिमा, शिव का प्राणरूप सामर्थ्य है। परन्तु शक्ति के रूप में व्यवहृत होते हुए भी वह स्वरूप से अलग नहीं; क्योंकि वह केवल स्वरूप में आश्रित नहीं, स्वरूप से अभिन्न तथा स्वरूप से एकरस है। इस चितिरूप परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति का सहारा लेकर योगी परमपद की ओर यात्रा करते हैं। वह सारे विश्व में मध्यभूत हैं, वह विश्व की हृदय-गुफा में बहुत ही गुप्तरूप से निहित हैं। मानव निरन्तर श्वास-उच्छ्वासशील तथा तरह-तरह के द्वन्द्वों के उपघात से पीड़ित है, इसलिए मध्यमार्ग में संचरणशील सभी वस्तुओं की मध्यभूत इस शक्ति का साक्षात्कार नहीं प्राप्त कर सकता। अन्यान्य विरुद्ध प्राण और अपान की वृत्ति के संघट्ट से जीव-देह के सारे कार्य और चिन्ता परिव्याप्त हैं। इसलिए किसी-न-किसी प्रक्रिया के द्वारा उन वृत्तियों को अभिभूत करना जरूरी है। विरुद्ध शक्तियों का विरोध उपशान्त होने पर सुषुम्णा-स्थित मध्यम प्राण में पराशक्ति का संचार हुआ है। ऐसी भावना कर्त्तव्य है। यह मध्यम प्राण ही उदान नामक प्राण-ब्रह्म है। जब देह आदि से अहं भाव का त्याग होगा और पूर्णाहन्ता में समावेश सिद्ध होगा, तभी समझना होगा कि सब भावना सफल हुई है। अहंभाव परामर्श के लिए यह क्रमशः करना चाहिए। योगी पूर्णाहन्तामय मूलमन्त्र के साथ पराशक्ति के सामरस्य का चिन्तन करेंगे। ऐसी भावना के फलस्वरूप प्राण आदि संस्पर्शशून्य स्पन्द का स्वयं उदय होगा। इस स्पन्दन से पूर्वोक्त सामरस्य प्राप्त करना कठिन नहीं रह जायगा।

यहाँ तक सिद्ध होने पर भावनाध्वा में मन्त्रवीर्य का सार समुदित होता है। यही अभिमान उदयरूप रहस्य है। इसके वाद देह, प्राण आदि परिच्छिन्न प्रमाता में मौजूद अभिमान का परिहार करके इस अभिमान को आनन्दचक्र से उठाकर मूलाधार में स्थापित करना चाहिए।

यहाँ तक प्रारम्भिक प्रक्रिया है। इसके बाद वेधक्रिया की वारी आती है। पहले, आधार आदि सोलह केन्द्रों को एक-एक करके वेध करना होता है। वेधन-कार्य में करण है नाद। वह मन्त्रात्मक प्राणरूप में अथवा स्फुरंता के उन्मेषरूप में आविर्भूत होता है। यहाँ सूक्ष्म योग और प्रयोग की अपेक्षा है।

उन्मिषित स्फुरता की तीव्र उत्तेजना का संचार ही सूक्ष्म योग-व्यापार है। इसका प्रयोग इस प्रकार का है कि प्राणात्मक मन्त्र पूर्वोक्त उत्तेजनावश अपना स्थान छोड़कर कुछ ऊपर सुषुम्णा-मार्ग से आरोहण करता है। कौलिक मत से इस आरोहण के साथ-साथ सब आधार और सभी ग्रन्थियों का वेध हो जाता है। वेधक्रिया समावेश-रूप है, इसमें कोई सन्देह नहीं। द्वादशान्त में प्रवेश के साथ-ही-साथ महामाया तक सारे ही बन्धन छूट जाते हैं। उसके बाद ध्रुवपद में स्थिति होती है। अन्तिम वेध सम्पन्न हो जाने पर महाव्याप्ति का आविर्भाव होता है। वह नित्य-उदित पराशक्ति का सामरस्य-रूप है। यहाँ तक योग-सम्पन्न होने पर पराशक्ति से अभिन्नता स्फुरित होती है। यह अभिन्नता फिर शिव-तादात्म्य-रूप है।

कौलिक प्रक्रिया का प्रथम प्रपञ्च यहीं तक है। परमशिव से अभिन्नता और उसका फल, सब इसी प्रपञ्च के अन्तर्गत हैं। इसके बाद दूसरा प्रपञ्च। द्वादशान्त में प्रसरणशील जो शक्ति-धारा है, उसकी सहायता से मध्यमार्ग के पथ में हृदय के आपूरित होने से परमानन्द प्रकट होता है। इस आनन्द को परामृत-प्रवाह जानना चाहिए।

यह बड़ा ही आश्चर्य है कि हृदय में प्रविष्ट परमानन्द रसायन का काम करता है। जबतक वह हृदय में रहता है, तबतक भावना-बल के द्वारा उसकी स्वयं-संवेद्यता को सम्पन्न करना चाहिए। हृदय से उमगी परमानन्द की धारा को चारों ओर प्रवाहित करना चाहिए, जिससे वह प्रवाह नाड़ी के अगणित तन्तुओं में जा सके। इसके बाद अनुरूप ध्यान करना चाहिए।

उसके बाद उस अमृत के द्वारा बाहर और अन्तर को पूर्ण करना चाहिए। इस तरह अपनी देह के अमृतमय होने से उस प्रवाह को तीव्र वेग से देह के रोमकूपों के बीच से बाहर के विषय-समूह में निरन्तर भेजते रहना चाहिए। उसके बाद ऐसा ध्यान करना चाहिए कि शाक्त-नाद-ज्ञान से समस्त जगत् आप्यायित हुआ है। उस ध्यान से अजर और अमर भाव आता है तथा आत्मसिद्धि होती है। कौलिक शास्त्र में यह प्रक्रिया मृत्यु को जीतने के लिए उपदिष्ट हुई है।

तान्त्रिक वाङ्मय में भी ऐसी या इससे अलग प्रक्रिया देखी जाती है। तान्त्रिक-गण कहते हैं, पहले मत्तगन्धस्थान के संकोच-प्रसरण-रूप किसी मुद्रा के द्वारा अपनी सूक्ष्म प्राणशक्ति का उद्बोधन आवश्यक है। इस शक्ति को आश्रय करके बाद की क्रियाओं का अनुष्ठान होता है। इस स्पन्दन के द्वारा आविष्ट मध्यमा कला नाम की शक्ति कन्द नामक जन्मस्थान में सुप्त अवस्था में है। कौल मत में जन्मस्थान आनन्द-इन्द्रिय है, तान्त्रिक प्रक्रिया में वह कन्दरूप है—इतना ही अन्तर है।

योगी बहुत ही सावधान चित्त से इस शक्ति की भावना करेंगे, तबतक, जब-तक कि समावेश न हो। उसके बाद भावना के बल से पादांगुष्ठ में स्थित कालाग्नि के

आश्रय-आधार को आश्रय करके ऊपर की ओर आरोहण का प्रयत्न करना चाहिए।

यह प्रथम अध्याय है। यह समाप्त हो जाय, तो कन्दभूमि में प्राप्त शक्ति-स्पन्दात्मक वीर्य को उसमें डालकर प्रस्फुट भावना द्वारा स्फुट करें। उसके बाद प्राण-स्पन्दरूप क्रियाशक्ति के द्वारा वह वीर्य आपूरित होता है। इसकी मात्रा बढ़ने से देह की मध्यभूत नाड़ी प्राप्त होती है। इसके तीन प्रकार हैं—एक इच्छारूप है, जिसमें संकोच-क्रमजात ऊर्ध्व-आरोहण का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरा है भावना-रूप। तीसरा क्रिया-रूप, जिसके द्वारा ऊर्ध्व-ग्रन्थियों का भेद या वेध होता है। ये ग्रन्थियाँ गुल्फ, जानु, मेदुर और कन्दरूप हैं।

मूलस्पन्द के आश्रय मत्तगन्ध-स्थान की बार-बार सिकुड़न और फैलाव-रूप क्रिया का मतलब निरोध है। यह स्वच्छन्दशास्त्र में वर्णित दिव्यकरण का उपलक्षण है।

इड़ा और पिंगला, पार्श्वस्थ इन दो नाड़ियों का परित्याग करके इच्छा के अवष्टम्भ योग द्वारा मध्यमार्ग में प्रवाहित महाप्राण ब्रह्मशक्ति के द्वारा सुषुम्णा का आश्रय लेना चाहिए। सुषुम्णा में प्रवेश होने पर सभी इन्द्रियों तथा विषय से विरत होना चाहिए। तब माया-रहित विज्ञान के द्वारा (चिदात्मक ज्ञानशक्ति के द्वारा) क्रमशः हृदय आदि स्थानों में स्थित ब्रह्मादि कारण-वर्ग को एक-एक करके त्याग करना चाहिए। यहाँ प्राणादि का प्राधान्य नहीं है, इसलिए इसे विज्ञान-रूप समझना चाहिए। यह ब्रह्मादि सृष्टि आदि संवित्-स्वभाव है। उसके बाद मायाग्रन्थि को भेदकर पंच आकाश का त्याग करना चाहिए। और तब, शिवान्त कारण-समूह के ऊपर विराजमान—समना नामक कुण्डली-शक्ति को प्राप्त करना होगा। उसी के गर्भ में शून्यातिशून्य अखिल विश्व कुण्डल की नाईं अवस्थित है। समना की प्राप्ति के बाद ऊर्ध्व में विरति होती है—यहाँ उन्मना की प्राप्ति होती है। यही परमशिव दशा है—परम सामरस्य-रूप परव्योम।

शब्दानुक्रमणिका

भ

म